संयम स्वर्ण महोत्सव (२०१७-१८) की विनम्र प्रस्तुति क्र० १४

ग्रन्थ परीक्षा

लेखक

पं० जुगलकिशोर मुख्तार

प्रकाशक

जैन विद्यापीठ

सागर (म० प्र०)

ग्रन्थ परीक्षा

लेखक : पं० जुगलकिशोर मुख्तार
संस्करण : २८ जून, २०१७ (आषाढ़ सुदी पंचमी, वीर निर्वाण संवत् २५४३)
आवृत्ति : ११००
वेबसाइट : www.vidyasagar.guru

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान
जैन विद्यापीठ
भाग्योदय तीर्थ, सागर (म० प्र०) चलित दूरभाष ७५८२-९८६-२२२
ईमेल : jainvidyapeeth@gmail.com

मुद्रक
विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स
प्लाट नं. ४५, सेक्टर एफ, इन्डस्ट्रीयल एरिया गोविन्दपुरा, भोपाल (म० प्र०) ९४२५००५६२४

आद्य वक्तव्य

युग बीतते हैं, सृष्टियाँ बदलती हैं, दृष्टियों में भी परिवर्तन आता है। कई युगदृष्टा जन्म लेते हैं। अनेकों की सिर्फ स्मृतियाँ शेष रहती हैं, लेकिन कुछ व्यक्तित्व अपनी अमर गाथाओं को चिरस्थाई बना देते हैं। उन्हीं महापुरुषों का जीवन स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है, जो असंख्य जनमानस के जीवन को घने तिमिर से निकालकर उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे ही निरीह, निर्लिप्त, निरपेक्ष, अनियत विहारी एवं स्वावलम्बी जीवन जीने वाले युगपुरुषों की सर्वोच्च श्रेणी में नाम आता है दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का, जिन्होंने स्वेच्छा से अपने जीवन को पूर्ण वीतरागमय बनाया। त्याग और तपस्या से स्वयं को श्रृंगारित किया। स्वयं के रूप को संयम के ढाँचे में ढाला। अनुशासन को अपनी ढाल बनाया और तैयार कर दी हजारों संयमी युवाओं की सुगठित धर्मसेना। सैकड़ों मुनिराज, आर्यिकाएँ, ब्रह्मचारी भाई-बहिनें। जो उनकी छवि मात्र को निहार-निहार कर चल पड़े घर-द्वार छोड़ उनके जैसा बनने के लिए। स्वयं चिद्रूप, चिन्मय स्वरूप बने और अनेक चैतन्य कृतियों का सृजन करते चले गए जो आज भी अनवरत जारी है। इतना ही नहीं अनेक भव्य श्रावकों की सल्लेखना कराकर हमेशा-हमेशा के लिए भव-भ्रमण से मुक्ति का सोपान भी प्रदान किया है।

महामनीषी, प्रज्ञासम्पन्न गुरुवर की कलम से मूकमाटी जैसे क्रान्तिकारी-आध्यात्मिक-महाकाव्य का सृजन हुआ। जो अनेक भाषाओं में अनुदित हुआ साथ ही अनेक साहित्यकारों ने अपनी कलम चलायी परिणामतः मूकमाटी मीमांसा के तीन खण्ड प्रकाशित हुए। आपके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर लगभग ५० शोधार्थियों ने डी॰ लिट्॰, पी-एच॰ डी॰ की उपाधि प्राप्त की।

अनेक भाषाओं के ज्ञाता आचार्य भगवन् की कलम से जहाँ अनेक ग्रन्थों के पद्यानुवाद किए गए तो वहीं नवीन संस्कृत और हिन्दी भाषा में छन्दोबद्ध रचनायें भी सृजित की गई। सम्पूर्ण विद्वत्जगत् आपके साहित्य का वाचन कर अचंभित हो जाता है। एक ओर अत्यन्त निस्पृही, वीतरागी छवि तो दूसरी ओर मुख से निर्झरित होती अमृतध्वनि को शब्दों की बजाय हृदय से ही समझना श्रेयस्कर होता है।

प्राचीन जीर्ण-शीर्ण पड़े उपेक्षित तीर्थक्षेत्रों पर वर्षायोग, शीतकाल एवं ग्रीष्मकाल में प्रवास करने से समस्त तीर्थक्षेत्र पुनर्जागृत हो गए। श्रावकवृन्द अब आये दिन तीर्थों की वंदनार्थ घरों से निकलने लगे और प्रारम्भ हो गई जीर्णोद्धार की महती परम्परा। प्रतिभास्थलियों जैसे शैक्षणिक संस्थान, भाग्योदय तीर्थ जैसा चिकित्सा सेवा संस्थान, मूकप्राणियों के संरक्षणार्थ सैकड़ों गौशालाएँ, भारत को इण्डिया नहीं 'भारत' ही कहो का नारा, स्वरोजगार के तहत 'पूरी मैत्री' और 'हथकरघा' जैसे वस्त्रोद्योग की प्रेरणा देने वाले सम्पूर्ण जगत् के आप इकलौते और अलबेले संत हैं।

कितना लिखा जाये आपके बारे में शब्द बौने और कलम पंगु हो जाती है, लेकिन भाव विश्राम लेने का नाम ही नहीं लेते। यह वर्ष आपका मुनि दीक्षा का स्वर्णिम पचासवाँ वर्ष है। भारतीय समुदाय

का स्वर्णिम काल है यह। आपके स्वर्णिम आभामण्डल तले यह वसुधा भी स्वयं को स्वर्णमयी बना लेना चाहती है। आपकी एक-एक पदचाप उसे धन्य कर रही है। आपका एक-एक शब्द कृतकृत्य कर रहा है। एक नई रोशनी और ऊर्जा से भर गया है हर वह व्यक्ति जिसने क्षणभर को भी आपकी पावन निश्रा में श्वांसें ली हैं।

आपकी प्रज्ञा से प्रस्फुटित साहित्य आचार्य परम्परा की महान् धरोहर है। आचार्य धरसेनस्वामी, समन्तभद्र स्वामी, आचार्य अकलंकदेव, स्वामी विद्यानंदीजी, आचार्य पूज्यपाद महाराज जैसे श्रुतपारगी मुनियों की शृंखला को ही गुरुनाम गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, तदुपरांत आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने यथावत् प्रतिपादित करते हुए श्रमण संस्कृति की इस पावन धरोहर को चिरस्थायी बना दिया है।

यही कारण है कि आज भारतवर्षीय विद्वतवर्ग, श्रेष्ठीवर्ग एवं श्रावकसमूह आचार्यप्रवर की साहित्यिक कृतियों को प्रकाशित कर श्रावकों के हाथों में पहुँचाने का संकल्प ले चुका है। केवल आचार्य भगवन् द्वारा सृजित कृतियाँ ही नहीं बल्कि संयम स्वर्ण महोत्सव २०१७-१८ के इस पावन निमित्त को पाकर प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन जैन विद्यापीठ द्वारा किया जा रहा है।

वर्तमान में उपलब्ध जैन साहित्य में मध्यकाल में हुए अनेक स्वार्थीजनों के द्वारा तत्काल की परिस्थितियों से प्रवाहित होकर जो जैनदर्शन की मूल अवधारणाओं के विपरीत लेखन हुए हैं, वह साहित्य में विकार के रूप में दिखाई देना लगा, इस शताब्दी में कुछ ही प्रज्ञा-पुरुष जैन विद्वानों ने ऐसा परिश्रम किया है, जिससे वह विकार और आगे न बढ़ पाये। इसी कड़ी में पं० जुगलकिशोर मुख्तार का 'ग्रन्थ परीक्षा' नाम से चार भागों में उपलब्ध एक सार्थक प्रयास रहा है, जिसको पूर्व में जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई ने प्रकाशित किया था। जो पूर्वाग्रह से ग्रसित नहीं हैं और सत्य के ऊपर असत्य का मुलम्मा (आवरण) चढ़ा कर उसे ग्रहण करना पसंद नहीं करते हैं, ऐसे सत्यप्रिय तार्किक विज्ञजनों द्वारा इस प्रकार की परीक्षाएँ सराही गई हैं। इस हेतु सम्पूर्ण चार भागों को एक ही कृति में एकत्रित करके आचार्य गुरुदेव के संयम स्वर्ण महोत्सव में प्रकाशित किया जा रहा है। एतदर्थ विद्वान् महोदय का और पूर्व प्रकाशन संस्था का आभार व्यक्त करते हैं।

समस्त ग्रन्थों का शुद्ध रीति से प्रकाशन अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस संशोधन आदि के कार्य को पूर्ण करने में संघस्थ मुनिराज, आर्यिका माताजी, ब्रह्मचारी भाई-बहिनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया। उन्हें जिनवाणी माँ की सेवा का अपूर्व अवसर मिला, जो सातिशय पुण्यार्जन तथा कर्मनिर्जरा का साधन बना।

जैन विद्यापीठ आप सभी के प्रति कृतज्ञता से ओतप्रोत है और आभार व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द खोजने में असमर्थ है।

गुरुचरणचंचरीक

प्रास्ताविकी

पं० नाथूराम प्रेमी ने पूर्व संस्करण की निवेदन शीर्षक अपनी बात रखी है, जो इस प्रकार है—

जैनहितैषी में लगभग चार वर्ष से एक 'ग्रन्थ-परीक्षा' शीर्षक लेखमाला निकल रही है। इसके लेखक देवबन्द निवासी श्रीयुत् बाबू जुगलकिशोरजी मुख्तार हैं। आपके इन लेखों ने जैन समाज को एक नवीन युग का सन्देशा सुनाया है और अन्धश्रद्धा के अंधेरे में निद्रित पड़े हुए लोगों को चकाचोंधा देने वाले प्रकाश से जाग्रत कर दिया है। यद्यपि बाह्यदृष्टि से अभी तक इन लेखों का कोई स्थूलभाव व्यक्त नहीं हुआ है तो भी विद्वानों के अन्तरंग में एक शब्दहीन हलचल बराबर हो रही है जो समय पर कोई अच्छा परिणाम लाये बिना नहीं रहेगी।

जैनधर्म के उपासक इस बात को भूल रहे थे कि जहाँ हमारे धर्म या सम्प्रदाय में एक ओर उच्चश्रेणी के निःस्वार्थ और प्रतिभाशाली ग्रन्थकर्ता उत्पन्न हुए हैं वहाँ दूसरी ओर नीचे दर्ज के स्वार्थी और तस्कर लेखक भी हुए हैं, अथवा हो सकते हैं, जो अपने खोटे सिक्कों को महापुरुषों के नाम की मुद्रा से अंकित करके खरे दामों में चलाया करते हैं। इस भूल के कारण ही आज हमारे यहाँ भगवान् कुन्दकुन्द और सोमसेन, समन्तभद्र और जिनसेन (भट्टारक) तथा पूज्यपाद और श्रुतसागर एक ही आसन पर बिठाकर पूजे जाते हैं। लोगों की सदसद्विवेकबुद्धि का लोप यहाँ तक हो गया है कि वे संस्कृत या प्राकृत में लिखे हुए चाहे जैसे वचनों को आप्त भगवान् के वचनों से जरा भी कम नहीं समझते। ग्रन्थपरीक्षा के लेखों से हमें आशा है कि भगवान् महावीर के अनुयायी अपनी इस भूल को समझ जायेंगे और वे आप अपने को और अपनी सन्तान को धूर्त ग्रन्थकारों की चंगुल में न फँसने देंगे।

जिस समय ये लेख निकले थे, हमारी इच्छा उसी समय हुई थी कि इन्हें स्वतंत्र पुस्तकाकार भी छपवा लिया जाये, जिससे इस विषय की ओर लोगों का ध्यान कुछ विशेषता से आकर्षित हो परन्तु यह एक बिल्कुल ही नये ढंग की चर्चा थी, इसलिए हमने उचित समझा कि कुछ समय तक इस सम्बन्ध में विद्वानों की सम्मति की प्रतीक्षा की जाये। प्रतीक्षा की गई और खूब की गई। लेखमाला के प्रथम तीन लेखों को प्रकाशित हुए तीन वर्ष से भी अधिक समय बीत गया परन्तु कहीं से कुछ भी आहट न सुन पढ़ी, विद्वत् मण्डली की ओर से अब तक इनके प्रतिवाद में कोई एक भी लेख नहीं निकला, बल्कि बहुत से विद्वानों ने हमारे तथा लेखक महाशय के समक्ष इस बात को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया कि आपकी समालोचनायें यथार्थ हैं। जैनमित्र के सम्पादक ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी

ने पहले दो लेखों को जैनमित्र में उद्धृत किया और उनके नीचे अपनी अनुमोदनसूचक सम्मति प्रकट की। इसी प्रकार दक्षिण प्रान्त के प्रसिद्ध विद्वान् और धनी सेठ हीराचन्द नेमीचन्दजी ने लेखमाला के प्रायः सभी लेखों को मराठी में प्रकाशित कराके मानों यह प्रकट कर दिया कि इस प्रकार के लेखों का प्रचार जितना अधिक हो सके उतना ही अच्छा है।

यह सब देखकर अब हम ग्रन्थपरीक्षा के समस्त लेखों को पृथक् पुस्तकाकार छपाने के लिए तत्पर हुए हैं। यह लेखमाला कई भागों में प्रकाशित होगी, जिनमें से पहले दो भाग छपकर तैयार हैं। पहले भाग में उमास्वामि-श्रावकाचार, कुन्दकुन्द-श्रावकाचार और जिनसेन-त्रिवर्णाचार इन तीन ग्रन्थों की परीक्षा के तीन लेख हैं और दूसरे भाग में भद्रबाहुसंहिता की परीक्षा का विस्तृत लेख है। अब इनके बाद जो लेख निकले हैं और निकलेंगे वे तीसरे भाग में संग्रह करके छपाये जायेंगे।

प्रथम भाग का संशोधन स्वयं लेखक महाशय के द्वारा कराया गया है, इससे पहले जो कुछ अशुद्धियाँ रह गई थीं वे सब इस आवृत्ति में दूर की गई हैं। साथ ही जहाँ तहाँ आवश्यकतानुसार कुछ थोड़ा बहुत परिवर्तन भी किया गया है।

समाज में केवल निष्पक्ष और स्वतंत्र विचारों का प्रचार करने के उद्देश्य से यह लेखमाला प्रकाशित की जा रही है और इसी कारण इसका मूल्य बहुत कम केवल लागत के बराबर-रखा गया है। आशा है कि सत्यप्रेमी पाठक इसका प्रचार करने में हमारा हाथ बँटायेंगे और प्रत्येक विचारशील के हाथों तक यह किसी न किसी तरह पहुँच जाये, इसका उद्योग करेंगे।

जैन समाज के समस्त पण्डित महाशयों से प्रार्थना है कि वे इन लेखों को ध्यानपूर्वक पढ़ें और इनके विषय में अपनी-अपनी स्वतंत्र सम्मति हमारे पास भेजने की कृपा करें। इसके सिवाय निष्पक्ष विद्वानों का यह भी कर्तव्य होना चाहिए कि वे व्याख्यानों तथा समाचार पत्रों आदि के द्वारा लोगों को ऐसे ग्रन्थों से सावधान रहने के लिए सचेत कर दें।

पं० नाथूराम प्रेमी ने पूर्व संस्करण की भूमिका में विस्तार से ग्रन्थ का वैशिष्ट्य लिखा है—

वर्षा का जल जिस शुद्ध रूप में बरसता है, उस रूप में नहीं रहता, आकाश से नीचे उतरते-उतरते और जलाशयों में पहुँचते-पहुँचते वह विकृत हो जाता है और इसके बाद तो उसमें इतनी विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं कि उनके मारे उसके वास्तविक स्वरूप का हृदयंगम कर सकना भी दुष्कर हो जाता है। फिर भी जो वस्तुतत्त्व के मर्मज्ञ हैं, पदार्थों का विश्लेषण करने में कुशल या परीक्षाप्रधानी हैं, उन्हें उन सब विकृतियों से पृथक् वास्तविक जल का पता लगाने में देर नहीं लगती है। परमहितैषी और परमवीतरागी भगवान् महावीर की वाणी को एक कवि ने जलवृष्टि की उपमा दी है, जो बहुत ही उपयुक्त मालूम होती है। पिछले ढाई हजार वर्षों का उपलब्ध इतिहास हमें बतलाता है कि भगवान् का विश्व कल्याणकारी समीचीन धर्म जिस रूप में उपदिष्ट हुआ था, उसी रूप में नहीं रहा, धीरे धीरे वह विकृत होता गया, ज्ञात और अज्ञात रूप से उसे विकृत करने के बराबर प्रयत्न किये जाते रहे और

अब तक किये जाते हैं। सम्प्रदाय, संघ, गण, गच्छ, आम्नाय, पंथ आदि सब प्रायः इन्हीं विकृतियों के परिणाम हैं। भगवान् का धर्म सबसे पहले दिगम्बर और श्वेताम्बर दो सम्प्रदायों में विभक्त हुआ, और उसके बाद मूल, यापनीय, द्रविड़ काष्ठा, माथुर आदि नाना संघों और उनके गणों तथा गच्छों में विकृत होता रहा है। यह असम्भव है कि एक धर्म के इतने भेद प्रभेद होते जायें और उसकी मूल प्रकृति पर विकृतियों का प्रभाव नहीं पड़े। यद्यपि सर्वसाधारण जन इन सम्प्रदायों और पन्थों के विकार से विकृत हुए धर्म का वास्तविक शुद्ध स्वरूप अवधारण नहीं कर सकते हैं, परन्तु समय-समय पर ऐसे विचारशील विवेकी महात्माओं का जन्म अवश्य होता रहता है जो इन सब विकारों का अपनी रासायनिक और विश्लेषक बुद्धि से पृथक्करण करके वास्तविक धर्म को स्वयं देख लेते हैं और दूसरों को दिखा जाते हैं।

जो लोग यह समझते हैं कि वर्तमान जैनधर्म ठीक वही जैनधर्म है जिसका उपदेश भगवान् महावीर की दिव्यवाणी द्वारा हुआ था, उसमें जरा भी परिवर्तन, परिवर्द्धन या सम्मेलन नहीं हुआ है- अक्षरशः ज्यों का त्यों चला आ रहा है, उन्हें धर्मात्मा या श्रद्धालु भले ही मान लिया जाये, परन्तु विचारशील नहीं कहा जा सकता। यह संभव है कि उन्होंने शास्त्रों का अध्ययन किया हो, वे शास्त्री या पण्डित कहलाते हों, परन्तु शास्त्र पढ़ने या परीक्षायें देने से ही यह नहीं कहा जा सकता है कि वे इस विषय में कुछ गहरे पैठ सके हैं। जो लोग यह जानते हैं कि मनुष्य रागद्वेष से युक्त है, अपूर्ण है और उन पर देश काल का कल्पनातीत प्रभाव पड़ता है, वे इस बात पर कभी विश्वास नहीं करेंगे कि ढाई हजार वर्ष के इतने लम्बे समय में, इतने संघों और गण गच्छों की खींचातानी में पड़कर भी उनके द्वारा भगवान् के धर्म में जरा भी रूपान्तर नहीं हुआ है।

हमारे समाज के विद्वान् तो अभी तक यह मानने को तैयार नहीं थे कि जैनाचार्यों में भी परस्पर कुछ मतभेद हो सकते हैं। यदि कहीं कोई ऐसे भेद नजर आते थे, तो वे उन्हें अपेक्षाओं की सहायता से या उपचार आदि कहकर टाल देते थे, परन्तु अब 'ग्रन्थ परीक्षा' के लेखक पण्डित जुगलकिशोर जी मुख्तार ने अपनी सुचिन्तित और सुपरीक्षित 'जैनाचार्यों का शासनभेद' नाम की लेखमाला में इस बात को अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है कि जैनाचार्यों में भी काफी मतभेद थे, जो यह विश्वास करने के लिए पर्याप्त हैं कि भगवान् का धर्म शुरू से अब तक ज्यों का त्यों नहीं चला आया है और उसके असली रूप के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है।

संसार के प्रायः सभी धर्मों में रूपान्तर हुए हैं और बराबर होते रहते हैं। उदाहरण के लिए पहले हिन्दूधर्म को ही ले लीजिए। बड़े-बड़े विद्वान् इस बात को स्वीकार करते हैं कि जैनधर्म और बौद्धधर्म के जबर्दस्त प्रभावों में पड़कर उसकी 'वैदिकी हिंसा' लुप्तप्राय हो गई है और वैदिक समय में जिस गौ के बछड़े के मांस से ब्राह्मणों का अतिथिसत्कार किया जाता था, (महोजं वा महोक्षं वा श्रोत्रियाय प्रकल्पयेत्) वही आज हिन्दूओं की पूजनीया माता है और वर्तमान हिन्दूधर्म में गोहत्या महापातक गिना जाता है। हिन्दू अब अपने प्राचीन धर्मग्रन्थों में बतलाई हुई नियोग की प्रथा को व्यभिचार और

अनुलोम-प्रतिलोम विवाहों को अनाचार समझते हैं। जिस बौद्धधर्म ने संसार से जीवहिंसा को उठा देने के लिए प्रबल आन्दोलन किया था, उसी के अनुयायी तिब्बत और चीन के निवासी आज सर्वभक्षी बने हुए हैं-चूहे, छछूँदर, कीड़े व मकोड़े तक उनके लिए अखाद्य नहीं हैं! महात्मा बुद्ध नीच-ऊँच के भेदभाव से युक्त वर्णव्यवस्था के परम विरोधी थे, परन्तु आज उनके नेपाल देशवासी अनुयायी हिन्दुओं के ही समान जातिभेद के रोग से ग्रसित हैं। महात्मा कबीर जीवनभर इस अध्यात्मवाणी को सुनाते रहे कि-

''जात पाँत पूछे नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।''

परन्तु आज उनके लाखों अनुयायी जाति-पाँति के कीचड़ में अपने अन्य पड़ोसियों के ही समान फँसे हुए हैं। इस ऊँच-नीच के भेद-भाव की बीमारी से तो सुदूर यूरोप से आया हुआ ईसाई धर्म भी नहीं बच सका है। पाठकों ने सुना होगा कि मद्रास प्रान्त में ब्राह्मण ईसाइयों के गिरजाघर जुदा और शूद्र ईसाइयों के गिरिजाघर जुदा हैं। और वे एक-दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। ऐसी दशा में हमारे जैनधर्म में देश-काल के प्रभाव से और अपने पड़ोसी धर्मों के प्रभाव से कुछ विकृतियाँ घुस गई हों, तो इस पर किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए। इन विकृतियों में कुछ विकृतियाँ इतनी स्थूल हैं कि उन्हें साधारण बुद्धि के लोग भी समझ सकते हैं। यथा-

१. जैनधर्म सम्मत वर्णव्यवस्था के अनुसार जिसका कि आदिपुराण में प्रतिपादन किया गया है, प्रत्येक वर्ण के पुरुष अपने से बाद के सभी वर्णों की कन्याओं के साथ विवाह कर सकते हैं, बल्कि धर्मसंग्रह श्रावकाचार के अनुसार तो पहले के तीन वर्णों में परस्पर अनुलोम और प्रतिलोम दोनों ही क्रमों से विवाह हो सकता है और पुराण ग्रन्थों के उदाहरणों से इसकी पुष्टि भी होती है, परन्तु वर्तमान जैनधर्म तो एक वर्ण की जो सैकड़ों जातियाँ बन गई हैं और जैनधर्म का पालन कर रही हैं, उनमें भी परस्पर विवाह करना पाप बतलाया है और इसके लिए उसके बड़े-बड़े दिग्गज पण्डित शास्त्रों से खींच-तानकर प्रमाण तक देने की धृष्टता करते हैं। क्या यह विकृति नहीं है?

२. भगवज्जिनसेन के आदिपुराण की 'वर्णलाभक्रिया' के अनुसार प्रत्येक अजैन को जैनधर्म की दीक्षा दी जा सकती है और फिर उसका नया वर्ण स्थापित किया जा सकता है, तथा उस नये वर्ण में उसका विवाह सम्बन्ध किया जा सकता है। उसको उसके प्राचीन धर्म से यहाँ तक जुदा कर डालने की विधि है कि उसका प्राचीन गोत्र भी बदलकर उसे नये गोत्र से अभिहित करना चाहिए। परन्तु वर्तमान जैनधर्म के ठेकेदारों ने भोली-भाली जनता को सुधारकों के विरुद्ध भड़काने के लिए इसी बात को एक हथियार बना रखा है कि देखिए, ये मुसलमानों और ईसाइयों को भी जैनी बनाकर उनके साथ रोटी-बेटी का व्यवहार जारी कर देना चाहते हैं। मानों मुसलमान और ईसाई मनुष्य ही नहीं हैं। क्या यह विकृति नहीं है? क्या भगवान् महावीर का विश्व धर्म इतना ही संकीर्ण था? लब्धिसार की १९५वीं

गाथा की टीका से[१] स्पष्ट मालूम होता है कि म्लेच्छ देश से आये हुए म्लेच्छ पुरुष भी मुनिदीक्षा ले सकते थे और इस तरह मुक्तिप्राप्ति के अधिकारी बनते थे।

३. सारत्रय के प्रसिद्ध टीकाकार श्री जयसेनसूरि के कथनानुसार सत्-शूद्र भी मुनिदीक्षा ले सकते हैं।[२] परन्तु वर्तमान जैनधर्म तो शूद्रों को इसके लिए सर्वथा अयोग्य समझता है। शूद्र तो खैर बहुत नीची दृष्टि से देखे जाते हैं, परन्तु उन दक्षिणी जैनियों के भी मुनिदीक्षा लेने पर कोलाहल मचाया जाता है जिनके यहाँ विधवा विवाह होता है। उदार जैनधर्म पर इस प्रकार की विकृतियाँ क्या लाञ्छनस्वरूप नहीं हैं?

जैसा कि प्रारम्भ में कहा जा चुका है, इन विकृतियों को पहिचान करके असली धर्म को प्रकाश में लाने वाली विभूतियाँ समय-समय पर होती रहती हैं। सारत्रय के कर्ता आचार्य कुन्दकुन्द ऐसी ही विभूतियों में से एक थे। वर्तमान दिगम्बर संप्रदाय के अधिकांश लोग अपने को कुन्दकुन्द की आम्नाय का बतलाते हैं। मालूम नहीं, लोगों का कुन्दकुन्दाम्नाय और कुन्दकुन्दान्वय के सम्बन्ध में क्या ख्याल है, परन्तु मैं तो इसे जैनधर्म में उस समय तक जो विकृतियाँ हो गई थीं, उन सबको हटाकर उसके वास्तविक स्वरूप को आविष्कृत करके सर्व साधारण के समक्ष उपस्थित करने वाले एक महान् आचार्य के अनुयायियों का सम्प्रदाय समझता हूँ। भगवान् कुन्दकुन्द के पहले और पीछे अनेक बड़े-बड़े आचार्य हो गये हैं, उनकी आम्नाय या अन्वय न कहलाकर कुन्दकुन्द की ही आम्नाय या अन्वय कहलाने का अन्यथा कोई बलवत्कारण दृष्टिगोचर नहीं होता है। मेरा अनुमान है कि भगवत्कुन्दकुन्द के समय तक जैनधर्म लगभग उतना ही विकृत हो गया था, जितना वर्तमान तेरहपन्थ के उदय होने के पहले भट्टारकों के शासन समय में हो गया था और उन विकृतियों से मुक्त करने वाले तथा जैनधर्म के परम वीतराग शान्त मार्ग को फिर से प्रवर्तित करने वाले भगवान् कोण्डकुण्ड ही थे। परन्तु समय का प्रभाव देखिए कि वह संशोधित शान्तमार्ग भी चिरकाल तक शुद्ध न रहा, आगे चलकर वही भट्टारकों का धर्म बन गया। कहाँ तो तिल-तुष मात्र परिग्रह रखने का भी निषेध और कहाँ हाथी, घोड़े और पालकियों के ठाठ-बाट। घोर परिवर्तन हो गया।

जब कुन्दकुन्दान्वयी शुद्ध मार्ग धीरे-धीरे इतना विकृत हो गया कि विकृति की पराकाष्ठा पर पहुँच गया, तब कुछ विवेकी और विश्लेषक विद्वानों का ध्यान फिर इस और गया और जैसा कि मैंने अपने ''वनवासियों और चैत्यवासियों के सम्प्रदाय या तेरहपन्थ और बीसपन्थ''[३] शीर्षक विस्तृत

---

१. म्लेच्छभूमिजमनुष्याणां सकलसंयमग्रहणं कथं संभवतीति नाशंकितव्यं। दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागतानां म्लेच्छराजानां चक्रवर्त्यादिभिः सह जात-वैवाहिकसम्बन्धानां संयमप्रतिपत्तेरविरोधात्। अथवा तत्कन्यकानां चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छव्यपदेशभाजः संयमसंभवात् तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात् ।। १९५।। पृष्ठ २४१।

२. ... एवं गुणविशिष्टपुरुषो जिनदीक्षाग्रहणे योग्यो भवति। यथायोग्यं सच्छूद्राद्यपि -प्रवचनसारतात्पर्यवृत्ति, पृष्ठ ३०५।

३. देखो, जैन हितैषी भाग १४, अंग ४।

लेख में बतलाया है। विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में स्वर्गीय पं० बनारसीदास जी ने फिर एक संशोधित और परिष्कृत मार्ग की नींव डाली, जो पहले 'बाणारसीय' या 'बनारसी-पंथ' कहलाया और आगे चलकर तेरहपंथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[४] इस पंथ ने और इसके अनुयायी पं० टोडरमलजी, पं० जयचन्दजी, पं० दौलतरामजी, पं० सदासुखदासजी, पं० पन्नालाल जी दूनीवाले आदि विद्वानों ने जो साहित्य निर्माण किया और जिस शुद्धमार्ग का प्रतिपादन किया, उसने दिगम्बर सम्प्रदाय में एक बड़ी भारी क्रान्ति कर डाली और उस क्रान्ति का प्रभाव इतना वेगशाली हुआ कि उससे जैनधर्म के शिथिलाचारी महन्तों या भट्टारकों के स्थायी समझे जाने वाले सिंहासन देखते-देखते धराशायी हो गये और कई सौ वर्षों से जो धर्म के एकच्छत्रधारी सम्राट् बन रहे थे, वे अप्रतिष्ठा के गहरे गड्ढे में फेंक दिये गये।

भट्टारकों का उक्त विकृत मार्ग कितना पुराना है, इसका अनुमान पण्डितप्रवर आशाधर द्वारा उद्धृत इस वचन से होता है-

पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैः बठरैश्च तपोधनैः।
शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम्॥

अर्थात्-भ्रष्टचरित्र पण्डितों और बठर साधुओं या भट्टारकों ने जिन भगवान् का निर्मल शासन मलिन कर डाला। पं० आशाधर जी विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के अंत में मौजूद थे और उन्होंने इस श्लोक को किसी अन्य ग्रन्थ से उद्धृत किया है। अर्थात् इससे भी बहुत पहले भगवान् महावीर के शासन में अनेक विकृतियाँ पैठ गई थी।

तेरहपंथ के पूर्वोक्त मिशन ने जैनधर्म की विकृतियों को हटाने और उसके शुद्ध स्वरूप को प्रकट करने में जो प्रशंसनीय उद्योग किया है, वह चिरस्मरणीय रहेगा। यदि इसका उदय न हुआ होता, तो आज दिगम्बर जैन समाज की क्या दुर्दशा होती, उसकी कल्पना भी नहीं हो सकती है। बागड़ प्रान्त में दौरा करने वाले बम्बई जैन प्रान्तिक सभा के एक उपदेशक ने कोई १०-१२ वर्ष हुए, मुझसे कहा था कि कुछ समय पहले वहाँ के श्रावक शास्त्रस्वाध्याय आदि तो क्या करेंगे, उन्हें जिन भगवान् की मूर्ति का अभिषेक और प्रक्षाल करने का भी अधिकार नहीं था। भट्टारक जी के शिष्य पण्डित जी ही जब कभी आते थे, यह पुण्यकार्य करते थे और अपनी दक्षिणा लेकर चले जाते थे। कहते थे, तुम बाल-बच्चों वाले अब्रह्मचारी लोग भगवान् की प्रतिमा का स्पर्श कैसे कर सकते हो? और यह तो अभी कुछ ही वर्षों की बात है जब भट्टारकों के कर्मचारी श्रावकों से मार-मारकर अपना टैक्स वसूल

---

४. सुप्रसिद्ध श्वेताम्बर साधु श्रीमेघविजय जी महोपाध्याय ने अपना 'युक्तिप्रबोध' नाम का प्राकृत ग्रन्थ स्वोपज्ञ संस्कृत टीका सहित इस 'वाणारसीय' मत के खण्डन के लिए ही विक्रम की अठाहरवीं शताब्दी के प्रारम्भ में बनाया था- ''बोच्छं सुयणहितत्थं वाणारसियस्स मयभेयं।''- सुजनों के हितार्थ वाणारसी मत का भेद कहता हूँ। इस ग्रन्थ में इस मत की उत्पत्ति का समय विक्रमसंवत् १६८० प्रकट किया है। यथा-

सिरिविक्कमनरनाहागए हिं सोलहसएहिं वासेहिं। असि उत्तरेहिं जायं वाणारसिअस्स मयभेयं॥१८॥

करते थे। तथा जो श्रावक उनका वार्षिक टैक्स नहीं देता था, वह बँधवा दिया जाता था। हम आज भले ही इस बात को महसूस न कर सकें, परन्तु एक समय था, जब समूचा दिगम्बर जैन समाज इन शिथिलाचारी साथ ही अत्याचारी पोपों की पीड़ित प्रजा था और इन पापों के सिंहासन को उलट देने वाला यही शक्तिशाली तेरहपंथ था। यह इसी की कृपा का फल है, जो आज हम इतनी स्वाधीनता के साथ धर्मचर्चा करते हुए नजर आ रहे हैं।

तेरहपंथीयों ने भट्टारकों या महन्तों की पूजा प्रतिष्ठा और सत्ता को तो नष्टप्राय कर दिया, परन्तु उनका साहित्य अब भी जीवित है और उसमें वास्तविक धर्म को विकृत कर देने वाले तत्त्व मौजूद हैं। यद्यपि तेरहपन्थी विद्वानों ने अपने भाषाग्रन्थों के द्वारा और ग्राम-ग्राम नगर-नगर में स्थापित की हुई शास्त्र सभाओं के द्वारा लोगों को इतना सजग और सावधान अवश्य कर दिया है कि अब वे शिथिलाचार की बातों को सहसा मानने के लिए तैयार नहीं होते हैं और वे यह भी जानते हैं कि भेषी पाखण्डियों ने वास्तविक धर्म को बहुत सी मिथ्यात्वपोषक बातों से भर दिया है, फिर भी संस्कृत ग्रन्थों के और अपने पूर्वकालीन बड़े-बड़े मुनि तथा आचार्यों के नाम से अब भी ठगाये जाते हैं। बेचारे सरल प्रकृति के लोग इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं कि धूर्त लोग आचार्य भद्रबाहु, कुन्दकुन्द, उमास्वाति, भगवज्जिनसेन आदि बड़े-बड़े पूज्य मुनिराजों के नाम से भी ग्रन्थ बनाकर प्रचलित कर सकते हैं। उन्हें नहीं मालूम है कि संस्कृत में जिस तरह सत्य और महान् सिद्धान्त लिखे जा सकते हैं, उसी तरह असत्य और पाप कथाएं भी रची जा सकती हैं।

अतएव इस ओर से सर्वथा निश्चिन्त न होना चाहिए। लोगों को इस संस्कृत भक्ति और नाम भक्ति से सावधान रखने के लिए और उनमें परीक्षाप्रधानता की भावना को दृढ़ बनाये रखने के लिए अब भी आवश्यकता है कि तेरहपंथ के उस मिशन को जारी रखा जाये जिसने भगवान् महावीर के धर्म को विशुद्ध बनाये रखने के लिए अब तक निःसीम परिश्रम किया है। हमें सुहृद्वार पण्डित जुगलकिशोर जी मुख्तार का चिर कृतज्ञ होना चाहिए कि उन्होंने अपनी 'ग्रन्थ परीक्षा' नामक लेखमाला और दूसरे समर्थ लेखों द्वारा इस मिशन को बराबर जारी रखा है और उनके अनवरत परिश्रम ने भट्टारकों की गद्दियों के समान उनके साहित्य के सिंहासन को भी उलट देने में कोई कसर बाकी नहीं रखी है।

लगभग १२ वर्ष के बाद 'ग्रन्थ परीक्षा' का यह तृतीय भाग प्रकाशित हो रहा है जिसका परिचय कराने के लिए मैं ये पंक्तियाँ लिख रहा हूँ। पिछले दो भागों की अपेक्षा यह भाग बहुत बड़ा है, और यही सोचकर यह इतने विस्तृत रूप में लिखा गया है कि अब इस विषय पर और कुछ लिखने की आवश्यकता न रहे। भट्टारकी साहित्य के प्रायः सभी अंग प्रत्यंग इसमें अच्छी तरह उघाड़ कर दिखला दिये हैं और जैनधर्म को विकृत करने के लिए भट्टारकों ने जो जो जघन्य और निन्द्य प्रयत्न किये है, वे प्रायः सभी इसके द्वारा स्पष्ट हो गये हैं।

मुख्तारसाहब ने इन लेखों को, विशेषकर के सोमसेन त्रिवर्णाचार की परीक्षा को, कितने परिश्रम

से लिखा है और यह उनकी कितनी बड़ी तपस्या का फल है, यह बुद्धिमान पाठक इसके कुछ ही पृष्ठ पढ़कर जान लेंगे। मैं नहीं जानता हूँ कि पिछले कई सौ वर्षों में किसी भी जैन विद्वान् ने कोई इस प्रकार का समालोचक ग्रन्थ इतने परिश्रम से लिखा होगा और यह बात तो बिना किसी हिचकिचाहट के कही जा सकती है कि इस प्रकार के परीक्षा लेख जैन साहित्य में सबसे पहले हैं और इस बात की सूचना देते हैं कि जैन समाज में तेरहपंथ द्वारा स्थापित परीक्षाप्रधानता के भाव नष्ट नहीं हो गये हैं। वे अब और भी तेजी के साथ बढ़ेंगे और उनके द्वारा मलिनीकृत जैनशासन फिर अपनी प्राचीन निर्मलता को प्राप्त करने में समर्थ होगा।

विद्वज्जनबोधक आदि ग्रन्थों में भी भट्टारकों के साहित्य की परीक्षा की गई है और उसका खण्डन किया गया है, परन्तु उनके लेखकों के पास जाँच करने की केवल एक ही कसौटी थी कि अमुक विधान वीतराग मार्ग के अनुकूल नहीं है, अथवा वह अमुक बड़े आचार्य के मत से विरुद्ध है और इससे उनका खण्डन बहुत जोरदार न होता था, क्योंकि श्रद्धालु फिर भी कह सकता था कि यह भी तो एक आचार्य का कहा हुआ है, अथवा यह विषय किसी ऐसे पूर्वाचार्य के अनुसार लिखा गया होगा जिसे हम नहीं जानते हैं, परन्तु ग्रन्थ परीक्षा के लेखक महोदय ने एक दूसरी अलब्धपूर्व कसौटी प्राप्त की है, जिसकी पहले के लेखकों को कल्पना भी नहीं थी और वह यह कि उन्होंने हिन्दुओं के स्मृति ग्रन्थों और दूसरे कर्मकाण्डीय ग्रन्थों के सैकड़ों श्लोकों को सामने उपस्थित करके बतला दिया है कि उक्त ग्रन्थों में से चुरा-चुराकर और उन्हें तोड़ मरोड़कर सोमसेन आदि ने ये अपने-अपने 'भानुमती के कुनबे' तैयार किये हैं, जाँच करने का यह ढंग बिल्कुल नया है और इसने जैनधर्म का तुलनात्मक पद्धति से अध्ययन करने वालों के लिए एक नया मार्ग खोल दिया है।

ये परीक्षालेख इतनी सावधानी से और इतने अकाट्य प्रमाणों के आधार से लिखे गये हैं कि अभी तक उन लोगों की ओर से जो कि त्रिवर्णाचारादि भट्टारकी साहित्य के परम पुरस्कर्त्ता और प्रचारक हैं, इनकी एक पंक्ति का भी खण्डन नहीं किया गया है और न अब इसकी आशा ही है। ग्रन्थपरीक्षा के पिछले दो भागों को प्रकाशित हुए लगभग एक युग (१२ वर्ष) बीत गया। उस समय एक दो पण्डितमन्यों ने इधर उधर घोषणायें की थीं कि हम उनका खण्डन लिखेंगे, परन्तु वे अब तक लिख ही रहे हैं। यह तो असंभव है कि लेखों का खण्डन लिखा जा सकता और फिर भी पण्डितों का दल का दल चुपचाप बैठा रहता, परन्तु बात यह है कि इन पर कुछ लिखा ही नहीं जा सकता। थोड़ी बहुत पोल होती, तो वह ढँकी भी जा सकती, परन्तु जहाँ पोल ही पोल है, वहाँ क्या किया जाये? गरज यह कि यह लेखमाला प्रतिवादियों के लिए लोहे के चने हैं, यह सब तरह से सप्रमाण और युक्तियुक्त लिखी गई है।

मुझे विश्वास है कि जैन समाज इस लेखमाला का पूरा आदर करेगा और इसे पढ़कर जैनधर्म में घुसे हुए मिथ्या विश्वासों, शिथिलाचारों और अजैन प्रवृत्तियों को पहचानने की शक्ति प्राप्त करके वास्तविक धर्म पर आरूढ़ होगा।

मेरी समझ में इस लेखमाला को पढ़कर पाठकों का ध्यान नीचे लिखी हुई बातों की ओर आकर्षित होना चाहिए–

१. किसी ग्रन्थ पर किसी जैनाचार्य या विद्वान् नाम देखकर ही यह निश्चय न कर लेना चाहिए कि वह जैन ग्रन्थ ही है और उसमें जो कुछ लिखा है, वह सभी भगवान् की वाणी है।

२. भट्टारकों ने जैनधर्म को बहुत ही दूषित किया है। वे स्वयं ही भ्रष्ट नहीं हुए थे, जैनधर्म को भी उन्होंने भ्रष्ट करने का प्रयत्न किया था। यह प्राय: असंभव है कि जो स्वयं भ्रष्ट हो, वह अपनी भ्रष्टता को शास्त्रोक्त सिद्ध करने का कोई स्पष्ट या अस्पष्ट प्रयत्न न करे।

३. भट्टारकों के पास विपुल धन सम्पत्ति थी। उसके लोभ से अनेक ब्राह्मण उनके शिष्य बन जाते थे और समय पाकर वे ही भट्टारक बनकर जैनधर्म के शासक पद को प्राप्त कर लेते थे। इसका फल यह होता था कि वे अपने पूर्व के ब्राह्मणत्व के संस्कार ज्ञात और अज्ञात रूप से जैनधर्म में प्रविष्ट करने का प्रयत्न करते थे। उनके साहित्य में इसी कारण अजैन संस्कारों का इतना प्राबल्य है कि उसमें वास्तविक जैन धर्म बिल्कुल छुप गया है।

४. सुना गया है कि भट्टारक लोग ब्राह्मणों को नौकर रखकर उनके द्वारा अपने नाम से ग्रन्थ रचना कराते थे। ऐसी दशा में यदि उनके साहित्य में जैनधर्म की कलई किया हुआ ब्राह्मण साहित्य ही दिखलाई दे, तो कुछ आश्चर्य न होना चाहिए।

५. इस बात का निश्चय करना कठिन है कि भट्टारकों के साहित्य का कब से प्रारम्भ हुआ है, इसलिए अब हमें इस दूध से जलकर छाँछ को भी फूँक-फूँक कर पीना चाहिए। हमें अपनी एक ऐसी विवेक की कसौटी बना लेनी चाहिए जिस पर हम प्रत्येक ग्रन्थ को कस सकें। जिस तरह हमें किसी बड़े आचार्य के नाम से भुलावे में न पड़ना चाहिए, उसी तरह प्राचीनता के कारण भी किसी ग्रन्थ पर विश्वास न कर लेना चाहिए।

६. संस्कृत के विद्यार्थियों, पण्डितों तथा शास्त्रियों का ध्यान इन लेखमालाओं के द्वारा तुलनात्मक पद्धति की ओर आकर्षित होना चाहिए और उन्हें प्रत्येक विषय का अध्ययन खूब परिश्रम से करने की आदत डालनी चाहिए। ये परीक्षा लेख बतलाते हैं कि परिश्रम करना किसे कहते हैं।

७. अभी जरूरत है कि और अनेक विद्वान्, इस मार्ग पर काम करें। भट्टारकों के रचे हुए कथाग्रन्थ और चरितग्रन्थ बहुत अधिक हैं। उनका भी बारीकी से अध्ययन किया जाना चाहिए और जिन प्राचीन ग्रन्थों के आधार से वे लिखे गये हैं, उनके साथ उनका मिलान किया जाना चाहिए। भट्टारकों ने ऐसी भी बीसों कथायें स्वयं गढ़ी हैं जिनका कोई मूल नहीं है।

अंत में सुहृद्वार पण्डित जुगलकिशोर जी को उनके इस परिश्रम के लिए अनेकश: धन्यवाद देकर मैं अपने इस वक्तव्य को समाप्त करता हूँ। सोमसेन त्रिवर्णाचार की यह परीक्षा उन्होंने मेरे ही आग्रह और मेरी ही प्रेरणा से लिखी है, इसलिए मैं अपने को सौभाग्यशाली समझता हूँ। क्योंकि इससे जैन समाज का जो मिथ्याभाव हटेगा, उसका एक छोटा सा निमित्त मैं भी हूँ। इति।

इस कृति के प्रकाशक जौहरीमल जैन लिखते हैं कि—

'सूर्यप्रकाश' कैसा, किस कोटि का जाली ग्रन्थ है, कितना अधिक जैनत्व से गिरा हुआ है, कहाँ तक भगवान् महावीर के पवित्र नाम को कलंकित तथा जैनशासन को मलिन करने वाला है और उसका अनुवाद कितना अधिक निरंकुशता, धूर्तता एवं अर्थ के अनर्थ को लिए हुए है, ये सब बातें इस परीक्षा-लेखमाला में दिनकर-प्रकाश की तरह स्पष्ट करके बतलाई गई हैं। जैनसमाज में ग्रन्थों की परीक्षा के मार्ग को स्पष्ट और प्रशस्त बनाने वाले मुख्तार साहब पण्डित जुगलकिशोर जी की यह लेखमाला 'जैनजगत्' में १६ दिसम्बर सन् १९३१ के अङ्क से प्रारम्भ होकर पहली फरवरी सन् १९३३ तक के अङ्कों में १० लेखों द्वारा प्रकट हुई थी। उसी को मुख्तार साहिब से पुनः संशोधित कराकर यह पुस्तक रूप में प्रकट किया जा रहा है। लेखक महोदय ने इस लेखमाला के द्वारा ग्रन्थ की असलियत को खोलकर निःसन्देह समाज का बड़ा ही उपकार किया है। आपका यह लिखना बिल्कुल ठीक है कि इस ग्रन्थ की गोमुख-व्याघ्रता 'चर्चासागर' से भी बढ़ी चढ़ी है और इसलिये इसके द्वारा समाज को अधिक हानि पहुँचने की सम्भावना है। अतः समाज के सभी सज्जनों से मेरा सानुरोध निवेदन है कि वे इस पुस्तक को ग़ौर के साथ साद्यन्त पढ़ने की कृपा करें और उसके फलस्वरूप चर्चासागर के इस बड़े भाई 'सूर्यप्रकाश' का शीघ्र की पूर्ण रूप से बहिष्कार करके प्राचीन जैनसाहित्य और जैनशासन की रक्षा का पुण्य सम्पादन करें।

अन्त में मैं, लेखक महोदय और भूमिका-लेखक पण्डित दरबारीलाल जी का तथा श्रीमान् ब्र. दीपचन्द्र जी वर्णी का हृदय से आभार मानता हुआ, उन सभी सज्जनों का सहर्ष धन्यवाद करता हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन में मुझे आर्थिक आदि किसी भी प्रकार की सहायता प्रदान की है।

श्री वीरशासन सेवी दीपचन्द्र वर्णी मेरे विचार शीर्षक से ग्रन्थ की उपयोगिता लिखते हैं—

कोई चार वर्ष के क़रीब हुए, जाँबुडो (गुजरात) में मुझे 'सूर्यप्रकाश' ग्रन्थ को देखने का अवसर मिला था और उसे देखने पर ग्रन्थ के निर्माण, अनुवाद, प्रकाशन और दिगम्बर जैन पुस्तकालय सूरत के विज्ञापन में उसे स्थान दिये जाने आदि पर कितनी ही शंकाएँ उत्पन्न हुई थीं। हाल में पण्डित जुगलकिशोर जी मुख्तार की लिखी हुई उसकी पूरी परीक्षा-लेखमाला को भी मैंने पढ़ा है। वास्तव में स्वामी समन्तभद्र द्वारा प्रतिपादित शास्त्रलक्षण के अनुसार यह 'सूर्यप्रकाश' ग्रन्थ कोई जैनशास्त्र नहीं है। इसमें पद पद पर विरोध भरे पड़े हैं, प्रतिवादियों को इसके द्वारा जैनधर्म के खण्डन का एक अमोघ शस्त्र प्राप्त हो जाता है, तत्त्वोपदेश का तो इसमें नामोनिशान भी नहीं है, मोही प्राणियों को जो कि बेचारे आप ही मोक्षमार्ग को भूले हुए हैं और भी भुलावे में डालकर उनका अहित करने वाला है और मिथ्यात्व का वर्धक है। तब ग्रन्थकार ने ऐसा मिथ्यात्वपोषक ग्रन्थ रचा ही क्यों? इस शंका के लिए इतना ही समझ लेना काफ़ी होगा कि अहंमन्य मुनिराज सोमसेन

भट्टारक ने जब त्रिवर्णाचार जैसा ग्रन्थ रचकर संसार को भुलावे में डाल दिया है, तब ये ग्रन्थकार महाशय नेमिचन्द्र भी तो उन्हीं शिथिलाचारी भट्टारकों के शिष्य-प्रशिष्य हैं, शिष्य महाशय यदि गुरु से दो क़दम आगे न बढ़ें तो गुरु का नाम ही क्या चला सकेंगे? ठीक है, इनको ऐसा ही करना उचित था, क्योंकि ये बहुआरम्भी और परिग्रही थे, विषयकषायों के गहरे रंग में रंगे हुए थे, ऐसा करने में ही इनके प्रयोजन की सिद्धि थी अथवा ये ऐसा ही कर सकते थे। इनके पास थे भी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र, उन्हीं को इन्होंने दूसरों को बतलाया है।

भट्टारकीय संस्कारों से संस्कारित होने के साथ-साथ ये ग्रन्थकार महाशय अज्ञानबहुल भी थे, इसी से वे अपनी इस रचना में सिद्धहस्त न हो सके। इन्होंने जो कुछ विचार प्रकट किये, वे सब भगवान् महावीर के मुख से भविष्य में होने वाली घटनाओं के सम्बन्ध में किये हैं, परन्तु खेद है कि भविष्य कहलाते कहलाते आप भूत भी कहलाने लगे और वह भी उनके सम्बन्ध में जिनका अस्तित्त्व न तो भगवान् महावीर से पहले ही था और न वे वीर प्रभु के समकालीन ही थे। इसी के साथ आप ऐसी ऐसी बातें भी कहला गये जो पूर्वापर विरोध को लिये हुए तथा जैन सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध हैं। इतना ही नहीं, किन्तु जिन कठोर एवं तिरस्कारमय अपशब्दों के कहने में एक साधारण अज्ञानी तीव्रकषायी जीव भी शंकित और संकुचित होवे उन्हें भी आप बिना किसी संकोच के परम वीतरागी भगवान् महावीर के मुख से कहला गये हैं। और वह भी प्रायः उन्हीं के उपासकों के प्रति। इन सब असम्बद्ध विरुद्धादि विलक्षण बातों का इस परीक्षा में विस्तार के साथ अच्छा दिग्दर्शन कराया गया है। उसे पाठकों को देखना चाहिए। अच्छा होता यदि ग्रन्थकार महाशय अपने विचार स्वयं स्वतन्त्र रीति से लिखते और महाराजा श्रेणिक का सम्बन्ध मिलाकर उन्हें वीर प्रभु के द्वारा कहे गये प्रकट न करते, इससे प्रभु का अवर्णवाद तो न होता। अपने विचारों के साथ में महावीर प्रभु का नाम जोड़ देना घोर अपराध है और दूसरों को धोखा देना है।

समझ में नहीं आता पण्डित नन्दनलाल जी वर्तमान क्षुल्लक ज्ञानसागर जी महाराज अपना गृहस्थावास त्याग करके जब केवल सम्यग्दर्शनादि आराधनाओं का विशेष रूप से आराधन करने के लिये ही अनगार संघ में विचर रहे हैं, तब वे ऐसे दूषित ग्रन्थों के अनुवादादि द्वारा उनके प्रचार में क्यों लग गये? आपने केवल सूर्यप्रकाश ही नहीं, किन्तु चर्चासागर भी प्रकाशित कराकर दानविचार भी स्वतन्त्र रच डाला, जिनकी समीक्षायें भी निकल चुकी हैं और जिनके कारण समाज में खासी हलचल (जंग) मची हुई है। मेरी यह शंका और भी गम्भीर हो जाती है जब मैं देखता हूँ कि इन ग्रन्थों का समर्थन दक्षिणी मुनिसंघ के द्वारा किया गया है। श्रीमान् आचार्य शान्तिसागर जी महाराज कुछ भी इनके विरुद्ध अपना मत प्रकट नहीं कर रहे हैं और इसलिये कितनी ही भोली जनता इनको जैन शास्त्र समझकर अपना रही है। मालूम होता है या तो आचार्य शान्तिसागर महाराज इन ग्रन्थों से सहमत हैं या अपने सच्चे विचार किसी कारण से प्रकट करने में असमर्थ हैं अथवा उनको असली बात बतलाई ही नहीं जाती। कुछ भी हो, उनका कर्तव्य है कि वे इनके विषय में शीघ्र ही अपना

स्पष्ट मत जैसा हो, वैसा अवश्य ही प्रकट करा देवें, जिससे जनता का भ्रम मिट जावे। जहाँ तक मैं समझता हूँ उनको ग्रन्थों तथा ग्रन्थसमीक्षाओं आदि की ये सब बातें विदित ही नहीं होतीं और यों ही संघ की अकीर्ति हो रही हैं। अतः समाज के व्यक्तियों को चाहिए कि वे आचार्य महाराज के परिचय में ये सब बातें लाएँ और फिर उनसे पूछें कि वे प्रकृत ग्रन्थादि के विषय में अब क्या मत रखते हैं? इन्हें आर्ष ग्रन्थ (आगम) मानते हैं या कि धर्मविरुद्ध संसार परिपाटी के वर्द्धक मानते हैं?

खेद है कि अनुवादक महाशय क्षुल्लक ज्ञानसागर जी ने इस ग्रन्थ के कर्ता पण्डित नेमिचन्द्र को आचार्य नेमिचन्द्र बना डाला है। और अनुवाद में मूलार्थ के नाम से बहुत-सी अपनी बातें मिला दी हैं। उनकी इस कृति से भले ही कुछ भोले-भाले प्राणी ठगाए जायें, परन्तु विवेकी परीक्षक पुरुष तो कभी भी ठगाये नहीं जा सकते। वे जब आचार्य नेमिचन्द्र की कृतियों के साथ पण्डित नेमिचन्द्र की इस कर्तूत 'सूर्यप्रकाश' को अथवा बाबा भागीरथ जी वर्णी के शब्दों में 'घोर मिथ्यात्वप्रकाश' को रखेंगे तो वे इसे पढ़ना तो अलग रहा, छूना भी पसन्द नहीं करेंगे॥ अच्छा होता यदि अनुवादक महाशय मूलार्थ जैसा का तैसा प्रकट करके टिप्पणी में चाहे जो कुछ लिखते, इससे अनुवाद का मूल्य बढ़ जाता। अथवा जिन-जिन विषयों पर आपको विवेचन करना था, उन पर स्वतन्त्र ही लिखते तो भी अच्छा होता। परन्तु उन्होंने ऐसे पूर्वापरविरोधी आगमविरोधी, वीर प्रभु का अवर्णवाद करने वाले ग्रन्थ का सहारा लिया, इससे जनता पर उलटा ही प्रभाव पड़ा।

अन्त में मैं श्रीमान् क्षुल्लक ज्ञानसागर जी और मुनिसंघ से भी सादर निवेदन करता हूँ कि वे इस ग्रन्थपरीक्षा की रोशनी में पुनः इस ग्रन्थ पर विचार करके अपना मत प्रकट करने की कृपा करें, तथा भविष्य में ऐसे ग्रन्थों का ही प्रकाशन व समर्थन करें जो वीरवाणी के अनुसार श्रीकुन्दकुन्दादि माननीय आचार्यों द्वारा रचित होवें अर्थात् जो मिथ्यात्व अंधकार के नाशक, रागद्वेषादि संसार की परिपाटी के उच्छेदक तथा वीतरागता विज्ञानता के पोषक होवें और जनता से भी साग्रह प्रेरणा है कि वह भी अब परीक्षा के समय में ज्यों-त्यों किसी पूर्व ऋषि के नाम मात्र से ठगावें नहीं, किन्तु उन ऋषियों के अन्यान्य वचनों से, आगम और आम्नाय से मिलान करें, फिर अनुमान और आगमों से जाँच करके भी स्वीकार करें क्योंकि जितने वचन वीतराग विज्ञानता के पोषक हैं वे सब जैन वचन हैं और रागादिकवर्द्धक हैं, वे सब जैनधर्म के विरुद्ध मिथ्याशास्त्र या वचन हैं।

मैंने ये विचार सज्जनों के विचारने के लिये लिखे हैं। मुझे किसी से कोई विरोध नहीं है। मैं तो सत्य जिन (वीर) वाणी का प्रकाश चाहता हूँ, उसी का उपासक हूँ।

पं० दरबारीलाल न्यायतीर्थ 'साहित्यरत्न' इस ग्रन्थ के चौथे खण्ड की भूमिका में लिखते हैं—

''जितना पीला है, उतना सब सोना नहीं है'' यह कहावत उन भोले भाइयों को समझाने के लिये बहुत ही उपयुक्त है, जो विवेक और गम्भीर दृष्टि से काम न लेकर वेष और भाषा के जाल में फँसकर सन्मार्ग पर नहीं पहुँचने पाते या उससे भ्रष्ट होते हैं। शास्त्रों के विषय में यह कहावत

पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है। मिथ्यात्व की तीन मूढ़ताओं में शास्त्रमूढ़ता को जो स्वतन्त्र स्थान नहीं दिया गया, उसका कारण यह है कि यह एक स्वतन्त्र मूढ़ता नहीं है किन्तु सब मूढ़ताओं का प्राण है। सब मूढ़ताओं के मूल में यह मूढ़ता रहती है। यह मूढ़ताओं की जननी है।

साधारण लोगों की विवेक शक्ति बहुत हलकी रहती है। और किसी चीज को पहचानने के लिये उनके लक्षण बहुत व्यभिचरित रहते हैं। यही कारण है कि शास्त्रों के समान वे शास्त्रों की भाषाओं को भी महत्त्व देते हैं। इसी से लोग शास्त्र के समान संस्कृत के किसी भी श्लोक से घबराते हैं, डरते हैं। जनता की इस कमजोरी का धूर्त पण्डितों ने खूब ही दुरुपयोग किया है। संस्कृत भाषा भारत के प्रायः सभी प्राचीन सम्प्रदायों में सम्मान की दृष्टि से देखी जाती है, इसलिये धूर्त पण्डित इसका सदा दुरुपयोग करते रहे हैं। सभी सम्प्रदायों में इस प्रकार का धूर्ततापूर्ण साहित्य तैयार हुआ है और बहुत अधिक हुआ है। जैनियों ने जिस प्रकार साहित्य के सभी अंगों की पूर्ति की है, उसी प्रकार इस अंगविकार की भी पूर्ति की है।

धर्म के नाम पर अनेक जैन लेखक बड़ा से बड़ा पाप करने से भी पीछे नहीं हटे हैं। यहाँ तक कि उन्होंने मनमाने ग्रन्थ बनाकर उनके रचयिता भद्रबाहु श्रुतकेवली, कुन्दकुन्द, उमास्वामी, जिनसेन आदि को बना दिया है। और इस प्रकार जनता की आँखों में धूल झोंकने की असफल कुचेष्टा की है। कुछ लोग ऐसे हैं जिन्होंने ग्रन्थ पर तो अपना नाम दिया है, परन्तु उसमें भगवान् महावीर आदि के मुख से इस प्रकार के वाक्य कहलाये हैं, जो जैनधर्म के विरुद्ध, क्षुद्रतापूर्ण और दलबन्दी के आक्षेपों से भरे हुए हैं।

इसी श्रेणी के ग्रन्थों में 'सूर्यप्रकाश' भी एक है, जिसकी अधार्मिकता और अनौचित्य का इस पुस्तक में मुख्तार साहिब ने बड़ी अच्छी तरह से प्रदर्शन किया है। इस प्रकार के जाली ग्रन्थों का भण्डाफोड़ करने के कार्य में मुख्तार साहिब सिद्धहस्त हैं। आपने भद्रबाहु-संहिता, कुन्दकुन्द-श्रावकाचार, उमास्वामी श्रावकाचार, जिनसेन त्रिवर्णाचार आदि जाली ग्रन्थों की परीक्षा करके शास्त्रमूढ़ता को हटाने का सफलतापूर्ण और प्रशंसनीय उद्योग किया है।

ग्रन्थ परीक्षा के इस कार्य की सैकड़ों विद्वानों ने जहाँ मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है, वहाँ इस कार्य के निन्दकों की भी कमी नहीं है। परन्तु इससे अन्धविश्वासियों और स्वार्थियों की अस्तित्त्व-सिद्धि के सिवाय और कुछ प्रतीत नहीं होता।

सत्य के दर्शन बड़े सौभाग्य से मिलते हैं। दर्शन होने पर उस तक पहुँचना बड़ी वीरता का कार्य है और पहुँच करके उसके चरणों में सिर झुकाकर आत्मोत्सर्ग करना देवत्व से भी अधिक उच्चता का फल है। जिनका यह सौभाग्य नहीं है, जिनमें यह वीरता नहीं है, जिनमें यह उच्चता नहीं है वे असत्य के जाल में फंसकर अपना सर्वस्व नष्ट करते हैं। इतना ही नहीं, किन्तु उनका ईर्ष्यालु हृदय दूसरों की सत्य-प्राप्ति को सहन नहीं कर सकता। इसलिये वे निन्दा करते हैं, गालियाँ देते हैं, कटाक्षेप करते हैं और जिस आधार पर वे अपनी सत्यता के गीत गाते हैं, उस आधार को काटने

तक के लिये तैयार हो जाते हैं।

''जैनधर्म एक वैज्ञानिक धर्म है'' इस बात को वे लोग भी बड़े गौरव के साथ कहते हैं, जो बिल्कुल अन्धश्रद्धालु हैं और दूसरों की आलोचना करते समय जो परीक्षा की युक्ति-तर्क की दुहाई देते हैं। परन्तु जब किसी निष्पक्ष परीक्षा से उनके अन्धविश्वास को या स्वार्थ को धक्का पहुँचता है, तब उनका हृदय तिलमिला उठता है। वे शास्त्र की परीक्षा को पाप कहने लगते हैं। इस समय उनकी हास्यास्पद मनोवृत्ति एक तमाशा बन जाती है।

इस दुर्मनोवृत्ति से त्रस्त होकर वे चिल्लाने लगते हैं कि ''बस! परीक्षा मत करो परीक्षा करना पाप है। सरस्वती की परीक्षा करना माता के सतीत्व की परीक्षा करने के समान निन्द्य है। जब हम माँ-बाप की परीक्षा नहीं करते, तब हमें सरस्वती की परीक्षा करने का क्या हक है? दुनियाँ के सैकड़ों कार्य बिना परीक्षा के ही चलते हैं आदि।''

अगर कोई वैनयिक मिथ्यात्वी या अज्ञानिक मिथ्यात्वी इस प्रकार के उद्गार निकालता है तो उसकी इस मनोवृत्ति को अनुचित कहते हुए भी हम क्षम्य समझते हैं परन्तु जो एकान्त या विपरीत मिथ्यात्वी हैं और अपने को सम्यक्त्वी विवेकी ज्ञानी समझते हैं तथा अपने पक्ष का मण्डन और परपक्ष का खण्डन करते हैं, जब वे परीक्षा को पाप कहने लगते हैं तब उनकी यह निर्लज्जता उस सीमा पर पहुँच जाती है जिसे देखकर निर्लज्जता भी लज्जित हो जावे।

अरे भाई! माँ बाप की परीक्षा न करना तो ठीक, परन्तु जगत् में ऐसा कौन प्राणी है जो जीवन के अधिकांश कार्य परीक्षापूर्वक न करता हो। एक कीड़ी (चींटी) भी जब कोई चीज खाती है तब अपनी शक्ति के अनुसार उसकी परीक्षा कर लेती है कि वह भक्ष्य है या अभक्ष्य? हम भी हर एक पुरुष को बाप नहीं मानते, किन्तु आकृति आदि से पहचानकर परीक्षा कर उसे बाप मानते हैं। हाँ, यह बात दूसरी है कि कहीं परीक्षा शीघ्र होती है, कहीं देरी से होती है, कहीं थोड़ी होती है, कहीं बहुत होती है, कहीं अल्पावश्यक होती है, कहीं बह्वावश्यक होती है, परन्तु परीक्षा होती सब जगह है। इस विषय में तीन बातें विचारणीय हैं-

१. वस्तु का मूल्य, २. परीक्षा की सुसम्भवता की मात्रा, ३. परीक्षा करने न करने से लाभ-हानि की मर्यादा।

१. रत्न परीक्षा में हम जितना परिश्रम करते हैं, उतना भाजी तरकारी की परीक्षा में नहीं करते। धर्म अथवा शास्त्र सबसे अधिक बहुमूल्य हैं, उस पर हमारा ऐहिक और पारलौकिक समस्त सुख निर्भर है। उसका स्थान माँ बाप से बहुत ऊँचा और बहुत महत्त्वपूर्ण है, इसलिये अगर हम सब पदार्थों की परीक्षा करना छोड़ दें तो भी शास्त्र की परीक्षा करना हमें आवश्यक ही रहेगा।

२. माता के सतीत्व असतीत्व की परीक्षा करने का हमारे पास सुलभ साधन नहीं है। उसकी प्रामाणिक साधनसामग्री मिलना बहुत कठिन है, जबकि शास्त्रपरीक्षा में हमारी विवेक बुद्धि ही पूरा काम कर सकती है। और परीक्षा की साधन-सामग्री भी बहुत मिलती है।

३. तीसरी और सबसे अधिक विचारणीय लाभ-हानि की मर्यादा है। माता के सतीत्व की परीक्षा सरल हो या कठिन, परन्तु पुत्र के लिये वह निरर्थक है। क्योंकि अब वह दूसरे के गर्भ में जाकर अन्य का पुत्र नहीं बन सकता। उसकी माता सती हो या असती, उसकी माता ही बनी रहेगी। इसके अतिरिक्त असती होने पर भी माता के उपकारों का बोझ हट नहीं सकता। परन्तु शास्त्र के विषय में यह बात नहीं है। शास्त्र अगर कुशास्त्र हो तो हमको अधोगति में ले जायेगा, हमारे जीवन को बर्बाद कर देगा। साथ ही वह हमारे जीवन के साथ बंधा हुआ नहीं है, हम चाहें तो कुशास्त्र से अपनी श्रद्धा को हटा सकते हैं।

इस प्रकार तीनों दृष्टियों से शास्त्र की परीक्षा अन्य सब परीक्षाओं की अपेक्षा अधिक आवश्यक है।

कोई कोई भाई कहने लगते हैं कि ''जिन शास्त्रों से हमने अपनी उन्नति की, उनकी परीक्षा करना तो कृतघ्नता है'' ऐसे भाइयों को समझना चाहिए कि उन्नति का कारण सत्य है, असत्य नहीं। शास्त्रों में जो सत्य है उसको छोड़ने का कोई उपदेश नहीं देता, असत्य को छोड़ने का उपदेश देता है, जो कि हमारी उन्नति का कारण नहीं है।

दूसरी बात यह है कि जिन जाली शास्त्रों की हम परीक्षा कर रहे हैं, उनको पढ़ करके हम उन्नत हुए हैं यह कहना मिथ्या है।

तीसरी बात यह है कि अगर हम दूध को पीकर पुष्ट हुए हैं इस पर कोई विषमिश्रित दूध पिलाना चाहे और हम न पियें तो इसमें दूध का अपमान नहीं विष का अपमान है। शास्त्र में असत्य का मिश्रण होने से अगर हम उसका त्याग करते हैं तो इसमें असत्य का अपमान है, न कि शास्त्र का।

चौथी बात यह है कि परीक्षा कृतघ्नता नहीं, किन्तु प्रेम-भक्ति और आदर का परिणाम है। सुवर्ण से हम प्रेम करते हैं, इसलिये उसकी खूब परीक्षा करते हैं। उसमें कोई मैल न रह जाये इसलिये बार बार अग्नि में डालते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम सुवर्ण से द्वेष करते हैं। इसी प्रकार शास्त्र की परीक्षा करना भी प्रेम, भक्ति और आदर का सूचक है।

कोई कोई भाई कहने लगते हैं कि ''हम शास्त्रकार से अधिक बुद्धिमान हों तो परीक्षा कर सकते हैं।'' परन्तु यह विचार भी ठीक नहीं है। पहली बात तो यह है कि अमुक ग्रन्थ बनाने वाला आजकल के सब मनुष्यों से अधिक बुद्धिमान था, यह समझना मिथ्या है।

दूसरी बात यह है कि अल्पबुद्धि होकर के भी हम किसी बात की परीक्षा कर सकते हैं। सुन्दर गान की परीक्षा के लिये सुन्दर गायक होना आवश्यक नहीं है। यदि हम स्वयं परीक्षा न कर सकते हों तो दूसरा आदमी जो परीक्षा करे उसकी जाँच तो अवश्य कर सकते हैं। अगर हम इतनी भी परीक्षा नहीं कर सकते, तो अपने पक्ष को सत्य और दूसरे के पक्ष को असत्य कहने का हमें कोई हक़ नहीं रह जाता है। हम विवेकियों में अपनी गणना कदापि नहीं कर सकते॥

जैनसमाज में छोटे-छोटे बालकों को भी शास्त्र का लक्षण पढ़ाया जाता है। लक्षण का उपयोग परीक्षा में ही है। यदि शास्त्र की परीक्षा करना पाप है तो उसका लक्षण बनाना और पढ़ाना भी पाप है, क्योंकि परीक्षा के सिवाय लक्षण का दूसरा उपयोग ही क्या है? जबकि हमारे आचार्यों ने शास्त्र का लक्षण बताया है और स्वामी समन्तभद्र से लेकर पण्डित टोडरमल तक प्रायः सभी सुलेखकों ने शास्त्र की परीक्षा की है, तब यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैनधर्म में परीक्षा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और आवश्यक स्थान रखती है।

जब भगवान् महावीर के वचन अपने मूलरूप में उपलब्ध न हों, अंगपूर्व नष्ट हो गये हों, जैनधर्म ने हजारों वर्षों तक अनेक ऊँचे नीचे दिन देखे हों, परिस्थितियों के प्रभाव से अनेक दल हो गये हों, दलबन्दियों के चक्कर में पड़कर शास्त्र नाम की ओट में अनेक लेखकों ने एक दूसरे पर कीचड़ उछाला हो, अनेक आचार्यों और टोडरमल जी सरीखे विख्यात ऐतिहासिक विद्वानों को भी परीक्षा की दुहाई देनी पड़ी हो, उस समय शास्त्रपरीक्षा की आवश्यकता कितनी अधिक हो जाती है, इसके कहने की आवश्यकता नहीं है।

'सूर्यप्रकाश' कैसा ग्रन्थ है और उसकी परीक्षा कैसी लिखी गई है, इसकी आलोचना करने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि जाली ग्रन्थों में जितनी धूर्तता और क्षुद्रता हो सकती है वह सब इसमें है, और उसकी परीक्षा के विषय में तो मुख्तार साहिब का नाम ही काफ़ी है। यह खेद और लज्जा की बात है कि सूर्यप्रकाश सरीखे भ्रष्ट ग्रन्थों के प्रचारक ऐसे लोग हैं जिन्हें कि कि बहुत से लोग भ्रमवश विद्वान् और मुनि समझते हैं। परन्तु इसमें उन लोगों का जितना अपराध है उतना या उससे कुछ अधिक अपराध जनता का भी है। स्वार्थी लोग अपनी स्वार्थसिद्धि की कोशिश करें, धूर्त लोग धूर्तता दिखायें इसमें क्या आश्चर्य है? यह स्वाभाविक है। जनता को अपना बचाव स्वयं करना चाहिए, उसे सदा सतर्क रहना चाहिए॥ अपने उद्धार के लिये अपने ही विवेक की आवश्यकता है। आशा है इस परीक्षाग्रन्थ को पढ़कर बहुत-से पाठकों का विवेक जाग्रत होगा।

❑ ❑ ❑

विद्वानों की कुछ सम्मतियाँ—

१. त्यागमूर्ति बाबा भागीरथजी वर्णी—''संसार में जितने अनर्थ होते हैं, वे केवल स्वार्थसिद्धि पर निर्भर है। इस ग्रन्थ का नाम 'सूर्यप्रकाश' है यदि ''घोर मिथ्यात्व प्रकाश'' रहता तो अच्छा होता, क्योंकि इसमें श्री महावीर स्वामी का घोर अवर्णवाद किया गया है।''

२. न्यायालंकार पं० वंशीधरजी सिद्धान्तशास्त्री, इन्दौर—''आपका जो अति पैनी बुद्धि सचमुच सूर्य के प्रकाश का भी विश्लेषण कर उसके अनवर्ति तत्त्वों के निरूपण करने में कुशल है, उसके द्वारा यदि नामतः सूर्यप्रकाश की समीक्षा की गई है तो उसमें कोई भी तत्त्व गुह्य नहीं रह सकता है। अनुवाद के हृदय का भी सच्चा फोटू आपने प्रकट कर दिखाया है। आपकी यह परीक्षा तथा पूर्वलिखित ग्रन्थपरीक्षाएँ बड़ी काम की चीजें होगी।''

३. पं० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ, सूरत—'' 'सूर्यप्रकाश-परीक्षा' के लेख मैंने अक्षरशः पढ़े हैं। उनकी तारीफ मैं तो क्या करूँ, मगर विरोधी जीव भी बेचैन हो जाते होंगे, परन्तु वे क्या करें? हठ का भूत जो उनपर सवार है।''

४. रायबहादुर साहू जगमन्दरदासजी, नजीबाबाद—''चर्चासागर के बड़े भाई 'सूर्यप्रकाश' ग्रन्थ की परीक्षा देखकर तो मेरे शरीर के रोंगटें खड़े हो गये...। पूज्य पं० टोडरमलजी आदि कुछ समर्थ विद्वानों के प्रयत्न से यह भट्टारकीय साहित्य बहुत कुछ लुप्तप्राय हो गया था परन्तु दुख का विषय है कि अब कुछ भट्टारकानुयायी पंडितों ने उसका फिर से उद्धार करने का बीड़ा उठाया है। अतः समाज को अपने पवित्र साहित्य की रक्षा के लिए बहुत ही सतर्कता के साथ सावधान हो जाना चाहिए और ऐसे दूषित ग्रन्थों का जोरों के साथ बहिष्कार करना चाहिए, तभी हम अपने पवित्र धर्म और पूज्य आचार्यों की कीर्ति को सुरक्षित रख सकेंगे।''

अनुक्रमणिका

ग्रन्थ-परीक्षा : उमास्वामि-श्रावकाचार

जैनसमाज में उमास्वामी या उमास्वाति नाम के एक बड़े भारी विद्वान् आचार्य हो गये हैं, जिनके निर्माण किये हुए तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, गंधहस्तिमहाभाष्यादि अनेक महत्त्वपूर्ण बड़ी-बड़ी टीकाएँ और भाष्य बन चुके हैं। जैन सम्प्रदाय में भगवान् उमास्वामी का आसन बहुत ऊँचा है और उनका पवित्र नाम बड़े ही आदर के साथ लिया जाता है। उमास्वामी महाराज श्री कुन्दकुन्द मुनिराज के प्रधान शिष्य कहे जाते हैं और उनका अस्तित्व विक्रम की पहली शताब्दी के लगभग माना जाता है। 'तत्त्वार्थसूत्र' के सिवाय भगवत् उमास्वामी ने किसी अन्य ग्रन्थ का प्रणयन किया या नहीं? और यदि किया, तो किस-किस ग्रन्थ का? यह बात अभी तक प्रायः अप्रसिद्ध है। आमतौर पर जैनियों में आपकी कृतिरूप से तत्त्वार्थसूत्र की ही सर्वत्र प्रसिद्धि पाई जाती है। शिलालेखों तथा अन्य आचार्यों के बनाए हुए ग्रन्थों में भी उमास्वामी के नाम के साथ तत्त्वार्थसूत्र का उल्लेख मिलता है।[१]

'उमास्वामी-श्रावकाचार' भी कोई ग्रन्थ है, इतना परिचय मिलते ही पाठकहृदयों में स्वभाव से ही यह प्रश्न उत्पन्न होना सम्भव है कि क्या उमास्वामी महाराज ने कोई पृथक् 'श्रावकाचार' भी बनाया है? और यह श्रावकाचार, जिसके साथ में उनके नाम का सम्बन्ध है, क्या वास्तव में उन्हीं उमास्वामी महाराज का बनाया हुआ है, जिन्होंने 'तत्त्वार्थसूत्र' की रचना की है? अथवा इसका बनाने वाला कोई दूसरा ही व्यक्ति है? जिस समय सबसे पहले मुझे इस ग्रन्थ के शुभ नाम का परिचय मिला था, उस समय मेरे हृदय में भी ऐसे ही विचार उत्पन्न हुए थे। मेरी बहुत दिनों से इस ग्रन्थ को देखने की इच्छा थी। परन्तु ग्रन्थ न मिलने के कारण वह अभी तक पूरी न हो सकी थी। हाल में श्रीमान् साहू जुगमंदरदासजी रईस, नजीबाबाद की कृपा से मुझे ग्रन्थ का दर्शन सौभाग्य प्राप्त हुआ है, जिसके लिये मैं उनका हृदय से आभार मानता हूँ और वे मेरे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं।

इस ग्रन्थ पर हिन्दी भाषा की एक टीका भी मिलती है, जिसको किसी 'हलायुध' नाम के पण्डित ने बनाया है। हलायुधजी कब और कहाँ पर हुए और उन्होंने किस सन्-सम्वत् में इस भाषाटीका को बनाया, इसका कुछ भी पता उक्त टीका से नहीं लगता। हलायुध जी ने इस विषय में

---

१. यथा-अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रं वंशे तदीये सकलार्थवेदी।
सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुंगवेन॥ -श्रवणबेलगोलस्थ शिलोलेखः।
श्रीमानुमास्वातिरयं यतीशस्तत्त्वार्थसूत्रं प्रकटीचकार।
यन्मुक्तिमार्गाचरणोद्यतानां पाथेयमर्घ्यं भवति प्रजानाम्॥ -वादिराजसूरिः।

अपना जो कुछ परिचय दिया है, उसका एक मात्र परिचायक, ग्रन्थ के अंत में दिया हुआ, यह छन्द है–

चंद्रवाडकुलगोत्र सुजानि। नाम हलायुध लोक बखानि।
तानें रचि भाषा यह सार। उमास्वामि को मूल सुसार॥

इस ग्रन्थ के श्लोक नं० ४०१ की टीका में 'दुःश्रुति' नाम के अनर्थदण्ड का वर्णन करते हुए हलायुध जी ने मोक्षमार्गप्रकाश, ज्ञानानंदनिर्भरनिजरसपूरितश्रावकाचार, सुदृष्टितरंगिणी, उपदेशसिद्धान्त–रत्नमाला, रत्नकरण्डकश्रावकाचार की पं० सदासुखजी कृत भाषावचनिका और विद्वज्जनबोधक को पूर्वानुसाररहित, निर्मूल और कपोल–कल्पित बतलाया है। साथ ही यह भी लिखा है कि "इन शास्त्रों में आगमविरुद्ध कथन किया गया है, ये पूर्वापरविरुद्ध होने से अप्रमाण हैं, वाग्जाल हैं, भोले मनुष्यों को रंजायमान करे हैं, ज्ञानीजनों के आदरणीय नहीं हैं इत्यादि।" पं० सदासुख जी की भाषावचनिका के विषय में खासतौर से लिखा है कि "रत्नकरण्डक मूल तो प्रमाण है बहुरि देशभाषा अप्रमाण है। कारण पूर्वापर–विरुद्ध, निन्दाबाहुल्य, आगमविरुद्ध, क्रमविरुद्ध, वृत्तिविरुद्ध, सूत्रविरुद्ध, वार्तिकविरुद्ध कई दोषनिकरि मंडित है यातैं अप्रमाण, वाग्जाल है।" इन ग्रन्थों में क्षेत्रपालपूजन, शासनदेवतापूजन, सकलीकरणविधान और प्रतिमा के चंदनचर्चन आदि कई बातों का निषेध किया गया है। जल को अपवित्र बतलाया गया है, खड़े होकर पूजन का विधान किया गया है, इत्यादि कारणों से ही शायद हलायुध जी ने इन ग्रन्थों को अप्रमाण और आगमविरुद्ध ठहराया है। अस्तु; इन ग्रन्थों की प्रमाणता या अप्रमाणता का विषय यहाँ विवेचनीय न होने से, इस विषय में कुछ न लिखकर मैं यह बतला देना जरूरी समझता हूँ कि हलायुध जी के इस कथन और उल्लेख से यह बात बिल्कुल हल हो जाती है और इसमें कोई संदेह बाकी नहीं रहता कि आपकी यह टीका 'रत्नकरण्डकश्रावकाचार' की (पं० सदासुखजी कृत) भाषावचनिका तथा 'विद्वज्जनबोधक' की रचना के पीछे बनी है, तभी उसमें इन ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है। पं० सदासुख जी ने रत्नकरण्डक श्रावकाचार की उक्त भाषावचनिका विक्रम संवत् १९२० की चैत्र कृष्ण १४ को बनाकर पूर्ण की है और 'विद्वज्जनबोधक' संघी पन्नालाल जी दूणी वालों के द्वारा जो उक्त पं० सदासुख जी के शिष्य थे, माघ सुदी पंचमी संवत् १९३९ को बनकर समाप्त हुआ है। इसलिए हलायुध जी की यह भाषाटीका विक्रम संवत् १९३९ के बाद की बनी हुई निश्चित होती है।

हलायुध जी ने अपनी इस टीका में स्थान–स्थान पर इस बात को प्रकट किया है कि यह 'श्रावकाचार' सूत्रकार भगवान् उमास्वामी महाराज का बनाया हुआ है और इसके प्रमाण में आपने निम्नलिखित श्लोक पर ही अधिक जोर दिया है। जैसा कि उनकी टीका से प्रकट है–

सूत्रे तु सप्तमेप्युक्ताः पृथक् नोक्तास्तदर्थतः।
अवशिष्टः समाचारः सोऽत्र वै कथितो ध्रुवम्॥४६२॥

टीका– "ते सत्तर अतिचार मैं सूत्रकार ने सप्तम सूत्र में कह्यो है, ता प्रयोजन तैं इहां जुदा नहीं

कह्या है। जो सप्तमसूत्र मैं अवशिष्ट समाचार है सो यामैं निश्चय करि कह्या है। अब याकूं जो अप्रमाण करै ताकूं अनंतसंसारी, निगोदिया, पक्षपाती कैसे नहीं जाण्यो जाये जो बिना विचार्‌या याका कर्त्ता दूसरा उमास्वामी है सो याकूं किया है (ऐसा कहै) सो भी यावचन करि मिथ्यादृष्टि, धर्मद्रोही, निंदक, अज्ञानी जाणना!''

इस श्लोक से भगवदुमास्वामी का ग्रन्थ-कर्तृत्व सिद्ध हो या न हो, परन्तु इस टीका से इतना पता जरूर चलता है कि जिस समय यह टीका लिखी गई है, उस समय ऐसे लोग भी मौजूद थे जो इस 'श्रावकाचार' को भगवान् उमास्वामी सूत्रकार का बनाया हुआ नहीं मानते थे, बल्कि इसे किसी दूसरे उमास्वामी का या उमास्वामी के नाम से किसी दूसरे व्यक्ति का बनाया हुआ बतलाते थे। साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ऐसे लोगों के प्रति हलायुध जी के कैसे भाव थे और वे तथा उनके समान विचार के धारक मनुष्य उन लोगों को कैसे-कैसे शब्दों से याद किया करते थे। 'संशय-तिमिरप्रदीप' में, पं० उदयलाल जी कासलीवाल भी इस ग्रन्थ को भगवान् उमास्वामी का बनाया हुआ लिखते हैं। लेकिन इसके विरुद्ध पं० नाथूराम जी प्रेमी अनेक सूचियों के आधार पर संग्रह की हुई अपनी ''दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्ता और उनके ग्रन्थ'' नामक सूची द्वारा यह सूचित करते हैं कि यह ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता भगवान् उमास्वामी का बनाया हुआ नहीं है, किन्तु किसी दूसरे (लघु) उमास्वामी का बनाया हुआ है। परन्तु दूसरे उमास्वामी या लघु उमास्वामी कब हुए हैं और किसके शिष्य थे, इसका कहीं भी कुछ पता नहीं है। दरयाफ्त करने पर भी यही उत्तर मिलता है कि हमें इसका कुछ भी निश्चय नहीं है। जो लोग इस ग्रन्थ को भगवान् उमास्वामी का बनाया हुआ बतलाते हैं, उनका यह कथन किस आधार पर अवलम्बित है? और जो लोग ऐसा मानने से इंकार करते हैं, वे किन प्रमाणों से अपने कथन का समर्थन करते हैं? आधार और प्रमाण की ये सब बातें अभी तक आमतौर से कहीं पर प्रकाशित हुई मालूम नहीं होतीं, न कहीं पर इनका जिकर सुना जाता है और न श्री उमास्वामी महाराज के पश्चात् होने वाले किसी माननीय आचार्य की कृति में इस ग्रन्थ का नामोल्लेख मिलता है। ऐसी हालत में इस ग्रन्थ की परीक्षा और जाँच का करना बहुत जरूरी मालूम होता है। ग्रन्थ-परीक्षा को छोड़कर दूसरा कोई समुचित साधन इस बात के निर्णय का प्रतीत नहीं होता कि यह ग्रन्थ वास्तव में किसका बनाया हुआ है और कब बना है?

ग्रन्थ के साथ उमास्वामी के नाम का सम्बन्ध है, ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक से पूर्व के काव्य में[२] 'स्वामी' शब्द पड़ा हुआ है और खुद ग्रन्थकर्ता महाशय उपर्युक्त श्लोक नं० ४६२ के द्वारा यह प्रकट करते हैं कि ''इस ग्रन्थ में सातवें सूत्र से अवशिष्ट समाचार वर्णित है, इसी से ७० अतिचार जो सातवें अध्याय के सूत्र में वर्णन किये गये हैं, वे यहाँ पृथक् नहीं कहे गये'' इन सब बातों से यह ग्रन्थ सूत्रकार

२. अन्तिम श्लोक से पूर्व का वह काव्य इस प्रकार है-

इति हतदुरितौघं श्रावकाचारसारं गदितमतिसुबोधावसकथं स्वामिभिश्च।
विनयभरनतांगाः सम्यगाकर्णयन्तु विशदमतिमवाप्य ज्ञानयुक्ता भवन्तु॥४७३॥

भगवदुमास्वामी का बनाया हुआ सिद्ध नहीं हो सकता। एक नाम के अनेक व्यक्ति भी होते हैं, जैन साधुओं में भी एक नाम के धारक अनेक आचार्य और भट्टारक हो गये हैं, किसी व्यक्ति का दूसरे के नाम से ग्रन्थ बनाना भी असंभव नहीं है। इसलिए जब तक किसी माननीय प्राचीन आचार्य के द्वारा यह ग्रन्थ भगवान् उमास्वामी का बनाया हुआ स्वीकृत न किया गया हो या खुद ग्रन्थ ही अपने साहित्यादि से उसका साक्षी न दे, तब तक नामादिक के सम्बन्धमात्र से इस ग्रन्थ को भगवदुमास्वामी का बनाया हुआ नहीं कह सकते। किसी माननीय प्राचीन आचार्य की कृति में इस ग्रन्थ का कहीं नामोल्लेख तक न मिलने से अब हमें इसके साहित्य की जाँच द्वारा यही देखना चाहिए कि यह ग्रन्थ वास्तव में सूत्रकार भगवदुमास्वामी का बनाया हुआ है या कि नहीं? यदि परीक्षा से यह ग्रन्थ सचमुच ही सूत्रकार श्री उमास्वामी का बनाया हुआ सिद्ध हो जाये, तब तो ऐसा प्रयत्न होना चाहिए जिससे यह ग्रन्थ अच्छी तरह से उपयोग में लाया जाये और तत्त्वार्थसूत्र की तरह इसका भी सर्वत्र प्रचार हो सके। अन्यथा विद्वानों को, सर्वसाधारण पर यह प्रकट कर देना चाहिए कि यह ग्रन्थ सूत्रकार भगवदुमास्वामी का बनाया हुआ नहीं है, जिससे लोग इस ग्रन्थ को उसी दृष्टि से देखें और वृथा भ्रम में न पड़ें।

ग्रन्थ को परीक्षा–दृष्टि से अवलोकन करने पर मालूम होता है कि इस ग्रन्थ का साहित्य बहुत से ऐसे पद्यों से बना हुआ है, जो दूसरे आचार्यों के बनाये हुए सर्वमान्य ग्रन्थों से या तो ज्यों के त्यों उठाकर रखे गये हैं या उनमें कुछ थोड़ा–सा शब्द–परिवर्तन किया गया है। जो पद्य ज्यों के त्यों उठाकर रखे गये हैं, वे 'उक्तं च' या 'उद्धृत' रूप से नहीं लिखे गये हैं और न हो सकते हैं, इसलिए ग्रन्थकर्ता ने उन्हें अपने ही प्रकट किये हैं। भगवान् उमास्वामी जैसे महान् आचार्य दूसरे आचार्यों के बनाये हुए ग्रन्थों से पद्य लेवें और उन्हें अपने नाम से प्रकट करें, यह कभी हो नहीं सकता। ऐसा करना उनकी योग्यता और प्रतिष्ठा के विरुद्ध ही नहीं, बल्कि एक प्रकार का नीच कर्म भी है। जो लोग ऐसा करते हैं, उन्हें यशस्तिलक में श्री सोमदेव आचार्य ने साफतौर से काव्यचोर और पातकी लिखा है। यथा–

कृत्वा कृतीः पूर्वकृता पुरस्तात् प्रत्यादरं ताः पुनरीक्षमाणः।
तथैव जल्पेदथ योऽन्यथा वा स काव्यचोरोस्तु स पातकी च॥

लेकिन पाठकों को यह जानकर और भी आश्चर्य होगा कि इस ग्रन्थ में जिन पद्यों को ज्यों का त्यों या कुछ बदलकर रखा है, वे अधिकतर उन आचार्यों के बनाये हुए ग्रन्थों से लिये गये हैं, जो सूत्रकार श्री उमास्वमी से अनेक शताब्दियों के पीछे हुए हैं और वे पद्य ग्रन्थ के अन्य स्वतंत्र बने हुए पद्यों से अपनी शब्दरचना और अर्थगांभीर्यादि के कारण स्वतः भिन्न मालूम पड़ते हैं और उन मणिमालाओं (ग्रन्थों) का स्मरण कराते हैं, जिनसे वे पद्यरत्न लेकर इस ग्रन्थ में गूँथे गये हैं। उन पद्यों में से कुछ पद्य नमूने के तौर पर यहाँ पाठकों के अवलोकनार्थ प्रकट किये जाते हैं–

१. ज्यों के त्यों उठाकर रखे हुए पद्य—

क. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय से—

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः॥६६॥

ग्रन्थार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च।
बहुमानेन समन्वितमनिह्निवं ज्ञानमाराध्यम्॥२४९॥

संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च।
वाक्कायमनःशुद्धिरेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः॥४३७॥

ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटतानसूयत्वं।
अविषादित्वमुदित्वे निरहंकारत्वमिति हि दातृगुणाः ॥४३८॥

ये चारों पद्य श्री अमृतचन्द्राचार्यविरचित 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' से उठाकर रखे गये हैं। इनकी टकसाल ही अलग है, ये 'आर्या' छंद में हैं। समस्त पुरुषार्थसिद्ध्युपाय इसी आर्या छंद में लिखा गया है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में इन पद्यों के नम्बर क्रमशः ३०, ३६, १६८ और १६९ दर्ज हैं।

ख. यशस्तिलक से—

यदेवाङ्गमशुद्धं स्यादद्भिः शोध्यं तदेव हि।
अंगुलौ सर्पदष्टायां न हि नासा निकृत्यते॥४५॥
संगे कापालिकात्रेयीचांडालशबरादिभिः।
आप्लुत्यदंडवत्सम्यग्जपेन्मंत्रमुपोषितः ॥४६॥

एकरात्रं त्रिरात्रं वा कृत्वा स्नात्वा चतुर्थके।
दिने शुध्यन्त्यसंदेहमृतौ व्रतगताः स्त्रियः॥४७॥

मांसं जीवशरीरं जीवशरीरं भवेन्न वा मांसम्।
यद्वन्निम्बो वृक्षो वृक्षस्तु भवेन्न वा निम्बः॥२७६॥

शुद्धं दुग्धं न गोर्मांसं वस्तुवैचित्र्यमीदृशं।
विषघ्नं रत्नमाहेयं विषं च विपदे यतः ॥२७९॥

तच्छाक्यसांख्यचार्वाकवेदवैद्यकपर्दिनाम् ।
मतं विहाय हातव्यं मांसं श्रेयोर्थिभिः सदा ॥२८४॥

ये सब पद्य श्री सोमदेवसूरिकृत यशस्तिलक से उठाकर रखे हुए मालूम होते हैं। इन पद्यों में पहले तीन पद्य यशस्तिलक के छठे आश्वास के और शेष सातवें आश्वास के हैं।

ग. योगशास्त्र (श्वेताम्बरीय ग्रन्थ) से—

सरागोपि हि देवश्चेदुरुरब्रह्मचार्यपि।
कृपाहीनोऽपि धर्मश्चेत्कष्टं नष्टं हहा जगत्॥१९॥

हिंसा विघ्नाय जायेत विघ्नशांत्यै कृतापि हि।
कुलाचारधियाप्येषा कृता कुलविनाशिनी॥३३९॥

मांसभक्षयितामुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वे निरुक्तिं मनुरब्रवीत्॥२६५॥

उलूक - काक - मार्जार - गृध - शंबरशूकराः।
अहिवृश्चिकगोधाश्च जायेंते रात्रिभोजनात्॥३२६॥

ये चारों पद्य श्री हेमचन्द्राचार्यविरचित योगशास्त्र से लिये हुए मालूम होते हैं। इनमें से शुरू के दो पद्य योगशास्त्र के दूसरे प्रकाश में (अध्याय) क्रमशः नं० १४-२९ पर और शेष दोनों पद्य तीसरे प्रकाश में नं० २६ और ६७ पर दर्ज हैं। तीसरे पद्य के पहले तीन चरणों में मनुस्मृति के वचन का उल्लेख है।

घ. विवेकविलास (श्वे. ग्रन्थ) से—

आरभ्यैकांगुलाद्बिम्बाद्यावदेकादशांगुलं। (उत्तरार्ध) १०३॥
गृहे संपूजयेद्बिम्बमूर्ध्वं प्रासादगं पुनः।
प्रतिमाकाष्ठलेपाश्मस्वर्णरूप्यायसा[३] गृहे॥१०४॥

मानाधिकपरिवाररहिता नैव पूजयेत्। (पूर्वार्ध) १०५॥

प्रासादे ध्वजनिर्मुक्ते पूजाहोमजपादिकं।
सर्वं विलुप्यते यस्मात्तस्मात्कार्यो ध्वजोच्छ्रयः॥१०७॥

अतीताब्दशतं यत्स्यात् यच्च स्थापितमुत्तमैः।
तद्व्यंगमपि पूज्यं स्याद्बिम्बं तन्निष्फलं न हि॥१०८॥

ये सब पद्य जिनदत्त सूरिकृत 'विवेकविलास' के प्रथम उल्लास में क्रमशः नं० १४४, १४५, १७८ और १४० पर दर्ज हैं और प्रायः वहीं से उठाकर यहाँ रखे गये मालूम होते हैं। ऊपर जिन उत्तरार्ध और पूर्वार्धों को मिलाकर दो कोष्ठक दिये गये हैं, विवेकविलास में ये दोनों श्लोक इसी प्रकार स्वतंत्ररूप से नं०१४४ और १४५ पर लिखे हैं अर्थात् उत्तरार्ध को पूर्वार्ध और पूर्वार्ध को उत्तरार्ध लिखा है। उमास्वामि-श्रावकाचार में उपर्युक्त श्लोक नं० १०३ का पूर्वार्ध और श्लोक नं० १०५ का उत्तरार्ध

---

३. विवेकविलास में 'स्वर्णरूप्यायसां' की जगह 'दन्तचित्रायसां' पाठ दिया है।

इस प्रकार से दिया है–

नवांगुले तु वृद्धिः स्यादुद्वेगस्तु षडांगुले (पूर्वार्ध) १०३।
काष्ठलेपायसां भूताः प्रतिमाः साम्प्रतं न हि (उत्तरार्ध) १०५।

श्लोक नं० १०५ के इस उत्तरार्ध से मालूम होता है कि उमास्वामि-श्रावकाचार के रचयिता ने विवेकविलास के समान काष्ठ, लेप और लोहे की प्रतिमाओं का श्लोक नं० १०४ में विधान करके फिर उनका निषेध इन शब्दों में किया है कि आजकल ये काष्ठ, लेप और लोहे की प्रतिमायें पूजन के योग्य नहीं हैं। इसका कारण अगले श्लोक में यह बतलाया है कि ये वस्तुयें यथोक्त नहीं मिलतीं और जीवोत्पत्ति आदि बहुत से दोषों की सम्भावना रहती है। यथा–

योग्यस्तेषां यथोक्तानां लाभस्यापित्वभावतः।
जीवोत्पत्त्यादयो दोषा बहवः संभवंति च ॥१०६॥

ग्रन्थकर्ता का यह हेतु भी विद्वज्जनों के ध्यान देने योग्य हैं।

ङ. धर्मसंग्रहश्रावकाचार से–

माल्यधूपप्रदीपाद्यैः सचित्तैः कोऽर्चयेज्जिनम्।
सावद्यसंभवाद्वक्ति यः स एवं प्रबोध्यते॥१३७॥

जिनार्चानेकजन्मोत्थं किल्विषं हन्ति या कृता।
सा किन्न यजनाचारैर्भवं सावद्यमंगिनाम्॥१३८॥

प्रेर्यन्ते यत्र वातेन दन्तिनः पर्वतोपमाः।
तत्राल्पशक्तितेजस्सु दंशकादिषु का कथा॥१३९॥

भुक्तं स्यात्प्राणनाशाय विषं केवलमंगिनाम्।
जीवनाय मरीचादिसदौषविमिश्रितम्॥१४०॥

तथा कुटुम्बभोग्यार्थमारंभः पापकृद्भवेत्।
धर्मकृद्दानपूजादौ हिंसालेशो मतः सदा॥१४१॥

ये पाँचों पद्य पं० मेधावीकृत 'धर्मसंग्रहश्रावकाचार' के ९वें अधिकार में नं० ७२ से ७६ तक दर्ज हैं। वहीं से लिये हुए मालूम होते हैं।

च. अन्य ग्रन्थों के पद्य–

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधःस्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥२६४॥

आसन्नभव्यता कर्महानिसंज्ञित्वशुद्धपरिणामाः।
सम्यक्त्व-हेतुरन्तर्बाह्योप्युपदेशकादिश्च ॥२३॥

संवेगो निर्वेदो निन्दा गर्हा तथोपशमभक्ती।
वात्सल्यं त्वनुकम्पा चाष्टगुणाः सन्ति सम्यक्त्वे॥७०॥

इन तीनों पद्यों में से पहला पद्य मनुस्मृति के पाँचवें अध्याय का ४८वाँ पद्य है। योगशास्त्र में श्री हेमचन्द्राचार्य ने इसे तीसरे प्रकाश में उद्धृत किया है और मनु का लिखा है इसीलिए या तो यह पद्य सीधा 'मनुस्मृति' से लिया गया है या अन्य पद्यों के समान योगशास्त्र से ही उठाकर रखा गया है। दूसरा पद्य यशस्तिलक के छठे आश्वास में और धर्मसंग्रह श्रावकाचार के चौथे अधिकार में 'उक्तं च' रूप से लिखा है। यह किसी दूसरे ग्रन्थ का पद्य है, इसकी टकसाल भी अलग है, इसलिए ग्रन्थकर्त्ता ने या तो इसे सीधा उस दूसरे ग्रन्थ से ही उठाकर रखा है या उक्त दोनों ग्रन्थों में से किसी ग्रन्थ से लिया गया है। तीसरा पद्य 'वसुनन्दिश्रावकाचार' की निम्नलिखित प्राकृत गाथा की संस्कृत छाया है–

संबेओ णिब्बेओ णिंदा गरुहा य उवसमो भत्ती।
वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठगुणा हुंति सम्मत्ते॥४९॥

इस गाथा का उल्लेख 'पंचाध्यायी' में भी पृष्ठ १३३ पर, 'उक्तं च' रूप से पाया जाता है। इसलिए यह तीसरा पद्य या तो 'वसुनन्दिश्रावकाचार' की टीका से लिया गया है या इस गाथा पर से उल्था किया गया है।

(२) अब उदाहरण के तौर पर कुछ परिवर्तित पद्य, उन पद्यों के साथ जिनको परिवर्तन करके वे बनाये गये मालूम होते हैं, नीचे प्रकट किये जाते हैं। इन्हें देखकर परिवर्तनादि का अच्छा अनुभव हो सकता है। इन पद्यों का परस्पर शब्दसौष्ठव और अर्थगौरवादि सभी विषय विद्वानों के ध्यान देने योग्य हैं–

१. **स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते।**
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता॥१३॥

–रत्नकरण्डकश्रावकाचार

स्वभावादशुचौ देहे रत्नत्रयपवित्रिते।
निर्घृणा च गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता॥४१॥

–उमास्वामिश्रावकाचार

२. **ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः।**
अष्टावाश्रित्यमानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः॥२५॥

–रत्नकरण्डकश्रावकाचार

---

४. यह पूर्वार्द्ध 'स्वयूथ्यान्प्रति' इस इतने ही पद का अर्थ मालूम होता है। 'सद्भावसनाथा––'' इत्यादि गौरवान्वित पद का इसमें भाव भी नहीं आया।

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्यमानित्वं गतदर्पा मदं विदुः॥८५॥

–उमास्वामिश्रावकाचार

३. **दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः।**
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितीकरणमुच्यते॥१६॥

–रत्नकरण्डकश्रावकाचार

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयाद्भ्रष्टस्य जन्मिनः।
प्रत्यवस्थापनं तज्ज्ञाः स्थितीकरणमूचिरे॥५८॥

–उमास्वामिश्रावकाचार

४. **स्वयूथ्यान्प्रतिसद्भाव - सनाथापेतकैतवा।**
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते॥१७॥

–रत्नकरण्डकश्रावकाचार

[४]**साधूनां साधुवृत्तीनां सागाराणां सधर्मिणाम्।**
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं तज्ज्ञैर्वात्सल्यमुच्यते॥६३॥

–उमास्वामिश्रावकाचार

५. **सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः।**
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात्॥३३॥

–पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

सम्यग्ज्ञानं मतं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं यतः।
ज्ञानस्याराधनं प्रोक्तं सम्यक्त्वानंतरं ततः॥२४७॥

–उमास्वामिश्रावकाचार

६. **हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्।**
बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत्॥१०८॥

–पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

तिलनाल्यां तिला यद्वत् हिंस्यन्ते बहवस्तथा।
जीवा योनौ च हिंस्यन्ते मैथुने निंद्यकर्मणि॥३७०॥

–उमास्वामिश्रावकाचार

७. **मनोमोहस्य हेतुत्वान्निदानत्वाच्च दुर्गतेः।**
मद्यं सद्भिः सदा त्याज्यमिहामुत्र च दोषकृत्॥

–यशस्तिलक

मनोमोहस्य हेतुत्वान्निदानत्वाद्भवापदाम्।
मद्यं सद्भिः सदा हेयमिहामुत्र च दोषकृत्॥२६१॥

—उमास्वामिश्रावकाचार

८. **मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट्।**
अष्टौ शंकादयश्चेतिदृग्दोषाः पंचविंशतिः॥८०॥

—यशस्तिलक

मूढत्रिकं चाष्टमदास्तथानायतनानि षट्।
शंकादयस्तथा चाष्टौ कुदोषाः पंचविंशतिः॥८०॥

—उमास्वामिश्रावकाचार

९. **साध्यसाधनभेदेन द्विधा सम्यक्त्वमिष्यते।**
कथ्यते क्षायिकं साध्यं साधनं द्वितयं परं॥२/५८॥

—अमितगत्युपासकाचार

साध्यसाधनभेदेन द्विधा सम्यक्त्वमीरितम्।
साधनं द्वितयं साध्यं क्षायिकं मुक्तिदायकम्॥२७॥

—उमास्वामिश्रावकाचार

१०. **हन्ता पलस्य विक्रेता संस्कर्ता भक्षकस्तथा।**
क्रेतानुमन्ता दाता च घातका एव [५]यन्मनुः॥३/२०॥

—योगशास्त्र

हन्ता दाता च संस्कर्तानुमन्ता भक्षकस्तथा।
क्रेता पलस्य विक्रेता यः स दुर्गतिभाजनं॥२६३॥

—उमास्वामिश्रावकाचार

११. **स्त्रीसंभोगेन यः कामज्वरं प्रति चिकीर्षति।**
स हुताशं घृताहुत्या विध्यापयितुमिच्छति॥२/८२॥

—योगशास्त्र

मैथुनेन स्मराग्निं यो विध्यापयितुमिच्छति।
सर्पिषा स ज्वरं मूढः प्रौढं प्रति चिकीर्षति॥३७१॥

—उमास्वामिश्रावकाचार

---

५. इसके आगे 'मनुस्मृति' के प्रमाण दिये हैं, जिनमें से एक प्रमाण 'नाकृत्वा प्राणिनां हिंसा...' इत्यादि ऊपर उद्धृत किया गया है।

१२. **कम्पः स्वेदः श्रमो मूर्छा भ्रमिर्ग्लानिर्बलक्षयः।**
राजयक्ष्मादिरोगाश्च भवेयुर्मैथुनोत्थिताः॥२/७९॥
–योगशास्त्र

स्वदो भ्रान्तिः श्रमो ग्लानिर्मूर्च्छा कम्पो बलक्षयः।
मैथुनोत्था भवत्येते व्याधयोप्याधयस्तथा॥३६८॥
–उमास्वामिश्रावकाचार

१३. **रजनीभोजनत्यागे ये गुणाः परितोपि तान्।**
न सर्वज्ञादृते कश्चिदपरो वक्तुमीश्वरः॥३/७०॥
–योगशास्त्र

रात्रिभुक्तिविमुक्तस्य ये गुणाः खलु जन्मिनः।
सर्वज्ञमन्तरेणान्यो न सम्यग्वक्तुमीश्वरः॥३२७॥
–उमास्वामिश्रावकाचार

योगशास्त्र के तीसरे प्रकाश में श्री हेमचन्द्राचार्य ने १५ मलीन कर्मादानों के त्यागने का उपदेश दिया है, जिनमें पाँच जीविका, पाँच वाणिज्य और पाँच अन्य कर्म हैं। इनके नाम दो श्लोकों (नं० ९९-१००) में इस प्रकार दिये हैं–

१. अंगारजीविका, २. वनजीविका, ३. शकटजीविका, ४. भाटकजीविका, ५. स्फोटकजीविका, ६. दन्तवाणिज्य, ७. लाक्षावाणिज्य, ८. रसवाणिज्य, ९. केशवाणिज्य, १०. विषवाणिज्य, ११. यंत्रपीडा, १२. निर्लांछन[६], १३. असतीपोषण, १४. दवदान और १५. सरःशोष। इसके पश्चात् (श्लोक नं० ११३ तक) इन १४ कर्मादानों का पृथक्-पृथक् स्वरूप वर्णन किया है। जिसका कुछ नमूना इस प्रकार है–

अंगारभ्रष्टाकरणांकुंभायःस्वर्णकारिता।
ठठारत्वेष्टकापाकावितीह्यंगारजीविका॥१०१॥
नवनीतवसाक्षौद्रमद्यप्रभृतिविक्रयः।
द्विपाच्चतुष्पाद्विक्रेयो वाणिज्यं रसकेशयोः॥१०८॥
नासावेधोङ्कनं मुष्कच्छेदनं पृष्ठगालनं।
कर्णकम्बलविच्छेदो निर्लांछनमुदीरितं॥१११॥
सारिकाशुकमार्जारश्वकुर्कटलापिनाम्।
पोषो दास्याश्च वित्तार्थमसतीपोषणं विदुः॥११२॥
–योगशास्त्र

---

६. 'निर्लांछन' का जब इससे पहले इस श्रावकाचार में कहीं नामनिर्देश नहीं किया गया, तब फिर यह लक्षण निर्देश कैसा?

इन १५ कर्मादानों के स्वरूपकथन में जिन जिन कर्मों का निषेध किया गया है, प्रायः उन सभी कर्मों का निषेध उमास्वामिश्रावकाचार में भी श्लोक नं० ४०३ से ४१२ तक पाया जाता है। परन्तु १४ कर्मादान त्याज्य हैं, वे कौन-कौन से हैं और उनका पृथक्-पृथक् स्वरूप क्या है, इत्यादि वर्णन कुछ भी नहीं मिलता। योगशास्त्र के उपर्युक्त चारों श्लोकों से मिलते-जुलते उमास्वामिश्रावकाचार में निम्नलिखित श्लोक पाये जाते हैं, जिनसे मालूम हो सकता है कि इन पद्यों में कितना और किस प्रकार परिवर्तन किया गया है–

अंगारभ्राष्टकरणमयः स्वर्णादिकारिता।
इष्टकापाचनं चेति त्यक्तव्यं मुक्तिकांक्षिभिः॥४०४॥
नवनीतवसामद्यमध्वादीनां च विक्रयः।
द्विपाचतुष्पाच्च विक्रेयो न हिताय मतः क्वचित्॥४०६॥
कंटनं नासिकावेधो मुष्कच्छेदोंघ्रिभेदनम्।
कर्णापनयनं नाम [६]निर्लांछनमुदीरितम्॥४११॥
केकीकुक्कटमार्जारसारिकाशुकमंडलाः।
पोष्यंते न कृतप्राणिघाताः पारावता अपि॥४०३॥

–उमास्वामिश्रावकाचार

भगवदुमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र पर 'गंधहस्ति' नाम का महाभाष्य रचने वाले और रत्नकरण्डक श्रावकाचार आदि ग्रन्थों के प्रणेता विद्वत्शिरोमणि स्वामी समन्तभद्राचार्य का अस्तित्व विक्रम की दूसरी शताब्दी के लगभग माना जाता है। पुरुषार्थसिद्ध्युपायादि ग्रन्थों के रचयिता श्रीमदमृतचन्द्रसूरि ने विक्रम की १०वीं शताब्दी में अपने अस्तित्व से इस पृथ्वीतल को सुशोभित किया, ऐसा कहा जाता है। यशस्तिलक के निर्माणकर्ता श्री सोमदेव सूरि विक्रम की ११वीं शताब्दी में विद्यमान थे और उन्होंने वि०सं० १०१६ (शक संवत् ८८१) में यशस्तिलक को बनाकर समाप्त किया है। धर्मपरीक्षा तथा उपासकाचारादि ग्रन्थों के कर्ता श्री अमितगत्याचार्य विक्रम की ११वीं शताब्दी में हुए हैं। योगशास्त्रादि बहुत से ग्रन्थों की रचना करने वाले श्वेताम्बराचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि राजा कुमारपाल के समय में अर्थात् विक्रम की १३वीं शताब्दी में (संवत् १२२९ तक) मौजूद थे। विवेकविलास के कर्ता श्वेताम्बर साधु श्री जिनदत्तसूरि विक्रम की १३वीं शताब्दी में हुए हैं और पं० मेधावी का अस्तित्व समय १६वीं शताब्दी निश्चित है। आपने धर्मसंग्रहश्रावकाचार को विक्रम संवत् १५४१ में बनाकर पूरा किया है।

अब पाठकगण स्वयं समझ सकते हैं कि यह ग्रन्थ (उमास्वामिश्रावकाचार), जिसमें बहुत पीछे से होने वाले इन उपर्युक्त विद्वानों के ग्रन्थों से पद्य लेकर उन्हें ज्यों का त्यों या परिवर्तित करके रखा है, कैसे सूत्रकार भगवदुमास्वामी का बनाया हुआ हो सकता है? सूत्रकार भगवान् उमास्वामी की असाधारण योग्यता और उस समय की परिस्थिति को, जिस समय में कि उनका अवतरण हुआ है, सामने रखकर परिवर्तित पद्यों तथा ग्रन्थ के अन्य स्वतंत्र बने हुए पद्यों का सम्यगवलोकन करने से

साफ मालूम होता है कि यह ग्रन्थ उक्त सूत्रकार भगवान् का बनाया हुआ नहीं है। बल्कि उनसे दशों शताब्दी पीछे का बना हुआ है।

विरुद्धकथन

इस ग्रन्थ के एक पद्य में व्रत के सकल और विकल ऐसे दो भेदों का वर्णन करते हुए लिखा है कि सकल व्रत के १३ भेद और विकल व्रत के १२ भेद हैं। वह पद्य इस प्रकार है–

सकलं विकलं प्रोक्तं द्विभेदं व्रतमुत्तमं।
सकलस्य त्रिदशभेदा विकलस्य च द्वादश॥२५९॥

परन्तु सकल व्रत के १३ भेद कौनसे हैं? यह कहीं पर इस शास्त्र में प्रकट नहीं किया। तत्त्वार्थसूत्र में सकलव्रत अर्थात् महाव्रत के पाँच भेद वर्णन किये हैं। जैसा कि निम्नलिखित दो सूत्रों से प्रकट है–

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥७/१॥
देशसर्वतोऽणुमहती ॥७/२॥

संभव है कि पंचसमिति और तीन गुप्ति को शामिल करके तेरह प्रकार का सकलव्रत ग्रन्थकर्ता के ध्यान में रहा हो। परंतु तत्त्वार्थसूत्र में, जो भगवान् उमास्वामी का सर्वमान्य ग्रन्थ है, इन पंचसमिति और तीन गुप्तियों को व्रत संज्ञा में दाखिल नहीं किया है। विकलव्रत की संख्या जो बारह लिखी है, वह ठीक है और यही सर्वत्र प्रसिद्ध है। तत्त्वार्थसूत्र में १२ व्रतों का वर्णन है, जैसा कि उपर्युक्त दोनों सूत्रों को निम्नलिखित सूत्रों के साथ पढ़ने से ज्ञात होता है–

अणुव्रतोऽगारी॥७/२०॥
दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोग-
परिभोगपरिमाणातिथिसंविभाग-व्रतसंपन्नश्च ॥७/२१॥

इस श्रावकाचार के श्लोक नं० ३२८[७] में भी इन गृहस्थोचित व्रतों के पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ऐसे बारह भेद वर्णन किये गये हैं। परन्तु इसी ग्रन्थ के दूसरे पद्य में ऐसा लिखा है कि–

एवं व्रतं मया प्रोक्तं त्रयोदशविधायुतम्।
निरतिचारकं पाल्यं तेऽतीचारास्तु सप्तति:॥४६१॥

अर्थात् मैंने यह तेरह प्रकार का व्रत वर्णन किया है, जिसको अतिचारों से रहित पालना चाहिए और वे (व्रतों के) अतिचार संख्या में ७० हैं।

यहाँ पर व्रतों की यह १३ संख्या ऊपर उल्लेख किये हुए श्लोक नं० २५९ और ३२८ से तथा तत्त्वार्थसूत्र के कथन से विरुद्ध पड़ती है। तत्त्वार्थसूत्र में 'सल्लेखना' को व्रतों से अलग वर्णन किया

---

७. ''अणुव्रतानि पंच स्युस्त्रिप्रकारं गुणव्रताम्। शिक्षाव्रतानि चत्वारि सागाराणां जिनागमे॥३२८॥''

गया है। इसलिए सल्लेखना को शामिल करके यह तेरह की संख्या पूरी नहीं की जा सकती।

व्रतों के अतिचार भी तत्त्वार्थसूत्र में ६० ही वर्णन किये हैं। यदि सल्लेखना को व्रतों में मानकर उसके पाँच अतिचार भी शामिल कर लिये जावें, तब भी ६५ (१३३५) ही अतिचार होंगे। परन्तु यहाँ पर व्रतों के अतिचारों की संख्या ७० लिखी है, यह एक आश्चर्य की बात है। सूत्रकार भगवान् उमास्वामी के वचन इस प्रकार परस्पर या पूर्वापर विरोध को लिये हुए नहीं हो सकते। इसी प्रकार का परस्पर विरुद्ध कथन और भी कई स्थानों पर पाया जाता है। एक स्थान पर शिक्षाव्रतों का वर्णन करते हुए लिखा है–

स्वशक्त्या क्रियते यत्र संख्या भोगोपभोगयोः।
भोगोपभोगसंख्याख्यं तत्तृतीयं गुणव्रतम्॥४३०॥

इस पद्य से यह साफ प्रकट होता है कि ग्रन्थकर्ता ने तत्त्वार्थसूत्र के विरुद्ध भोगोपभोगपरिमाणव्रत को शिक्षाव्रत के स्थान में तीसरा गुणव्रत वर्णन किया है परन्तु इससे पहले खुद ग्रन्थकर्ता ने 'अनर्थदण्डविरति' को ही तीसरा गुणव्रत वर्णन किया है और वहाँ दिग्विरति, देशविरति तथा अनर्थदण्डविरति, ऐसे तीनों गुणव्रतों का कथन किया है। गुणव्रतों का कथन समाप्त करने के बाद ग्रन्थकार इससे पहले आद्य के दो शिक्षाव्रतों (सामायिक-प्रोषधोपवास) का स्वरूप भी दे चुके हैं। अब यह तीसरे शिक्षाव्रत के स्वरूपकथन का नम्बर था, जिसको आप गुणव्रत लिख गये। कई आचार्यों ने भोगोपभोगपरिमाणव्रत को गुणव्रत में माना है। मालूम होता है कि यह पद्य किसी ऐसे ही ग्रन्थ से लिया गया है, जिसमें भोगोपभोगपरिमाणव्रत को तीसरा गुणव्रत वर्णन किया है और ग्रन्थकार इसमें शिक्षाव्रत का परिवर्तन करना भूल गये अथवा उन्हें इस बात का स्मरण नहीं रहा कि हम शिक्षाव्रत का वर्णन कर रहे हैं। योगशास्त्र में भोगोपभोगपरिमाणव्रत को दूसरा गुणव्रत वर्णन किया है और उसका स्वरूप इस प्रकार लिखा है–

भोगोपभोगयोः संख्या शक्त्या यत्र विधीयते।
भोगोपभोगमानं तद्द्वैतीयीकं गुणव्रतम् ॥३/४॥

यह पद्य ऊपर के पद्य से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। संभव है कि इसी पर से ऊपर का पद्य बनाया गया हो और 'गुणव्रतम्' पद का परिवर्तन करना रह गया हो।

इस ग्रन्थ के एक पद्य में 'लोंच' का कारण भी वर्णन किया गया है। वह पद्य इस प्रकार है–

अदैन्यवैराग्यकृते कृतोऽयं केशलोचकः।
यतीश्वराणां वीरत्वं व्रतनैर्मल्यदीपकः ॥५०॥

इस पद्य का ग्रन्थ में पूर्वोत्तर के किसी भी पद्य से कुछ सम्बन्ध नहीं है। न कहीं इससे पहले लोंच का कोई जिकर आया और न ग्रन्थ में इसका कोई प्रसंग है। ऐसा असम्बन्ध और अप्रासंगिक कथन उमास्वामी महाराज का नहीं हो सकता। ग्रन्थकर्ता ने कहाँ पर से यह मजमून लिया है और किस प्रकार से इस पद्य को यहाँ देने में गलती खाई है, ये सब बातें जरूरत होने पर फिर कभी प्रकट की

जायेंगी।

इन सब बातों के सिवा इस ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर ऐसा कथन भी पाया जाता है, जो युक्ति और आगम से बिल्कुल विरुद्ध जान पड़ता है और इसलिए उससे और भी ज्यादा इस बात का समर्थन होता है कि यह ग्रन्थ भगवान् उमास्वामी का बनाया हुआ नहीं है। ऐसे कथन के कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं–

(१) ग्रन्थकार महाशय एक स्थान पर लिखते हैं कि जिस मंदिर पर ध्वजा नहीं है, उस मंदिर में किये हुए पूजन, होम और जपादिक सब ही विलुप्त हो जाते हैं अर्थात् उनका कुछ भी फल नहीं होता। यथा–

प्रासादे ध्वजनिर्मुक्ते पूजाहोमजपादिकम्।
सर्वं विलुप्यते यस्मात्तस्मात्कार्यो ध्वजोच्छ्रयः॥१०७॥

इसी प्रकार दूसरे स्थान पर लिखते हैं कि जो मनुष्य फटे, पुराने, खण्डित या मैले वस्त्रों को पहनकर दान, पूजन, तप, होम या स्वाध्याय करता है तो उसका ऐसा करना निष्फल होता है। यथा–

खंडिते गलिते छिन्ने मलिने चैव वाससि।
दानं पूजा तपो होमः स्वाध्यायो विफलं भवेत्॥१३६॥

मालूम नहीं होता कि मंदिर के ऊपर की ध्वजा का इस पूजनादिक के फल के साथ कौन-सा सम्बन्ध है और जैनमत के किस गूढ़ सिद्धान्त पर ग्रन्थकार का यह कथन अवलम्बित है। इसी प्रकार यह भी मालूम नहीं होता कि फटे, पुराने तथा खण्डित वस्त्रों का दान, पूजन, तप और स्वाध्यायादि के फल से कौनसा विरोध है, जिसके कारण इन कार्यों का करना ही निरर्थक हो जाता है। भगवदुमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में और श्री अकलंकदेवादि टीकाकारों ने 'राजवार्तिक' आदि ग्रन्थों में शुभाशुभ कर्मों के आस्रव और बन्ध के कारणों का विस्तार के साथ वर्णन किया है परन्तु ऐसा कथन कहीं नहीं पाया जाता, जिससे यह मालूम होता हो कि मंदिर की एक ध्वजा भी भावपूर्वक किये हुए पूजनादिक के फल को उलट-पुलट कर देने में समर्थ है। सच पूछिये तो मनुष्य के कर्मों का फल उसके भावों की जाति और उनकी तन्मयता पर निर्भर है। एक गरीब आदमी अपने फटे पुराने कपड़ों को पहने हुए ऐसे मंदिर में जिसके शिखर पर ध्वजा भी नहीं है, बड़े प्रेम के साथ परमात्मा का पूजन और भजन कर रहा है और सिर से पैर तक भक्तिरस में डूब रहा है, वह उस मनुष्य से अधिक पुण्य उपार्जन करता है, जो अच्छे सुन्दर नवीन वस्त्रों को पहने हुए ध्वजा वाले मन्दिर में बिना भक्तिभाव के, सिर्फ अपने कुल की रीति समझता हुआ पूजनादिक करता हो। यदि ऐसा नहीं माना जाये अर्थात् यह कहा जाये कि फटे-पुराने वस्त्रों के पहिनने या मन्दिर पर ध्वजा न होने के कारण उस गरीब आदमी के उन भक्ति भावों का कुछ भी फल नहीं है। तो जैनियों को अपनी कर्म फिलोसोफी को उठाकर रख देना होगा। परन्तु ऐसा नहीं है। इसलिये इन दोनों पद्यों का कथन युक्ति और आगम से विरुद्ध है। इनमें से पहला पद्य श्वेताम्बरों के 'विवेकविलास' का पद्य है, जैसा कि ऊपर जाहिर किया

गया है।

(२) इस ग्रन्थ के पूजनाध्याय में पुष्पमालाओं से पूजन का विधान करते हुए एक स्थान पर लिखा है कि चम्पक और कमल के फूल का उसकी कली आदि को तोड़ने के द्वारा भेद करने से मुनिहत्या के समान पाप लगता है। यथा–

नैव पुष्पं द्विधाकुर्यान्न छिंद्यात्कलिकामपि।
चम्पकोत्पलभेदेन यतिहत्यासमं फलम्॥१२७॥

यह कथन बिल्कुल जैनसिद्धान्त और जैनागम के विरुद्ध है। कहाँ तो एकेन्द्रिय फूल की पंखुड़ी आदि का तोड़ना और कहाँ मुनि की हत्या! दोनों का पाप कदापि समान नहीं हो सकता। जैनशास्त्रों में एकेन्द्रिय जीवों के घात से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों के घातपर्यंत और फिर पंचेन्द्रिय जीवों में भी क्रमशः गौ, स्त्री, बालक, सामान्य मनुष्य, अविरत सम्यग्दृष्टि, व्रती श्रावक और मुनि के घात से उत्पन्न हुई पाप की मात्रा उत्तरोत्तर अधिक वर्णन की है और इसीलिए प्रायश्चित्तसमुच्चयादि प्रायश्चित्त ग्रन्थों में भी इसी क्रम से हिंसा का उत्तरोत्तर अधिक दण्डविधान कहा गया है। कर्मप्रकृतियों के बन्धाधिक का प्ररूपण करने वाले और ''तीव्रमंदज्ञाताज्ञात-भावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः'' इत्यादि सूत्रों के द्वारा कर्मास्रवों की न्यूनाधिकता दर्शाने वाले सूत्रकार महोदय का ऐसा असमंजस वचन कि एक फूल की पंखुड़ी तोड़ने का पाप मुनिहत्या के समान है, कदापि नहीं हो सकता। इसी प्रकार के और भी बहुत से असमंजस और आगमविरुद्ध कथन इस ग्रन्थ में पाये जाते हैं, जिन्हें इस समय छोड़ा जाता है। जरूरत होने पर फिर कभी प्रकट किये जायेंगे।

जहाँ तक मैंने इस ग्रन्थ की परीक्षा की है, मुझे ऐसा निश्चय होता है और इसमें कोई संदेह बाकी नहीं रहता कि यह ग्रन्थ सूत्रकार भगवान् उमास्वामी महाराज का बनाया हुआ नहीं है और न किसी दूसरे ही माननीय जैनाचार्य का बनाया हुआ है। ग्रन्थ के शब्दों और अर्थों से इस ग्रन्थ का बनाने वाला कोई मामूली, अदूरदर्शी और क्षुद्रहृदय व्यक्ति मालूम होता है और यह ग्रन्थ १६वीं शताब्दी के बाद १७ वीं शताब्दी के अन्त में या उससे भी कुछ काल बाद, उस वक्त बनाया जाकर, भगवान् उमास्वामी के नाम से प्रकट किया गया है, जबकि तेरहपंथ की स्थापना हो चुकी थी और उसका प्राबल्य बढ़ रहा था। यह ग्रन्थ क्यों बनाया गया है? इसका सूक्ष्म विवेचन फिर किसी लेख द्वारा जरूरत होने पर प्रकट किया जायेगा। परन्तु यहाँ पर इतना बतला देना जरूरी है कि इस ग्रन्थ में पूजन का एक खास अध्याय है और प्रायः उसी अध्याय की इस ग्रन्थ में प्रधानता मालूम होती है। शायद इसीलिए हलायुध जी ने, अपनी भाषाटीका के अन्त में इस श्रावकाचार को 'पूजाप्रकरण नाम श्रावकाचार' लिखा है।

अन्त में विद्वज्जनों से मेरा सविनय निवेदन है कि वे इस ग्रन्थ की अच्छी तरह से परीक्षा करके मेरे इस उपर्युक्त कथन की जाँच करें और इस विषय में उनकी जो सम्मति स्थिर होवे, उससे कृपाकर मुझे सूचित करने की उदारता दिखलाएँ। यदि परीक्षा से उन्हें भी यह ग्रन्थ सूत्रकार भगवान् उमास्वामी का बनाया हुआ साबित न होवे, तब उन्हें अपने उस परीक्षाफल को सर्वसाधारण पर प्रकट करना

चाहिए और इस तरह अपने साधारण भाइयों का भ्रम-निवारण करते हुए प्राचीन आचार्यों की उस कीर्ति को संरक्षित रखने में सहायक होना चाहिए, जिसको कषायवश किसी समय कलंकित करने का प्रयत्न किया गया है।

आशा है कि विद्वज्जन मेरे इस निवेदन पर अवश्य ध्यान देंगे और अपने कर्तव्य का पालन करेंगे। इत्यलं विज्ञेषु।

ग्रन्थपरीक्षा : कुन्दकुन्द श्रावकाचार

जैनियों को भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य का परिचय देने की जरूरत नहीं है। तत्त्वार्थसूत्र के प्रणेता श्रीमदुमास्वामी जैसे विद्वानाचार्य जिनके शिष्य कहे जाते हैं, उन श्री कुन्दकुन्द मुनिराज के पवित्र नाम से जैनियों का बच्चा-बच्चा तक परिचित है। प्रायः सभी नगर और ग्रामों में जैनियों की शास्त्रसभा होती है और उस सभा में सबसे पहले एक बृहत् मंगलाचरण (ओंकार) पढ़ा जाता है, जिसमें 'मंगलं कुन्दकुन्दार्यः' इस पद के द्वारा आचार्य महोदय के शुभ नाम का बराबर स्मरण किया जाता है। सच पूछिए तो जैनसमाज में भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी एक बड़े भारी नेता, अनुभवी विद्वान् और माननीय आचार्य हो गये हैं। उनका अस्तित्व विक्रम की पहली शताब्दी के लगभग माना जाता है। भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य का सिक्का जैनसमाज के हृदय पर यहाँ तक अंकित है कि बहुत से ग्रन्थकारों ने और ख़ासकर भट्टारकों ने अपने आपको आपके ही वंशज प्रकट करने में अपना सौभाग्य और गौरव समझा है। बल्कि यों कहिए कि बहुत से लोगों को समाज में काम करने और अपना उद्देश्य फैलाने के लिए आपके पवित्र नाम का आश्रय लेना पड़ा है। इससे पाठक समझ सकते हैं कि जैनियों में श्री कुन्दकुन्द कैसे प्रभावशाली महात्मा हो चुके हैं। भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने जीवनकाल में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन किया है और उनके ग्रन्थ जैनसमाज में बड़ी ही पूज्य दृष्टि से देखे जाते हैं। समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय आदि ग्रन्थ उन्हीं ग्रन्थों में से हैं, जिनका जैनसमाज में सर्वत्र प्रचार है। आज इस लेख द्वारा जिस ग्रन्थ की परीक्षा की जाती है, उसके साथ भी श्री कुन्दकुन्दाचार्य का नाम लगा हुआ है। यद्यपि इस ग्रन्थ का समयसारादि ग्रन्थों के समान जैनियों में सर्वत्र प्रचार नहीं है, तो भी यह ग्रन्थ जयपुर, बम्बई और महासभा के सरस्वती भण्डार आदि अनेक भण्डारों में पाया जाता है। कहा जाता है कि यह ग्रन्थ (श्रावकाचार) भी उन्हीं भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य का बनाया हुआ है, जो श्री जिनचन्द्राचार्य के शिष्य माने जाते हैं और न सिर्फ कहा ही जाता है, बल्कि खुद इस श्रावकाचार की अनेक संधियों में यह प्रकट किया गया है कि यह ग्रन्थ श्री जिनचन्द्राचार्य के शिष्य कुन्दकुन्द स्वामी का बनाया हुआ है। साथ ही ग्रन्थ के मंगलाचरण में 'वन्दे जिनविधुं गुरुम्' इस पद के द्वारा ग्रन्थकर्ता ने 'जिनचन्द' गुरु को नमस्कार करके और भी ज्यादा इस कथन की रजिस्टरी कर दी है। परन्तु जिस समय इस ग्रन्थ के साहित्य की जाँच की जाती है, उस समय ग्रन्थ के शब्दों और अर्थों पर से कुछ और ही मामला मालूम होता है। श्वेताम्बरसम्प्रदाय में श्री जिनदत्तसूरि नाम के एक आचार्य विक्रम की १३वीं शताब्दी में हो गये हैं। उनका बनाया हुआ 'विवेक-विलास' नाम का एक ग्रन्थ है। संवत् १९५४ में यह ग्रन्थ अहमदाबाद में गुजराती भाषाटीका सहित छपा था। और इस समय भी बम्बई आदि स्थानों से प्राप्त होता है। इस 'विवेक-विलास' और 'कुन्दकुन्द-श्रावकाचार' दोनों ग्रन्थों का मिलान करने से मालूम होता है कि ये दोनों ग्रन्थ वास्तव में एक ही हैं

और यह एकता इनमें यहाँ तक पाई जाती है कि दोनों का विषय और विषय के प्रतिपादक श्लोक ही एक नहीं, बल्कि दोनों की उल्लाससंख्या, आदिम मंगलाचरण[८] और अन्तिम काव्य[९] भी एक ही है। कहने के लिए दोनों ग्रन्थों में सिर्फ २०-३० श्लोकों का परस्पर हेरफेर है। और यह हेरफेर भी पहले, दूसरे, तीसरे, पाँचवें और आठवें उल्लास में ही पाया जाता है। बाकी उल्लास (नं० ४, ६, ७, ९, १०, ११, १२) बिल्कुल ज्यों के त्यों एक दूसरे की प्रतिलिपि (नकल) मालूम होते हैं। प्रशस्ति को छोड़कर विवेकविलास की पद्यसंख्या १३२१ और कुन्दकुन्द-श्रावकाचार की १२९४ है। विवेकविलास में अन्तिम काव्य के बाद १० पद्यों की एक 'प्रशस्ति' लगी हुई है, जिसमें जिनदत्तसूरि की गुरुपरम्परा आदि का वर्णन है। परन्तु कुन्दकुन्दश्रावकाचार के अन्त में ऐसी कोई प्रशस्ति नहीं पाई जाती है। दोनों ग्रन्थों के किस-किस उल्लास में कितने और कौन-कौनसे पद्य एक दूसरे से अधिक हैं, इसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

ऊपर के कोष्टक से दोनों ग्रन्थों में पद्यों की जिस न्यूनाधिकता का बोध होता है, बहुत संभव

नं० उल्लास	उन पद्यों के नम्बर जो कुन्दकुन्दश्रा. में अधिक हैं।	उन पद्यों के नम्बर जो विवेक विलास में अधिक हैं।	कैफियत (Remarks)
१	६३ से ६९ तक और ७० का पूर्वार्ध; (७२/१ श्लोक)	८४ से ९८ तक (१४ श्लोक)	कुन्दकुन्द श्रावकाचार के ये ७१/२ श्लोक दंतधावन प्रकरण के हैं। यह प्रकरण दोनों ग्रन्थों में पहले से शुरु हुआ और बाद में भी रहा है। किस-किस काष्ठ की दतोंन करने से क्या लाभ होता है, किस प्रकार से दन्तधावन करना निषिद्ध है और किस वर्ण के मनुष्य को कितने अंगुल की दातोंन व्यवहार में लानी चाहिए, यही सब इन पद्यों में वर्णित है। विवेक विलास के ये १४ श्लोक पूजन-प्रकरण के हैं और किस समय, कैसे द्रव्यों से किस प्रकार पूजन करना चाहिए, इत्यादि वर्णन को लिए हुए हैं।

८. दोनों ग्रन्थों का आदिम मंगलाचरण-

''शाश्वतानन्दरूपाय तमस्तोमैकभास्वते। सर्वज्ञाय नमस्तस्मै कस्मैचित्परत्माने॥१॥

(इसके सिवाय मंगलाचरण के दो पद्य और हैं।)

९. दोनों ग्रन्थों का अन्तिम काव्य-

''स श्रेष्ठः पुरुषाग्रणीः स सुभटोत्तंसः प्रसंसास्पदम्। स प्राज्ञः स कलानिधिः स च मुनिः स क्ष्मातले योगवित्। स ज्ञानी स गुणिव्रजस्य तिलकं जानाति यः स्वां मृतिम्, निर्मोहः समुपार्जयत्यथ पदं लोकोत्तरम् शाश्वतम्॥१२-१२॥''

२	३३, ३४; (२ श्लोक)	३९ (१ श्लोक)	कुन्दकुन्द श्रावकाचार के दोनों श्लोकों में मूषकादिक के द्वारा किसी वस्तु के कटे-फटे होने पर छेदाकृति से शुभाशुभ जानने का कथन है। यह कथन कई श्लोक पहले से चल रहा है। विवेक विलास का श्लोक नं० ३९ ताम्बूल प्रकरण का है जो पहले से चल रहा है।
३	×	६० (१ श्लोक)	भोजन प्रकरण में एक निमित्त से आयु और धन का नाश मालूम करने के सम्बन्ध में।
५	×	१०, ११, ५७, १४२, १४३, १४४, १४६, १८८ से १९२ तक (१२ श्लोक)	पद्य नं० १०-११ में सोते समय ताम्बूलादि कई वस्तुओं के त्याग का कारण सहित उपदेश है, ५७ वाँ पद्य पुरुषपरीक्षा में हस्तरेखा सम्बन्धी है। दोनों ग्रन्थों में इस परीक्षा के ७५ पद्य और हैं, १४२, १४३, १४४ में पद्मिनी आदि स्त्रियों की पहचान लिखी है। इनसे पूर्व के पद्य में उनके नाम दिए हैं। १४६ में पतिप्रीति ही स्त्रियों को कुमार्ग से रोकने वाली है, इत्यादि कथन है। शेष ५ पद्यों में ऋतुकाल के समय कौन-सी रात्रि को गर्भ रहने से कैसी संतान उत्पन्न होती है, यह कथन पाँचवीं रात्रि से १६ वीं रात्रि के सम्बन्ध में है। इससे पहले चार रात्रियों का कथन दोनों ग्रन्थों में है।
८	२५३ (१ श्लोक)	४९, ६०, ६१, ७५, ८५, २५५, २९३ का उत्तरार्ध, ३४३ का उत्तरार्ध, ३४४ का पूर्वार्ध, ३६६ का उत्तरार्ध, ३६७ का पूर्वार्ध, ४२० के अन्तिम तीन चरण और ४२१ का पहला चरण; (९१/२ श्लोक)	२५३ वाँ पद्य मीमांसक मत के प्रकरण का है। इसमें मीमांसक मत के देवता के निरूपण और प्रमाणों के कथन की प्रतिज्ञा है, अगले पद्य में प्रमाणों के नाम दिए हैं और दर्शनों के कथन में भी देवता का वर्णन पाया जाता है। पद्य नं० ४९ में अल्पवृष्टि का योग दिया है, ६०में किस-किस महीने में मकान बनवाने से क्या लाभ-हानि होती है, ६१ में कौन से नक्षत्र में घर बनाने का सूत्रपात करना, ७४ में यक्षव्यय के अष्टभेद, इससे पूर्व के पद्य में यक्षव्यय अष्ट प्रकार का है ऐसा दोनों ग्रन्थों में सूचित किया है, ८५ वाँ पद्य 'अपरं च' करके लिखा है, ये चारों पद्य गृहनिर्माण प्रकरण के हैं। २५५ वाँ पद्य जैनदर्शन प्रकरण का है। इसमें श्वेताम्बर साधुओं का स्वरूप दिया है। इससे अगले पद्य में दिगम्बर साधुओं का स्वरूप है। २९३ वाँ पद्य शिवमत के प्रकरण का है। उत्तरार्ध के न होने से साफ अधूरापन प्रकट है, क्योंकि पूर्वार्ध में नव द्रव्यों में से चार के नित्यानित्यत्व का वर्णन है बाकी का वर्णन उत्तरार्ध में है। शेष पद्यों का वर्णन आगे दिया जाएगा।

है कि वह लेखकों की कृपा ही का फल हो। जिस प्रति से विवेकविलास छपाया गया है और जिस प्रति से कुन्दकुन्दश्रावकाचार उतारा गया है, आश्चर्य नहीं कि उनमें या उनकी पूर्व प्रतियों में लेखकों की असावधानी से ये सब पद्य छूट गये हों, क्योंकि पद्यों की इस न्यूनाधिकता में कोई तात्त्विक या सैद्धान्तिक विशेषता नहीं पाई जाती। बल्कि प्रकरण और प्रसंग को देखते हुए इन पद्यों में छूट जाने का ही अधिक खयाल पैदा होता है। दोनों ग्रन्थों से लेखकों के प्रमाद का भी अच्छा परिचय मिलता है। कई स्थानों पर कुछ श्लोक आगे-पीछे पाये जाते हैं। विवेकविलास के तीसरे उल्लास में जो पद्य नं० १७, १८ और ६२ पर दर्ज हैं, वे ही पद्य कुन्दकुन्दश्रावकाचार में क्रमशः नं० १८, १७ और ६० पर दर्ज हैं। आठवें उल्लास में जो पद्य नं० ३१७-३१८ पर लिखे गये हैं, वे ही पद्य कुन्दकुन्दश्रावकाचार में क्रमशः नं० ३११-३१० पर पाये जाते हैं अर्थात् पहला श्लोक पीछे और पीछे का पहले लिखा गया है। कुन्दकुन्दश्रावकाचार के तीसरे उल्लास में श्लोक नं० १६ को 'उक्तं च' लिखा है और ऐसा लिखना ठीक भी है, क्योंकि यह पद्य दूसरे ग्रन्थ का है और इससे पहला पद्य नंबर १५ भी इसी अभिप्राय को लिये हुए है। परन्तु विवेकविलास में इसे 'उक्तं च' नहीं लिखा। इसी प्रकार कहीं-कहीं पर एक ग्रन्थ में एक श्लोक का जो पूर्वार्द्ध है, वही दूसरे ग्रन्थ में किसी दूसरे श्लोक का उत्तरार्द्ध हो गया है और कहीं-कहीं एक श्लोक के पूर्वार्द्ध को दूसरे श्लोक के उत्तरार्द्ध से मिलाकर एक नवीन ही श्लोक का संगठन किया गया है। नीचे के उदाहरणों से इस विषय का और भी स्पष्टीकरण हो जायेगा।

(१) विवेकविलास के आठवें उल्लास में निम्नलिखित दो पद्य दिये गये हैं-

हरितालप्रभैश्चक्री नेत्रैर्नीलैरहं मदः।
रक्तैर्नृपः सितैर्ज्ञानी मधुपिङ्गैर्महाधनः॥३४३॥
सेनाध्यक्षो गजाक्षः स्याद्दीर्घाक्षश्चिरजीवितः।
विस्तीर्णाक्षो महाभोगी कामी पारावतेक्षणः॥३४४॥

इन दोनों पद्यों में से एक में नेत्र के रंग की अपेक्षा और दूसरे में आकार विस्तार की अपेक्षा कथन है। परन्तु कुन्दकुन्दश्रावकाचार में पहले पद्य का पूर्वार्द्ध और दूसरे का उत्तरार्द्ध मिलाकर एक पद्य दिया है, जिसका नं० ३३६ है। इससे स्पष्ट है कि बाकी के दोनों उत्तरार्द्ध और पूर्वार्द्ध छूट गये हैं।

(२) विवेकविलास के इसी आठवें उल्लास में दो पद्य इस प्रकार हैं-

नद्याः परतटाद्गोष्ठात्क्षीरद्रोः सलिलाशयात्।
निर्वर्त्तेतात्मनोऽभीष्टाननुव्रज्य प्रवासिनः॥३६६॥
नासहायो न चाज्ञातैर्नैव दासैः समं तथा।
नातिमध्यं दिने नार्धरात्रौ मार्गे बुधो व्रजेत्॥३६७॥

इन दोनों पद्यों में से पहले पद्य में यह वर्णन है कि यदि कोई अपना इष्टजन परदेश को जावे, तो उसके साथ कहाँ तक जाकर लौट जाना चाहिए और दूसरे में यह कथन है कि मध्याह्न और अर्धरात्रि के समय बिना अपने किसी सहायक को साथ लिये, अज्ञात मनुष्यों तथा गुलामों के साथ मार्ग नहीं

चलना चाहिए। कुन्दकुन्दश्रावकाचार में इन दोनों पद्यों के स्थान में एक पद्य इस प्रकार से दिया है–

नद्यः परतटाद्गोष्ठात्क्षीरद्रोः सलिलाशयात्।
नातिमध्यं दिने नार्धरात्रौ मार्गे बुधो व्रजेत्॥३५८॥

यह पद्य बड़ा ही विलक्षण मालूम होता है। पूर्वार्द्ध का उत्तरार्द्ध से कोई सम्बन्ध नहीं मिलता और न दोनों को मिलाकर एक अर्थ ही निकलता है। इससे कहना होगा कि विवेक विलास में दिये हुए दोनों उत्तरार्द्ध और पूर्वार्द्ध यहाँ छूट गये हैं और तभी यह असमंजसता प्राप्त हुई है। विवेकविलास के इसी उल्लाससम्बन्धी पद्य नं० ४२० और ४२१ के सम्बन्ध में भी ऐसी ही गड़बड़ की गई है। पहले पद्य के पहले चरण को दूसरे पद्य के अन्तिम तीन चरणों से मिलाकर एक पद्य बना डाला है, बाकी पहले के पद्य तीन चरण और दूसरे पद्य का पहला चरण, ये सब छूट गये हैं। लेखकों के प्रमाद को छोड़कर, पद्यों की इस घटा-बढ़ी का कोई दूसरा विशेष कारण मालूम नहीं होता। प्रमादी लेखकों द्वारा इतने बड़े ग्रन्थों में दस-बीस पद्यों का छूट जाना तथा उलटफेर हो जाना कुछ भी बड़ी बात नहीं है। इसीलिए ऊपर यह कहा गया है कि ये दोनों ग्रन्थ वास्तव में एक ही हैं। दोनों ग्रन्थों में असली फर्क सिर्फ ग्रन्थ और ग्रन्थकर्ता के नामों का है। विवेकविलास की सन्धियों में ग्रन्थ का नाम 'विवेकविलास' और ग्रन्थकर्ता का नाम 'जिनदत्तसूरि' लिखा है। कुन्दकुन्द-श्रावकाचार की सन्धियों में ग्रन्थ का नाम 'श्रावकाचार' और ग्रन्थकर्ता का नाम कुछ सन्धियों में 'श्रीजिनचन्द्राचार्य के शिष्य कुन्दकुन्दस्वामी' और शेष सन्धियों में केवल 'कुन्दकुन्द स्वामी' दर्ज है। इसी फर्क के कारण प्रथम उल्लास के दो पद्यों में इच्छापूर्वक परिवर्तन भी पाया जाता है। विवेकविलास में वे दोनों पद्य इस प्रकार हैं–

जीववत्प्रतिभा यस्य वचो मधुरिमाचिंतम्।
देहं गेहं श्रियस्तं स्वं वंदे सूरिवरं गुरुम्॥३॥
स्वस्यानस्यापि पुण्याय कुप्रवृत्तिनिवृत्तये।
श्रीविवेकविलासाख्यो ग्रन्थः प्रारभ्यते मितः॥९॥

इन दोनों पद्यों के स्थान में कुन्दकुन्द-श्रावकाचार में ये पद्य दिये हैं–

जीववत्प्रतिभा यस्य वचो मधुरिमाचिंतम्।
देहं गेहं श्रियस्तं स्वं वंदे जिनविधुं गुरुम्॥३॥
स्वस्यानस्यापि पुण्याय कुप्रवृत्तिनिवृत्तये।
श्रावकाचारविन्यासग्रन्थः प्रारभ्यते मितः॥९॥

दोनों ग्रन्थों के इन चारों पद्यों में परस्पर ग्रन्थनाम और ग्रन्थकर्ता के गुरुनाम का ही भेद है। समूचे दोनों ग्रन्थों में यही एक वास्तविक भेद पाया जाता है। जब इस नाममात्र के (ग्रन्थनाम-ग्रन्थकर्तानाम के) भेद के सिवा और तौर पर ये दोनों ग्रन्थ एक ही हैं, तब यह जरूरी है कि इन दोनों में से, उभयनाम की सार्थकता लिये हुए कोई एक ग्रन्थ ही असली हो सकता है, दूसरे को अवश्य ही नकली या बनावटी कहना होगा।

अब यह सवाल पैदा होता है कि इन दोनों में से असली कौन है और नकली या बनावटी कौनसा? दूसरे शब्दों में यों कहिए कि क्या पहले कुन्दकुन्दश्रावकाचार मौजूद था और उसकी सन्धियों तथा दो पद्यों में नामादिक के परिवर्तनपूर्वक नकल करके जिनदत्तसूरि या उनके नाम से किसी दूसरे व्यक्ति ने उस नकल का नाम 'विवेक विलास' रखा है और इस प्रकार से दूसरे विद्वान् ने इस ग्रन्थ को अपनाया है? अथवा पहले विवेकविलास ही मौजूद था और किसी व्यक्ति ने उसकी इस प्रकार से नकल करके उसका नाम 'कुन्दकुन्दश्रावकाचार' रख छोड़ा है और इस तरह पर अपने क्षुद्र विचारों से या अपने किसी गुप्त अभिप्राय की सिद्धि के लिए इस ग्रन्थ को भगवत्कुन्दकुन्द के नाम से प्रसिद्ध करना चाहा है।

यदि कुन्दकुन्दश्रावकाचार को वास्तव में भगवत्कुन्दकुन्द स्वामी का बनाया हुआ माना जाये, तब यह कहना ही होगा कि विवेकविलास उसी पर से नकल किया गया है। क्योंकि श्रीकुन्दकुन्दाचार्य जिनदत्तसूरि से एक हजार वर्ष से भी अधिक काल पहले हो चुके हैं। परन्तु ऐसा मानने और कहने का कोई साधन नहीं है। कुन्दकुन्दश्रावकाचार में श्रीकुन्दकुन्दस्वामी और उनके गुरु का नामोल्लेख होने के सिवा और कहीं भी इस विषय का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, जिससे निश्चय किया जाये कि यह ग्रन्थ वास्तव में भगवत्कुन्दकुन्द आचार्य का ही बनाया हुआ है। कुन्दकुन्दस्वामी के बाद होने वाले किसी भी माननीय आचार्य की कृति में इस श्रावकाचार का कहीं नामोल्लेख तक नहीं मिलता, प्रत्युत इसके, विवेकविलास का उल्लेख जरूर पाया जाता है। जिनदत्तसूरि के समकालीन या उनसे कुछ ही काल बाद होने वाले वैदिकधर्मावलम्बी विद्वान् श्रीमाधवाचार्य ने अपने 'सर्वदर्शनसंग्रह' नाम के ग्रन्थ में विवेकविलास का उल्लेख किया है और उसमें बौद्धदर्शन तथा आर्हत्दर्शनसम्बन्धी २३ श्लोक विवेकविलास और जिनदत्तसूरि के हवाले से उद्धृत किये हैं[१०]। ये सब श्लोक कुन्दकुन्दश्रावकाचार में भी मौजूद हैं। इसके सिवा विवेकविलास की एक चार-सौ पाँच-सौ वर्ष की लिखी हुई प्राचीन प्रति बम्बई के जैनमंदिर में मौजूद है[११]। परन्तु कुन्दकुन्दश्रावकाचार की कोई प्राचीन प्रति नहीं मिलती। इन सब बातों को छोड़कर, खुद ग्रन्थ का साहित्य भी इस बात का साक्षी नहीं है कि यह ग्रन्थ भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य का बनाया हुआ है। कुन्दकुन्दस्वामी की लेखनप्रणाली, उनकी कथनशैली कुछ और ही ढंग की है और उनके विचार कुछ और ही छटा को लिये हुए होते हैं। भगवत्कुन्दकुन्द के जितने ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध हुए हैं, वे सब प्राकृत भाषा में हैं। परन्तु इस श्रावकाचार की भाषा संस्कृत है। समझ में नहीं आता कि जब भगवत्कुन्दकुन्द ने बारीक से बारीक, गूढ़ से गूढ़ और सुगम ग्रन्थों को भी प्राकृत भाषा में रचा है, जो उस समय के लिए उपयोगी भाषा थी, तब वे एक इसी साधारण गृहस्थों के लिए बनाये हुए ग्रन्थ को संस्कृत भाषा में क्यों रचते? परन्तु इसे रहने दीजिए। जैन समाज में आजकल जो भगवत्कुन्दकुन्द के निर्माण किये हुए समयसार, प्रवचनसारादि ग्रन्थ प्रचलित हैं, उनमें

१०. देखो, सर्वदर्शनसंग्रह / पृष्ठ ३८-७२ श्रीव्येंकटेश्वर छापाखाना, बम्बई द्वारा संवत् १९६२ का छपा हुआ।

११. विवेकविलास की इस प्राचीन प्रति का समाचार अभी हाल में मुझे अपने एक मित्र द्वारा मालूम हुआ है।

से किसी भी ग्रन्थ के आदि में कुन्दकुन्दस्वामी ने 'जिनचन्द्राचार्य' गुरु को नमस्काररूप मंगलाचरण नहीं किया है। परन्तु श्रावकाचार के, ऊपर उद्धृत किये हुए, तीसरे पद्य में 'वन्दे जिनविधुं गुरुम्' इस पद्य के द्वारा 'जिनचन्द्र' गुरु को नमस्कार रूप मंगलाचरण पाया जाता है। कुन्दकुन्दस्वामी के ग्रन्थों में आम तौर पर एक पद्य का मंगलाचरण है। सिर्फ 'प्रवचनसार' में पाँच पद्यों का मंगलाचरण मिलता है। परन्तु इस पाँच पद्यों के विशेष मंगलाचरण में भी जिनचन्द्र गुरु को नमस्कार नहीं किया गया है। यह विलक्षणता इसी श्रावकाचार में पाई जाती है। रही मंगलाचरण के भाव और भाषा की बात, वह भी उक्त आचार्य के किसी ग्रन्थ से इस श्रावकाचार की नहीं मिलती। विवेकविलास में भी यही पद्य है, भेद सिर्फ इतना है कि उसमें 'जिनविधुं' के स्थान में 'सूरिवरं' लिखा है। जिनदत्तसूरि के गुरु 'जीवदेव' का नाम इस पद्य के चारों चरणों के प्रथमाक्षरों को मिलाने से निकलता है। यथा–

जीवदेवत्प्रतिभा यस्य,
वचो मधुरिमांचितम्।
देहं गेहं श्रियस्तं स्वं,
वन्दे सूरिवरं गुरुम्॥३॥

} जी + व + दे + व = जीवदेव

बस इतनी ही इस पद्य में कारीगरी (रचनाचातुरी) रखी गई है। और तौर पर इसमें कोई विशेष गौरव की बात नहीं पाई जाती। विवेकविलास के भाषाकार ने भी इस रचनाचातुरी को प्रकट किया है। इससे यह पद्य कुन्दकुन्द-स्वामी का बनाया हुआ न होकर जीवदेव के शिष्य जिनदत्तसूरि का ही बनाया हुआ निश्चित होता है। अवश्य ही कुन्दकुन्दश्रावकाचार में 'सूरिवरं' के स्थान में 'जिनविधुं' की बनावट की गई है। इस बनावट का निश्चय और भी अधिक दृढ़ होता है, जबकि दोनों ग्रन्थों के, ऊपर उद्धृत किये हुए पद्य नं ९ को देखा जाता है। इस पद्य में ग्रन्थ के नाम का परिवर्तन है– 'विवेकविलास' के स्थान में 'श्रावकाचार' बनाया गया है, वास्तव में यदि देखा जाये तो यह ग्रन्थ कदापि 'श्रावकाचार' नहीं हो सकता। श्रावक की ११ प्रतिमाओं और १२ व्रतों का वर्णन तो दूर रहा, इस ग्रन्थ में उनका नाम तक भी नहीं है। भगवत्कुन्दकुन्द ने स्वयं षट्पाहुड के अन्तर्गत 'चारित्रपाहुड' में ११ प्रतिमा और १२ व्रतरूप श्रावकधर्म का वर्णन किया है। और इस कथन के अन्त की २७वीं गाथा में एवं ''सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं'' इस वाक्य के द्वारा इसी (११ प्रतिमा, १२ व्रतरूप संयमाचरण) को श्रावकधर्म बतलाया है। परन्तु वे ही कुन्दकुन्द अपने श्रावकाचार में जो खास श्रावकधर्म के ही वर्णन के लिए लिखा जाये, उन ११ प्रतिमादि का नाम तक भी न देवें, यह कभी हो ही नहीं सकता। इससे साफ प्रकट है कि यह ग्रन्थ श्रावकाचार नहीं है, बल्कि विवेकविलास के उक्त ९वें पद्य में 'विवेकविलासाख्यः' इस पद के स्थान में 'श्रावकाचार-विन्यास' यह पद रखकर किसी ने इस ग्रन्थ का नाम वैसे ही श्रावकाचार रख छोड़ा है। अब पाठकों को यह जानने की जरूर उत्कण्ठा होगी कि जब इस ग्रन्थ में श्रावकधर्म का वर्णन नहीं है, तब क्या वर्णन है? अतः इस ग्रन्थ में जो कुछ वर्णित है, उसका दिग्दर्शन नीचे कराया जाता है–

"सवेरे उठने की प्रेरणा, स्वप्नविचार, स्वरविचार, सवेरे पुरुषों को अपना दाहिना और स्त्रियों को बायाँ हाथ देखना, मलमूत्रत्याग और गुदादिप्रक्षालनविधि, दन्तधावन-विधि, सवेरे नाक से पानी पीना, तेल के कुरले करना, केशों को संवारना, दर्पण देखना, माता-पितादिक की भक्ति और पालन, देहली आदि का पूजन, दक्षिण वाम स्वर से प्रश्नों का उत्तरविधान, सामान्य उपदेश, चन्द्रबलादि के विचार करने की प्रेरणा, देवमूर्ति के आकारादि का विचार, मंदिर-निर्माणविधि, भूमिपरीक्षा, काष्ठपाषाणपरीक्षा, स्नानविचार, क्षौरकर्म (हजामत) विचार, वित्तादिक के अनुकूल शृङ्गार करने की प्रेरणा, नवीनवस्त्रधारणविचार, ताम्बूल भक्षण की प्रेरणा और विधि, खेती, पशुपालन और अन्नसंग्रहादि के द्वारा धनोपार्जन का विशेष वर्णन, वणिक्व्यवहारविधि, राज्यसेवा, राजा, मंत्री, सेनापति और सेवक का स्वरूपवर्णन, व्यवसायमहिमा, देवपूजा, दान की प्रेरणा, भोजन कब, कैसा, कहाँ और किस प्रकार करना, न करना आदि, समय मालूम करने की विधि, भोजन में विष की परीक्षा, आमदनी और खर्च आदि का विचार करना, संध्यासमय निषिद्ध कर्म, दीपकशकुन, रात्रि को निषिद्ध कर्म, कैसी चारपाई पर किस प्रकार सोना, वर के लक्षण, वधू के लक्षण, सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार शरीर के अङ्गोपाङ्ग तथा हस्तरेखादिक के द्वारा पुरुषपरीक्षा और स्त्रीपरीक्षा का विशेष वर्णन लगभग १०० श्लोकों में, विषकन्या का लक्षण, किस स्त्री को किस दृष्टि से देखना, त्याज्य स्त्रियाँ, स्त्रियों के पद्मिनी, संखिनी आदि भेद, स्त्रियों का वशीकरण, सुरति के चिह्न, ऋतुभेद से मैथुनभेद, स्त्रियों से व्यवहार, प्रेम टूटने के कारण, पति से विरक्त स्त्रियों के लक्षण, कुलस्त्री का लक्षण और कर्तव्य, रजस्वला का व्यवहार, मैथुनविधि, वीर्यवर्धक पदार्थों के सेवन की प्रेरणा, गर्भ में बालक के अङ्गोपाङ्ग बनने का कथन, गर्भस्थित बालक के स्त्री-पुरुष-नपुंसक होने की पहचान, जन्ममुहूर्तविचार, बालक के दाँत निकलने पर शुभाशुभ विचार, निद्राविचार, ऋतुचर्या, वार्षिक श्राद्ध करने की प्रेरणा, देश और राज्य का विचार, उत्पातादि निमित्तविचार, वस्तु की तेजी मंदी जानने का विचार, गति और फलविचार, गृहनिर्माणविचार, गृहसामग्री और वृक्षादिक का विचार, विद्यारम्भ के लिए नक्षत्रादि विचार, गुरुशिष्य लक्षण और उनका व्यवहार, कौन-कौन विद्यायें और कलायें सीखनी, विषलक्षण तथा सर्पादिक के छूने का निषेध, सर्पादिक से डसे हुए मनुष्य के विष दूर होने-न होने आदि का विचार और चिकित्सा (९८ श्लोकों में), षट्दर्शनों का वर्णन, सविवेक वचनविचार, किस-किस वस्तु को देखना और किस को नहीं, दृष्टिविचार और नेत्रस्वरूपविचार, चलने फिरने का विचार, नीति का विशेषोपदेश, (६५ श्लोकों में) पाप के काम और क्रोधादि के त्याग का उपदेश, धर्म करने की प्रेरणा, दान, शील, तप और १२ भावनाओं का संक्षिप्त कथन, पिण्डस्थादि ध्यान का उपदेश, ध्यान की साधकसामग्री, जीवात्मासम्बन्धी प्रश्नोत्तर, मृत्युविचार और विधिपूर्वक शरीरत्याग की प्रेरणा।"

यही सब इस ग्रन्थ की संक्षिप्त विषयसूची है। संक्षेप से, इस ग्रन्थ में सामान्य नीति, वैद्यक, ज्योतिष, निमित्त, शिल्प और सामुद्रिकादि शास्त्रों के कथनों का संग्रह है। इससे पाठक खुद समझ सकते हैं कि यह ग्रन्थ असलियत में 'विवेकविलास' है या 'श्रावकाचार'। यद्यपि इस विषयसूची से

पाठकों को इतना अनुभव जरूर हो जायेगा कि इस प्रकार के कथनों को लिये हुए यह ग्रन्थ भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य का बनाया हुआ नहीं हो सकता, क्योंकि भगवत्कुन्दकुन्द एक ऊँचे दर्जे के आत्मानुभवी साधु और संसार-देह-भोगों से विरक्त महात्मा थे और उनके किसी भी प्रसिद्ध ग्रन्थ से उनके कथन का ऐसा ढंग नहीं पाया जाता है। परन्तु फिर भी इस नाममात्र के श्रावकाचार के कुछ विशेष कथनों को, नमूने के तौर पर नीचे दिखलाकर और भी अधिक इस बात को स्पष्ट किये देता हूँ कि यह ग्रन्थ भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य का बनाया हुआ नहीं है-

१. भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों में मंगलाचरण के साथ या उसके अनन्तर ही ग्रन्थ की प्रतिज्ञा पाई जाती है और ग्रन्थ का फल तथा आशीर्वाद, यदि होता है तो वह, अन्त में होता है। परन्तु इस ग्रन्थ के कथन का कुछ ढंग ही निराला है। इसमें पहले तीन पद्यों में तो मंगलाचरण किया गया, चौथे पद्य में ग्रन्थ का फल, लक्ष्मी की प्राप्ति आदि बतलाते हुए ग्रन्थ को आशीर्वाद दिया गया, पाँचवें में लक्ष्मी को चंचल कहने वालों की निन्दा की गई, छठे-सातवें में लक्ष्मी की महिमा और उसकी प्राप्ति की प्रेरणा की गई, आठवें-नौवें में (इतनी दूर आकर) ग्रन्थ की प्रतिज्ञा और उसका नाम दिया गया है। दसवें में यह बतलाया है कि इस ग्रन्थ में जो कहीं-कहीं (कहीं-कहीं या प्रायः सर्वत्र?) प्रवृत्तिमार्ग का वर्णन किया गया है, वह भी विवेकी द्वारा आदर किया हुआ निवृत्तिमार्ग में जा मिलता है। ग्यारहवें-बारहवें में फिर ग्रन्थ का फल और एक बृहत् आशीर्वाद दिया गया है, इसके बाद ग्रन्थ कथन शुरू किया है। इस प्रकार का अक्रम कथन पढ़ने में बहुत ही खटकता है और वह कदापि भगवत्कुन्दकुन्द का नहीं हो सकता। ऐसे और भी कथन इस ग्रन्थ में पाये जाते हैं। अस्तु; इन पद्यों में से पाँचवाँ पद्य इस प्रकार है-

चंचलत्वं कलङ्कं ये श्रियो ददति दुर्धियः।
ते मुग्धाः स्वं न जानन्ति निर्विवेकमपुण्यकम्॥

अर्थात् जो दुर्बुद्धि लक्ष्मी पर चंचलता का दोष लगाते हैं, वे मूढ़ यह नहीं जानते हैं कि हम खुद निर्विवेकी और पुण्यहीन हैं। भावार्थ-जो लक्ष्मी को चंचल बतलाते हैं, वे दुर्बुद्धि, निर्विवेकी और पुण्यहीन हैं।

पाठकगण! क्या अध्यात्मरस के रसिक और अपने ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर दूसरों के शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्ति करने का हार्दिक प्रयत्न करनेवाले महर्षियों के ऐसे ही वचन होते हैं? कदापि नहीं। भगवत्कुन्दकुन्द तो क्या, सभी आध्यात्मिक आचार्यों ने लक्ष्मी को 'चंचला', 'चपला', 'इन्द्रजालोपमा', 'क्षणभंगुरा' इत्यादि विशेषणों के साथ वर्णन किया है। नीतिकारों ने भी 'चलालक्ष्मीश्चला प्राणाः ...' इत्यादि वाक्यों द्वारा ऐसा ही प्रतिपादन किया है और वास्तव में लक्ष्मी का स्वरूप है भी ऐसा ही। फिर इस कहने में दुर्बुद्धि और मूढता की बात ही कौनसी हुई, यह कुछ समझ में नहीं आता। यहाँ पर पाठकों के हृदय में यह प्रश्न जरूर उत्पन्न होगा कि जब ऐसा है, तब जिनदत्तसूरि ने ही क्यों इस प्रकार का कथन किया है। इसका उत्तर सिर्फ इतना ही हो सकता है कि इस बात को तो जिनदत्तसूरि

ही जानें कि उन्होंने क्यों ऐसा वर्णन किया है। परन्तु ग्रन्थ के अन्त में दी हुई उनकी 'प्रशस्ति' से इतना जरूर मालूम होता है कि उन्होंने यह ग्रन्थ जाबाली-नगराधिपति उदयसिंह राजा के मंत्री देवपाल के पुत्र धनपाल को खुश करने के लिए बनाया था। यथा–

तन्मन:तोषपोषाय जिनाद्यैर्दत्तसूरिभि:।
श्रीविवेकविलासाख्यो ग्रन्थोऽयं निर्ममेऽनघ:॥९॥

शायद इस मंत्रीसुत की प्रसन्नता के लिए ही जिनदत्त सूरि को ऐसा लिखना पड़ा हो। अन्यथा उन्होंने खुद दसवें उल्लास के पद्य नं० ३१ में धनादिक को अनित्य वर्णन किया है।

२. इस ग्रन्थ के प्रथम उल्लास में जिनप्रतिमा और मंदिर के निर्माण का वर्णन करते हुए लिखा है कि गर्भगृह के अर्धभाग के भित्ति द्वारा पाँच भाग करके पहले भाग में यक्षादिक की, दूसरे भाग में सर्वदेवियों की, तीसरे भाग में जिनेन्द्र, सूर्य, कार्तिकेय और कृष्ण की, चौथे भाग में ब्रह्मा की और पाँचवें भाग में शिवलिङ्ग की प्रतिमायें स्थापित करनी चाहिए। यथा–

प्रासादगर्भगेहार्द्धे भित्तित: पञ्चधा कृते।
यक्षाद्या: प्रथमे भागे देव्य: सर्वा द्वितीयके॥१४८॥
जिनार्कस्कन्दकृष्णानां प्रतिमा स्युस्तृतीयके।
ब्रह्मा तु तुर्यभागे स्याल्लिङ्गमीशस्य पंचमे॥१४९॥

यह कथन कदापि भगवत्कुन्दकुन्द का नहीं हो सकता। न जैनमत का ऐसा विधान है और न प्रवृत्ति ही इसके अनुकूल पाई जाती है। श्वेताम्बर जैनियों के मन्दिरों में भी यक्षादि को छोड़कर महादेव के लिङ्ग की स्थापना तथा कृष्णादिक की मूर्तियाँ देखने में नहीं आतीं। शायद यह कथन भी जिनदत्तसूरि ने मंत्रिसुत की प्रसन्नता के लिए, जिसे प्रशस्ति के सातवें पद्य में सर्वधर्मों का आधार बतलाया गया है, लिख दिया हो।

३. इस ग्रन्थ के दूसरे उल्लास का एक पद्य इस प्रकार है–

साध्वर्थे जीवरक्षायै गुरुदेवगृहादिषु।
मिथ्याकृतैरपि नृणां शपथैर्नास्ति पातकम्॥६९॥

इस पद्य में लिखा है कि साधु के वास्ते और जीवरक्षा के लिए गुरु तथा देव के मंदिरादिक में झूठी कसम (शपथ) खाने से कोई पाप नहीं लगता। यह कथन जैनसिद्धान्त के बिल्कुल विरुद्ध है। भगवत्कुन्दकुन्द का ऐसा नीचा और गिरा हुआ उपदेश नहीं हो सकता।

४. आठवें उल्लास में ग्रन्थकार लिखते हैं कि बहादुरी से, तप से, विद्या से या धन से अत्यन्त अकुलीन मनुष्य भी क्षणमात्र में कुलीन हो जाता है। यथा–

शौर्येण वा तपोभिर्वा विद्यया वा धनेन वा।
अत्यन्तमकुलीनोऽपि कुलीनो भवति क्षणात्॥३९१॥

मालूम नहीं होता कि आचारादि को छोड़कर केवल बहादुरी, विद्या या धन का कुलीनता से

क्या सम्बन्ध है और किस सिद्धान्त पर यह कथन अवलम्बित है।

५. दूसरे उल्लास में ताम्बूलभक्षण की प्रेरणा करते हुए लिखा है कि–

यः स्वादयति ताम्बूलं वक्त्रभूषाकरं नरः।
तस्य दामोदरस्येव न श्रीस्त्यजति मंदिरम्॥३९॥

अर्थात् जो मनुष्य मुख की शोभा बढ़ाने वाला पान चबाता है, उसके घर को लक्ष्मी इस प्रकार से नहीं छोड़ती, जिस प्रकार वह श्रीकृष्ण को नहीं छोड़ती।

भावार्थ–पान चबाने वाला कृष्णजी के समान लक्ष्मीवान् होता है।

यह कथन भी जैनमत के किसी सिद्धान्त से सम्बन्ध नहीं रखता और न किसी दिगम्बर आचार्य का ऐसा उपदेश हो सकता है। आजकल बहुत से मनुष्य रात-दिन पान चबाते रहते हैं, परन्तु किसी को भी श्रीकृष्ण के समान लक्ष्मीवान् होते नहीं देखा।

६. ग्यारहवें उल्लास में ग्रन्थकार लिखते हैं कि जिस प्रकार बहुत से वर्णों की गायों में दुग्ध एक ही वर्ण का होता है, उसी प्रकार सर्वधर्मों में तत्त्व एक ही है। यथा–

एकवर्णं यथा दुग्धं बहुवर्णासु धेनुषु।
तथा धर्मस्य वैचित्र्यं तत्त्वमेकं परं पुनः॥७३॥

यह कथन भी जैनसिद्धान्त के विरुद्ध है। भगवत्कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से इसका कोई मेल नहीं मिलता। इसलिए यह कदापि उनका वचन नहीं हो सकता।

७. पहले उल्लास में एक स्थान पर लिखा है कि जिस मन्दिर पर ध्वजा नहीं है, उस मन्दिर में किये हुए पूजन, होम और जपादिक सब ही विलुप्त हो जाते हैं अर्थात् उनका कुछ भी फल नहीं होता। यथा–

प्रासादे ध्वजनिर्मुक्ते पूजाहोमजपादिकम्।
सर्वं विलुप्यते यस्मात्तस्मात्कार्यो ध्वजोच्छ्रयः॥१७१॥

यह कथन बिल्कुल युक्ति और आगम के विरुद्ध है। इसको मानते हुए जैनियों को अपनी कर्म-फिलॉसोफी को उठाकर रख देना होगा। उमास्वामिश्रावकाचार में भी यह पद्य आया है, उक्त श्रावकाचार पर लिखे गये परीक्षालेख में इस पद्य पर पहले बहुत कुछ लिखा जा चुका है। इसलिए अब पुनः अधिक लिखने की जरूरत नहीं है।

८. आठवें उल्लास में जिनेन्द्रदेव का स्वरूप वर्णन करते हुए अठारह दोषों के नाम इस प्रकार दिये हैं– १. वीर्यान्तराय, २. भोगान्तराय, ३. उपभोगान्तराय, ४. दानान्तराय, ५. लाभान्तराय, ६. निद्रा, ७. भय, ८. अज्ञान, ९. जुगुप्सा, १०. हास्य, ११. रति, १२. अरति, १३. राग, १४. द्वेष, १५. अविरति, १६. काम, १७. शोक और १८. मिथ्यात्व। यथा–

बलभोगोपभोगानामुभयोर्दानलाभयोः ।

नान्तरायस्तथा निद्रा, भीरज्ञानं जुगुप्सनम्॥२४१॥
हासो रत्यरती रागद्वेषावविरतिः स्मरः।
शोको मिथ्यात्वमेतेऽष्टादशदोषा न यस्य सः॥२४२॥

अठारह दोषों के ये नाम श्वेताम्बर जैनियों द्वारा ही माने गये हैं। प्रसिद्ध श्वेताम्बर साधु आत्मारामजी ने भी इन्हीं अठारह दोषों का उल्लेख अपने 'जैनतत्त्वादर्श' नामक ग्रन्थ के पृष्ठ ४ पर किया है। परन्तु दिगम्बरजैन सम्प्रदाय में जो अठारह दोष माने जाते हैं और जिनका बहुत से दिगम्बर जैनग्रन्थों में उल्लेख है, उनके नाम इस प्रकार हैं–१. क्षुधा, २. तृषा, ३. भय, ४. द्वेष, ५. राग, ६. मोह, ७. चिन्ता, ८. जरा, ९. रोग, १०.मृत्यु, ११. स्वेद, १२. खेद, १३. मद, १४. रति, १५. विस्मय, १६. जन्म, १७. निद्रा और १८. विषाद।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों की इस अष्टादश दोषों की नामावली में बहुत बड़ा अन्तर है। सिर्फ निद्रा, भय, रति, राग और द्वेष ये पाँच दोष ही दोनों में एक रूप से पाये जाते हैं। बाकी सब दोषों का कथन परस्पर भिन्न-भिन्न है और दोनों के भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों पर अवलम्बित है। इससे निःसन्देह कहना पड़ता है कि यह ग्रन्थ श्वेताम्बर सम्प्रदाय का ही है। दिगम्बरों का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। और श्वेताम्बर सम्प्रदाय का भी यह कोई सिद्धान्त ग्रन्थ नहीं है, बल्कि मात्र विवेकविलास है, जो कि एक मंत्रीसुत की प्रसन्नता के लिए बनाया गया था। विवेकविलास की संधियाँ और उसके उपर्युल्लिखित दो पद्यों (नं० ३, ९) में कुछ ग्रन्थनामादि का परिवर्तन करके ऐसे किसी व्यक्ति ने, जिसे इतना भी ज्ञान नहीं था कि दिगम्बर और श्वेताम्बरों द्वारा माने हुए अठारह दोषों में कितना भेद है, विवेकविलास का नाम 'कुन्दकुन्दश्रावकाचार' रखा है। और इस तरह पर इस नकली श्रावकाचार के द्वारा साक्षी आदि अपने किसी विशेष प्रयोजन को सिद्ध करने की चेष्टा की है। अस्तु, इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जिस व्यक्ति ने यह परिवर्तनकार्य किया है, यह बड़ा ही धूर्त और दिगम्बर जैनसमाज का शत्रु था। परिवर्तन का यह कार्य कब और कहाँ पर हुआ है, इसका मुझे अभी तक ठीक निश्चय नहीं हुआ। परन्तु जहाँ तक मैं समझता हूँ, इस परिवर्तन को कुछ ज्यादा समय नहीं हुआ है और इसका विधाता जयपुर नगर है।

अन्त में जैन विद्वानों से मेरा सविनय निवेदन है कि यदि उनमें से किसी के पास कोई ऐसा प्रमाण मौजूद हो, जिससे यह ग्रन्थ भगवत्कुन्दकुन्द का बनाया हुआ सिद्ध हो सके, तो वे खुशी से बहुत शीघ्र उसे प्रकाशित कर देवें। अन्यथा उनका यह कर्तव्य होना चाहिए कि जिस भण्डार में यह ग्रन्थ मौजूद हो, उस ग्रन्थ पर लिख दिया जाये कि "यह ग्रन्थ भगवत् कुन्दकुन्दस्वामी का बनाया हुआ नहीं है, बल्कि वास्तव में यह श्वेताम्बर जैनियों का 'विवेकविलास' ग्रन्थ है। किसी धूर्त ने ग्रन्थ की सन्धियों और तीसरे व नौवें पद्य में ग्रन्थ नामादिक का परिवर्तन करके इसका नाम 'कुन्दकुन्दकश्रावकाचार' रख दिया है।" साथ ही उन्हें अपने भण्डारों के दूसरे ग्रन्थों को जाँचना चाहिए और जाँच के लिए दूसरे विद्वानों को देना चाहिए। केवल वे हस्तलिखित भण्डारों में मौजूद हैं और उनके साथ दिगम्बराचार्यों

का नाम लगा हुआ है, इतने पर से ही उन्हें दिगम्बर-ऋषि-प्रणीत न समझ लें। उन्हें खूब समझ लेना चाहिए कि जैनसमाज में एक ऐसा युग भी आ चुका है जिसमें कषायवश प्राचीन आचार्यों की कीर्ति को कलंकित करने का प्रयत्न किया गया है और अब उस कीर्ति को सुरक्षित रखना हमारा खास काम है। इत्यलं विज्ञेषु।

ग्रन्थपरीक्षा : जिनसेन-त्रिवर्णाचार

इस त्रिवर्णाचार का दूसरा नाम 'उपासकाध्ययनसारोद्धार' भी है, ऐसा इस ग्रन्थ की प्रत्येक सन्धि से प्रकट होता है। यह ग्रन्थ किस समय बना है और किसने बनाया है, इसका पृथक्रूप से कोई स्पष्टोल्लेख इस ग्रन्थ में किसी स्थान पर नहीं किया गया है। कोई 'प्रशस्ति' भी इस ग्रन्थ के साथ लगी हुई नहीं है। ग्रन्थ की सन्धियों में ग्रन्थकर्त्ता का नाम कहीं पर 'श्रीजिनसेनाचार्य' कहीं 'श्रीभगवज्जिनसेनाचार्य' कहीं श्रीजिनसेनाचार्य नामांकित विद्वज्जन' और कहीं 'श्रीभट्टारकवर्य जिनसेन' दिया है। इस सन्धियों में से पहली सन्धि इस प्रकार है–

''इत्यार्षे श्रीमद्भगवन्मुखारविंदाद्विनिर्गते श्रीगौतमर्षिपदपद्माराधकेन श्रीजिनसेनाचार्येण विरचिते त्रिवर्णाचारे उपासकाध्ययनसारोद्धारे श्रीश्रेणिकमहामण्डलेश्वरप्रश्नकथनश्रीमद्वृषभदेवस्य पञ्चकल्याणक-वर्णनद्विजोत्पत्ति-भरतराजदृष्टषोडशस्वप्नफलवर्णनं नाम प्रथमः पर्वः।''

सन्धियों को छोड़कर किसी किसी पर्व के अन्तिम पद्यों में ग्रन्थकर्ता का नाम 'मुनि जैनसेन' या 'भट्टारक जैनसेन' भी लिखा है। परन्तु इस कोरे नामनिर्देश से इस बात का निश्चय नहीं हो सकता कि यह ग्रन्थ कौनसे 'जिनसेन' का बनाया हुआ है। क्योंकि जैन समाज में 'जिनसेन' नाम के धारक अनेक आचार्य और ग्रन्थकर्ता हो गये हैं। जैसा कि आदिपुराण और पार्श्वाभ्युदय आदि ग्रन्थों के प्रणेता भगवज्जिनसेन, हरिवंश पुराण के रचयिता दूसरे जिनसेन, हरिवंशपुराण की 'प्रशस्ति' में जिनका जिक्र है वे तीसरे जिनसेन, श्रीमल्लिषेणाचार्यप्रणीत महापुराण की 'प्रशस्ति' में जिनका उल्लेख है वे चौथे जिनसेन और जैनसिद्धान्तभास्कर द्वारा प्रकाशित सेनगण की पट्टावली में जिनका नाम है, वे सोमसेन भट्टारक के पट्टाधीश पाँचवें जिनसेन, इत्यादि। ऐसी अवस्था में बिना किसी विशेष अनुसन्धान के किसी को एकदम यह कहने का साहस नहीं हो सकता कि यह त्रिवर्णाचार अमुक जिनसेन का बनाया हुआ है। यह भी सम्भव है कि जिनसेन के नाम से किसी दूसरे ही व्यक्ति ने इस ग्रन्थ का सम्पादन किया हो। इसलिए अनुसन्धान की बहुत बड़ी जरूरत है। ग्रन्थ में ग्रन्थकर्ता के नाम के साथ कहीं-कहीं 'भट्टारक' शब्द का संयोग पाया जाता है, पर यह संयोग इस अनुसन्धान में कुछ भी सहायता नहीं देता। क्योंकि 'भट्टारक' शब्द यद्यपि कुछ काल से शिथिलाचारी और परिग्रहधारी साधुओं-श्रमणाभासों के लिए व्यवहृत होने लगा है, परन्तु वास्तव में यह एक बड़ा ही गौरवान्वित पद है। शास्त्रों में बड़े-बड़े प्राचीन आचार्यों और तीर्थङ्करों तक के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। आदिपुराण में भगवज्जिनसेन ने भी 'श्रीवीरसेनइत्यात्त भट्टारकपृथुप्रथः' इस पद के द्वारा अपने गुरु 'वीरसेन' को 'भट्टारक' पदवी से विभूषित वर्णन किया है। बहुत से लोगों का ऐसा ख़याल है कि यह त्रिवर्णाचार आदिपुराण के प्रणेता श्रीजिनसेनाचार्य का, जिन्हें इस लेख में आगे बराबर 'भगवज्जिनसेन'

लिखा जायेगा, बनाया हुआ है। परन्तु यह केवल उनका ख़याल ही है। उनके पास उसके समर्थन में ग्रन्थ की सन्धियों में दिये हुए 'इत्यार्षे' और 'भगवज्जिनसेन', इन शब्दों को छोड़कर और कोई भी प्रमाण मौजूद नहीं है। ऐसे नाममात्र के प्रमाणों से कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता। भगवज्जिनसेन के पीछे होने वाले किसी माननीय प्राचीन आचार्य की कृति में भी इस ग्रन्थ का कहीं नामोल्लेख नहीं मिलता। इसलिए ग्रन्थ के साहित्य की जाँच को छोड़कर कोई भी उपयुक्त साधन इस बात के निर्णय का नहीं है कि यह ग्रन्थ वास्तव में कब बना है और किसने बनाया है।

जिस समय इस ग्रन्थ को परीक्षादृष्टि से अवलोकन किया जाता है, उस समय इसमें कुछ और ही रंग और गुल खिला हुआ मालूम होता है। स्थान-स्थान पर ऐसे पद्यों या पद्यों के ढेर के ढेर नजर पड़ते हैं, जो बिल्कुल ज्यों के त्यों दूसरे ग्रन्थों से उठाकर ही नहीं, किन्तु चुराकर रखे गये हैं। ग्रन्थकर्ता ने उन्हें अपने ही प्रकट किये हैं। और तो क्या, मंगलाचरण तक भी इस ग्रन्थ का अपना नहीं है, वह भी पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ से उठाकर रखा गया है। यथा–

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र॥१॥
परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥२॥

इसी से पाठकगण समझ सकते हैं कि यह ग्रन्थ भगवज्जिनसेन का बनाया हुआ हो सकता है या कि नहीं। जैन समाज में भगवज्जिनसेन एक प्रतिष्ठित विद्वान् आचार्य माने जाते हैं। उनकी अनुपम काव्यशक्ति की बहुत से विद्वानों, आचार्यों और कवियों ने मुक्त कण्ठ से स्तुति की है। जिन विद्वानों को उनके बनाये हुए संस्कृत के आदिपुराण और पार्श्वाभ्युदय आदि काव्य ग्रन्थों को पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे अच्छी तरह जानते हैं कि भगवज्जिनसेन कितने बड़े प्रतिभाशाली विद्वान् हुए हैं। कविता करना तो उनके लिए एक प्रकार का खेल था। तब क्या ऐसे कविशिरोमणि मंगलाचरण तक भी अपना बनाया हुआ न रखते? यह कभी हो नहीं सकता। त्रिवर्णाचार के सम्पादक ने इस पुरुषार्थसिद्ध्युपाय से केवल मंगलाचरण के दो पद्य ही नहीं लिये, बल्कि इन पद्यों के अनन्तर का तीसरा पद्य भी लिया है, जिसमें ग्रन्थ का नाम देते हुए परमागम के अनुसार कथन करने की प्रतिज्ञा की गई है। यथा–

लोकत्रयैकनेत्रं निरूप्य परमागमं प्रयत्नेन।
अस्माभिरुपोध्रियते विदुषां पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम्॥३॥

इस पद्य से साफ़तौर पर चोरी प्रकट हो जाती है और इसमें कोई सन्देह बाकी नहीं रहता कि ये तीनों पद्य पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ से उठाकर रक्खे गये हैं। क्योंकि इस तीसरे पद्य में स्पष्टरूप से ग्रन्थ का नाम पुरुषार्थसिद्ध्युपाय दिया है। यद्यपि इस पद्य को उठाकर रखने से ग्रन्थकर्ता की योग्यता का कुछ परिचय जरूर मिलता है। परन्तु, वास्तव में, इस त्रिवर्णाचार का सम्पादन करने वाले कैसे

योग्य व्यक्ति थे, इसका विशेष परिचय, पाठकों को इस लेख में, आगे चलकर मिलेगा। यहाँ पर इस समय कुछ ऐसे प्रमाण पाठकों के सन्मुख उपस्थित किये जाते हैं, जिनसे यह भले प्रकार स्पष्ट हो जाये कि यह ग्रन्थ (त्रिवर्णाचार) भगवज्जिनसेन का बनाया हुआ नहीं है और न हरिवंशपुराण के कर्ता दूसरे जिनसेन या तीसरे और चौथे जिनसेन का ही बनाया हो सकता है–

(१) इस ग्रन्थ के दूसरे पर्व में ध्यान का वर्णन करते हुए यह प्रतिज्ञा की है कि मैं 'ज्ञानार्णव' ग्रन्थ के अनुसार ध्यान का कथन करता हूँ। यथा–

ध्यानं तावदहं वदामि विदुषां ज्ञानार्णवे यन्मतम् (२-३)

ज्ञानार्णव ग्रन्थ, जिसमें ध्यानादि का विस्तार के साथ कथन है, श्री शुभचन्द्राचार्य का बनाया हुआ है। शुभचन्द्राचार्य का समय विक्रम की ११वीं शताब्दी के लगभग माना जाता है और उन्होंने अपने इस ग्रन्थ में 'जिनसेन' का स्मरण भी किया है। इससे स्वयं ग्रन्थमुख से ही प्रकट है कि यह त्रिवर्णाचार ज्ञानार्णव के पीछे बना है और इसलिए भगवज्जिनसेन का बनाया हुआ नहीं हो सकता। और न हरिवंशपुराण के कर्ता दूसरे जिनसेन या तीसरे जिनसेन का ही बनाया हुआ हो सकता है। क्योंकि हरिवंशपुराण के कर्ता श्रीजिनसेनाचार्य भगवज्जिनसेन के प्रायः समकालीन ही थे। उन्होंने हरिवंशपुराण को शक संवत् ७०५ (वि०सं० ८४०) में बनाकर समाप्त किया है। जब हरिवंशपुराण से बहुत पीछे बनने के कारण यह ग्रन्थ हरिवंशपुराण के कर्ता का बनाया हुआ नहीं हो सकता, तब यह स्वतः सिद्ध है कि हरिवंशपुराण की प्रशस्ति में हरिवंशपुराण के कर्ता से पहले होने वाले, जिन तीसरे जिनसेन का उल्लेख है, उनका भी बनाया हुआ यह नहीं हो सकता।

(२) ग्रन्थ के चौथे पर्व में एक पद्य इस प्रकार दिया है–

प्रापद्दैवं तव नुतिपदैर्जीवकेनोपदिष्टैः।
पापाचारी मरणसमये सारमेयोऽपि सौख्यम्॥
कः संदेहो यदुपलभते वासवश्रीप्रभुत्वम्।
जल्पं जाप्यैर्मणिभिरमलैस्त्वन्नमस्कारचक्रम्॥१२७॥

यह पद्य श्रीवादिराजसूरिविरचित 'एकीभाव' स्तोत्र का है। वहीं से उठाकर रखा गया है। वादिराजसूरि विक्रम की ११वीं शताब्दी में हुए हैं। उन्होंने शक संवत् ९४७ (वि० सं० १०८२) में 'पार्श्वनाथचरित' की रचना की है। इसलिए यह त्रिवर्णाचार उनसे पीछे का बना हुआ है और कदापि दो शताब्दी पहले होने वाले भगवज्जिनसेनादि का बनाया हुआ नहीं हो सकता।

(३) इस ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर गोम्मटसार की गाथायें भी पाई जाती हैं। १४वें पर्व में आई हुई गाथाओं में से एक गाथा इस प्रकार है–

एयंत बुद्धदरसी विवरीओ बंभतावसो विणओ।
इंदोविय संसयिदो मक्कडिओ चेव अण्णाणी॥१२॥

यह गाथा गोम्मटसार में नम्बर १६ पर दर्ज है। गोम्मटसार ग्रन्थ श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती का

बनाया हुआ है, जो कि महाराजा चामुण्डराय के समय में विक्रम की ११वीं शताब्दी में हुए हैं। इससे भी यह त्रिवर्णाचार भगवज्जिनसेनादि से बहुत पीछे का बना हुआ सिद्ध होता है।

(४) इस ग्रन्थ के चौथे पर्व में एक स्थान पर ग्रन्थों को और दूसरे स्थान पर ऋषियों को तर्पण किया है। ग्रन्थों के तर्पण में आदिपुराण, उत्तरपुराण, हरिवंशपुराण और गोम्मटसार को भी अलग-अलग तर्पण किया है। ऋषियों के तर्पण में प्रथम तो लोहाचार्य के पश्चात् 'जिनसेन' को तर्पण किया है (जिनसेनस्तृप्यतां); फिर वीरसेन के पश्चात् 'जिनसेन' का तर्पण किया है और फिर नेमिचन्द्र तथा गुणभद्राचार्य का भी तर्पण किया है। १०वें पर्व में जिनसेन मुनि की स्तुति भी लिखी है और चौथे पर्व के एक श्लोक में जिनसेन का हवाला दिया है। यथा-

सकलवस्तुविकाशदिवाकरं भुविभवार्णवतारणनौसमं।
सुरनरप्रमुखैरुपसेवितं सुजिनसेनमुनिं प्रणमाम्यहम्॥१०/२॥
वाचिकस्त्वेक एव स्यादुपांशुः शत उच्यते।
सहस्त्रमानसः प्रोक्तो जिनसेनादसूरिभिः॥४-१३३॥

इस सब कथन से भी यही प्रकट होता है कि यह ग्रन्थ भगवज्जिनसेन या हरिवंशपुराण के कर्ता जिनसेन का बनाया हुआ नहीं है। भगवज्जिनसेन के समय में आदिपुराण अधूरा था, उत्तरपुराण का बनना प्रारम्भ भी नहीं हुआ था और गोम्मटसार तथा उसके रचयिता श्रीनेमिचन्द्र का अस्तित्व ही न था।

(५) इस ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर एकसंधि भट्टारककृत 'जिनसंहिता' से सैंकड़ों श्लोक उठाकर ज्यों के त्यों रखे हुए हैं। एक स्थान पर (पाँचवें पर्व में) एकसंधि भट्टारक की बनाई हुई संहिता के अनुसार होमकुंडों का लक्षण वर्णन करने की प्रतिज्ञा भी की है और साथ ही तद्विषयक कुछ श्लोक भी उद्धृत किये हैं। वह प्रतिज्ञावाक्य और संहिता के दो श्लोक नमूने के तौर पर इस प्रकार हैं-

लक्षणं होमकुण्डानां वक्ष्ये शास्त्रानुसारतः।
भट्टारकैकसंधेश्च दृष्ट्वा निर्मलसंहिताम्॥१०३॥
त्रिकोणं दक्षिणे कुण्डं कुर्याद्वर्तुलमुत्तरे।
तत्रादिमेखलायाश्चाप्यवसेयाश्च पूर्ववत्॥ (५-११०)
अथ राजन् प्रवक्ष्यामि शृणु भो जातिनिर्णयम्।
यस्मिन्नव परिज्ञानं स्यात् त्रैवर्णिकशूद्रयोः॥ (११-२)

अन्त के दोनों श्लोक 'जिनसंहिता में' क्रमशः नम्बर २१० और ४३ पर दर्ज हैं। एकसंधिभट्टारक भगवज्जिनसेन से बहुत पीछे हुए हैं। उनका समय विक्रम की १३वीं शताब्दी के लगभग पाया जाता है। उन्होंने खुद अपनी संहिता में बहुत से श्लोक आदिपुराण से उठाकर रखे हैं, जिनमें से दो श्लोक नमूने के तौर पर इस प्रकार हैं-

वांछन्त्यो जीविकां देव त्वां वयं शरणं श्रिताः।
तन्नस्त्रायस्व लोकेश तदुपायप्रदर्शनात्॥४७॥
श्रुत्वेति तद्वचो दीनं करुणाप्रेरिताशयः।
मनः प्रणिदधावेवं भगवानादिपुरुषः॥४८॥

ये दोनों श्लोक आदिपुराण के १६वें पर्व के हैं। इस पर्व में इनका नम्बर क्रमशः १३६ और १४२ है। इससे भी प्रकट है कि यह ग्रन्थ भगवज्जिनसेन का बनाया हुआ नहीं है।

(६) श्रीसोमदेवसूरिविरचित 'यशस्तिलक', श्रीहेमचन्द्राचार्यप्रणीत 'योगशास्त्र' और श्री जिनदत्त-सूरिकृत 'विवेकविलास' के पद्य भी इस ग्रन्थ में पाये जाते हैं, जिनका एक-एक नमूना इस प्रकार है-

क- **श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमा शक्तिः।**
यत्रैते सप्त गुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति॥१४-११९॥

यह श्लोक यशस्तिलक के आठवें आश्वास का है।

ख- **अह्नो मुखेवसाने च यो द्वे द्वे घटिके त्यजन्।**
निशाभोजनदोषज्ञोऽश्नात्यसौ पुण्यभाजनम्॥१४-८७॥

यह योगशास्त्र के तीसरे प्रकाश का ६३वाँ पद्य है।

ग- **शाश्वतानंदरूपाय तमस्तोमैकभास्वते।**
सर्वज्ञाय नमस्तस्मै कस्मैचित्परमात्मने॥९-१॥

यह श्लोक विवेकविलास का आदिम मंगलाचरण है।

श्रीसोमदेवसूरि विक्रम की ११वीं शताब्दी में हुए हैं। उन्होंने विक्रम संवत् १०१६ (शक संवत् ८८१) में यशस्तिलक को बनाकर समाप्त किया है। श्वेताम्बराचार्य श्रीहेमचंद्रजी राजा कुमारपाल के समय में अर्थात् विक्रम की १३वीं शताब्दी में (सं० १२२९ तक) विद्यमान थे और श्वेताम्बर साधु श्रीजिनदत्तसूरि भी विक्रम की १३वीं शताब्दी में हुए हैं। इन आचार्यों के उपर्युक्त ग्रन्थों से जब पद्य लिये गये हैं, तब साफ़ प्रकट है कि यह त्रिवर्णाचार उनसे भी पीछे बना है और इसलिए श्रीमल्लिषेणाचार्यकृत 'महापुराण' की प्रशस्ति में उल्लिखित मल्लिषेण के पिता चौथे श्रीजिनसेनसूरि का बनाया हुआ भी यह ग्रन्थ नहीं हो सकता। क्योंकि मल्लिषेण ने शक संवत् ९६९ (वि०सं० ११०४) में 'महापुराण को' बनाकर समाप्त किया है।

(७) इस ग्रन्थ के चौथे पर्व में एक स्थान पर 'सिद्धभक्तिविधान' का वर्णन करते हुए दस पद्यों में सिद्धों की स्तुति दी है। इस स्तुति का पहला और अन्त का पद्य इस प्रकार है-

यस्यानुग्रहतो दुराग्रहपरित्यक्तादिरूपात्मनः,
सद्द्रव्यं चिदचित्त्रिकालविषयं स्वैः स्वैरभीक्ष्णं गुणैः॥
सार्थं व्यंजनपर्ययैः समभवज्जानाति बोधः स्वयं,
तत्सम्यक्त्वमशेषकर्मभिदुरं सिद्धाः परं नौमि वः॥१॥

उत्कीर्णामिव वर्तितामिव हृदि न्यस्तामिवालोकय-
न्नेतां सिद्धगुणस्तुतिं पठति यः शाश्वच्छिवाशाधरः।
रूपातीतसमाधिसाधितवपुः पातः पतद्दुष्कृत-
व्रातः सोऽभ्युदयोपभुक्तसुकृतः सिद्धेत्तृतीये भवे॥१०॥

यह स्तुति पण्डित आशाधरकृत 'नित्यमहोद्योत' ग्रन्थ से, जिसे बृहच्छांतिकाभिषेक विधान भी कहते हैं, ज्यों की त्यों उठाकर रखी हुई है। इसके दसवें पद्य में आशाधर जी ने युक्ति के साथ अपना नाम भी दिया है। सागारधर्मामृतादि और भी अनेक ग्रन्थों में उन्होंने इस प्रकार की युक्ति से (शिवाशाधरः या बुधाशाधरः लिखकर)अपना नाम दिया है। नित्यमहोद्योत ग्रन्थ से और भी बहुत सा गद्य पद्य उठाकर रखा हुआ है। इसके सिवाय उनके बनाये हुए सागारधर्मामृत से भी पचासों श्लोक उठाकर रखे गये हैं। उनमें से दो श्लोक नमूने के तौर पर इस प्रकार हैं–

नरत्वेऽपि पशुयन्ते मिथ्यात्वग्रस्तचेतसः।
पशुत्वेऽपि नरायन्ते सम्यक्त्वव्यक्तचेतनाः॥१४/९॥
कुधर्मस्थोऽपि सद्धर्मं लघुकर्मतयाऽद्विषन्।
भद्रः स देश्यो द्रव्यत्वान्नाभद्रस्तद्विपर्ययात्॥१४/११॥

ये दोनों श्लोक सागारधर्मामृत के पहले अध्याय में क्रमशः नम्बर ४ और ९ पर दर्ज हैं। आशाधर जी विक्रम की १३वीं शताब्दी में हुए हैं। उन्होंने अनगारधर्मामृत की टीका वि०सं० १३०० के कार्तिक मास में बनाकर पूर्ण की है। ऐसा उक्त टीका के अन्त में उन्हीं के वचनों से प्रकट है। पण्डित आशाधर जी के वचनों का इस ग्रन्थ में संग्रह होने से साफ़ जाहिर है कि यह त्रिवर्णाचार १३वीं शताब्दी के पीछे बना है और इसलिए शताब्दियों पहले होने वाले भवज्जिनसेनादि का बनाया हुआ नहीं हो सकता।

(८) अन्यमत के ज्योतिष ग्रन्थों में मुहूर्तचिन्तामणि नाम का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ नीलकण्ठ के अनुज (छोटेभाई) रामदैवज्ञ ने शक संवत् १५२२ (विक्रम सं० १६५७) में निर्माण किया है।[१२] इस ग्रन्थ पर संस्कृत की दो टीकायें हैं। पहली टीका का नाम 'प्रमिताक्षरा' है, जिसको स्वयं ग्रन्थकर्ता ने बनाया है और दूसरी टीका 'पीयूषधरा' नाम की है, जिसको नीलकण्ठ के पुत्र गोविन्द दैवज्ञ ने शक संवत् १५२५ (वि०सं० १६६०) में बनाकर समाप्त किया है।[१३] इस मुहूर्तचिन्तामणि के

---

१२. यथा– ''तदात्मज उदारधीर्विबुधनीलकण्ठानुजो। गणेशपदपंकजं हृदि निधाय रामाभिधः॥
गिरीशनगरे वरे भुजभुजेषु चन्द्रैर्मिते (१५२२) शके विनिरमादिमं खलु मुहूर्तचिन्तामणिम्॥१४/३॥''

१३. जैसा कि टीका के अन्त में दिये हुए इस पद्य से प्रकट है–
''शाके तत्त्वतिथीमिते (१५२५) युगगुणाब्दो नीलकण्ठात्मभूर्दुग्धाब्धिं निखिलार्थयुक्तममलं मौहूर्तचिन्तामणिम्।
काश्यां वाक्यविचारमंदरनगेनामथ्य लेखप्रियाम्। गोविन्दो विधिविद्वरोऽतिविमलां पीयूषधारां व्यधात्॥६/५॥''

संस्कार प्रकरण से बीसों श्लोक और उन श्लोकों की टीकाओं से बहुत-सा गद्यभाग और पचासों पद्य ज्यों के त्यों उठाकर इस त्रिवर्णाचार के १२वें और १३वें पर्व में रखे हुए हैं। मूल ग्रन्थ और उसकी टीका से उठाकर रखे हुए पद्यों का तथा गद्य का कुछ नमूना इस प्रकार है–

विप्राणां व्रतबन्धनं निगदितं गर्भाज्जनेर्वाष्टमे।
वर्षे वाप्यथ पञ्चमे क्षितिभुजां षष्ठे तथैकादशे॥
वैश्यानां पुनरष्टमेप्यथ पुनः स्याद्द्वादशे वत्सरे।
कालेऽथ द्विगुणे गते निगदितं गौणं तदाहुर्बुधाः॥१३/८॥
कविज्य चन्द्रलग्नपा रिपौ मृतौ व्रतेऽधमाः।
व्ययेब्जभार्गवौ तथा तनौ मृतौ सुते खलाः॥१३/१९॥

''गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयेद्गर्भैकादशेषु राजन्यं गर्भद्वादशेषु वैश्यमिति बहुत्वान्यथानुपपत्या-गर्भषष्ठगर्भ-सप्तमगर्भाष्टमेषु सौरवर्षेष्विति वृत्तिकृद्व्याख्यानात्त्रयाणामपि नित्यकालता।''

ऊपर के दोनों पद्य मुहूर्तचिन्तामणि के पाँचवें प्रकरण में क्रमशः नम्बर ३९ और ४१ पर दर्ज हैं और गद्यभाग पहले पद्य की टीका से लिया गया है। मुहूर्तचिन्तामणि और उसकी टीकाओं से इस प्रकार गद्य पद्य को उठाकर रखने में जो चालाकी की गई है और जिस प्रकार से अंधकार के जमाने में, लोगों की आँखों में धूल डाली गयी है, पाठकों को उसका दिग्दर्शन आगे चलकर कराया जायेगा। यहाँ पर सिर्फ इतना बतला देना काफी है कि जब इस त्रिवर्णाचार में मुहूर्तचिन्तामणि के पद्य और उसकी टीकाओं का गद्य भी पाया जाता है, तब इसमें कोई भी सन्देह बाकी नहीं रहता कि यह ग्रन्थ विक्रम संवत् १६६० से भी पीछे का बना हुआ है।

(९) वास्तव में यह ग्रन्थ सोमसेन त्रिवर्णाचार (धर्मरसिकशास्त्र) से भी पीछे का बना हुआ है। 'सोमसेन त्रिवर्णाचार' भट्टारक सोमसेन का बनाया हुआ है।[१४] और विक्रम संवत् १६६५ के कार्तिक मास में बनकर पूरा हुआ है, जैसा कि उसके निम्नलिखित पद्य से प्रकट है–

अब्दे तत्त्वरसर्तुचन्द्र (१६६५) कलिते श्रीविक्रमादित्यजे।
मासे कार्तिकनामनीह धवले पक्षे शरत्सम्भवे॥
वारे भास्वति सिद्धनामनि तथा योगे सुपूर्णातिथौ।
नक्षत्रेऽश्वनिनाम्नि धर्मरसिको ग्रन्थश्च पूर्णीकृतः॥१३/२१६॥

जिनसेन-त्रिवर्णाचार में 'सोमसेनत्रिवर्णाचार' प्रायः ज्यों का त्यों उठाकर रखा हुआ है। कई पर्व इस ग्रन्थ में ऐसे हैं जिनमें सोमसेन त्रिवर्णाचार के अध्याय मंगलाचरण-सहित ज्यों के त्यों नकल किये गये हैं। ''सोमसेनत्रिवर्णाचार की श्लोकसंख्या, उसी ग्रन्थ में, अन्तिम पद्य द्वारा दो हजार सात सौ (२७००) श्लोक प्रमाण वर्णन की है'' इस संख्या में से सिर्फ ७२ पद्य छोड़े गये हैं और बीस-बाईस

---

१४. इस सोमसेन त्रिवर्णाचार की परीक्षा भी एक स्वतन्त्र लेख द्वारा की जायेगी। –लेखक

पद्यों में कुछ थोड़ा-सा नामादिक का परिवर्तन किया गया है, शेष कुल पद्य जिनसेन त्रिवर्णाचार में ज्यों के त्यों, जहाँ जब जी में आया, नकल कर दिये हैं।

सोमसेनत्रिवर्णाचार में प्रत्येक अध्याय के अन्त में सोमसेन भट्टारक ने पद्य में अपना नाम दिया है। इन पद्यों को जिनसेनत्रिवर्णाचार के कर्ता ने कुछ-कुछ बदलकर रखा है। जैसा कि नीचे के उदाहरणों से प्रकट होता है-

१. **धन्यः स एव पुरुषः समतायुतो यः। प्रातः प्रपश्यति जिनेन्द्रमुखारविन्दम्॥**
पूजासु दानतपसि स्पृहणीयचित्तः। सेव्यः सदस्सु नृसुरैर्मुनिसोमसेनैः॥

(सोमसेन त्रि. अ. १ श्लो. ११६)

जिनसेनत्रिवर्णाचार के दूसरे पर्व में यही पद्य नम्बर ९२ पर दिया है, सिर्फ 'मुनिसोमसेनैः' के स्थान में 'मुनिजैनसेनैः' बदला हुआ है।

२. **शौचाचारविधिः शुचित्वजनकः प्रोक्तो विधानागमे**
पुंसां सद्व्रतधारिणां गुणवतां योग्यो युगेऽस्मिन्कलौ।
श्रीभट्टारकसोमसेनमुनिभिः स्तोकोऽपि विस्तारतः
प्रायः क्षत्रियवैश्यविप्रमुखकृत् सर्वत्र शूद्रोऽप्रियः॥

(सोम.त्रि. अ. २ श्लो. ११५)

जिनसेनत्रिवर्णाचार में यही पद्य तीसरे पर्व के अन्त में दिया है। केवल 'सोमसेन' के स्थान में उसी के वजन का 'जैनसेन' बनाया गया है। इसी प्रकार नामसूचक सभी पद्यों में 'सोमसेन' की जगह 'जैनसेन' का परिवर्तन किया गया है। किसी भी पद्य में जिनसेन ऐसा नाम नहीं दिया है। जिनसेनत्रिवर्णाचार में कुल १८ पर्व हैं और सोमसेनत्रिवर्णाचार के अध्यायों की संख्या १३ है। पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि जिनसेनत्रिवर्णाचार के इन १८ पर्वों में से जिन १३ पर्वों में सोमसेनत्रिवर्णाचार के १३ अध्यायों की प्रायः नकल की गई है, उन्हीं १३ पर्वों के अन्त में ऐसे पद्य पाये जाते हैं जिनमें ग्रन्थकर्ता का नाम 'सोमसेन' के स्थान में 'जैनसेन' दिया है, अन्यथा शेष पाँच पर्वों में (जो सोमसेन त्रिवर्णाचार से अधिक हैं) कहीं भी ग्रन्थकर्ता का नाम नहीं है।

सोमसेन भट्टारक ने अपने त्रिवर्णाचार में अनेक स्थानों पर यह प्रकट किया है कि मेरा यह कथन श्रीब्रह्मसूरि के वचनानुसार है, उन्हीं के ग्रन्थों को देखकर यह लिखा गया है। जैसा कि निम्नलिखित पद्यों से प्रकट होता है-

श्रीब्रह्मसूरिद्विजवंशरत्नं श्रीजैनमार्गप्रविबुद्धतत्त्वः।
वाचं तु तस्यैव विलोक्य शास्त्रं कृतं विशेषान्मुनिसोमसेनैः॥

(सोम.त्रि. ३/१४९)

कर्म प्रतीतिजननं गृहिणां यदुक्तं श्रीब्रह्मसूरिवरविप्रकवीश्वरेण।
सम्यक् तदेव विधिवत्प्रविलोक्य सूक्तं, श्रीसोमसेनमुनिभिः शुभमंत्रपूर्वम्॥

(सो.त्रि. अ. ५ श्लो. अन्तिम)

विवाहयुक्तिः कथिता समस्ता संक्षेपतः श्रावकधर्ममार्गात्।
श्रीब्रह्मसूरिप्रथितं पुराणमालोक्य भट्टारकसोमसेनैः॥

(सोम.त्रि.११/२०४)

वास्तव में सोमसेनत्रिवर्णाचार में [१५]ब्रह्मसूरित्रिवर्णाचार से बहुत कुछ लिया गया है और जो कुछ उठाकर या परिवर्तित करके रखा गया है, वह सब जिनसेनत्रिवर्णाचार में भी उसी क्रम से मौजूद है। बल्कि इस त्रिवर्णाचार में कहीं कहीं पर सीधा ब्रह्मसूरित्रिवर्णाचार से भी कुछ मजमून उठाकर रखा गया है, जो सोमसेन त्रिवर्णाचार में नहीं था। जैसा कि छठे पर्व में 'यंत्रलेखनविधि' इत्यादि। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी जिनसेनत्रिवर्णाचार में उपर्युक्त तीनों पद्यों को इस प्रकार से बदलकर रखा है-

श्रीगौतमर्षिद्विजवंशरत्नं श्रीजैनमार्गप्रविबुद्धतत्त्वः।
वाचं तु तस्यैव विलोक्य शास्त्रं कृतं विशेषान्मुनिजैनसेनैः॥

(पर्व ४ श्लो. अन्तिम)।

कर्म प्रतीतिजननं गृहिणां यदुक्तं श्रीगौतमर्षिगणविप्रकवीश्वरेण।
सम्यक् तदेव विधिवत्प्रविलोक्य सूक्तं श्रीजैनसेनमुनिभिः शुभमंत्रपूर्वम्॥

(पर्व ७ श्लोक अन्तिम)।

विवाहयुक्तिः कथिता समस्ता संक्षेपतः श्रावकधर्ममार्गात्।
श्रीगौतमर्षिप्रथितं पुराणमालोक्य भट्टारकजैनसेनैः॥

(पर्व १५ श्लोक अन्तिम)

इन तीनों पद्यों में सोमसेन के स्थान में 'जैनसेन' का परिवर्तन तो वही है, जिसका जिकर पहले आ चुका है। इसके सिवाय 'श्रीब्रह्मसूरि' के स्थान में 'गौतमर्षि' ऐसा विशेष परिवर्तन किया गया है। यह विशेष परिवर्तन क्यों किया गया और क्यों 'ब्रह्मसूरि' का नाम उड़ाया गया है, इसके विचार का इस समय अवसर नहीं है। परन्तु ग्रन्थकर्ता ने इस परिवर्तन से इतना जरूर सूचित किया है कि मैंने श्रीगौतमस्वामी के किसी ग्रन्थ या पुराण को देखकर इस त्रिवर्णाचार के ये तीनों पर्व लिखे हैं। श्रीगौतमस्वामी का बनाया हुआ कोई भी ग्रन्थ जैनियों में प्रसिद्ध नहीं है। श्रीभूतबलि आदि आचार्यों के समय में भी (जिस वक्त ग्रन्थों के लिखे जाने का प्रारम्भ होना कहा जाता है) गौतम स्वामी का बनाया हुआ कोई ग्रन्थ मौजूद न था और न किसी प्राचीन आचार्य के ग्रन्थ में उनके बनाये हुए ग्रन्थों

---

१५. अवसर मिलने पर, इस ब्रह्मसूरि त्रिवर्णाचार की परीक्षा भी एक स्वतंत्र लेखद्वारा की जाएगी। -लेखक

की कोई सूची मिलती है। हाँ, इतना कथन जरूर पाया जाता है कि उन्होंने द्वादशांगसूत्रों की रचना की थी। परन्तु वे सूत्र भी लगभग दो हजार वर्ष का समय हुआ तब लुप्त हुए कहे जाते हैं। फिर नहीं मालूम जिनसेन त्रिवर्णाचार के कर्ता का गौतमस्वामी के बनाये हुए कौनसे गुप्त ग्रन्थ से साक्षात्कार हुआ था, जिसके आधार पर उन्होंने यह त्रिवर्णाचार या इसका चौथा, सातवाँ और पन्द्रहवाँ पर्व लिखा है। इन पर्वों को तो देखने से ऐसा मालूम होता है कि इनमें आदिपुराण, पद्मपुराण, एकीभावस्तोत्र, तत्त्वार्थसूत्र, पद्मनन्दिपंचविंशतिका, नित्यमहोद्योत, जिनसंहिता और ब्रह्मसूरी-त्रिवर्णाचारादिक तथा अन्यमत के बहुत से ग्रन्थों के गद्यपद्य की एक विचित्र खिचड़ी पकाई गई है। अस्तु, परिवर्तनादिक की इन सब बातों से साफ़ जाहिर है कि यह ग्रन्थ सोमसेनत्रिवर्णाचार से अर्थात् विक्रम संवत् १६६५ से भी पीछे का बना हुआ है। वास्तव में ऐसा मालूम होता है कि ग्रन्थकर्ता ने सोमसेन त्रिवर्णाचार को लेकर और उसमें बहुत सा मजमून इधर-उधर से मिलाकर उसका नाम 'जिनसेनत्रिवर्णाचार' रख दिया है। अन्यथा, जिनसेनत्रिवर्णाचार के कर्ता महाशय में एक भी स्वतन्त्र श्लोक बनाने की योग्यता का अनुमान नहीं होता। यदि उनमें इतनी योग्यता होती, तो क्या वे पाँच पर्वों में से एक भी पर्व के अन्त में अपने नाम का कोई पद्य न देते और मंगलाचरण भी दूसरे ही ग्रन्थ से उठाकर रखते? कदापि नहीं। उन्हें सिर्फ़ दूसरों के पद्यों में कुछ नामादि का परिवर्तन करना ही आता था और वह भी यद्वा तद्वा। यही कारण है कि वे १३ पर्वों के अन्तिम काव्यों में 'सोमसेन' के स्थान में 'जैनसेन' ही बदलकर रख सके हैं। 'जिनसेन' का बदल उनसे कहीं भी न हो सका। यहाँ पर जिनसेनत्रिवर्णाचार के कर्ता की योग्यता का कुछ और भी दिग्दर्शन कराया जाता है, जिससे पाठकों पर उनकी सारी कलई खुल जायेगी-

(क) जिनसेन त्रिवर्णाचार के प्रथम पर्व में ४५१ पद्य हैं। जिनमें से आदि के पाँच पद्यों को छोड़कर शेष कुल पद्य (४४६ श्लोक) भगवज्जिनसेनप्रणीत आदिपुराण से लेकर रखे गये हैं। ये ४४६ श्लोक किसी एक पर्व से सिलसिलेवार नहीं लिये गये हैं, किन्तु अनेक पर्वों से कुछ-कुछ श्लोक लिये गये हैं। यदि जिनसेनत्रिवर्णाचार के कर्ता में कुछ योग्यता होती, तो वे इन श्लोकों को अपने ग्रन्थ में इस ढंग से रखते कि जिससे मजमून का सिलसिला (क्रम) और सम्बन्ध ठीक-ठीक बैठ जाता। परन्तु उनसे ऐसा नहीं हो सका। इससे साफ़ जाहिर है कि वे उठाकर रखे हुए इन श्लोकों के अर्थ को भी अच्छी तरह न समझते थे। उदाहरण के तौर पर कुछ श्लोक नीचे उद्धृत किये जाते हैं-

ततो युगान्ते भगवान्वीरः सिद्धार्थनन्दनः।
विपुलाद्रिमलंकुर्वन्नेकदास्ताखिलार्थदृक् ॥६॥
अथोपसृत्य तत्रैनं पश्चिमं तीर्थनायकम्।
पप्रच्छामुं पुराणार्थं श्रेणिको विनयानतः ॥७॥
तं प्रत्यनुग्रहं भर्तुरवबुध्य गणाधिपः।
पुराणसंग्रहं कृत्स्नमन्ववोचत्स गौतमः ॥८॥

अत्रान्तरे पुराणार्थकोविदं वदतां वरम्।
पप्रच्छुर्मुनयो नम्रा गौतमं गणनायकम् ॥९॥
भगवन्भारते वर्षे भोगभूमिस्थितिच्युतौ।
कर्मभूमिव्यवस्थायां प्रसृतायां यथायथम् ॥१०॥
तदा कुलधारोत्पत्तिस्त्वया प्रागेव वर्णिता।
नाभिराजश्च तत्रान्त्यो विश्वक्षत्रगणाग्रणी:॥११॥

इन श्लोकों में से श्लोक नं० ६ मंगलाचरण के बाद का सबसे पहला श्लोक है। इसी से ग्रन्थ के कथन का प्रारम्भ किया गया है। इस श्लोक में 'ततो' शब्द आया है, जिसका अर्थ है 'उसके अनन्तर', परन्तु उसके किसके? ऐसा इस ग्रन्थ से कुछ भी मालूम नहीं होता। इसलिए यह श्लोक यहाँ पर असम्बद्ध है। इसका 'ततो' शब्द बहुत ही खटकता है। आदिपुराण के प्रथम पर्व में इस श्लोक का नम्बर १९६ है। वहाँ पर इससे पहले कई श्लोकों में महापुराण के अवतार का (कथासम्बन्ध का) सिलसिलेवार कथन किया गया है। उसी के सम्बन्ध में यह श्लोक तथा इसके बाद के दो श्लोक नं० ७ और ८ थे।

अन्त के तीनों श्लोक (नं० ९-१०-११) आदिपुराण के १२वें पर्व के हैं। उनका पहले तीनों श्लोकों से कुछ सम्बन्ध नहीं मिलता। श्लोक नं० ९ में अत्रान्तरे ऐसा पद इस बात को बतला रहा है कि गौतमस्वामी कुछ कथन कर रहे थे, जिसके दरम्यान में मुनियों ने उनसे कुछ सवाल किया है। वास्तव में आदिपुराण में ऐसा ही प्रसंग था। वहाँ ११वें पर्व में वज्रनाभि का सर्वार्थसिद्धिगमन वर्णन करके १२वें पर्व के प्रथम श्लोक में यह प्रस्तावना की गई थी कि अब वज्रनाभि के स्वर्ग से पृथ्वी पर अवतार लेने आदि का वृत्तान्त सुनाया जाता है। उसके बाद दूसरे नम्बर पर फिर यह श्लोक नं० ९ दिया था। परन्तु यहाँ पर वज्रनाभि के सर्वार्थसिद्धिगमन आदि का वह कथन कुछ भी न लिखकर एकदम १०-११ पर्व छोड़कर १२वें पर्व के इस श्लोक नं० २ से प्रारम्भ करके ऐसे कई श्लोक बिना सोचे समझे नकल कर डाले हैं, जिनका मेल पहले श्लोकों के साथ नहीं मिलता। अन्त के ११वें श्लोक में त्वया प्रागेव वर्णिता इस पद के द्वारा यह प्रकट किया गया है कि कुलकरों की उत्पत्ति का वर्णन इससे पहले दिया जा चुका है। आदिपुराण में ऐसा है भी, परन्तु इस ग्रन्थ में ऐसा नहीं किया गया। इसलिए यहाँ रखा हुआ यह श्लोक त्रिवर्णाचार के कर्ता की साफ़ मूढ़ता जाहिर कर रहा है–

देवाद्य यामिनीभावे पश्चिमे सुखनिद्रिता।
अद्राक्षं षोडशस्वप्नानिमानत्यद्भुतोदयान्॥७३॥
वदेतेषां फलं देव शुश्रूषा मे विवर्द्धते।
अपूर्वदर्शनात्कस्य न स्यान्कौतुकवन्मन:॥७४॥

इन दोनों श्लोकों में से पहले श्लोक में इमान् शब्द द्वारा आगे स्वप्नों के नामकथन की सूचना पाई जाती है। और दूसरे पद्य में एतेषां शब्द से यह जाहिर होता है कि उन स्वप्नों का नामादिक कथन

कर दिया गया, अब फल पूछा जाता है। परन्तु इन दोनों श्लोकों के मध्य में १६ स्वप्नों का नामोल्लेख करने वाले कोई भी पद्य नहीं हैं। इससे ये दोनों पद्य परस्पर असम्बद्ध मालूम होते हैं। आदिपुराण के १२वें पर्व में इन दोनों श्लोकों का नम्बर क्रमश: १४७ और १५३ है। इनके मध्य में वहाँ पाँच पद्य और दिये हैं, जिनमें १६ स्वप्नों का विवरण है। ग्रन्थकर्ता ने उन्हें छोड़ तो दिया, परन्तु यह नहीं समझा कि उनके छोड़ने से ये दोनों श्लोक भी परस्पर असम्बद्ध हो गये हैं।

महादानानि दत्तानि प्रीणित: प्रणयीजन:।
निर्मापितास्ततो घंटा जिनबिम्बैरलंकृता:॥३३१॥
चक्रवर्ती तमभ्येत्य त्रि:परीत्य कृतस्तुति:।
महामहमहापूजां भक्त्या निर्वर्तयन्स्वयम्॥३३२॥
चतुर्दशदिनान्येवं भगवन्तमसेवत॥३३३॥ (पूर्वार्द्ध)[१६]

इन पद्यों में से पहले पद्य का दूसरे पद्य से कुछ सम्बन्ध नहीं मिलता। दूसरे पद्य में चक्रवर्ती तमभ्येत्य ऐसा पद आया है, जिसका अर्थ है 'चक्रवर्ती उसके पास जाकर'। परन्तु यहाँ इस उस (तम्) शब्द से किसका ग्रहण किया जाये, इस सम्बन्ध को बतलाने वाला कोई भी पद्य इससे पहले नहीं आया है। इसलिए यह पद्य यहाँ पर बहुत भद्दा मालूम होता है। वास्तव में पहला पद्य आदिपुराण के ४१वें पर्व का है, जिसमें भरत चक्रवर्ती ने दु:स्वप्नों का फल सुनकर उनका शान्तिविधान किया है। दूसरा पद्य आदिपुराण के ४७वें पर्व का है और उस वक्त से सम्बन्ध रखता है, जब भरत महाराज आदीश्वर भगवान् की स्थिति का और उनकी ध्वनि के बन्द होने आदि का हाल सुनकर उनके पास गये थे और वहाँ उन्होंने १४ दिन तक भगवान् की सेवा की थी। ग्रन्थकर्ता ने आदीश्वर भगवान् और भरत चक्रवर्ती का इस अवसर सम्बन्धी हाल कुछ भी न रखकर एकदम जो ४१वें पर्व से ४७वें पर्व में छलाँग मारी है और एक ऐसा पद्य उठाकर रखा है जिसका पूर्व पद्यों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं मिलता, उससे साफ़ जाहिर है कि ग्रन्थकर्ता को आदिपुराण के इन श्लोकों को ठीक-ठीक समझने की बुद्धि न थी।

(ख) इस त्रिवर्णाचार का दूसरा पर्व प्रारम्भ करते हुए लिखा है कि-

प्रणम्याथ महावीरं गौतमं गणनायकम्।
प्रोवाच श्रेणिको राजा श्रुत्वा पूर्वकथानकम्॥१॥
त्वत्प्रसादाच्छ्रुतं देव त्रिवर्णानां समुद्भवम्।
अथेदानीं च वक्तव्यमाह्निकं कर्म प्रस्फुटम्॥२॥

अर्थात् राजा श्रेणिक ने पूर्वकथानक को सुनकर और महावीरस्वामी तथा गौतम गणधर को

---

१६. पद्य नं० ३३१ आदिपुराण के ४१वें पर्व के श्लोक नं० ८६ के उत्तरार्द्ध और नं० ८७ के पूर्वार्द्ध को मिलकर बना है। श्लोक नं० ३३२ पर्व नं० ४७ के श्लोक नं० ३३७ और ३३८ के उत्तरार्द्ध और पूर्वार्धों को मिलाने से बना है। और श्लोक नं० ३३३ का पूर्वार्द्ध उक्त ४७वें पर्व के श्लोक नं० ३३८ का उत्तरार्द्ध है।

नमस्कार करके कहा कि– ''हे देव! आपके प्रसाद से मैंने त्रिवर्णों की उत्पत्ति का हाल तो सुना, अब स्पष्ट रूप से आह्निक कर्म (दिनचर्या) कथन करने योग्य है।'' राजा श्रेणिक के इस निवेदन का गौतम स्वामी ने क्या उत्तर दिया, यह कुछ भी न बतलाकर ग्रन्थकर्ता ने इन दोनों श्लोकों के अनन्तर ही अथ क्रमेण सामायिकादिकथनम् यह एक वाक्य दिया है और इस वाक्य के आगे यह पद्य लिखा है–

ध्यानं तावदहं वदामि विदुषां ज्ञानार्णवे यन्मत-
मार्तं रौद्रसधर्म्यशुक्लचरमं दुःखादिसौख्यप्रदम्।
पिण्डस्थं च पदस्थरूपरहितं रूपस्थनामापरम्।
तेषां भिन्नचतुश्चतुर्विषयजा भेदाः परे सन्ति वै॥३॥

ऊपर के दोनों श्लोकों के सम्बन्ध से ऐसा मालूम होता है कि गौतम स्वामी ने इस पद्य से आह्निक कर्म का कथन करना प्रारम्भ किया है और इस पद्य में आया हुआ 'अहं' (मैं) शब्द उन्हीं का वाचक है। परन्तु इस पद्य में ऐसी प्रतिज्ञा पाई जाती है कि मैं ज्ञानार्णव ग्रन्थ के अनुसार ध्यान का कथन करता हूँ। क्या गौतम स्वामी के समय में भी ज्ञानार्णव ग्रन्थ मौजूद था और आह्निक कर्म के पूछने पर गौतम स्वामी का ऐसा ही प्रतिज्ञावाक्य होना चाहिये था? कदापि नहीं। इसलिए आदि के दोनों श्लोकों का इस तीसरे पद्य से कुछ भी सम्बन्ध नहीं मिलता, उपर्युक्त दोनों श्लोक बिल्कुल व्यर्थ मालूम होते हैं और इन श्लोकों को रखने से ग्रन्थकर्ता की निरी मूर्खता टपकती है। यह तीसरा पद्य और इससे आगे के बहुत से पद्य वास्तव में सोमसेनत्रिवर्णाचार के पहले अध्याय से उठाकर यहाँ रखे गये हैं।

(ग) इस त्रिवर्णाचार के १३वें पर्व में संस्कारों का वर्णन करते हुए एक स्थान पर अथ जातिवर्णनमाह ऐसा लिखकर नम्बर २३ से ५९ तक ३७ श्लोक दिये हैं। इन श्लोकों में से पहला और अन्त के दो श्लोक इस प्रकार हैं–

शूद्राश्चावरवर्णाश्च वृषलाश्च जघन्यजाः।
आचण्डालात्तु संकीर्णा अम्बष्ठकरणादयः॥२३॥
प्रतिमानं प्रतिबिम्बं प्रतिमा प्रतियातना प्रतिच्छाया।
प्रतिकृतिरर्चा पुंसि प्रतिनिधिरुपमोपमानं स्यात्॥५८॥
वाच्यलिंगः समस्तुल्यः सदृक्षः सदृशः सदृक्।
साधारणः समानश्च स्युरुत्तरपदे त्वमी॥५९॥

इन सब श्लोकों को देकर अन्त में लिखा है कि इति जातिकथनम्। इससे विदित होता है कि ये सब ३७ श्लोक ग्रन्थकर्ता ने जातिप्रकरण के समझकर ही लिखे हैं। परन्तु वस्तुतः ये श्लोक ऐसे नहीं हैं। यदि आदि के कुछ श्लोकों को जातिप्रकरणसम्बन्धी मान भी लिया जाये, तो भी शेष श्लोकों का तो जातिप्रकरण के साथ कुछ भी सम्बन्ध मालूम नहीं होता, जैसा कि अन्त के दोनों श्लोकों से प्रकट है कि एक में 'प्रतिमा' शब्द के नाम (पर्यायशब्द) दिये हैं और दूसरे में 'समान' शब्द के।

वास्तव में ये सम्पूर्ण श्लोक अमरकोश द्वितीय काण्ड के 'शूद्र' वर्ग से उठाकर यहाँ रखे गये हैं। इनका विषय शब्दों का अर्थ है, न कि किसी ख़ास प्रकरण का वर्णन करना। मालूम नहीं, ग्रन्थकर्ता ने इन अप्रासंगिक श्लोकों को नकल करने का कष्ट क्यों उठाया।

(घ) इस त्रिवर्णाचार के १२वें पर्व में एक स्थान पर अथ प्रसूतिस्नानं ऐसा लिखकर नीचे लिखे दो श्लोक दिये हैं–

लोकनाथेन सम्पूज्यं जिनेन्द्रपदपङ्कजम्।
वक्ष्ये कृतोऽयं सूत्रेषु ग्रन्थं स्वर्मुक्तिदायकम्॥१॥
प्रसूतिस्नानं यत्कर्म कथितं यज्जिनागमे।
प्रोच्यते जिनसेनोऽहं शृणु त्वं मगधेश्वर॥२॥

ये दोनों श्लोक बड़े ही विचित्र मालूम होते हैं। ग्रन्थकर्ता ने इधर-उधर से कुछ पदों को जोड़कर एक बड़ा ही असमंजस दृश्य उपस्थित कर दिया है। पहले श्लोक का तो कुछ अर्थ ही ठीक नहीं बैठता, उसके पूर्वार्द्ध का उत्तरार्द्ध से कुछ भी सम्बन्ध नहीं मिलता। रहा दूसरा श्लोक, उसका अर्थ यह होता है कि 'प्रसूतिस्नान नाम का जो कर्म जिनागम में कहा गया है, मैं जिनसेन कहा जाता है, हे श्रेणिक राजा तू सुन।' इस श्लोक में प्रोच्यते जिनसेनोऽहं यह पद बड़ा विलक्षण है। व्याकरणशास्त्र के अनुसार 'प्रोच्यते' क्रिया के साथ 'जिनसेनोऽहं' यह प्रथमा विभक्ति का रूप नहीं आ सकता और 'जिनसेनोऽहं' के साथ 'प्रोच्यते' ऐसी क्रिया नहीं बन सकती। इसके सिवाय जिनसेन का राजा श्रेणिक को सम्बोधन करके कुछ कहना भी नितान्त असंगत है। राजा श्रेणिक के समय में जिनसेन का कोई अस्तित्व ही न था। ग्रन्थकर्ता को शब्दशास्त्र और अर्थशास्त्र का कितना ज्ञान था और किस रीति से उन्हें शब्दों का प्रयोग करना आता था, इसकी सारी क़लई ऊपर के दोनों श्लोकों से खुल जाती है। इसी प्रकार के और भी बहुत से अशुद्ध प्रयोग अनेक स्थानों पर पाये जाते हैं। चौथे पर्व में, जहाँ नदियों को अर्घ चढ़ाये गये हैं, वहाँ बीसियों जगह नद्यैकोऽर्घः, सुवर्णकूलायैकोऽर्घः, तीर्थदेवतायैकोऽर्घः इत्यादि अशुद्ध पद दिये गये हैं, जिनसे ग्रन्थकर्ता की संस्कृत-योग्यता का अच्छा परिचय मिलता है।

(ङ) इसी १२वें पर्व में 'प्रसूतिस्नान' प्रकरण से पहले मूल और अश्लेषा नक्षत्रों की पूजा का विधान वर्णन करते हुए इस प्रकार लिखा है–

'ॐ ठः ठः स्वाहा' ए मंत्र भणी सर्षप तथा सुवर्णसूं अभिषेक कीजे। पाछै दिसि बांधि तत्र भणनं 'ॐ नमो दिसि विदिसि आदिसो। ठऊ दिशउभ्यः स्वाहा। ए मंत्र त्रण बार भणीयं ताली ३ दीजइ। आषांड छाली भणीइं पहिलो कह्यो ते एविधि करीनें माता पिता बालकनुं हाथ दिवारी सघली वस्तनइं दान दीजे। पाछै अठावीस नक्षत्र अने नव ग्रहना मंत्र भणीइं माने खोलै बालक बैसारिये। पिता जिमणे हाथ वैसारीइं। पितानै माताना हाथमांहि ज्वारना दाणा देईन मंत्र भणीइं। पहिलो कह्यो ते मंत्र भणीइं। ए विधि करीने माता बालकनुं हाथ दिवारी सघली वस्तुनइ दान दीजे। पूजाना करणहारनै सर्व वस्तु दीजे। पाछै 'ॐ तदुस्नः' ए मंत्र भणी शांति भणीइं। पाछै जिमण देईनैं वालीइ। इति मूल अश्लेषा

पूजाविधि समाप्तः।''

संस्कृत ग्रन्थ में इस प्रकार की गुजराती भाषा के आने से साफ़ यह मालूम होता है कि ग्रन्थकर्ता महाशय को स्वयं संस्कृत बनाना न आता था और जब आपको उपर्युक्त पूजाविधि किसी संस्कृत ग्रन्थ में न मिल सकी, तब आपने उसे अपनी भाषा में ही लिख डाला है। और भी दो एक स्थानों पर ऐसी भाषा पाई जाती है, जिससे ग्रन्थकर्ता की निवासभूमि का अनुमान होना भी सम्भव नहीं है।

योग्यता के इस दिग्दर्शन से, पाठकगण स्वयं समझ सकते हैं कि जिनसेनत्रिवर्णाचार के कर्ता को एक भी स्वतन्त्र श्लोक बनाना आता था कि नहीं।

यहाँ तक के इस समस्त कथन से यह तो सिद्ध हो गया कि यह ग्रन्थ (जिनसेनत्रिवर्णाचार) आदिपुराण के कर्ता भगवज्जिनसेन का बनाया हुआ नहीं है और न हरिवंशपुराण के कर्ता दूसरे जिनसेन या तीसरे और चौथे जिनसेन का ही बनाया हुआ है। बल्कि सोमसेनत्रिवर्णाचार से बाद का अर्थात् वि० सं० १६६५ से भी पीछे का बना हुआ है। साथ ही ग्रन्थकर्ता की योग्यता का भी कुछ परिचय मिल गया। परन्तु यह ग्रन्थ वि० सं० १६६५ से कितने पीछे का बना हुआ है और किसने बनाया है, इतना सवाल अभी और बाक़ी रह गया है।

जैनसिद्धान्तभास्कर द्वारा प्रकाशित हुई और पुष्करगच्छ से सम्बन्ध रखनेवाली सेनगण की पट्टावली को देखने से मालूम होता है कि, भट्टारक श्रीगुणभद्रसूरि के पट्ट पर एक 'सोमसेन' नामक भट्टारक हुए हैं। सोमसेनत्रिवर्णाचार में भट्टारक सोमसेन भी अपने को पुष्करगच्छ में गुणभद्रसूरि के पट्ट पर प्रतिष्ठित हुए बतलाते हैं। इससे पट्टावली और त्रिवर्णाचार के कथन की समानता पाई जाती है। अर्थात् यह मालूम होता है कि पट्टावली में गुणभद्र के पट्ट पर जिन सोमसेन भट्टारक के प्रतिष्ठित होने का कथन है, उन्हीं का 'सोमसेन त्रिवर्णाचार' बनाया हुआ है। इन सोमसेन के पट्ट पर उक्त पट्टावली में जिनसेन भट्टारक के प्रतिष्ठित होने का कथन किया गया है। हो सकता है कि जिनसेनत्रिवर्णाचार उन्हीं सोमसेन भट्टारक के पट्ट पर प्रतिष्ठित होने वाले जिनसेन भट्टारक का निर्माण किया हुआ हो और इसलिए विक्रम की १७वीं शताब्दी के अन्त में या १८वीं शताब्दी के आरम्भ में इस ग्रन्थ का अवतार हुआ हो। परन्तु पट्टावली में उक्त जिनसेन भट्टारक की योग्यता का परिचय देते हुए लिखा है कि वे महामोहान्धकार से ढके हुए संसार के जनसमूहों से दुस्तर कैवल्य मार्ग को प्रकाश करने में दीपक के समान थे और बड़े दुर्धर्ष नैय्यायिक, कणाद, वैय्याकरणरूपी हाथियों के कुम्भोत्पाटन करने में लम्पट बुद्धिवाले थे, इत्यादि। यथा–

''तत्पट्टे महामोहान्धकारतमसोपगूढभुवनभवलग्नजनताभिदुस्तरकैवल्यमार्गप्रकाशकदीपकानां, कर्कशतार्किककणादवैय्याकरणबृहत्कुंभिकुंभपाटनलम्पधियां निजस्वस्याचरणकणखंजायिनचरण-युगादेकाणां श्रीमद्भट्टारकवर्यसूर्यश्रीजिनसेनभट्टारकाणाम्॥४८॥''

यदि जिनसेन भट्टारक की इस योग्यता में कुछ भी सत्यता है तो कहना होगा कि यह 'जिनसेन त्रिवर्णाचार' उनका बनाया हुआ नहीं है। क्योंकि जिनसेनत्रिवर्णाचार के कर्ता की योग्यता का जो

दिग्दर्शन ऊपर कराया गया है, उससे मालूम होता है कि वे एक बहुत मामूली, अदूरदर्शी और साधारण बुद्धि के आदमी थे। और यदि सोमसेन भट्टारक के पट्ट पर प्रतिष्ठित होने वाले जिनसेन भट्टारक की, वास्तव में, ऐसी ही योग्यता थी, जैसी कि जिनसेनत्रिवर्णाचार से जाहिर है, पट्टावली में दी हुई योग्यता नितान्त असत्य है, तो कह सकते हैं कि उन्हीं भट्टारकजी ने यह जिनसेनत्रिवर्णाचार बनाया है। परन्तु फिर भी इतना जरूर कहना होगा कि उन्होंने सोमसेन भट्टारक के पट्ट पर होने वाले जिनसेन भट्टारक की हैसियत से इस ग्रन्थ को नहीं बनाया है। यदि ऐसा होता तो वे इस ग्रन्थ में कम से कम अपने गुरु या पूर्वज सोमसेन भट्टारक का जरूर उल्लेख करते, जैसा कि आम तौर पर सब भट्टारकों ने किया है। और साथ ही उन पद्यों में से ब्रह्मसूरि का नाम उड़ाकर उनके स्थान में 'गौतमर्षि' न रखते जिनको उनके पूर्वज सोमसेन ने बड़े गौरव के साथ रखा था, बल्कि अपना कर्तव्य समझकर ब्रह्मसूरि के नाम के साथ सोमसेन का नाम भी और अधिक देते। परन्तु ऐसा नहीं किया गया, इससे जाहिर है कि यह ग्रन्थ उक्त भट्टारक की हैसियत से नहीं बना है। बहुत सम्भव है कि जिनसेन के नाम से किसी दूसरे ही व्यक्ति ने इस ग्रन्थ का निर्माण किया हो, परन्तु कुछ भी हो, भट्टारक जिनसेन इसके विधाता हों या कोई दूसरा व्यक्ति, इसमें सन्देह नहीं कि जिसने भी इस त्रिवर्णाचार का सम्पादन किया है उसका ऐसा अभिप्राय जरूर रहा है कि यह ग्रन्थ सोमसेन और ब्रह्मसूरि के त्रिवर्णाचारों से पहला, प्राचीन और अधिक प्रामाणिक समझा जाये। यही कारण है जो उसने सोमसेन त्रिवर्णाचार के अनेक पद्यों में से 'ब्रह्मसूरि' का नाम उड़ाकर उसके स्थान में गौतम स्वामी का गीत गाया है और सोमसेन त्रिवर्णाचार का जिसकी अपने इस ग्रन्थ में नक़ल की नक़ल कर डाली है, नाम तक भी नहीं लिया है। इसी प्रकार एक स्थान पर पण्डित आशाधर जी का नाम भी उड़ाया गया है, जिसका विवरण इस प्रकार है–

सोमसेन त्रिवर्णाचार के १०वें अध्याय में निम्नलिखित चार पद्य पंडित आशाधर के हवाले से 'अथाशाधरः' लिखकर उद्धृत किये गये हैं। यथा–

अथाशाधरः–

स्वयं समुपविष्ठोऽद्यात्पाणिपात्रेऽथ भाजने।
स श्रावकगृहं गत्वा पात्रपाणिस्तदङ्गणे॥१४६॥
स्थित्वा भिक्षां धर्मलाभं भणित्वा प्रार्थयेत् वा।
मौनेन दर्शयित्वांगं लाभालाभे समोऽचिरात्॥१४७॥
निर्गत्यान्यद्गृहं गच्देद्भिक्षोद्युक्तस्तु केनचित्।
भोजनायार्थितोऽद्यात्तद्भुक्त्वा यद्भिक्षितं मनाक्॥१४८॥
प्रार्थयेतान्यथा भिक्षां यावत्स्वोदरपूरणीम्।
लभेत प्रासुयत्राम्भस्तत्र संशोध्य तां चरेत्॥१४९॥

जिनसेनत्रिवर्णाचार के १४ वें पर्व में सोमसेनत्रिवर्णाचार के दसवें अध्याय की मंगलाचरणसहित नक़ल होने से ये चारों पद्य भी उसमें इसी क्रम से दर्ज हैं। परन्तु इनके आरम्भ में 'अथाशाधरः' के

स्थान में 'अथ समन्तभद्र' लिखा हुआ है। वास्तव में ये चारों पद्य पं० आशाधर-विरचित 'सागारधर्मामृत' के ७वें अध्याय के हैं, जिसमें इनके नम्बर क्रमशः ४०, ४१, ४२, ४३ हैं। श्री समन्तभद्रस्वामी जी के ये वचन नहीं हैं। स्वामी समन्तभद्र का अस्तित्व विक्रम की दूसरी शताब्दी के लगभग माना जाता है। और पं० आशाधर जी विक्रम की १३वीं शताब्दी में हुए हैं। मालूम होता है कि जिनसेन त्रिवर्णाचार के बनानेवाले ने इसी भय से 'आशाधर' की जगह 'समन्तभद्र' का नाम बदला है कि, कहीं आशाधर का नाम आ जाने से उसका यह ग्रन्थ आशाधर से पीछे का बना हुआ अर्वाचीन और आधुनिक सिद्ध न हो जाये। यहाँ पर पाठकों के हृदय में स्वभावतः यह सवाल उत्पन्न हो सकता है कि ग्रन्थकर्ता को समन्तभद्रस्वामी का झूठा नाम लिखने की क्या जरूरत थी, वह वैसे ही आशाधर का नाम छोड़ सकता था। परन्तु ऐसा सवाल करने की जरूरत नहीं है। वास्तव में ग्रन्थकर्ता को अपने घर की इतनी अक़्ल ही नहीं थी। उसने जहाँ से जो वाक्य उठाकर रखे हैं, उनको उसी तरह से नक़ल कर दिया है। सिर्फ़ जो नाम उसे अनिष्ट मालूम हुआ, उसको बदल दिया है और जहाँ कहीं उसकी समझ में ही नहीं आया कि यह 'नाम' है, वह ज्यों का त्यों रह गया है। इसके सिवाय ग्रन्थकर्ता के हृदय में इस बात का जरा भी भय न था कि कोई उसके ग्रन्थ की जाँच करने वाला भी होगा या कि नहीं। वह अज्ञानान्धकार से व्याप्त जैनसमाज पर अपना स्वच्छंद शासन करना चाहता था। इसीलिए उसने आँख बन्द करके अंधाधुंध, जहाँ जैसा जी में आया, लिख दिया है। पाठकों पर, आगे चलकर, इसका सब हाल खुल जायेगा और यह भी मालूम हो जायेगा कि इस त्रिवर्णाचार का कर्ता जैन समाज का कितना शत्रु था। यहाँ पर इस समय सिर्फ़ इतना और प्रकट किया जाता है कि इस त्रिवर्णाचार के चौथे पर्व में एक संकल्प मंत्र दिया है, जिसमें संवत् १९३१ लिखा है। वह संकल्प मंत्र इस प्रकार है–

''ॐ अथ त्रैकाल्यतीर्थपुण्यप्रवर्तमाने भूलोके भुवनकोशे मध्यमलोके अद्य भगवतो महापुरुषस्य श्रीमदादिब्रह्मणो मते जम्बूद्वीपे तत्पुरो मेरोर्दक्षिणे भारतवर्षे आर्यखण्डे एतदवसर्पिणीकालावसानप्रवर्तमाने कलियुगाभिधानपंचमकाले प्रथमपादे श्रीमहति महावीरवर्द्धमान-तीर्थङ्करोपदिष्टसद्धर्मव्यतिकरे श्रीगौतम-स्वामिप्रतिपादितसन्मार्गप्रवर्तमाने श्रीश्रेणिकमहामण्डलेश्वरसमाचरितसन्मार्गविशेषे सम्वत् १७३१ प्रवर्तमाने अ. संवत्सरे अमुकमासे अमुकपक्षे अमुकतिथौ अमुकवासरे...''

मालूम होता है कि यह संकल्पमंत्र किसी ऐसी याददाश्त (स्मरणपत्र) पर से उतारा गया है, जिसमें तत्कालीन व्यवहार के लिए किसी ने संवत् १७३१ लिख रखा था। नक़ल करते या कराते समय ग्रन्थकर्ता को इस संवत् के बदलने का कुछ खयाल नहीं रहा और इसलिए वह बराबर ग्रन्थ में लिखा चला आता है। कुछ भी हो, इस सम्वत् से इतना पता जरूर चलता है कि यह ग्रन्थ वि० संवत् १६६५ ही नहीं, बल्कि संवत् १७३१ से भी पीछे का बना हुआ है। जहाँ तक मैंने इस विषय पर विचार किया है, मेरी राय में यह ग्रन्थ विक्रम की अठारहवीं शताब्दी के अन्त का या उससे भी कुछ बाद का बना हुआ मालूम होता है।

[२]

इस त्रिवर्णाचार का विधाता चाहे कोई हो, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि जिसने इस ग्रन्थ का निर्माण किया है वह अवश्य ही कोई धूर्त व्यक्ति था। ग्रन्थ में स्थान स्थान पर उसकी धूर्तता का ख़ासा परिचय मिलता है। यहाँ पाठकों के सन्तोषार्थ ग्रन्थकर्ता की इसी धूर्तता का कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है। इससे पाठकों पर ग्रन्थकर्ता की सारी असलियत खुल जायेगी और साथ ही यह भी मालूम हो जायेगा कि यह त्रिवर्णाचार कोई जैनग्रन्थ हो सकता है या कि नहीं–

(१) हिन्दूधर्मशास्त्रों में 'याज्ञवल्क्यस्मृति' नाम का एक ग्रन्थ है और इस ग्रन्थ पर विज्ञानेश्वर की बनाई हुई 'मिताक्षरा' नाम की एक प्राचीन टीका सर्वत्र प्रसिद्ध है। 'मिताक्षरा' हिन्दू धर्मशास्त्र का प्रधान अंग है और अदालतों में इसका प्रमाण भी माना जाता है। जिनसेन त्रिवर्णाचार के १३वें पर्व में इस याज्ञवल्क्यस्मृति के पहले अध्याय का चौथा प्रकरण, जिसका नाम 'वर्ण-जाति-विवेक-प्रकरण' है, मिताक्षरा टीकासहित ज्यों का त्यों उठाकर नहीं किन्तु चुराकर रखा गया है।[१७] इस प्रकरण में मूल श्लोक सात हैं, शेष बहुत-सा गद्यभाग उनकी पृथक्-पृथक् टीकाओं का है। नमूने के तौर पर इस प्रकरण का पहला और अन्तिम श्लोक तथा पहले श्लोक की टीका का कुछ अंश नीचे प्रकट किया जाता है–

''सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायेंते हि सजातयः।
अनिन्द्येषु विवाहेषु पुत्राः संतानवर्धना:॥
जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः पंचमे सप्तमेऽपि वा।
व्यत्यये कर्मणां साम्यं पूर्ववच्चाधरोत्तरम्॥''

''सवर्णेभ्यो ब्राह्मणादिभ्यः सवर्णासु ब्राह्मण्यादिषु सजातयः मातृ-पितृ-समान-जातीयाः पुत्रा भवंति, 'विन्नास्वेष विधिः स्मृतः' इति सर्वशेषत्वेनोपसंहारात्। विन्नासु सवर्णास्विति संबध्यते विन्नाशब्दस्य...।''

जिनसेन त्रिवर्णाचार में इन श्लोकों का कोई नम्बर नहीं दिया है और न टीका को 'टीका' या 'अर्थ' इत्यादि ही लिखा है। बल्कि एक सरड़ा नक़ल कर डाली है। याज्ञवल्क्यस्मृति में इन दोनों श्लोकों के नम्बर क्रमशः ९० और ९६ हैं। त्रिवर्णाचार के कर्ता ने इस प्रकरण को उठाकर रखने में बड़ी ही चालाकी से काम लिया है। याज्ञवल्क्यस्मृति और उसकी 'मिताक्षरा' टीका का उसने कहीं भी नामोल्लेख नहीं किया, प्रत्युत इस बात की बराबर चेष्टा की है कि ये सब वचन उसके और प्राचीन जैनाचार्यों के ही समझे जायें। यही कारण है कि दूसरे श्लोक के बाद उसने 'भद्रबाहु' का नाम लिखा है, जिससे आगे के वचन भद्रबाहु स्वामी के समझ लिए जायेँ। परन्तु वास्तव में वे सब वचन दूसरे श्लोक की मिताक्षरा टीका के सिवाय और कुछ नहीं हैं। इस दूसरे श्लोक की मिताक्षरा टीका में एक

१७. सिर्फ पहले श्लोक की लम्बी चौड़ी टीका में चार पाँच पंक्तियाँ ऐसी हैं जो किसी दूसरे ग्रन्थ से उठाकर जोड़ी गई हैं और जिनमें धृतराष्ट, पाण्डु और विदुर के क्षेत्रज (दृष्टिज) पुत्र होने का निषेध किया गया है।

स्थान पर 'शंख' ऋषि के हवाले से वाक्य दिये हुए हैं–

"यत्तु ब्राह्मणेन क्षत्रियायामुत्पादितः क्षत्रिय एव भवति। क्षत्रियेण वैश्यायामुत्पादितो वैश्य एव भवति। वैश्येन शूद्रायामुत्पादितः शूद्र एव भवति। इति शंखस्मरणम्।"

त्रिवर्णाचार के बनाने वाले ने इन वाक्यों के अन्त में से 'इति शंखस्मरणम्' को निकालकर उसके स्थान में 'इति समन्तभद्र' बना दिया है, जिससे ये वचन समन्तभद्रस्वामी के समझे जायें। इसी प्रकार छठे श्लोक की टीका में जो 'यथाह शंखः' लिखा हुआ था, उसको बदलकर 'यथाह गौतमः' बना दिया है। यद्यपि इस प्रकार की बहुत कुछ चालाकी और बनावट की गई है, परन्तु फिर भी ग्रन्थकर्ता द्वारा इस प्रकरण की असलियत छिपाई हुई छिप नहीं सकी। स्वयं गद्यरूप टीका इस बात को प्रकट कर रही है कि वह वैदिक धर्म से सम्बन्ध रखती है। उसमें अनेक स्थानों पर स्मृतियों के वचनों का उल्लेख है और पाँचवें श्लोक की टीका में ६ प्रकार के प्रतिलोमजों की वृत्तियों के सम्बन्ध में साफ़ तौर से 'औशनस-धर्मशास्त्र' को देखने की प्रेरणा दी गई है, जो हिन्दूधर्म का एक प्रसिद्ध स्मृतिग्रन्थ है। यथा–

"एते च सूतवैदेहिकचाण्डालमागधक्षत्रायोगवाः षट्प्रतिलोमजाः एतेषां च वृत्तयः औशनसे मानवे द्रष्टव्याः।"

मालूम होता है कि 'औशनसे मानवे' इन शब्दों से त्रिवर्णाचार के कर्ता की समझ में यह नहीं आ सकी है कि, इनमें किसी हिन्दू धर्म के ग्रन्थ का उल्लेख किया गया है। इसीलिए वह इन शब्दों को बदल नहीं सका। इसके सिवाय त्रिवर्णाचार में इस प्रकरण का प्रारम्भ इन शब्दों के साथ किया गया है–

"अथ परिणयनविधिमाह। तथा च क्षीरकदम्बाचार्येणोक्तम्। ब्राह्मणस्य चतस्रो भार्याः क्षत्रियस्य तिस्रो वैश्यस्य द्वे शूद्रस्यैक इत्युक्त्वा तासु च पुत्रा उत्पादयितव्या इत्युक्तम्। इदानीं कस्यां कस्मात् कः पुत्रो भवति इति विवेकमाह।"

अर्थात् "अब परिणयन विधि को कहते हैं। तैसा (तथा) क्षीर कदम्बाचार्य ने कहा है। ब्राह्मण के चार वर्ण की, क्षत्रिय के तीन वर्ण की, वैश्य के दो वर्ण की और शूद्र के एक अपने ही वर्ण की स्त्रियाँ होती हैं। यह कहकर (इत्युक्त्वा) उन स्त्रियों में पुत्र उत्पन्न करने चाहिएँ, यह कहा चुका (इत्युक्तम्)। अब किसी स्त्री में, किसके संयोग से, कौन पुत्र उत्पन्न होता है, इसका विचार करते हैं।"

इन वाक्यों से पहले, इस त्रिवर्णाचार में 'परिणयनविधि' का कोई ऐसा कथन नहीं आया जिसका सम्बन्ध 'तथा' शब्द से मिलाया जाये। इसी प्रकार ऐसा भी कोई कथन नहीं आया जिसका सम्बन्ध 'इत्युक्त्वा' और 'इत्युक्तम्' इन शब्दों से मिलाया जाये। ऐसी हालत में ये सब वाक्य बिल्कुल असम्बद्ध मालूम होते हैं और इस बात को प्रकट करते हैं कि, इनमें से कुछ वाक्य कहीं से उठाकर रखे गये हैं और कुछ वैसे ही जोड़ दिये गये हैं। मिताक्षरा टीका को देखने से इसका सारा भेद खुल जाता है। असल में मिताक्षरा टीकाकार ने चौथे प्रकरण का प्रारम्भ करते हुए पूर्वकथन का सम्बन्ध

और उत्तरकथन की सूचनिका रूप से प्रथम श्लोक (नं० ९०) के आदि में 'ब्राह्मणस्य चतस्रो भार्याः...' इत्यादि उपर्युक्त वाक्य दिये थे। त्रिवर्णाचार के कर्ता ने उन्हें ज्यों का त्यों बिना सोचे समझे नक़ल कर दिया है और दो वाक्य वैसे ही अपनी तरफ से और उनके पहले जोड़ दिये हैं। पहले वाक्य में जिस परिणयनविधि के कथन की प्रतिज्ञा की गई है उसका पालन भी सारे प्रकरण में कहीं नहीं किया गया। प्रकरण के अन्त में लिखा है कि 'इति वर्णजातिविवेकप्रकरणं समाप्तम्'।

इन सब बातों से साफ़ जाहिर है कि, यह पूरा प्रकरण याज्ञवल्क्यस्मृति की मिताक्षरा टीका से चुराया गया है और इसमें शंखादिक के स्थान में समन्तभद्रादि जैनाचार्यों का नाम डालकर लोगों को धोखा दिया गया है।

(२) हिन्दूधर्म के ग्रन्थों में श्रीदत्त उपाध्याय का बनाया हुआ आचारादर्श नाम का एक ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ गद्यपद्यमय है और इसमें प्रायः जो कुछ भी वर्णन किया गया है, वह सब हिन्दू धर्म के अनेक प्रसिद्ध शास्त्रों और ऋषिवचनों के आधार पर, उनका उल्लेख करते हुए किया गया है। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिये कि यह ग्रन्थ विषय-विभेद से हिन्दूधर्म के प्राचीन आचार्यों के वचनों का एक संग्रह है। इस ग्रन्थ में शयनविधि नाम का भी एक विषय अर्थात् प्रकरण है। जिनसेनत्रिवर्णाचार के ११वें पर्व में 'शयनविधि' का यह सम्पूर्ण प्रकरण प्रायः ज्यों का त्यों उठाकर रखा हुआ है। त्रिवर्णाचार के बनाने वालों ने इस प्रकरण को रखने में बड़ी ही घृणित चालाकी से काम लिया है। वह 'आचारादर्श' या उसके सम्पादक का नाम तो क्या प्रकट करता, उलटा उसने यहाँ तक कूटलेखता की है कि जहाँ जहाँ इस प्रकरण में हिन्दूधर्म के किसी ग्रन्थ या ग्रन्थकार का नाम था, उस सबको बदलकर उसके स्थान में प्राचीन जैनग्रन्थ या किसी प्राचीन जैनाचार्य का नाम रख दिया है। और इस प्रकार हिन्दू ग्रन्थों के प्रमाणों को जैनग्रन्थों या जैनाचार्यों के वाक्य बतलाकर सर्वसाधारण को एक बड़े भारी धोखे में डाला है। जिनसेनत्रिवर्णाचार में ऐसा अनर्थ देखकर हृदय विदीर्ण होता है और उन जैनियों की हालत पर बड़ी ही करुणा आती है जो ऐसे ग्रन्थों को भी जैनग्रन्थ मानते हैं। अतः यहाँ पर ग्रन्थकर्ता के इस घृणित कृत्य के नमूने यत्किंचित् विस्तार के साथ दिखलाये जाते हैं–

आचारादर्श में 'शयनविधि' का आरम्भ करते हुए "तत्र विष्णुपुराणे" ऐसा लिखकर निम्नलिखित तीन श्लोक दिये हैं–

"कृतपादादिशौचस्तु भुक्त्वा सायं ततो गृही।
गेच्छदस्फुटितां शय्यामपि दारुमयीं नृप॥
नाविशालां न वा भग्नां नासमां मलिनां न च।
न च जन्तुमयीं शय्यां त्वधितिष्ठेदनास्तृताम्॥
प्राच्यां दिशि शिरः शस्तं याम्यायामथवा नृप।
सदैव स्वपतः पुंसो विपरीतं तु रोगदम्॥"

जिनसेनत्रिवर्णाचार में ये तीनों श्लोक इसी क्रम से लिखे हैं। परन्तु 'तत्र विष्णुपुराणे' के स्थान

में 'श्रीभद्रबाहु उक्तं' ऐसा बना दिया है। अर्थात् त्रिवर्णाचार के कर्ता ने इन वचनों को विष्णुपुराण के स्थान में श्रीभद्रबाहुस्वामी का बतलाया है। इन तीनों श्लोकों के पश्चात् आचारादर्श में 'नन्दिपुराणे' ऐसा नाम देकर यह श्लोक लिखा है–

''नमो [१८]नन्दीश्वरायेति प्रोक्त्वा यः सुप्यते नरः।
तस्य कूष्माण्डराजभ्यो न भविष्यति वै भयम्॥''

इस श्लोक के पश्चात् 'अत्र हारीतः' ऐसा नाम देकर एक श्लोक और लिखा है और फिर 'अत्र शंखलिखितौ' यह दो नामसूचक पद देकर कुछ गद्य दिया है। आचारादर्श के इसी क्रमानुसार ये सब श्लोक गद्यसहित जिनसेनत्रिवर्णाचार में भी मौजूद हैं, परन्तु 'नन्दिपुराण', 'हारीत' और 'शंखलिखित' इनमें से किसी का भी उल्लेख नहीं किया है। इससे त्रिवर्णाचार को पढ़ते हुए यही मालूम होता है कि ये सब श्लोक और गद्य भी भद्रबाहुस्वामी के ही वचन हैं, जिनका नाम प्रकरण के आदि में 'श्रीभद्रबाहु उक्तं' इस पद के द्वारा दिया गया है।

इसके बाद आचारादर्श में 'उशनाः' ऐसा नाम देकर यह वाक्य लिखा है–

''न तैलेनाभ्यक्तशिराः स्वपेत्''

जिनसेनत्रिवर्णाचार में भी यह वाक्य उसी क्रम से मौजूद है। परन्तु 'उशनाः' के स्थान में 'भद्रबाहु' लिखा हुआ है। नहीं मालूम, ग्रन्थकर्ता ने यह पुनः 'भद्रबाहु' का नाम लिखने का परिश्रम क्यों उठाया, जबकि इससे पहले मध्य में किसी दूसरे का वचन नहीं आया था। अस्तु, आचारादर्श में इस वाक्य के अनन्तर 'पैठीनसिः' ऐसा लिखकर एक वाक्य उद्धृत किया है। जिनसेनत्रिवर्णाचार में भी ऐसा ही किया गया है। अर्थात् पैठीनसिः शब्द को बदला नहीं है। बल्कि पूर्वोक्त वाक्यों के साथ में उसे मिलाकर ही लिख रखा है। इसका कारण यही मालूम होता है कि त्रिवर्णाचार के बनानेवाले की समझ में यह नहीं आ सका कि 'पैठीनसि' किसी हिन्दू ऋषि का नाम है और इसलिए उसने इसे पिछले या अगले वाक्यसम्बन्धी कोई शब्द समझकर ज्यों का त्यों ही रख दिया है। पैठीनसि के इस वाक्य के पश्चात् आचारादर्श में क्रमशः विष्णु, आपस्तम्ब, विष्णुपुराण और बृहस्पति के हवाले से कुछ गद्यपद्य देकर पराशर का यह वचन उद्धृत किया है–

''ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति।
स गच्छेन्नरकं घोरं ब्रह्महेति तथोच्यते॥''

जिनसेनत्रिवर्णाचार में यह सारा गद्यपद्य ज्यों का त्यों मौजूद है। परन्तु विष्णु, आपस्तम्ब, विष्णुपुराण, बृहस्पति और पराशर के नाम बिल्कुल उड़ा दिये गये हैं। इससे त्रिवर्णाचार को पढ़ते हुए ये सब वचन या तो पैठीनसि के मालूम होते हैं या भद्रबाहुस्वामी के। परन्तु वास्तव में त्रिवर्णाचार के कर्ता का अभिप्राय उन्हें भद्रबाहु के ही प्रकट करने का मालूम होता है, पैठीनसि को तो वह समझा

१८. इस श्लोक में सोते समय 'नन्दीश्वर को' नमस्कार करना लिखा है। जैनियों में नन्दीश्वर नाम का कोई देवता नहीं है। हिन्दुओं में उसका अस्तित्व जरूर माना जाता है।

ही नहीं।

पराशर के उपर्युक्त वचन के पश्चात् आचारादर्श में, दो श्लोक यम के हवाले से, एक श्लोक देवल के नाम से और फिर दो श्लोक बौधायन के नाम से उद्धृत किये हैं। जिनसेनत्रिवर्णाचार में ये सब श्लोक इसी क्रम से दिये हैं। परन्तु इन पाँचों श्लोकों में आदि के तीन श्लोक पुष्पदन्तेनोक्तं ऐसा लिखकर पुष्पदन्ताचार्य के नाम से उद्धृत किये हैं और शेष बौधायन वाले दोनों श्लोकों का समन्तभद्र के नाम से उल्लेख किया है। वे पाँचों श्लोक इस प्रकार हैं–

ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति।
घोरायां भ्रूणहत्यायां युज्यते नात्र संशयः॥
भार्यामृतुमुखे यस्तु सन्निधौ नोपगच्छति।
पितरस्तस्य तं मांसं तस्मिन् रेतसि शेरते॥
यः स्वदारामृतुस्नातां स्वस्थः सन्नोपगच्छति।
भ्रूणहत्यामवाप्नोति गर्भप्राप्तिं विनाश्य सः॥
त्रीणि वर्षाण्यृतुमतीं यो भार्यां नोपगच्छति।
सतुल्यं ब्रह्महत्याया दोषमृच्छत्यसंशयम्॥
ऋतौ नोपेति यो भार्यामनृतौ यश्च गच्छति।
तुल्यमाहुस्तयोर्दोषमयोनौ यश्च सिंचति॥

पुष्पदन्त और समन्तभद्र के हवाले से उद्धृत किये हुए इन पाँचों श्लोकों में और इनसे पहले श्लोक में यह लिखा है कि, 'जो कोई मनुष्य अपनी ऋतुस्नाता (मासिक धर्म होने के पश्चात् स्नान की हुई) स्त्री के साथ भोग नहीं करता है, वह घोर नरक में जाता है और उसको ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या इत्यादि का पाप लगता है। इसी प्रकार जो ऋतुकाल को छोड़कर दूसरे समय में अपनी स्त्री से भोग करता है वह भी ऋतुकाल में भोग न करने वाले के समान पापी होता है।' ये सब वचन जैनधर्म और जैनियों की कर्मफिलासोफी के बिल्कुल विरुद्ध हैं और इसलिए कदापि जैनाचार्यों के नहीं हो सकते।

उपर्युक्त श्लोकों के बाद जिनसेन त्रिवर्णाचार में ''तथा च उमास्वातिः'' ऐसा लिखकर यह श्लोक दिया है–

''षोडशर्तुनिशाः स्त्रीणां तस्मिन्युग्मासु संविशेत्।
ब्रह्मचार्येव पर्वाण्याद्याश्चतस्रश्च वर्जयेत्॥''

यह 'याज्ञवल्क्यस्मृति' के पहले अध्याय के तीसरे प्रकरण का श्लोक नं० ७९ है। श्रीउमास्वाति या उमास्वामी महाराज का यह वचन नहीं है। आचारादर्श में भी इसको याज्ञवक्ल्य का ही लिखा है। इसके पश्चात् जिनसेनत्रिवर्णाचार में उपर्युक्त श्लोक की 'मिताक्षरा' टीका का कुछ अंश देकर याज्ञवल्क्यस्मृति के अगले श्लोक नं० ८० का पूर्वार्द्ध दिया है और फिर पूज्यपाद के हवाले से 'पूज्यपादेनोक्तं ऐसा लिखकर ये वाक्य दिये हैं–

बुधे च योषां न समाचरेत।
तथा पूर्णासु योषित्परिवर्जनीया।
तथा योषिन्मघाकृत्तिकोत्तरासु।
सुस्त इन्दौ सकृत्पुत्रं लक्षण्यं जनयेत्पुमान्॥

इन वाक्यों में से पहले तीन वाक्यों को आचारादर्श में 'वामनपुराण' के हवाले से लिखा है और चौथे वाक्य को याज्ञवल्क्य का बतलाया है। चौथा वाक्य याज्ञवल्क्यस्मृति के उपर्युक्त श्लोक नं० ८० का उत्तरार्द्ध है। इसके बाद इस श्लोक नं० ८० की टीका से कुछ गद्य देकर जिनसेनत्रिवर्णाचार में, अकलंकस्वामी के हवाले से यह वाक्य लिखा है–

''लब्धाहारां स्त्रियं कुर्यादेवं संजनयेत्सुतामिति अकलंकस्मरणात्।''

यह वाक्य इससे पहले भी इस 'शयनविधि' प्रकरण में आ चुका है और आचारादर्श में इसे 'बृहस्पति' का लिखा है। इस वाक्य के अनन्तर जिनसेनत्रिवर्णाचार में 'तत्र पुष्पदन्तः' ऐसा लिखकर तीन श्लोक दिये हैं, जो मनुस्मृति के तीसरे अध्याय में नं० ४७, ४८ और ४९ पर दर्ज हैं। आचारादर्श में भी उनको 'मनु' के ही लिखा है। इन श्लोकों के बाद कुछ गद्य देकर लिखा है कि 'इत्येतद्गौतमीयं सूत्रद्वयं'। परन्तु यह सब गद्य याज्ञवल्क्यस्मृति के श्लोक नं० ८० की टीका से लिया गया है। इसके पश्चात् जिनसेनत्रिवर्णाचार में 'यथा माणिक्यनन्दिः' ऐसा लिखकर यह श्लोक दिया है–

''यथाकामी भवेद्वापि स्त्रीणां वरमनुस्मरन्।
स्वदारनिरतश्चैव स्त्रियो रक्ष्या यतः स्मृताः॥''

यह 'याज्ञवल्क्यस्मृति' के प्रथम अध्याय का ८१वाँ श्लोक है। परीक्षामुख के कर्ता श्री माणिक्यनन्दि आचार्य का यह वाक्य कदापि नहीं है। इस श्लोक के पूर्वार्द्ध का यह अर्थ होता है कि 'स्त्रियों को जो वर दिया गया है उसको स्मरण करता हुआ यथाकामी होवे'। याज्ञवल्क्यस्मृति की 'मिताक्षरा' टीका में लिखा है कि इस श्लोक में उस वर का उल्लेख है, जो इन्द्र ने स्त्रियों को दिया था और ऐसा लिखकर वह वर भी उद्धृत किया है, जो इस प्रकार है–

''भवतीनां कामविहन्ता पातकी स्यात् इति। यथा ता अब्रुवन् वरं वृणीमहे ऋत्वियात्प्रजां विन्दामहे काममाविजनिनोः सम्भवाम इति। तस्मात् ऋत्वियात्स्त्रियः प्रजां विन्दन्ति काममाविजनिनोः सम्भवन्ति वरं वृतं तासामिति।''

जिनसेनत्रिवर्णाचार में भी इस 'वर' को इन्द्र का ही दिया हुआ बतलाया है और मिताक्षरा टीका के अनुसार 'स्त्रीणां वरमिन्द्रदत्तमनुस्मरन्' ऐसा लिखकर वर के वही शब्द ज्यों के त्यों नकल कर दिये हैं जो ऊपर उद्धृत किये गये हैं। इस वर का अर्थ इस प्रकार है कि–

''जो तुम्हारी कामना को न करेगा, वह पातकी होगा, वे स्त्रियें बोलीं कि हम वर को स्वीकार करती हैं और ऋतु से हमारे प्रजा (संतान) हो और प्रजा के होने तक काम की चेष्टा रहे। इसीलिए स्त्रियें ऋतु से ही संतान को प्राप्त होती हैं और संतान होने तक कामचेष्टा बनी रहती है, यही स्त्रियों

का वर है।''

जैनसिद्धान्त से थोड़ा भी परिचय रखने वाले पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि यह कथन जैनसिद्धान्त के बिल्कुल ही विरुद्ध है। परन्तु फिर भी त्रिवर्णाचार का कर्ता, माणिक्यनन्दि जैसे प्राचीन आचार्यों को ऐसे उत्सूत्र वचन का अपराधी ठहराता है। इस धृष्टता और धूर्तता का कहीं कुछ ठिकाना है।

इस 'वर' के पश्चात् जिनसेनत्रिवर्णाचार में 'इन्द्रवरे काठकप्रचनं यथा' ऐसा लिखकर उपर्युक्त 'यथाकामी...' इत्यादि श्लोक के उत्तरार्द्ध की कुछ टीका दी है और फिर यह लिखा है कि भोग करते समय कैसे-कैसे पुत्रों की इच्छा करे, अर्थात् पुत्रों की इच्छाओं के संकल्प दिये हैं। इन संकल्पों का कथन करते हुए एक स्थान पर लिखा है कि 'यथोक्तं जयधवले' अर्थात् जैसा 'जयधवल' शास्त्र में कहा है। परन्तु ग्रन्थकार का ऐसा लिखना बिल्कुल मिथ्या है। जयधवल एक सिद्धान्तग्रन्थ है, उसका इस प्रकार का विषय ही नहीं है।

इसके बाद जिनसेनत्रिवर्णाचार में पुत्रों की इस इच्छा के सिलसिले में ''यथाह जिनचन्द्रचूडामणौ'' ऐसा लिखकर यह श्लोक दिया है-

''ऋतौ तु गर्भशंकित्वात्स्नानं मैथुनिनः स्मृतम्।
अनृतौ तु सदा कार्यं शौचं मूत्रपुरीषवत्॥''

आचारादर्श में इस श्लोक को 'वृद्धशातातप' का लिखा है और वृद्धशातातप की स्मृति में यह श्लोक नं० ३३ पर दर्ज है। इस श्लोक के अनन्तर आचारादर्श में 'गौतम' का नामोल्लेख करके गद्य में मैथुनी शौच का कुछ वर्णन दिया है। जिनसेनत्रिवर्णाचार में भी 'तथा च गौतमः' लिखकर यह सब वर्णन उसी प्रकार से उद्धृत किया है। यहाँ न बदलने का कारण स्पष्ट है। जैनियों में 'गौतम' महावीर स्वामी के मुख्य गणधर का नाम है और हिन्दूधर्म में 'गौतम' नाम के एक ऋषि हुए हैं। नामसाम्य के कारण ही त्रिवर्णाचार के कर्ता ने उसे ज्यों का त्यों रहने दिया है। अन्यथा और बहुत से स्थानों पर उसने जानबूझकर हिन्दूधर्म के दूसरे ऋषियों के स्थान में 'गौतम' का परिवर्तन किया है। त्रिवर्णाचार के कर्ता का अभिप्राय 'गौतम' से गौतमगणधर है। परन्तु उसे गौतम के नाम से उल्लेख करते हुए कहीं भी इस बात का जरा ख़याल नहीं आया कि, गौतमगणधर का बनाया हुआ कोई ग्रन्थ नहीं है, जिसके नाम से कोई वचन उद्धृत किया जाये और जो द्वादशांग सूत्रों की रचना उनकी की हुई थी वह मागधी भाषा में थी, संस्कृत भाषा में नहीं थी जिसमें उनके वचन उद्धृत किये जा रहे हैं। अस्तु, गौतम के हवाले से दिये हुए इस गद्य के पश्चात् जिनसेनत्रिवर्णाचार में ''तत्राह महाधवले'' ऐसा लिखकर यह श्लोक दिया है-

''द्वावेतावशुची स्यातां दम्पती शयनं गतौ।
शयनादुत्थिता नारी शुचिः स्यादशुचिः पुमान्॥''

आचारादर्श में यह श्लोक वृद्धशातातप के हवाले से उद्धृत किया है और वृद्धशातातप की

स्मृति में नं० ३४ पर दर्ज है। त्रिवर्णाचार के कर्ता का इस श्लोक को 'महाधवल' जैसे सिद्धान्तग्रन्थ का बतलाना नितान्त मिथ्या है।

इस श्लोक के बाद आचारादर्श के अनुसार जिनसेनत्रिवर्णाचार में इसी विषय का कुछ गद्य दिया गया है और फिर 'अथ धवलेप्युक्तं' (धवल ग्रन्थ में ऐसा ही कहा है) ऐसा लिखकर सात श्लोक दिये हैं। उनमें से पाँच श्लोकों में यह लिखा है कि कैसी-कैसी स्त्री से और किस-किस स्थान में भोग नहीं करना चाहिए। शेष दो श्लोकों में पर्वों के नामादिक का कथन किया है। आचारादर्श में ये सब श्लोक विष्णुपुराण के हवाले से उद्धृत किये हैं। त्रिवर्णाचार के कर्ता ने विष्णुपुराण के स्थान में ''अथ धवलेप्युक्तं'' ऐसा बना दिया है। इन सातों श्लोकों में से अन्त के दो श्लोक इस प्रकार हैं-

''चतुर्दश्यष्टमी चैव अमावस्याथ पूर्णिमा।
पर्वाण्येतानि राजेन्द्र रविसंक्रान्तिरेव च॥
तैलस्त्रीमांसभोगी च पर्वस्वेतेषु यः पुमान्।
विण्मूत्रभोजनं नाम प्रयाति नरकं नरः॥''

इन दोनों श्लोकों में से पहले श्लोक में जिन 'अमावस्या', 'पूर्णिमा' और 'रविसंक्रान्ति' को पर्व वर्णन किया है, वे जैन पर्व नहीं हैं, और दूसरे श्लोक में जो यह कथन किया है कि इन पर्वों में तैल, स्त्री और मांस का सेवन करने वाला मनुष्य विष्ठा और मूत्र नाम के नरक में जाता है, वह सब जैनसिद्धान्त के विरुद्ध है। इन सब श्लोकों के अनन्तर जिनसेनत्रिवर्णाचार में पात्रकेसरी (विद्यानन्द) के हवाले से 'तथा च पात्रकेसरिणा' लिखकर कुछ गद्य नकल किया है, जिसमें यह कथन है कि कैसी स्त्री से, कैसी हालत में और कौन-कौन स्थानों में मैथुन नहीं करना चाहिए। यह सब गद्य आचारादर्श में क्रमशः वसिष्ठ और विष्णु के हवाले से उद्धृत किया है। इस प्रकार आचारादर्श और जिनसेनत्रिवर्णाचार में 'शयनविधि' का यह सब कथन समाप्त होता है। ऊपर के इस समस्त कथन से पाठकगण स्वयं समझ सकते हैं कि जिनसेनत्रिवर्णाचार के बनाने वाले ने जैन के नाम को भी लज्जित करने वाला यह कैसा घृणित कार्य किया है और किस प्रकार से श्रीमद्भद्रबाहु, पुष्पदन्त, समन्तभद्र, उमास्वामी, पूज्यपाद, अकलंकदेव, माणिक्यनन्दि और पात्रकेसरी जैसे प्राचीन आचार्यों तथा धवल, जयधवल और महाधवल जैसे प्राचीन ग्रन्थों के पवित्र नाम को बदनाम करने की चेष्टा की है। क्या इससे भी अधिक जैनधर्म और जैनसमाज का कोई शत्रु हो सकता है? कदापि नहीं।

(३) जिनसेनत्रिवर्णाचार के १७वें पर्व में सूतक के चार भेदों का वर्णन करते हुए आर्तव नाम के सूतक का कथन करने की प्रतिज्ञा इस प्रकार की गई है-

''सूतकं स्याच्चतुर्भेदमार्तवं सौतिकं तथा।
मार्तं तत्संगजं चेति तत्रार्तवं निगद्यते॥४॥''

इस प्रतिज्ञावाक्य के अनन्तर प्रायः गद्य में एक लम्बा चौड़ा अशौच का वर्णन दिया है और इसी वर्णन में यह १७वाँ पर्व समाप्त कर दिया है। परन्तु इस सारे पर्व में कहीं भी उपर्युक्त 'प्रतिज्ञा' का

पालन नहीं किया है। अर्थात् कहीं भी आर्तव नाम के सूतक या अशौच का कथन नहीं किया है। इस पर्व में कथन है 'जननाशौच' और 'मृताशौच' का जिसकी कोई प्रतिज्ञा नहीं की गई। १८वें पर्व में भी पुनः अशौच का वर्णन पाया जाता है। परन्तु यह वर्णन गद्य में न देकर केवल पद्य में किया है। इस पर्व का प्रारम्भ करते हुए लिखा है कि अथ ''वृत्तेन विशेषमाशौचमाह''। अर्थात् अब पद्य द्वारा अशौच का विशेष[१९] कथन किया जाता है। इस प्रतिज्ञा के बाद, १८वें पर्व में, निम्नलिखित तीन श्लोक दिये हैं–

''नत्वा श्रीश्वरनाथाख्यं कृतिना मुक्तिदायकम्।
विश्वमांगल्यकर्तारं नानाग्रन्थपदप्रदम्॥१॥
ब्राह्मणक्षत्रवैश्यानां शूद्रादीनां विशेषतः।
सूतकेन निवर्तेन विना पूजा न जायेते॥२॥
रजः पुष्पं ऋतुश्चेति नामान्यस्यैव लोकतः।
द्विविधं तत्तु नारीणां प्राकृतं विकृतं भवेत्॥३॥

ये श्लोक परस्पर असम्बद्ध मालूम होते हैं। इन श्लोकों में से पहले श्लोक में 'श्रीईश्वरनाथ नाम के व्यक्ति को नमस्कार करके' ऐसा लिखा है, परन्तु नमस्कार करके क्या करते हैं ऐसी प्रतिज्ञा कुछ नहीं दी। दूसरे श्लोक में सूतकाचरण की आवश्यकता प्रकट की गई है और तीसरे श्लोक में यह लिखा है कि रज, पुष्प और ऋतु, ये लोकव्यवहार में इसी के नाम हैं और वह स्त्रियों के दो प्रकार का होता है। एक प्राकृत और दूसरा विकृत। परन्तु इस श्लोक में 'अस्यैव' (इसी के) और 'तत्' (वह) शब्दों से किसका ग्रहण किया जाये, इस बात को बतलाने वाला कोई भी शब्द इस १८वें पर्व में इससे पहले नहीं आया है। इसलिए यह तीसरा श्लोक बिल्कुल बेढंगा मालूम होता है। इस तीसरे श्लोक का सम्बन्ध १७वें पर्व में दिये हुए उपर्युक्त श्लोक नं० ४ (सूतकं स्याच्चतु---) से भले प्रकार मिलता है। उस श्लोक में जिस 'आर्तव' के कथन की प्रतिज्ञा की गई है, उसी आर्तव के कथन का सिलसिला इस श्लोक में और इससे आगे के श्लोक में पाया जाता है। असल में १७वें पर्व का उपर्युक्त श्लोक नं० ४ और उससे पहले के तीनों श्लोक तथा १८वें पर्व का यह श्लोक नं० ३ और इससे आगे के कुल श्लोक सोमसेन त्रिवर्णाचार के १३वें अध्याय से ज्यों के त्यों नकल किये गये हैं (जिनसेनत्रिवर्णाचार के १७वें अध्याय के पहले चार श्लोकों को १८वें पर्व के तीसरे श्लोक और उससे आगे के श्लोकों के साथ मिला देने से सोमसेनत्रिवर्णाचार का पूरा १३वाँ अध्याय बन जाता है) जिनसेन त्रिवर्णाचार के कर्ता ने सोमसेन त्रिवर्णाचार के १३वें अध्याय को इस प्रकार दो भागों में विभाजित कर और उनके बीच में व्यर्थ ही गद्यपद्यमय अशौच का एक लम्बा चौड़ा प्रकरण डालकर दोनों पर्वों में बड़ी ही असमंजसता पैदा कर दी है और इस असमंजसता के साथ ही एक बड़ा भारी अनर्थ यह किया है कि

१९. विशेष कथन सिर्फ इतना ही है कि इसमें 'आर्तव' नाम के अशौच का भी कथन किया गया है, शेष जननाशौच और मृताशौच का कथन प्रायः पहले कथन से मिलता जुलता है।

उक्त गद्यपद्यमय अशौच प्रकरण को प्राचीन जैनाचार्यों का बतलाकर लोगों को धोखा दिया है। वास्तव में यह प्रकरण किसी हिन्दूग्रन्थ से लिया गया है। जिनसेनत्रिवर्णाचार के कर्ता ने जिस प्रकार और कई प्रकरण हिन्दूधर्म के ग्रन्थों से उठाकर रखे हैं, उसी प्रकार यह प्रकरण भी किसी हिन्दूग्रन्थ से ज्यों का त्यों नक़ल किया है। हिन्दुओं के धर्मग्रन्थों में इस प्रकार के, आशौचनिर्णय के अनेक प्रकरण पाये जाते हैं, जिनमें अनेक ऋषियों के हवाले से विषय का विवेचन किया गया है। इस प्रकरण में भी स्थान-स्थान पर हिन्दू ऋषियों के वचनों का उल्लेख मिलता है। जिनसेनत्रिवर्णाचार के बनाने वाले ने यद्यपि इतना छल किया है कि हिन्दू ऋषियों के नामों के स्थान में गौतम, भद्रबाहु और समन्तभद्रादि प्राचीन जैनाचार्यों के नाम डाल दिये हैं और कहीं-कहीं उनका नाम कतई निकाल भी दिया है, परन्तु फिर भी ग्रन्थकर्ता की असावधानी या उसकी नासमझी के कारण कई स्थानों पर कुछ हिन्दू ऋषियों के नाम बदलने या निकालने से रह गये हैं। इससे साफ़ जाहिर है कि यह प्रकरण किसी हिन्दू ग्रन्थ से चुराया गया है। इस प्रकरण के कुछ नमूने इस प्रकार हैं-

(क) जिनसेनत्रिवर्णाचार में आशौच का यह प्रकरण प्रारम्भ करते हुए 'गौतम उवाच' ऐसा लिखकर यह वाक्य दिया है-

आचतुर्थाद्भवेत्स्त्रावः पातः पंचमषष्ठयोः।
अत ऊर्ध्वं प्रसूतिः स्यादिति।

यह वाक्य मरीचि ऋषि का प्रसिद्ध है और 'आशौचनिर्णय' नाम के बहुत से प्रकरणों की आदि में पाया जाता है। 'स्यात्' शब्द के बाद इसका चौथा चरण है-'दशाहं सूतकं भवेत्'। निर्णयसिंधु और मिताक्षरादि ग्रन्थों में भी इस वाक्य को मरीचि ऋषि के नाम से उद्धृत किया है। परन्तु त्रिवर्णाचार के कर्ता ने इसे गौतमस्वामी का बतलाया है।

(ख) इस प्रकरण में जो वाक्य बिना किसी हवाले के पाये जाते हैं, उनमें से कुछ वाक्य इस प्रकार हैं-

पितरौ चेन्मृतौ स्यातां दूरस्थोऽपि हि पुत्रकः।
श्रुत्वा तद्दिनमारभ्य दशाहं सूतकी भवेत्॥

यह वाक्य 'पैठीनसि' ऋषि का है। मिताक्षरादि ग्रन्थों के आशौचप्रकरण में भी इसे पैठीनसि का ही लिखा है।

आत्मपितृष्वसुः पुत्रा आत्ममातृष्वसुः सुताः।
आत्ममातुलपुत्राश्च विज्ञेया आत्मबान्धवाः॥१॥
पितुः पितृष्वसुः पुत्राः पितुर्मातृष्वसुः सुताः।
पितुर्मातुलपुत्राश्च विज्ञेयाः पितृबान्धवाः॥२॥
मातुः पितृष्वसुः पुत्रा मातुर्मातृष्वसुः सुताः।
मातुर्मातुलपुत्राश्च विज्ञेया मातृबान्धवाः॥३॥

इन तीनों श्लोकों को 'स्मृतिरत्नाकर' आदि ग्रन्थों में विज्ञानेश्वर का वचन लिखा है। विज्ञानेश्वर, याज्ञवल्क्यस्मृति की 'मिताक्षरा' टीका का कर्ता है। इस प्रकरण में दूसरे स्थानों पर 'इति विज्ञानेश्वरादयः' 'इदं च सर्वं विज्ञानेश्वराद्यनुरोधेनोक्तं', 'इति विज्ञानेश्वरः' इत्यादि पदों के द्वारा विज्ञानेश्वर के नाम का उल्लेख पाया जाता है। वह बदलने या निकालने का रह गया है।

(ग) उपर्युक्त श्लोकों से थोड़ी दूर आगे चलकर, इस प्रकरण में, निम्नलिखित पाँच वाक्य दिये हैं।

१. 'असपिंडस्यापि यद्गृहे मरणं तद्गृहस्वामिस्त्रिरात्रमित्यंगिराः।'

२. 'एकरात्रमिति।'

३. 'तथा च गौतमः - त्र्यहं मातामहाचार्यश्रोत्रियेष्वशुचिर्भवेत्।'

४. 'प्रचेताः मातृष्वसामातुलयोश्च श्वश्रूश्वशुरयोर्गुरौ मृते चर्त्विजियाज्ये च त्रिरात्रेण विशुध्यति।'

५. 'संस्थिते पक्षिणीं रात्रिं दौहित्रे भगिनीसुते। संस्कृते तु त्रिरात्रं स्यादिति गौतमः।'

इन वाक्यों में पहले नम्बर का वाक्य अंगिरा ऋषि का है। अंगिरा का नाम भी इस वाक्य के अन्त में मिला हुआ है। शायद इस मिलाप के कारण ही त्रिवर्णाचार के कर्ता को इसके बदलने का ख़याल नहीं आया। अन्यथा उसने स्वयं दूसरे स्थान पर इसी प्रकरण में अंगिरा ऋषि के निम्नलिखित श्लोक को 'तथा च गौतमः' लिखकर गौतमस्वामी का बना दिया है–

[२०]यदि कश्चित्प्रमादेन म्रियेताग्न्युदकादिभिः।
तस्याशौचं विधातव्यं कर्तव्या चोदकक्रिया॥

दूसरे नम्बर का वचन विष्णु का है। इसके अन्त में 'विष्णु' ऐसा नाम नहीं दिया है। यह पूरा वाक्य 'असपिण्डे स्ववेश्मनि मृते एकरात्रमिति' ऐसा है। मिताक्षरा में भी इसको विष्णु का ही लिखा है। तीसरे नम्बर का वाक्य बृहस्पति का है, जिसके स्थान में 'तथा च गौतमः' बनाया गया है। मिताक्षरा में भी 'बृहस्पति' का लिखा है। चौथे नम्बर का वाक्य 'प्रचेताः' नाम के एक हिन्दू ऋषि का है। इसके प्रारम्भ में 'प्रचेता' ऐसा नाम भी दिया है। परन्तु मालूम होता है कि त्रिवर्णाचार के कर्ता की समझ में यह कोई नाम नहीं आया है और इसलिए उसने इस 'प्रचेताः' को भी वाक्य के अन्तर्गत कोई शब्द समझकर ज्यों का त्यों रहने दिया है। इस वाक्य का अन्तिम भाग, 'मृते चर्त्विजी...' मिताक्षरा में प्रचेता के नाम से उल्लिखित है। पाँचवें नम्बर का वाक्य वसिष्ठ ऋषि का वचन है। इसके अन्त में 'धर्मो व्यवस्थितः' इतना पद और था जिसके स्थान में 'गौतमः' बनाया है। मिताक्षरा में भी इसको वसिष्ठ का ही वचन लिखा है।

(घ) एक स्थान पर 'श्रीसमन्तभद्रः' ऐसा लिखकर निम्नलिखित दो श्लोक दिये हैं–

"प्रेतीभूतं तु यः शूद्रं ब्राह्मणो ज्ञानदुर्बलः।
अनुगच्छेन्नीयमानं स त्रिरात्रेण शुद्ध्यति॥

---

२०. यह श्लोक मिताक्षरा में भी अंगिरा ऋषि का लिखा है। वहाँ 'यदि' शब्द के स्थान में 'अथ' दिया है।

त्रिरात्रे तु ततश्चीर्णे नदीं गत्वा समुद्रगाम्।
प्राणायामशतं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति॥''

ये दोनों श्लोक पाराशर ऋषि के हैं और पाराशरस्मृति में नम्बर ४७ और ४८ पर दर्ज हैं। मिताक्षरा में भी इनका पराशर के नाम से उल्लेख है। त्रिवर्णाचार के कर्ता का इन्हें श्रीसमन्तभद्र स्वामी के बतलाना निरी धूर्तता है।

(ङ) इसी प्रकरण में एक स्थान पर 'विशेषमाहाकलंकः' ऐसा लिखकर ये दो श्लोक दिये हैं–

वृद्धः शौचक्रिया[२१]लुप्तः प्रत्याख्यातभिषक्क्रियः।
आत्मानं घातयेद्यस्तु भृग्वग्न्यशनाम्बुभिः॥
तस्य त्रिरात्रमाशौचं द्वितीये त्वस्थिसंचयः।
तृतीये तूदकं कृत्वा चतुर्थे श्राद्धमाचरेत्॥

ये दोनों श्लोक 'अत्रि' ऋषि के हैं और 'अत्रिस्मृति' में नम्बर २१४ और २१५ पर दर्ज हैं। इन श्लोकों में लिखा है कि 'यदि कोई वृद्ध पुरुष जिसे शौचाशौच का कुछ ज्ञान न रहा हो और वैद्यों ने भी जिसकी चिकित्सा करनी छोड़ दी हो, गिरने या अग्नि में प्रवेश करने आदि के द्वारा आत्मघात करके मर जाये तो उसके मरने का आशौच सिर्फ तीन दिन का होगा। दूसरे ही दिन उसकी हड्डियों का संचय करना चाहिए और तीसरे दिन जलदान क्रिया करके चौथे दिन श्राद्ध करना चाहिए।' जिनसेनत्रिवर्णाचार का कर्त्ता हिन्दूधर्म के इन वचनों को श्री अकलंक स्वामी के बतलाता है, यह कितना धोखा है!! इसी प्रकार और बहुत से स्थानों पर हिन्दू ऋषियों की जगह गौतम और समन्तभद्रादि के नामों का परिवर्तन करके लोगों को धोखा दिया गया है।

(४) पहले यह प्रकट किया जा चुका है कि हिन्दुओं के ज्योतिष ग्रन्थों में 'मुहूर्तचिन्तामणि' नाम का एक ग्रन्थ है और उस ग्रन्थ पर 'प्रमिताक्षरा' और 'पीयूषधारा' नाम की दो संस्कृत टीकायें हैं। जिनसेनत्रिवर्णाचार में इस मुहूर्तचिन्तामणि ग्रन्थ और उसकी टीकाओं से बहुत-सा गद्यपद्य उठाकर ज्यों का त्यों रखा गया है। इस गद्यपद्य को उठाकर रखने में भी उसी प्रकार की धूर्तता और चालाकी से काम लिया गया है जिसका दिग्दर्शन पाठकों को ऊपर कराया गया है। अर्थात् जिनसेनत्रिवर्णाचार के बनानेवाले ने कहीं भी यह प्रकट नहीं किया कि उसने यह कथन 'मुहूर्तचिन्तामणि' या उसकी टीकाओं से लिया है। प्रत्युत इस बात की बराबर चेष्टा की है कि यह सब कथन जैनाचार्यों का ही समझा जाये। यही कारण है कि उसने अनेक स्थानों पर हिन्दू ऋषियों के नामों को जैनाचार्यों के नामों के साथ बदल दिया है और कहीं-कहीं हिन्दू ऋषियों के नाम की जगह 'अन्यः' 'अन्यमतं' या 'अपरमतं' भी बना दिया है जिससे यह भी उसी सिलसिले में जैनाचार्यों का ही मतविशेष समझा जाये। इसी प्रकार हिन्दूग्रन्थों के स्थान में जैनग्रन्थों के नाम का परिवर्तन भी किया गया है। इस धूर्तता और चालाकी के भी कुछ थोड़े से नमूने नीचे प्रकट किये जाते हैं–

२१. अत्रिस्मृति में 'क्रियालुप्तः' के स्थान में 'स्मृतेर्लुप्तः' दिया है।

१. मुहूर्तचिन्तामणि के संस्कार प्रकरण में, टीका द्वारा यह प्रस्तावना करते हुए कि 'अथ प्राप्तकालत्वादक्षराणामारंभमुहूर्तं पंचचामरछंदसाह' एक पद्य इस प्रकार दिया है–

गणेशविष्णुवाग्रमाः प्रपूज्य पंचमाब्दके।
तिथौ शिवार्कदिग्द्विषट्शरत्रिके रवावुदक्॥
लघुश्रवो निलांत्यभादितीश तक्षमित्रमे।
चरो न सत्तनौ शिशोर्लिपिग्रहः सतां दिने॥३७॥

जिनसेनत्रिवर्णाचार के १२वें पर्व में यह पद्य उपर्युक्त प्रस्तावना के साथ ही दिया है। परन्तु इस पद्य को जैनमत का बनाने के लिए इसके पहले चरण में 'गणेशविष्णु' के स्थान में 'जिनेशदेवि' ऐसा परिवर्तन किया गया है और रमा (लक्ष्मी) का पूजन बदस्तूर रखा है।

२. मुहूर्तचिन्तामणि के इसी संस्कारप्रकरण के श्लोक नं० ५४ की 'प्रमिताक्षरा' टीका में 'तथा च वसिष्ठः' ऐसा लिखकर एक पद्य इस प्रकार दिया है–

''या चैत्रवैशाखसिता तृतीया माघस्य सप्म्यथ फाल्गुनस्य।
कृष्णो द्वितीयोपनये प्रशस्ता प्रोक्ता भरद्वाजमुनीन्द्रमुख्यैः॥''

जिनसेनत्रिवर्णाचार के १२वें पर्व में मुहूर्तचिन्तामणि के श्लोक नं० ५४ को देकर और उसकी टीका में से कुछ गद्य पद्य को नक़ल करते हुए यह पद्य भी उद्धृत किया है। परन्तु उसके उद्धृत करने में यह चालाकी की गई है कि 'तथा च वसिष्ठः' की जगह 'अन्यः' ऐसा शब्द बना दिया है और अन्तिम चरण का 'प्रोक्ता महावीरगणेशमुख्यैः' इस रूप में परिवर्तन कर दिया है, जिससे यह पद्य जैनमत का ही नहीं बल्कि महावीरस्वामी और गौतमगणधर का अथवा महावीर के मुख्य गणधर गौतमस्वामी का वचन समझा जाये। यहाँ 'तथा च वसिष्ठः' के स्थान में 'अन्यः' बनाने से पाठकगण स्वयं समझ सकते हैं कि त्रिवर्णाचार के कर्ता का अभिप्राय इस 'अन्यः' शब्द से किसी अजैन ऋषि को सूचित करने का नहीं था। यदि ऐसा होता तो वह 'भरद्वाजमुनीन्द्र' के स्थान में 'महावीरगणेश' ऐसा परिवर्तन करने का कदापि परिश्रम न उठाता। इसी प्रकार उसने और स्थानों पर भी 'अन्यः', 'अन्यमतं' या 'अपरमतं' बनाया है।

३. उपर्युक्त श्लोक नं० ५४ की व्याख्या करते हुए 'प्रमिताक्षरा' टीका में एक स्थान पर 'नैमित्तिका अनध्यायस्तु स्मृत्यर्थसारे' ऐसा लिखकर कुछ गद्य दिया है। जिनसेन त्रिवर्णाचार में भी वह सब गद्य ज्यों का त्यों नक़ल किया गया है। परन्तु उससे पहले 'नैमित्तिका अनध्याया भद्रबाहुसंहितासारे' ऐसा लिखा है अर्थात् त्रिवर्णाचार के कर्ता ने 'स्मृत्यर्थसार' नाम के एक हिन्दू ग्रन्थ के स्थान में 'भद्रबाहुसंहितासार' ऐसा जैनग्रन्थ का नाम दिया है। इसी प्रकार मुहूर्तचिन्तामणि के श्लोक नं० ३९ की टीका में 'आपस्तम्ब गृह्यसूत्र' के हवाले से कुछ गद्य दिया हुआ है। जिनसेन त्रिवर्णाचार के १३वें पर्व में वह गद्य ज्यों का त्यों नक़ल किया गया है, परन्तु 'आपस्तम्बगृह्यसूत्र' के स्थान में 'उपासकाध्ययनसार' ऐसा नाम बदलकर रखा है।

४. मुहूर्तचिन्तामणि (संस्कार प्रकरण) के श्लोक नं० ४० की टीका में नारद के हवाले से यह वाक्य दिया है–

''नारदेन यत्सप्तमीत्रयोदश्याः प्राशस्त्यमुक्तं तद्वसंताभिप्रायेणेति ज्ञेयम्।''

जिनसेनत्रिवर्णाचार के १३वें पर्व में यह वाक्य ज्यों का त्यों नक़ल किया गया है। परन्तु 'नारदेन' के स्थान में 'भद्रबाहुना' बनाकर इसको भी भद्रबाहुस्वामी का प्रकट किया गया है। इस वाक्य के पश्चात् जिनसेनत्रिवर्णाचार में टीका के अनुसार एक 'उक्तं च' श्लोक देकर (जो नारद का वचन है) और 'भद्रबाहुसंहितायां गलग्रहास्तिथयः' ऐसा लिखकर निम्नलिखित श्लोक और कुछ गद्य दिया है–

''कृष्णपक्षे चतुर्थीति सप्तम्यादि दिनत्रयम्।
चतुर्दशी चतुष्कं च अष्टावेते गलग्रहाः॥''

यह श्लोक और इससे आगे का गद्य दोनों वसिष्ठ ऋषि के वचन हैं, ऐसा टीका में लिखा है। परन्तु त्रिवर्णाचार के कर्ता ने इन्हें वसिष्ठ के स्थान में 'भद्रबाहुसंहिता' का बतलाया है और गद्य के अन्त में टीका के अनुसार जो 'सदिति वसिष्ठोक्तेः' ऐसा नक़ल करके रखा है। उसका उसे कुछ भी ख्याल नहीं रहा।

५. मुहूर्तचिन्तामणि (संस्कार प्रकरण) के श्लोक नं० ४४ की दोनों टीकाओं में निम्नलिखित श्लोक क्रमशः नारद और वसिष्ठ के हवाले से दिये हैं–

''शाखाधिपतिवारश्च शाखाधिपबलं शिशोः।
शाखाधिपतिलग्नं च त्रितयं दुर्लभं व्रते॥
शाखेशगुरुशुक्राणां मौढ्ये बाल्ये च वार्धके।
नैवोपनयनं कार्यं वर्णेशे दुर्बले सति॥''

जिनसेनत्रिवर्णाचार के १३वें पर्व में इन दोनों श्लोकों को नारदादि के स्थान में 'गौतमः' लिखकर गौतमस्वामी का बना दिया है। त्रिवर्णाचार के कर्ता को 'गौतम' यह नाम कुछ ऐसा प्रिय था कि उसने जगह-जगह पर इसका बहुत ही प्रयोग किया है। मुहूर्तचिन्तामणि के श्लोक नं० ४२ की टीका में एक स्थान पर यह वाक्य था कि ''कश्यपस्तूच्चस्थं लग्नस्थं चन्द्रं सदैव न्यषेधीत्'' इस वाक्य में भी 'कश्यप' ऋषि के स्थान में 'गौतम' बदलकर त्रिवर्णाचार के कर्ता ने ''गौतमस्तूच्चस्थं चन्द्रं सदैव न्यषेधीत्'' ऐसा बना दिया है। इसी प्रकार मुहूर्तचिन्तामणि के श्लोक नं० ४६, ५१ और ५३ की टीकाओं में कुछ श्लोक नारद के हवाले से थे, उन्हें भी नक़ल करते समय जिनसेनत्रिवर्णाचार में गौतम के बना दिया है।

६. मुहूर्तचिन्तामणि में श्लोक नं० ४४ की टीका को प्रारम्भ करते हुए एक स्थान पर लिखा है कि–

''यथा गुरुः ऋग्वेदिनामीशोऽतो गुरुवारे गुरुलग्ने धनमीनाख्ये गुरुबले च सत्युपनयनं शुभम्।''

जिनसेनत्रिवर्णाचार के १३वें पर्व में भी यह वाक्य इसी प्रकार से उपर्युक्त श्लोक की टीका को प्रारम्भ करते हुए दिया है। परन्तु 'ऋग्वेदिनामीशः' के स्थान में 'प्रथमानुयोगिनामीशः' ऐसा बदलकर रखा गया है। इसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी जहाँ टीका में हिन्दूवेदों के नाम आये हैं, जिनसेनत्रिवर्णाचार में उनके स्थान में जैनमत के अनुयोगों के नाम बना दिये हैं।

७. 'केशान्तसमावर्तन' मुहूर्त का वर्णन करते हुए मुहूर्तचिन्तामणि के श्लोक नं० ६० की 'प्रमिताक्षरा' टीका में 'आश्वलायन' ऋषि के हवाले से एक श्लोक दिया है और उसके आगे फिर कुछ गद्य लिखा है। वह श्लोक और गद्य का कुछ अंश इस प्रकार है–

प्रथमं स्यान्महानाम्नी द्वितीयं च महाव्रतम्।
तृतीयं स्यादुपनिषद्गोदानाख्यं ततः परम्॥

अत्र जाताधिकाराद्गोदानं जन्माद्यके तु षोडशे इति वृत्तिकारवचनात् त्रयोदशे महानाम्न्यादि भवन्ति। त्रयोदशे महानाम्नी चतुर्दशे महाव्रतं पंचदशे उपनिषद्व्रतं षोडशे गोदानमिति। एवं क्षत्रिय...॥

जिनसेनत्रिवर्णाचार के १३वें पर्व में यह सब गद्य पद्य ज्यों का त्यों नक़ल किया गया है। परन्तु उपर्युक्त श्लोक से पहले 'आश्वलायन' के स्थान में 'श्रीभद्रबाहु' बना दिया है। इस गद्य पद्य में जिन महानाम्नी और उपनिषद् आदि व्रतों के अनुष्ठान का वर्णन किया गया है, वे सब हिन्दूमत के व्रत हैं, जैनमत के नहीं। इसलिए यह कथन जैनाचार्य श्रीभद्रबाहु स्वामी का नहीं हो सकता।

जिनसेनत्रिवर्णाचार के बनानेवाले ने इस प्रकार बहुत से प्रकरणों को हिन्दूधर्म के ग्रन्थों से उठाकर रखने और उन्हें जैनमत के प्रकट करने में बड़ी ही धूर्तता और धृष्टता से काम लिया है। उसका यह कृत्य बड़ी ही घृणा की दृष्टि से देखे जाने योग्य है।

[३]

अब यहाँ पर संक्षेप में धर्मविरुद्ध कथनों के कुछ विशेष नमूने दिखलाये जाते हैं। जिससे जैनियों की ओर भी कुछ बहुत आँखें खुलें और उन्हें ऐसे जाली ग्रन्थों को अपने भण्डारों से अलग करने की सद्बुद्धि प्राप्त हो–

१. मिट्टी की स्तुति और उससे प्रार्थना

जिनसेनत्रिवर्णाचार के चौथे पर्व में मृत्तिका-स्नान के सम्बन्ध में निम्नलिखित श्लोक दिये हैं–

शुद्धतीर्थसमुत्पन्ना मृत्तिका परमाद्भुता।
सर्वपापहरा श्रेष्ठा सर्वमांगल्यदायिनी॥
सिद्धक्षेत्रेषु संजाता गंगाकूले समुद्भवा।
मृत्तिके हर नो पापं यन्मया पूर्वसंचितम्॥
अनादिनिधना देवी सर्वकल्याणकारिणी।
पुण्यसस्यादिजननी सुखसौभाग्यवर्द्धिनी॥

इन श्लोकों में गंगा आदि नदियों के किनारे की मिट्टी की स्तुति की गई है। और उसे सर्व पापों

की हरनेवाली, समस्त मंगलों के देनेवाली, सम्पूर्ण कल्याणों की करनेवाली, पुण्य को उपजानेवाली और सुखसौभाग्य को बढ़ानेवाली अनादिनिधना देवी बतलाया है। दूसरे श्लोक में उससे यह प्रार्थना की गई है कि हे मिट्टी! तू मेरे पूर्वसंचित पापों को दूर कर दे। यह सब कथन जैनधर्म से असम्बद्ध है और हिन्दूधर्म के ग्रन्थों से लिया हुआ मालूम होता है। जैनसिद्धान्त के अनुसार मिट्टी पापों को हरनेवाली नहीं है और न कोई ऐसी चैतन्यशक्ति है जिससे प्रार्थना की जाये। हिन्दूधर्म में मिट्टी की ऐसी प्रतिष्ठा अवश्य है। हिन्दुओं के वह्निपुराण में स्नान के समय मृत्तिका-लेपन का विधान करते हुए मिट्टी से यही पापों के हरने की प्रार्थना की गई है। जैसा कि निम्नलिखित श्लोकों से प्रकट है-

उद्धृतासि वराहेण कृष्णेनामितबाहुना।
मृत्तिके हर मे पापं यन्मया पूर्वसंचितम्॥
मृत्तिके जहि मे पापं यन्मया दुष्कृतं कृतम्।
त्वया हृतेन पापेन ब्रह्मलोकं व्रजाम्यहम्॥[२२]

वह्निपुराण के इन श्लोकों में से पहले श्लोक का उत्तरार्द्ध और जिनसेनत्रिवर्णाचार के ऊपर उद्धृत किये हुए दूसरे श्लोक का उत्तरार्द्ध, ये दोनों एक ही हैं। इससे और भी स्पष्ट है कि यह कथन हिन्दूधर्म से लिया गया है। जैनियों के आर्षग्रन्थों में कहीं भी ऐसा कथन नहीं है।

२. गोमूत्र से स्नान

जिनसेनत्रिवर्णाचार में ऊपर उद्धृत किये हुए तीसरे श्लोक के अनन्तर, पंच[२३]गव्य (गौ का मूत्र, गोबर, घी, दूध और दही को 'पंचगव्य' कहते हैं) से अर्थात् गोमूत्रादि से स्नान करना लिखा है और फिर सूर्य के सामने खड़ा होकर शरीरशुद्धि स्नान का विधान किया है। इसके पश्चात् सिर पर पानी के छींटे देने के कुछ मंत्र लिखकर संध्यावन्दन करना और उसके बाद सूर्य की उपासना करनी चाहिए, ऐसा लिखा है।

यथा-

"निमज्ज्योन्मज्ज्याचम्य अमृते अमृतोद्भवे पंचगव्यस्नानं सूर्याभिमुखं स्थित्वा शरीरशुद्धिस्नानं कुर्यात्।...संध्यावन्दनानन्तरं सूर्योपस्थापनं कर्तव्यम्।"

और भी कई स्थानों पर पंचगव्य से स्नान करने का विधान किया है। एक स्थान पर इसी पर्व में नित्यस्नान के लिए गंगादि नदियों के किनारे पर पंचगव्यादि के ग्रहण करने का उपदेश दिया है। यथा-

"अथातो नित्यस्नानार्थं गंगादिमहानदीनदार्णवतीरे पंचगव्यादिकुशतिलाक्षततीर्थमृत्तिका गृहीत्वा...।"

---

२२. देखो शब्दकल्पद्रुम कोश में मृत्तिका शब्द।

२३. गौ का मूत्र, गोबर, घी, दूध और दही को 'पंचगव्य' कहते हैं।

यह सब कथन भी हिन्दूधर्म का है। हिन्दूओं के यहाँ ही गोमय और गोमूत्र का बहुत बड़ा माहात्म्य है। वे इन्हें परम पवित्र मानते हैं और इनसे स्नान करना तो क्या, इनका भक्षण तक करते हैं। उनके वाराहपुराण में पंचगव्य के भक्षण से तत्क्षण जन्मभर के पापों से छूटना लिखा है। यथा–

''गोशकृद्द्विगुणं मूत्रं पयः स्यात्तच्चतुर्गुणम्।
घृतं तद्विगुणं प्रोक्तं पंचगव्ये तथा दधि॥
सौम्ये मुहूर्त्ते संयुक्ते पंचगव्यं तु यः पिबेत्।
यावज्जीवकृतात्पापात् तत्क्षणादेव मुच्यते॥''[२४]

गोमय को उनके यहाँ, साक्षात् यमुना और गोमूत्र को नर्मदा तीर्थ वर्णन किया है। (गोमयं यमुनासाक्षात् गोमूत्रं नर्मदा शुभा।) विष्णुधर्मोत्तर में गोमूत्र के स्नान से सब पापों का नाश होना लिखा है। यथा–

गोमूत्रेण च यत्स्नानं सर्वाघविनिसूदनम्।

इसी प्रकार सूर्योपस्थापनादिक ऊपर का सारा कथन हिन्दुओं के अनेक ग्रन्थों में पाया जाता है। जैनधर्म से इस कथन का कोई सम्बन्ध नहीं मिलता, न जैनियों के आर्ष ग्रन्थों में ऐसा विधिविधान पाया जाता है और न जैनियों की प्रवृत्ति ही इस रूप देखने में आती है।

३. नदियों का पूजन और स्तवनादिक

जिनसेनत्रिवर्णाचार के चौथे पर्व में एक बार ही नहीं किन्तु दो बार गंगादिक नदियों को तीर्थदेवता और धर्मतीर्थ वर्णन किया है और साथ ही उन्हें अर्घ चढ़ाकर उनके पूजन करने का विधान लिखा है। अर्घ चढ़ाते समय नदियों की स्तुति में जो श्लोक दिये हैं, उनमें से कुछ श्लोक इस प्रकार है–

''पद्मह्रदसमुद्भूता गंगा नाम्नी महानदी।
स्मरणाज्जायते पुण्यं मुक्तिलोकं च गच्छति॥
केसरीद्रहसंभूता रोहितास्या महापगा।
तस्याः स्पर्शनमात्रेण सर्वपापं व्यपोहति॥
महापुण्डह्रदोद्भूता हरिकान्ता महापगा।
सुवर्णार्घप्रदानेन सुखमाप्नोति मानवः॥
रुक्मी (?) शिखरिसंभूता नारी स्त्रोतस्विनी शुभा।
स्वर्णस्तेयादिजान् पापान् ध्यानाच्चैव विनश्यति॥
रुक्मिणीगिरिसंभूता नरकान्ता सुसेवनात्।
पातकानि प्रणश्यंति तमः सूर्योदये यथा॥

---

२४. देखो शब्दकल्पद्रुमकोश में 'पंचगव्य' शब्द। + 'गोमयं यमुनासाक्षात् गोमूत्रं नर्मदा शुभा।'

अनेकह्रदसंभूता नद्यः सागरसंयुताः।
मुक्तिसौभाग्यदात्र्यश्च सर्वे तीर्थाधिदेवताः॥''

इन श्लोकों में लिखा है कि 'गंगानदी के स्मरण से पुण्य की प्राप्ति होती है और स्मरण करनेवाला मुक्तिलोक को चला जाता है, रोहितास्या नदी के स्पर्शनमात्र से सब पाप दूर हो जाते हैं, हरिकान्ता नदी को सुवर्णार्घ देने से सुख की प्राप्ति होती है, नारी नदी के ध्यान से ही चोरी आदि से उत्पन्न हुए सब पाप नष्ट हो जाते हैं, नरकान्ता नदी की सेवा करने से सर्व पाप इस तरह नाश हो जाते हैं, जिस तरह कि सूर्य के सन्मुख अंधकार विलय जाता है, और अन्तिम वाक्य यह है कि अनेक द्रहों से उत्पन्न होनेवाली और समुद्र में जा मिलनेवाली अथवा समुद्रसहित सभी नदियाँ तीर्थदेवता हैं और सभी मुक्ति तथा सौभाग्य की देनेवाली हैं। इस प्रकार नदियों के स्मरण, ध्यान, स्पर्शन या सेवन से सब सुख सौभाग्य और मुक्ति का मिलना तथा सम्पूर्ण पापों का नाश होना वर्णन किया है। इन श्लोकों तथा अर्घों के चढ़ाने के बाद स्नान का एक संकल्प दिया है। उसमें भी मन, वचन, काय से उत्पन्न होने वाले समस्त पापों और सम्पूर्ण अरिष्टों को नाश करने के लिए तथा सर्वकार्यों की सिद्धि के निमित्त देवब्राह्मण के सन्मुख नदी तीर्थ में स्नान करना लिखा है। यथा–

'' ...[२५]पुण्यतिथौ सर्वारिष्टविनाशार्थं शांतिकपौष्टिकादिसकलकर्मसिद्धिसाधनयंत्र–मंत्र–तंत्र–विद्या–प्रभावकसिद्धिसाधकसंसिद्धिनिमित्तं कायिकवाचिकमानसिकचतुर्विधपापक्षयार्थं देवब्राह्मणसन्निधौ देहशुद्ध्यर्थं सर्वपापक्षयार्थं अमुकतीर्थे स्नानविधिना स्नानमहं करिष्ये।''

यह सब कथन जैनमत के बिल्कुल विरुद्ध है। जैनधर्म में न नदियों को 'धर्मतीर्थ' माना है और न 'तीर्थदेवता'। जैनसिद्धान्त के अनुसार नदियों में स्नान करने या नदियों का ध्यानादिक करने मात्र से पापों का नाश नहीं हो सकता। पापों का नाश करने के लिए वहाँ सामायिक, प्रतिक्रमण, ध्यान और तपश्चरणादिक कुछ दूसरे ही उपायों का वर्णन है। वास्तव में ये सब बातें हिन्दूधर्म की हैं। नदियों में ऐसी अद्भुत शक्ति की कल्पना उन्हीं के यहाँ की गयी है और इसीलिए हर साल लाखों हिन्दू भाई दूर–दूर से अपना बहुत–सा द्रव्य खर्च करके हरिद्वार आदि तीर्थों पर स्नान के लिए जाते हैं। हिन्दुओं के 'आह्निक सूत्रावलि' नाम के ग्रन्थ में हेमाद्रिकृत एक लम्बा–चौड़ा स्नान का 'संकल्प' दिया है। इस संकल्प में बड़ी तफ़सील के साथ गद्यपद्य द्वारा उन पापों को दिखलाया है, जिनको गंगादिक नदियाँ दूर कर सकती हैं और जिनके दूर करने की स्नान के समय उनसे प्रार्थना की जाती है। शायद ही कोई पाप का भेद ऐसा रहा हो जिनका नाम इस संकल्प में न आया हो। पाठकों के अवलोकनार्थ यहाँ उसका कुछ अंश उद्धृत किया जाता है–

''रागद्वेषादिजनितं कामक्रोधेन यत्कृतम्।
हिंसानिद्रादिजं पापं भेददृष्ट्या च यन्मया॥

२५. अमावस्या तथा श्रावण की पौर्णमासी को इसी पर्व में पुण्यतिथि लिखा है और उनमें स्नान की प्रेरणा की है।

परकार्यापहरणं परद्रव्योपजीवनम्।
ततोऽज्ञानकृतं वापि कायिकं वाचिकं तथा॥
मानसं त्रिविधं पापं प्रायश्चित्तैरनाशितम्।
तस्मादशेषपापेभ्यस्त्राहि त्रैलोक्यपावनि॥''

''...इत्यादि प्रकीर्णपातकानां एतत्कालपर्यन्तं संचितानां लघुस्थूलसूक्ष्माणां च निःशेषपरिहारार्थं ...देवब्राह्मणसवितासूर्यनारायणसनिधौ गंगाभागीरथ्यां अमुक तीर्थे वा प्रवाहाभिमुखं स्नानमहं करिष्ये॥''

इससे साफ़ जाहिर है कि त्रिवर्णाचार का यह सब कथन हिन्दूधर्म का कथन है। हिन्दूधर्म के ग्रन्थों से कुछ नामादिक का परिवर्तन करके लिया गया है। और इसे जबरदस्ती जैनमत की पोशाक पहनाई गई है। परन्तु जिस तरहसिंह की खाल ओढ़ने से कोई गीदड़ सिंह नहीं बन सकता, उसी तरह इस स्नानप्रकरण में कहीं-कहीं अर्हन्तादिक का नाम तथा जैनमत की १४ नदियों का सूत्रादिक दे देने से यह कथन जैनमत का नहीं हो सकता। जैनियों के प्रसिद्ध आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी नदी-समुद्रों में इस प्रकार धर्मबुद्धि से स्नान करने का निषेध करते हैं और उसे साफ़ तौर पर लोकमूढ़ता बतलाते हैं। यथा-

आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम्।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते॥

रत्नकरण्डकश्रावकाचारः।

सिद्धान्तसार ग्रन्थ में पृथ्वी, अग्नि, जल और पिप्पलादिक को देवता माननेवालों पर खेद प्रकट किया गया है। यथा-

''**पृथिवीं ज्वलनं तोयं देहलीं पिप्पलादिकान्।**
देवतात्वेन मन्यन्ते ये ते चिन्त्या विपश्चिता॥४४॥

इसी प्रकार जैन शास्त्रों में बहुत से प्रमाण मौजूद हैं, जो यहाँ अनावश्यक समझकर छोड़े जाते हैं। और जिनसे साफ प्रकट है कि न नदियाँ धर्मतीर्थ हैं, न तीर्थदेवता और न उनमें स्नान करने से पापों का नाश हो सकता है। इसलिए त्रिवर्णाचार का यह सब कथन जैनमत के विरुद्ध है।

४. पितरादिकों का तर्पण

हिन्दुओं के यहाँ स्नान का अंगस्वरूप 'तर्पण' नाम का एक नित्यकर्म वर्णन किया है। पितरादिकों को पानी या तिलोदक (तिलों के साथ पानी) आदि देकर उनकी तृप्ति की जाती है, इसी का नाम तर्पण है। तर्पण के जल की देव और पितरगण इच्छा रखते हैं, उसको ग्रहण करते हैं और उससे तृप्त होते हैं, ऐसा उनका सिद्धान्त है। यदि कोई मनुष्य नास्तिक्य भाव से अर्थात् यह समझकर कि ''देव पितरों को जलादिक नहीं पहुँचा सकता'' तर्पण नहीं करता है, तो जल के इच्छुक पितर उसके देह का रुधिर पीते हैं, ऐसा उनके यहाँ योगियाज्ञवल्क्य का वचन है। यथा-

''नास्तिक्यभावाद् यश्चापि न तर्पयति वै सुतः।
पिबन्ति देहरुधिरं पितरो वै जलार्थिनः॥''

जिनसेनत्रिवर्णाचार (चतुर्थ पर्व) में भी स्नान के बाद 'तर्पण' को नित्य कर्म वर्णन किया है और उसका सब आशय और अभिप्राय प्रायः वही रखा है, जो हिन्दुओं का सिद्धान्त है। अर्थात् यह प्रकट किया है कि पितरादिक को पानी या तिलोदकादि देकर उनकी तृप्ति करना चाहिए। तर्पण के जल की देव पितरगण इच्छा रखते हैं, उसको ग्रहण करते हैं और उससे तृप्त होते हैं। जैसा कि नीचे लिखे वाक्यों से प्रकट है–

''असंस्कारश्च ये केचिज्जलाशाः पितरः सुराः।
तेषां संतोषतृप्त्यर्थं दयिते सलिलं मया॥''

अर्थात् जो कोई पितर संस्कारविहीन मरे हों, जल की इच्छा रखते हों और जो कोई देव जल की इच्छा रखते हों, उन सबके संतोष और तृप्ति के लिए मैं पानी देता हूँ अर्थात् तर्पण करता हूँ।

''उपघातापघाताभ्यां ये मृता वृद्धबालकाः।
युवानश्चामगर्भाश्च तेषां तोयं ददाम्यहम्॥''

अर्थात् जो कोई बूढ़े, बालक, जवान और गर्भस्थ जीव उपघात या अपघात से मरे हों, मैं उन सबको पानी देता हूँ।

ये पितृमातृद्वयवंशजाताः गुरुस्वसृबंधू च बान्धवाश्च।
ये लुप्तकर्माश्च सुताश्च दाराः पशवस्तथा लोपगतक्रियाश्च॥
ये पंगवश्चान्धविरूपगर्भाः आमच्युता ज्ञातिकुले मदीये।
आषोडशाद्वा (?) द्वयवंशजाताः, मित्राणि शिष्याः सुतसेवकाश्च।
पशुवृक्षाश्च ये जीवा ये च जन्मान्तरङ्गताः।
ते सर्वे तृप्तिमायान्तु स्वधा तोयं ददाम्यहम्॥

इन पद्यों में उन सबको तर्पण किया गया है, जो पितृवंश या मातृवंश में उत्पन्न हुए हों, गुरुबन्धु या स्वसृ-बन्धु हों, लुप्तकर्मा हों, सुता हों, स्त्रियाँ हों, अपनी जातिकुल के लंगड़े-लूले हों, अन्धे हों, विरूप हों, गर्भच्युत हों, मित्र हों, शिष्य हों, सुत हों, सेवक हों, पशु हों, वृक्ष हों और जो सब जन्मान्तर को प्राप्त हो चुके हों। अन्त में लिखा है कि मैं इन सबको 'स्वधा' शब्द पूर्वक पानी देता हूँ। ये सब तृप्ति को प्राप्त होओ।

''अस्मद्गोत्रे च वंशे च ये केचन मम हस्तजलस्य वांछां कुर्वन्ति तेभ्यस्तिलोदकेन तृप्यंतां नमः।''

अर्थात् हमारे गोत्र और वंश में जो कोई मेरे हाथ के पानी की वांछा करते हों, मैं उन सबको तिलोदक से तृप्त करता हूँ और नमस्कार करता हूँ।

''केचिदस्मत्कुले जाता अपुत्रा व्यन्तराः सुराः।
ते गृह्णन्तु मया दत्तं वस्त्रनिष्पीडनोदकम्॥१३॥''

अर्थात् हमारे कुल में से जो कोई पुत्रहीन मनुष्य मरकर व्यन्तर जाति के देव हुए हों, उन्हें मैं धोती आदि वस्त्र से निचोड़ा हुआ पानी देता हूँ, वे उसे ग्रहण करें। यह तर्पण के बाद धोती निचोड़ने का मंत्र है[२६]। इसके बाद 'शरीर के अंगों पर से हाथ या वस्त्र से पानी नहीं पोंछना चाहिए, नहीं तो पुनः स्नान करने से शुद्धि होगी' ऐसा विधान करके उसके कारणों को बतलाते हुए लिखा है कि–

''तिस्त्रः कोट्योर्धकोटी च यावद्रोमाणि मानुषे।
वसन्ति तावत्तीर्थानि तस्मान्न परिमार्जयेत्॥१७॥
पिबन्ति शिरसो देवाः पिबन्ति पितरो मुखात्।
मध्याच्च यक्षगंधर्वा अधस्तात्सर्वजन्तवः॥१८॥''

अर्थात् मनुष्य के शरीर में जो साढ़े तीन करोड़ रोम हैं, उतने ही तीर्थ हैं। दूसरे, शरीर पर जो स्नान जल रहता है उसे मस्तक पर से देव, मुख पर से पितर, शरीर के मध्यभाग पर से यक्ष, गन्धर्व और नीचे के भाग पर से अन्य सब जन्तु पीते हैं। इसलिए शरीर के अंगों को पोंछना नहीं चाहिए।

जैनसिद्धान्त से जिन पाठकों का कुछ भी परिचय है, वे ऊपर के इस कथन से भले प्रकार समझ सकते हैं कि, त्रिवर्णाचार का यह तर्पणविषयक कथन कितना जैनधर्म के विरुद्ध है। जैनसिद्धान्त के अनुसार न तो देव पितरगण पानी के लिए भटकते या मारे मारे फिरते हैं और न तर्पण के जल की इच्छा रखते या उसको पाकर तृप्त और सन्तुष्ट होते हैं। इसी प्रकार न वे किसी की धोती आदि का निचोड़ा हुआ पानी ग्रहण करते हैं और न किसी के शरीर पर से स्नानजल को पीते हैं। ये सब हिन्दूधर्म की क्रियायें और कल्पनायें हैं। हिन्दुओं के यहाँ साफ़ लिखा है कि जब कोई मनुष्य स्नान के लिए जाता है, तब प्यास से विह्वल हुए देव और पितरगण पानी की इच्छा से वायु का रूप धारण करके, उसके पीछे-पीछे जाते हैं। और यदि वह मनुष्य स्नान करके वस्त्र (धोती आदि) निचोड़ देता है तो वे देव पितर निराश होकर लौट आते हैं। इसलिए तर्पण के पश्चात् वस्त्र निचोड़ना चाहिए, पहले नहीं। जैसा कि निम्नलिखित वचन से प्रकट है–

''स्नानार्थमभिगच्छन्तं देवाः पितृगणैः सह।
वायुभूतास्तु गच्छन्ति तृषार्ताः सलिलार्थिनः॥''
''निराशास्ते निवर्तन्ते वस्त्रनिष्पीडने कृते।
अतस्तर्पणानन्तरमेव वस्त्रं निष्पीडयेत्॥''

–स्मृतिरत्नाकरे वृद्धवसिष्ठः।

---

२६. हिन्दुओं के यहाँ इससे मिलता जुलता मंत्र इस प्रकार है–

''ये के चास्मत्कुले जाता अपुत्रा गोत्रजा मृताः। ते गृह्णन्तु मया दत्तं वस्त्रनिष्पीडनोदकम्॥'' –स्मृतिरत्नाकरः।

परन्तु जैनियों का ऐसा सिद्धान्त नहीं है। जैनियों के यहाँ मरने के पश्चात् समस्त संसारी जीव अपने अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार देव, मनुष्य, नरक और तिर्यंच इन चार गतियों में से किसी न किसी गति में अवश्य चले जाते हैं। और अधिक से अधिक तीन समय तक 'निराहारक' रहकर तुरन्त दूसरा शरीर धारण कर लेते हैं। इन चारों गतियों से अलग पितरों की कोई निराली गति नहीं होती, जहाँ वे बिल्कुल परावलम्बी हुए असंख्यात या अनन्त काल तक पड़े रहते हों। मनुष्यगति में जिस तरह वर्तमान मनुष्य किसी के तर्पणजल को पीते नहीं फिरते उसी तरह कोई भी पितर किसी भी गति में जाकर तर्पण के जल की इच्छा से विह्वल हुआ उसके पीछे मारा-मारा नहीं फिरता। प्रत्येक गति में जीवों का आहारविहार, उनकी उस गति, स्थिति और देशकाल के अनुसार होता है। इस तरह त्रिवर्णाचार का यह सब कथन जैनधर्म के विरुद्ध है और कदापि जैनियों द्वारा माने जाने के योग्य नहीं हो सकता। अस्तु। तर्पण का यह सम्पूर्ण विषय बहुत लम्बा चौड़ा है। त्रिवर्णाचार का कर्ता इस धर्मविरुद्ध तर्पण को करते करते बहुत दूर निकल गया है। उसने तीर्थंकरों, केवलियों, गणधरों, ऋषियों, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों, काली आदि देवियों, १४ कुलकरों, कुलकरों की स्त्रियों तीर्थंकरों के माता-पिताओं, चार पीढ़ी तक स्व माता पितादिकों, तीर्थंकरों को आहार देने वालों, तीर्थंकरों के वंशों, १२ चक्रवर्तियों, ९ नारायणों, ९ प्रतिनारायणों, ९ बलभद्रों, ९ नारदों, महादेवादि ११ रुद्रों इत्यादि को अलग-अलग नाम लेकर, पानी दिया है, इतना ही नहीं, बल्कि नदियों, समुद्रों, जंगलों, पहाड़ों, नगरों, द्वीपों, वेदों, वेदांगों, कालों, महीनों, ऋतुओं और वृक्षों को भी उनके अलग-अलग नामों का उच्चारण करके, पानी दिया है। हिन्दुओं के यहाँ भी ऐसा ही होता है। अर्थात् वे नारायण और रुद्रादि देवों के साथ नदियों समुद्रों आदि का भी तर्पण करते हैं।[२७अ.]

उनके यहाँ देवताओं का कुछ ठिकाना नहीं है। वे नदी-समुद्रों आदि को भी देवता मानते हैं। परन्तु मालूम नहीं कि त्रिवर्णाचार के कर्ता ने इन नद्यादिकों को देवता समझा है, ऋषि समझा है या पितर समझा है। अथवा कुछ भी न समझकर 'नकल में अकल को दखल नहीं' इस लोकोक्ति पर अमल किया है। कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि, त्रिवर्णाचार के कर्ता ने हिन्दूधर्म के इस तर्पणसिद्धान्त को पसंद किया है और उसे जैनियों में, जैन तीर्थंकरादिक के नामादि का लालचरूपी रंग देकर, चलाना चाहा है परन्तु आख़िर मुलम्मा मुलम्मा ही होता है। एक न एक दिन असलियत खुले बिना नहीं रहती।

२७.अ. ऋषियों के तर्पण में हिन्दुओं की तरह 'पुराणाचार्य' का भी तर्पण किया है और हिन्दुओं के 'इतराचार्य' के स्थान में 'नवीनाचार्य' का तर्पण किया है। जैसा कि कात्यायन परिशिष्ट सूत्र के निम्नलिखित एक अंश से प्रकट है- ''ततस्तर्पयेद्ब्रह्माणं पूर्वं विष्णुं रुद्रं प्रजापतिं देवांश्छदांसि वेदानृषीन्पुराणाचार्यान्गन्धर्वानितराचार्यान्संवत्सरं सावयवं देवीरप्सरसो देवानुगान्नागान्सागरान्पर्वतान् सरितो मनुष्यान्यक्षान् रक्षांसि पिशाचान्सुपर्णान् भूतानि पशून्वन-स्पतीनोषधीर्भूत-ग्रामश्चतुर्विधस्तृप्यतामित्योंकारपूर्वम्।''

५. पितरादिकों का श्राद्ध

जिनसेन त्रिवर्णाचार के चौथे पर्व में तर्पण की तरह 'श्राद्ध' का भी एक विषय दिया है और इसे भी हिन्दूधर्म से उधार लेकर रखा है। पितरों का उद्देश्य करके दिया हुआ अन्नादिक पितरों के पास पहुँच जाता है, ऐसी श्रद्धा से शास्त्रोक्त विधि के साथ जो अन्नादिक दिया जाता है, उसका नाम श्राद्ध है।[२७ब] हिन्दुओं के यहाँ तर्पण और श्राद्ध, ये दोनों विषय क़रीब क़रीब एक ही सिद्धान्त पर अवस्थित हैं। दोनों को 'पितृयज्ञ' कहते हैं। भेद सिर्फ इतना है कि तर्पण में अंजलि से जल छोड़ा जाता है, किसी ब्राह्मणादिक को पिलाया नहीं जाता। देव-पितरगण उसे सीधा ग्रहण कर लेते हैं और तृप्त हो जाते हैं। परन्तु श्राद्ध में ब्राह्मणों को भोजन खिलाया जाता है या सूखा अन्नादिक दिया जाता है। और जिस प्रकार 'लैटर बक्स' में डाली हुई चिट्ठी दूर-देशान्तरों में पहुँच जाती है, उसी प्रकार ब्राह्मणों के पेट में से वह भोजन देव-पितरों के पास पहुँचकर उनकी तृप्ति कर देता है। इसके सिवाय कुछ क्रियाकाण्ड का भी भेद है। त्रिवर्णाचार के कर्ता ने जब देव-पितरों को पानी देकर उनका विस्तार के साथ तर्पण किया है, तब वह श्राद्ध को कैसे छोड़ सकता था? पितरों की अधूरी तृप्ति उसे कब इष्ट हो सकती थी? इसलिए उसने श्राद्ध को भी अपनाया है। और हिन्दुओं का श्राद्धविषयक प्रायः सभी क्रियाकाण्ड त्रिवर्णाचार में दिया है। जैसा कि श्राद्ध के नित्य, नैमित्तिक, दैविक, एकतंत्र, पार्वण, अन्वष्टका, वृद्धि, क्षयाह, अपर-पक्ष, कन्यागत, गजच्छाया और महलयादि भेदों का कथन करना, श्राद्ध के अवसर पर ब्राह्मणों का पूजन करना, नियुक्त ब्राह्मणों से 'स्वागतं', 'सुखागतं' इत्यादि निर्दिष्ट प्रश्नोत्तरों का किया जाना, तिल, कुश और जल हाथ में लेकर मासादिक तथा गोत्रादिक के उच्चारणपूर्वक 'अद्य मासोत्तमे मासे...' इत्यादि संकल्प बोलना, अन्वष्टकादि ख़ास ख़ास श्राद्धों के सिवाय अन्य श्राद्धों में पितादिक का सपत्नीक श्राद्ध करना, अन्वष्टकादि श्राद्धों में माता का श्राद्ध अलग करना, नित्य श्राद्धों में आवाहनादि नहीं करना नित्य श्राद्ध को छोड़कर अन्य श्राद्धों में 'विश्वेदेवों' का भी श्राद्ध करना, विश्वेदेवों के ब्राह्मण को पितरों के ब्राह्मणों से अलग बिठलाना, देवपात्रों और पितृपात्रों को अलग अलग रखना, रक्षा का विधान करना और तिल बखेरना, नियुक्त ब्राह्मणों की इजाजत से विश्वेदेवों तथा पिता, पितामहादिक (तीन पीढ़ी तक) पितरों का अलग अलग आह्वान करना, विश्वेदेवों तथा पितरों को अलग अलग आसन देकर बिठलाना और उनका अलग अलग पूजन करना, गंगा, सिंधु, सरस्वती को अर्घ देना, ब्राह्मणों के हाथ धुलाना और उनके आगे भोजन के पात्र रखना, ब्राह्मणों की आज्ञा से 'अग्नौ करण' करना, जौं (यव) बखेरना, प्रजापति को अर्घ देना, अमुक देव या पितर को यह भोजन मिले, ऐसे आशय का मंत्र बोलकर नियुक्त ब्राह्मणों को तृप्तिपर्यंत भोजन कराना, तृप्ति का प्रश्नोत्तर किया जाना, ब्राह्मणों से शेषान्न को इष्टों के साथ भोजन करने की इजाजत लेना, भूमि

---

२७ ब. श्राद्धः-शास्त्रोक्तविधानेन पितृकर्म इत्यमरः। पित्रुद्देश्यकं श्रद्धयान्नादिदानम्। ''श्रद्धया दीयते यस्मात् श्राद्धं तेन निगद्यते'' इति पुलस्त्यवचनात् श्रद्धया अन्नादेर्दानं श्राद्धं इति वैदिकप्रयोगाधीनयौगिकम्। इति श्राद्धतत्त्वम्। अपि च सम्बोधनपदोपनीतान् पित्रादीन् चतुर्थ्यन्तपदेनोद्दिश्य हविस्त्यागः श्राद्धम्। -शब्दकल्पद्रुमः।

को लीपकर पिण्ड देना, आचमन और प्राणायाम का किया जाना, जप करना, कभी जनेऊ को दाहने कंधे पर और कभी बाएँ कंधे पर डालना, जिसको 'अपसव्य' और 'सव्य' होना कहते हैं, आशीर्वाद का दिया जाना, ब्राह्मणों से 'स्वधा' शब्द कहलाना, और उनको दक्षिणा देकर बिदा करना, इत्यादि-

ऊपर के इस क्रियाकाण्ड से, पाठकों को यह तो भले प्रकार मालूम हो जायेगा कि इस त्रिवर्णाचार में हिन्दूधर्म की कहाँ तक नक़ल की गई है। परन्तु इतना और समझ लेना चाहिए कि इस ग्रन्थ में हिन्दूधर्म के आशय को लेकर केवल क्रियाओं की ही नक़ल नहीं की गई, बल्कि उन शब्दों की भी अधिकतर नक़ल की गई है, जिन शब्दों में ये क्रियायें हिन्दूधर्म के ग्रन्थों में पाई जाती हैं। और तो क्या, बहुत से वैदिक मंत्र भी ज्यों के त्यों हिन्दूग्रन्थों से उठाकर इसमें रक्खे गये हैं। नीचे जिनसेन त्रिवर्णाचार से, उदाहरण के तौर पर, कुछ वाक्य और मंत्र उद्धृत किये जाते हैं, जिनसे श्राद्ध का आशय, उद्देश, देवपितरों की तृप्ति और नक़ल वगैरह का हाल और भी अच्छी तरह से पाठकों पर विदित हो जायेगा-

नित्यश्राद्धेऽर्थगंधाद्यैर्द्विजानर्चेत्स्वशक्तितः।
सर्वान्पितृगणान्सम्यक् तथैवोद्दिश्य योजयेत्॥१॥

इस श्लोक में नित्य श्राद्ध के समय ब्राह्मणों का पूजन करना और सर्व पितरों को उद्देश्य करके श्राद्ध करना लिखा है। इसी प्रकार दूसरे स्थानों पर भी 'ब्राह्मणं गंधपुष्पाद्यैः समर्चयेत्' '[२८]अस्मत्पितुर्निमित्तं नित्यश्राद्धमहं करिष्ये, इत्यादि वचन दिये हैं।

नावाहनं स्वधाकारः पिंडाग्रौकरणादिकम्।
ब्रह्मचर्चादिनियमो विश्वेदेवास्तथैव च॥२॥

इस श्लोक में उन कर्मों का उल्लेख किया है जो नित्य श्राद्ध में वर्जित हैं। अर्थात् यह लिखा है कि नित्य श्राद्ध में आवाहन, स्वधाकार, पिंडदान, अग्नौकरणादिक, ब्रह्मचर्यादि का नियम और विश्वेदेवों का श्राद्ध नहीं किया जाता। यह श्लोक हिन्दूधर्म से लिया गया है। हिन्दुओं के 'आह्निक सूत्रावलि' ग्रन्थ में इसे व्यास जी का वचन लिखा है।

[२९]दद्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा।
पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन्॥५॥

अर्थात्- पितरों की प्रीति प्राप्त करने के अभिलाषी को चाहिए कि वह अन्नादिक या जल से अथवा दूध और मूल फलों से नित्य श्राद्ध करे। इससे प्रकट है कि पितरों के उद्देश्य से श्राद्ध किया जाता है और पितरगण उससे खुश होते हैं। यह श्लोक मनुस्मृति के तीसरे अध्याय से उठाकर रखा गया है और इसका नम्बर वहाँ ८२ है।

---

२८. मैं अपने पिता के निमित्त नित्य श्राद्ध करता हूँ।

२९. मनुस्मृति में 'दद्यात्' के स्थान में 'कुर्यात्' लिखा है। परन्तु मिताक्षरादि ग्रन्थों में 'दद्यात्' के साथ ही इसका उल्लेख किया है।

अप्येकमाशयेद्विप्रं पितृयज्ञार्थसिद्धये।
अदैवं नास्ति चेदन्यो भोक्ता भोज्यमथापि वा॥६॥
अप्युद्धृत्य यथाशक्ति किंचिदन्नं यथाविधि।
पितृभ्योऽथ मनुष्येभ्यो दद्यादहरहर्द्विजे॥७॥
पितृभ्य इदमित्युक्त्वा [३०]स्वधावाच्यं च कारयेत्॥ (पूर्वार्द्ध)

ये सब वाक्य कात्यायन स्मृति (१३वें खण्ड) के हैं। वहीं से उठाकर त्रिवर्णाचार में रक्खे गये हैं। इनमें लिखा है कि 'यदि कोई दूसरा ब्राह्मण भोजन करनेवाला न मिले अथवा भोजन की सामग्री अधिक न हो, तो पितृयज्ञ की सिद्धि के लिए कम से कम एक ही ब्राह्मण को भोजन करा देना चाहिए। और यदि इतना भी न हो सके, तो कुछ थोड़ा सा अन्न पितरादिकों के वास्ते ब्राह्मण को जरूर दे देना चाहिए। पितरों के लिए जो दिया जाये उसके साथ में 'पितृभ्यः इदं स्वधा' यह मंत्र बोलना चाहिए।'

''अन्वष्टकासु वृद्धौ च सिद्धक्षेत्रे क्षयेऽहनि।
मातुः श्राद्धं पृथक्कुर्यादन्यत्र पतिना सह॥''

अर्थात् अन्वष्टका, वृद्धि, सिद्धक्षेत्र, क्षयाह इन श्राद्धों में माता का श्राद्ध अलग करना चाहिए। दूसरे अवसरों पर पति के संग करे। यह श्लोक भी हिन्दूधर्म का है और मिताक्षरा में इसी प्रकार से दिया है। सिर्फ दूसरे चरण में कुछ थोड़ा-सा भेद है। मिताक्षरा में 'क्षयेऽहनि' से पूर्व 'गयायां च' ऐसा पद दिया है और इसके द्वारा गयाजी में जो श्राद्ध किया जाये उसको सूचित किया है। त्रिवर्णाचार में इसको बदलकर इसकी जगह 'सिद्धक्षेत्रे' बनाया गया है।

''आगच्छन्तु महाभागा विश्वेदेवा महाबलाः।
ये यत्र योजिताः श्राद्धे सावधाना भवन्तु ते॥''

हिन्दुओं के यहाँ [३१]'विश्वेदेवा' नाम के कुछ देवता हैं, जिनकी संख्या १० है। ऊपर का यह श्लोक उन्हीं के आवाहन का मंत्र है। मिताक्षरा में इसे विश्वेदेवों के आवाहन का स्मार्त मंत्र लिखा है। हिन्दुओं के गारुडादि ग्रन्थों में भी यह मंत्र पाया जाता है। जिनसेनत्रिवर्णाचार में भी यह मंत्र विश्वेदेवों के आवाहन में प्रयुक्त किया गया है। परन्तु जरा से परिवर्तन के साथ। अर्थात् त्रिवर्णाचार में 'महाबलाः' के स्थान में 'चतुर्दश' शब्द दिया है। बाकी मंत्र बदस्तूर रखा है। त्रिवर्णाचार के कर्ता ने जैनियों के १४ कुलकरों को 'विश्वेदेवा' वर्णन किया है। इसीलिए उसका यह परिवर्तन मालूम होता है। परन्तु जैनियों के आर्ष ग्रन्थों में कहीं भी ऐसा वर्णन नहीं पाया जाता।

''आर्त्तरौद्रमृता ये न ज्ञातिनां कुलभूषणाः।
उच्छिष्टभागं गृह्णन्तु दर्भेषु विकिराशनम्॥

---

३०. कात्यायनस्मृति में 'स्वधाकारमुदीरयेत्' ऐसा लिखा है।

३१. यथा-''ऋतुर्दक्षो वसुः सत्यः कामः कालस्तथाध्वनिः (धृतिः)। रोचकश्चार्द्रवाश्चैव तथा चान्ये पुरूरवाः॥ विश्वेदेवा भवन्त्येते दश सर्वत्र पूजिताः।'' -वह्निपुराण।

अग्निदग्धाश्च ये जीवा येऽप्यदग्धाः कुले मम।
भूमौ दत्तेन तृप्यन्तु तृप्ता यान्तु परां गतिम्॥''

अर्थात् जो कोई आर्त या रौद्र परिणामों के साथ मरे हों, जातियों के भूषण न हों अर्थात् क्षुद्र मनुष्य हों वे सब दर्भ के ऊपर डाले हुए भोजन के इस उच्छिष्ट भाग को ग्रहण करो। और जो मेरे कुल में अग्नि से दग्ध हुए हों अथवा जिनको अग्नि का दाह प्राप्त न हुआ हो वे सब पृथ्वी पर डाले हुए इस भोजन से तृप्त होओ और तृप्त होकर उत्तम गति को प्राप्त होओ। ये दोनों श्लोक पिण्ड देते समय के मंत्र हैं। दूसरा श्लोक हिन्दुओं के मिताक्षरा और गारुडादि ग्रन्थों में भी पाया जाता है। और पहले श्लोक का आशय मनुस्मृति के तीसरे अध्याय के श्लोक नं० २४५-२४६ से मिलता जुलता है। त्रिवर्णाचार के इन श्लोकों से साफ़ जाहिर है कि पितरगण पिण्ड ग्रहण करते हैं और उसे पाकर तृप्त होते तथा उत्तम गति को प्राप्त करते हैं।

एक स्थान पर त्रिवर्णाचार के इसी प्रकरण में मोदक और विष्टर का पूजन करके और प्रत्येक मोदकादिक पर 'नमः पितृभ्यः' इस मंत्र के उच्चारणपूर्वक डोरी बाँधकर उन्हें पितरों के लिए ब्राह्मणों को देना लिखा है और इस मोदकादि के प्रदान से पितरों की अक्षय तृप्ति वर्णन की है और उनका स्वर्गवास होना लिखा है। यथा–

''...मातृणां मातामहानां चाक्षया तृप्तिरस्तु।''

''अनेन मोदकप्रदानेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूपाणां आचार्याणां तृप्तिरस्तु। स्वर्गे वासोऽस्तु।''

श्राद्ध के अन्त में आशीर्वाद देते हुए लिखा है कि–

''आयुर्विपुलतां यातु कर्णे यातु महत् यशः।
प्रयच्छन्तु तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहाः॥''

अर्थात्– आयु की वृद्धि हो, महत् यश फैले और मनुष्यों के पितरगण प्रसन्न होकर श्राद्ध करनेवालों को राज्य देवें। इस कथन से भी त्रिवर्णाचार में श्राद्ध द्वारा पितरों का प्रसन्न होना प्रकट किया है। इस श्लोक का उत्तरार्द्ध और याज्ञवल्क्य स्मृति में दिये हुए श्राद्धप्रकरण के अन्तिम श्लोक का उत्तरार्द्ध दोनों एक हैं। सिर्फ प्रयच्छन्ति की जगह यहाँ प्रयच्छन्तु बनाया गया है।

(१) ''ॐ विश्वेभ्यो देवेभ्य इदमासनं स्वाहा (२) ॐ अमुकगोत्रेभ्यः पितापितामहाप्रपितामहेभ्यः सपत्नीकेभ्य इदमासनं स्वधा (३) ॐ विश्वेदेवानामावाहयिष्ये (४) ॐ आवाहय (५) ॐ अग्नौकरणमहं करिष्ये (६) ॐ कुरुष्व (७) ॐ अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा (८) ॐ सोमाय पितृमते स्वाहा। (९) आपोहीष्टा मयो भुवः (१०)ॐ पृथिवीते पात्रं द्यौरपिधानं ब्राह्मणस्य मुखे अमृते अमृतं जुमोमि स्वाहा (११) तिलोसि सोमदेवत्यो गोसवो देवनिर्मितः। प्रत्नवद्भिः पृक्तः स्वधया पितॄँल्लोकान्युणार्हि नः स्वाहा॥''

ये सब हिन्दुओं के मंत्र हैं। और गारुड या मिताक्षरादि हिन्दू ग्रन्थों से उठाकर रक्खे गये हैं। इस प्रकार यह श्राद्ध का सारा प्रकरण हिन्दूधर्म से लिया गया है। इतने पर भी त्रिवर्णाचार का कर्ता

लिखता है कि मैं 'उपासकाध्ययन' में कही हुई श्राद्ध की विधि को वर्णन करता हूँ। यथा–

गणाधीशं श्रुतस्कंधमपि नत्वा त्रिशुद्धितः।
श्रीमच्छ्राद्धविधिं वक्ष्ये श्रावकाध्ययनोदिताम्॥''

यह सब लोगों को धोखा दिया गया है। वास्तव में, तर्पण की तरह, श्राद्ध का यह सब कथन जैनधर्म के विरुद्ध है। जैनधर्म से इसका कुछ सम्बन्ध नहीं है। जैन सिद्धान्तों के अनुसार ब्राह्मणों को खिलाया हुआ भोजन या दिया हुआ अन्नादिक कदापि पितरों के पास नहीं पहुँच सकता। और न ऐसा करने से देव पितरों की कोई तृप्ति होती है।

६. सुपारी खाने की सजा

जिनसेनत्रिवर्णाचार के ९वें पर्व में लिखा है कि जो कोई मनुष्य पान को मुख में न रखकर, अर्थात् पान से अलग सुपारी खाता है वह सात जन्म तक दरिद्री होता है और अन्त समय में (मरते वक्त) उसको जिनेंद्र देव का स्मरण नहीं होता। यथा–

''अनिधाय मुखे पर्णं पूगं खादति यो नरः।
सप्तजन्मदरिद्रः स्यादन्ते नैव स्मरेज्जिनम्॥२३५॥''

पाठकगण, देखा, कैसा धार्मिक न्याय है! कहाँ तो अपराध और कहाँ इतनी सख्त सज़ा! क्या जैनियों की कर्मफिलासोफी और जैनधर्म से इसका कुछ सम्बन्ध हो सकता है? कदापि नहीं। यह कथन हिन्दूधर्म के किसी ग्रन्थ से लिया गया है। हिन्दुओं के स्मृतिरत्नाकर ग्रन्थ में यह श्लोक बिल्कुल ज्यों का त्यों पाया जाता है। सिर्फ अन्तिम चरण का भेद है। वहाँ अन्तिम चरण 'नरकेषु निमज्जति' (नरकों में पड़ता है) इस प्रकार दिया है। त्रिवर्णाचार में इसी अन्तिम चरण को बदलकर उसके स्थान में ''अन्ते नैव स्मरेज्जिनम्'' ऐसा बनाया गया है। इस परिवर्तन से इतना जरूर हुआ है कि कुछ सजा कम हो गयी है। नहीं तो बेचारे को सात जन्म तक दरिद्री रहने के सिवाय, नरक में और जाना पड़ता।

७. ऋतुकाल में भोग न करनेवाली स्त्री की गति

जिनसेनत्रिवर्णाचार के १२वें पर्व में गर्भाधान का वर्णन करते हुए लिखा है कि–

''ऋतुस्नाता तु या नारी पतिं नैवोपविन्दति।
शुनी वृकी शृगाली स्याच्छूकरी गर्दभी च सा॥२७॥''

अर्थात्– ऋतुकाल में स्नान के पश्चात् जो स्त्री अपने पति से संभोग नहीं करती है वह मरकर कुत्ती, भेडिनी, गीदड़ी, सूअरी और गधी होती है। यह कथन बिल्कुल जैनधर्म के विरुद्ध है। और इसने जैनियों की सारी कर्मफिलासोफ़ी को उठाकर ताक़ में रख दिया है। इसलिये यह कथन कदापि जैनाचार्यों का नहीं हो सकता। यह श्लोक भी ज्यों का त्यों या कुछ परिवर्तन के साथ, हिन्दूधर्म के किसी ग्रन्थ से लिया गया मालूम होता है। क्योंकि हिन्दूधर्म के ग्रन्थों में ही इस प्रकार की आज्ञायें प्रचुरता के साथ पाई जाती हैं। उनके यहाँ जब ऋतुस्नाता के साथ भोग न करने पर पुरुष को नरक में पहुँचाया है, तब क्या ऋतुस्नाता होकर भोग न करने पर स्त्री को तिर्यंचगति में न भेजा होगा? जरूर

भेजा होगा। पराशर जी ने तो ऐसी स्त्री को भी सीधा नरक में ही भेजा है। और साथ ही बारम्बार विधवा होने का भी फ़तवा (धर्मादेश) दे दिया है। यथा–

ऋतुस्नाता तु या नारी भर्तारं नोपसर्पति।
सा मृता नरकं याति विधवा च पुनः पुनः॥४-१४॥ पराशरस्मृतिः

इसी प्रकार हिन्दूधर्म के और बहुत से फुटकर श्लोक इस त्रिवर्णाचार में पाये जाते हैं, जो या तो ज्यों के त्यों और या कुछ परिवर्तन के साथ रखे गये हैं।

इस तरह धर्मविरुद्ध कथनों के ये कुछ थोड़े से नमूने हैं और इनके साथ ही इस ग्रन्थ की परीक्षा भी समाप्त की जाती है।

ऊपर के इस समस्त कथन से, पाठकगण, भले प्रकार विचार कर सकते हैं कि यह ग्रन्थ (जिनसेन त्रिवर्णाचार) कितना जाली, बनावटी तथा धर्मविरुद्ध कथनों से परिपूर्ण है और ऐसी हालत में यह कोई जैनग्रन्थ हो सकता है या नहीं। वास्तव में यह ग्रन्थ विषमिश्रित भोजन के समान त्याज्य है और कदापि विद्वानों में आदरणीय नहीं हो सकता। इसे गढ़कर ग्रन्थकर्ता ने, निःसन्देह, जैनसमाज के साथ बड़ा ही शत्रुता का व्यवहार किया है। यह सच पूछिये तो, सब ऐसे ही ग्रन्थों का प्रताप है, जो आजकल जैनसमाज अपने आदर्श से गिरकर अनेक प्रकार के मिथ्यात्वादि कुसंस्कारों में फँसा हुआ है। यदि जैनसमाज को अपने हित की इच्छा है तो उसे सावधान होकर शीघ्र ही ऐसे जाली और धर्मविरुद्ध ग्रन्थों का बहिष्कार करना चाहिए।

❑ ❑ ❑
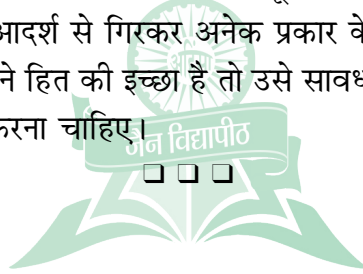
ग्रन्थपरीक्षा : भद्रबाहु-संहिता

जैनसमाज में भद्रबाहुस्वामी एक बहुत प्रसिद्ध आचार्य हो गये हैं। आप पाँचवें श्रुतकेवली थे। श्रुतकेवली उन्हें कहते हैं जो सम्पूर्ण द्वादशांग श्रुत के पारगामी हों, उसके अक्षर का जिन्हें यथार्थ ज्ञान हो। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि तीर्थंकर भगवान् की दिव्यध्वनि द्वारा जिस ज्ञान-विज्ञान का उदय होता है, उसके अविकल ज्ञाताओं को श्रुतकेवली कहते हैं। आगम में सम्पूर्ण पदार्थों के जानने में केवली और श्रुतकेवली दोनों ही समान रूप से निर्दिष्ट हैं। भेद है सिर्फ प्रत्यक्ष-परोक्ष या साक्षात्-असाक्षात् का। केवली अपने केवलज्ञान द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों को प्रत्यक्ष रूप से जानते हैं और श्रुतकेवली अपने स्याद्वादालंकृत श्रुतज्ञान द्वारा उन्हें परोक्ष रूप से अनुभव करते हैं। जैसा कि स्वामी समन्तभद्र के इस वाक्य से प्रकट है-

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्॥१०॥
-आप्तमीमांसा

जैनियों को भद्रबाहु की योग्यता, महत्ता और सर्वमान्यता आदि के विषय में इससे अधिक परिचय देने की जरूरत नहीं है। वे भद्रबाहु के द्वारा सम्पूर्ण तत्त्वों की प्ररूपणा का उसी प्रकार अविकल रूप से होते रहना मानते हैं जिस प्रकार कि वह वीर भगवान् की दिव्य ध्वनि द्वारा होती रही थी और इस दृष्टि से भद्रबाहु वीर भगवान् के तुल्य ही माने और पूजे जाते हैं। इससे पाठक समझ सकते हैं कि जैन समाज में भद्रबाहु का आसन कितना अधिक ऊँचा है। ऐसे महान् विद्वान् और प्रतिभाशाली आचार्य का बनाया हुआ यदि कोई ग्रन्थ उपलब्ध हो जाये तो वह निःसंदेह बड़े ही आदर और सत्कार की दृष्टि से देखे जाने योग्य है और उसे जैनियों का बहुत बड़ा सौभाग्य समझना चाहिए। अस्तु; आज इस लेख द्वारा जिस ग्रन्थ की परीक्षा का प्रारंभ किया जाता है उनके नाम के साथ 'भद्रबाहु' का पवित्र नाम लगा हुआ है। कहा जाता है कि यह ग्रन्थ भद्रबाहु श्रुतकेवली का बनाया हुआ है।

ग्रन्थ प्राप्ति

जिस समय सबसे पहले मुझे इस ग्रन्थ के शुभ नाम का परिचय मिला और जिस समय (सन् १९०५ में) पंडित गोपालदास जी ने इसके 'दाय भाग' प्रकरण को अपने 'जैनमित्र' पत्र में प्रकाशित किया उस समय मुझे इस ग्रन्थ के देखने की बहुत उत्कंठा हुई। परन्तु ग्रन्थ न मिलने के कारण मेरी वह इच्छा उस समय पूरी न हो सकी। साथ ही उस वक्त मुझे यह भी मालूम हुआ कि अभी तक यह ग्रन्थ किसी भण्डार से पूरा नहीं मिला। महासभा के सरस्वती भण्डार में भी इसकी अधूरी ही प्रति है। इसके बाद चार पाँच वर्ष हुए जब ऐलक पन्नालालजी के द्वारा झालरापाटन के भण्डार से इस ग्रन्थ

की यह प्रति निकाली गई और ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी के द्वारा जैनमित्र में इस पूरे ग्रन्थ के मिल जाने की घोषणा की गई और इसके अध्यायों की विषय-सूची का विवरण देते हुए सर्व साधारण पर ग्रन्थ का महत्त्व प्रकट किया गया, तब मेरी वह ग्रन्थावलोकन की इच्छा और भी बलवती हो उठी और मैंने निश्चय किया कि किसी न किसी प्रकार इस ग्रन्थ को एक बार परीक्षा-दृष्टि से जरूर देखना चाहिए। झालरापाटन की उक्त प्रति को, उस पर से कई प्रतियाँ करा कर ग्रन्थ का प्रचार करने के लिए, ऐलक पन्नालालजी अपने साथ ले गये थे। इस लिए उक्त ग्रन्थ का सहसा मिलना दुर्लभ हो गया। कुछ समय के बाद जब उन प्रतियों में से एक प्रति मुरैना में पं० गोपालदासजी के पास पहुँच गई तब समाचार मिलते ही मैंने पंडितजी से उसके भेजने के लिए निवेदन किया। उत्तर मिला कि आधा ग्रन्थ पं० धन्नालालजी बम्बई ले गये हैं और आधा यहाँ पर देखा जा रहा है। अंत में बम्बई और मोरेना दोनों ही स्थानों से ग्रन्थ की प्राप्ति नहीं हो सकी। मेरी उस प्रबल इच्छा की पूर्ति में इस प्रकार की बाधा पड़ती देखकर बाबा भागीरथजी वर्णी के हृदय पर बहुत चोट लगी और उन्होंने अजमेर जाकर सेठ नेमिचंदजी सोनी के लेखक द्वारा, जो उस समय भद्रबाहु संहिता की प्रतियाँ उतारने का ही काम कर रहा था, एक प्रति अपने लिए कराने का प्रबंध कर दिया। बहुत दिनों के इन्तजार और लिखा-पढ़ी के बाद वह प्रति देहली में बाबाजी के नाम वी.पी. द्वारा आई, जिसको लाला जग्गीमलजी ने छुड़ाकर पहाड़ी के मंदिर में विराजमान कर दिया और आखिर वहाँ से वह प्रति मुझको मिल गई। देखने से मालूम हुआ कि यह प्रति कुछ अधूरी है। तब उसके कमती भाग की पूर्ति तथा मिलान के लिए दूसरी पूरी प्रति के मंगाने की जरूरत पैदा हुई, जिसके लिए अनेक स्थानों से पत्र व्यवहार किया गया। इस पर सेठ हीराचंद नेमिचंदजी शोलापुर ने पत्र पाते ही अपने यहाँ की प्रति भेज दी जो कि इस ग्रन्थ का पूर्वखण्ड मात्र है और जिससे मिलान का काम लिया गया। परन्तु इससे कमती भाग की पूर्ति नहीं हो सकी। अतः झालरापाटन से इस ग्रन्थ की पूरी प्रति प्राप्त करने का फिर से प्रयत्न किया गया। अब की बार का प्रयत्न सफल हुआ। गत जुलाई मास के अन्त में श्रीमान् सेठ विनोदीराम बालचंदजी के फर्म के मालिक श्रीयुत सेठ लालचन्दजी सेठी ने इस ग्रन्थ की वह मूल प्रति ही मेरे पास भेज देने की कृपा की जिस पर से अनेक प्रतियाँ होकर हाल में इस संहिता का प्रचार होना प्रारम्भ हुआ है और इसलिए सेठ साहब की इस कृपा और उदारता के लिए उन्हें जितना धन्यवाद दिया जाये वह थोड़ा है। जिन-जिन महानुभावों ने मेरी इस ग्रन्थावलोकन की इच्छा को पूरा करने के लिए ग्रन्थ भेजने-भिजवाने आदि द्वारा मेरी सहायता की है उन सबका मैं हृदय से आभार मानता हूँ। इस विषय में श्रीयुत पं० नाथूरामजी प्रेमी का नाम खास तौर से उल्लेख योग्य है और वे मेरे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं; जिनके खास उद्योग से झालरापाटन की मूल प्रति उपलब्ध हुई, जिन्होंने ग्रन्थ परीक्षा की सहायतार्थ अनेक ग्रन्थों को खरीदकर भेजने तक की उदारता दिखलाई और जिनकी कोशिश से एक अलब्ध ग्रन्थ की दक्कन कॉलेज पूना की लायब्रेरी से भी प्राप्त हुई। इस प्रकार ग्रन्थ प्राप्ति का यह संक्षिप्त इतिहास देकर अब मैं प्रकृत विषय की ओर झुकता हूँ—

परीक्षा की जरूरत

भद्रबाहु श्रुतकेवली अस्तित्व-समय वीर निर्वाण संवत् १३३ से प्रारम्भ होकर संवत् १६२ पर्यंत माना जाता है। अर्थात् विक्रम संवत् से ३०८ वर्ष पहले और ईसवी सन् से ३६५ वर्ष पहले तक भद्रबाहु मौजूद थे और इसलिए भद्रबाहु का समाधिस्थ हुए आज २२८१ वर्ष हो चुके हैं। इस समय से २९ वर्ष पहले के किसी समय में (जो कि भद्रबाहु के श्रुतकेवली रहने का समय कहा जाता है) भद्रबाहु श्रुतकेवली द्वारा इस ग्रन्थ की रचना हुई है, ऐसा कुछ विद्वानों का अनुमान और कथन है। ग्रन्थ में, ग्रन्थ के बनने का कोई सन् संवत् नहीं दिया और न ग्रन्थकर्ता की कोई प्रशस्ति ही लगी हुई है। परन्तु ग्रन्थ की प्रत्येक सन्धि में 'भद्रबाहु' ऐसा नाम जरूर लगा हुआ है; मंगलाचरण में 'गोवर्धनं गुरुं नत्वा' इस पद के द्वारा गोवर्धन गुरु का, जो कि भद्रबाहु श्रुतकेवली के गुरु थे, नमस्कार पूर्वक स्मरण किया गया है; कई स्थानों पर ''मैं भद्रबाहु मुनि ऐसा कहता हूँ या कहूँगा'' इस प्रकार का उल्लेख पाया जाता है; और एक स्थान पर ''भद्रबाहुरुवाचेदं पंचमः श्रुतकेवली[1]'' यह वाक्य भी दिया है। इसके सिवाय ग्रन्थ में कहीं-कहीं पर किसी कथन के सम्बन्ध में इस प्रकार की सूचना भी की गई है कि वह कथन भद्रबाहु श्रुतकेवली का या द्वादशांग के जानने वाले भद्रबाहु का है। इन्हीं सब बातों के कारण जैन समाज के वर्तमान विद्वानों का उपर्युक्त अनुमान और कथन जान पड़ता है। परन्तु सिर्फ इतने पर से ही इतना बड़ा भारी अनुमान कर लेना बहुत बड़े साहस और जोखिम का काम है; खासकर ऐसी हालत और परिस्थिति में जबकि इस प्रकार के अनेक ग्रन्थ जाली सिद्ध किये जा चुके हो। जाली ग्रन्थ बनाने वालों के लिए इस प्रकार का खेल कुछ भी मुश्किल नहीं होता और इसका दिग्दर्शन पहले तीन ग्रन्थों पर लिखे गये परीक्षा लेखों द्वारा भले प्रकार कराया जा चुका है[2]। भद्रबाहु को हुए आज २३सौ वर्ष का लम्बा चौड़ा समय बीत गया। इस अर्से में बहुत से अच्छे-अच्छे विद्वान् और माननीय आचार्य हो गये; परन्तु उनमें से किसी की भी कृति में इस ग्रन्थ का नामोल्लेख तक नहीं मिलता और न किसी प्राचीन शिलालेख में ही इस ग्रन्थ का उल्लेख पाया जाता है। श्रुतकेवली जैसे आदर्श पुरुष द्वारा रचे हुए एक ऐसे ग्रन्थ का, जिसका अस्तित्व आज तक चला आता हो, बाद को होने वाले किसी भी माननीय प्राचीन आचार्य की कृति में नामोल्लेख तक न होना संदेह से खाली नहीं है। साथ ही श्रवणबेलगोल के श्रीयुत पंडित दौर्बलि जिनदास शास्त्रीजी से मालूम हुआ कि उधर दक्षिण देश के भण्डारों में भद्रबाहुसंहिता की कोई प्रति नहीं है और न उधर पहले से इस ग्रन्थ का नाम ही सुना जाता है। जिस देश में भद्रबाहु का अन्तिम जीवन व्यतीत हुआ हो, जिस देश में उनके शिष्यों और प्रशिष्यों का बहुत बड़ा संघ लगभग १२ वर्ष तक रहा हो, जहाँ उनके शिष्यसम्प्रदाय में अनेक दिग्गज विद्वानों की शाखा प्रशाखायें फैली हों और जहाँ पर धवल, महाधवल आदि ग्रन्थों को

---

१. खण्ड ३ अध्याय १ श्लोक १० का पूर्वार्ध।

२. इससे पहले उमास्वामि-श्रावकाचार, कुन्द-कुन्दश्रावकाचार और जिनसेनत्रिवर्णाचार ऐसे तीन ग्रन्थों की परीक्षा की जा चुकी है, जिनके पाँच परीक्षालेख जैनहितैषी के १० वें भाग में प्रकाशित हुए हैं।

सुरक्षित रखने वाले मौजूद हों, वहाँ पर उनकी, अद्यावधिपर्यंत जीवित रहने वाली एक मात्र संहिता का नाम तक सुनाई न पड़े, यह कुछ कम आश्चर्य की बात नहीं है। ऐसा होना कुछ अर्थ रखता है और वह उपेक्षा किये जाने के योग्य नहीं है। इन सब कारणों से यह बात बहुत आवश्यक जान पड़ती है कि इस ग्रन्थ (भद्रबाहु संहिता) की परीक्षा की जाये और ग्रन्थ के साहित्य की जाँच द्वारा यह मालूम किया जाये कि यह ग्रन्थ वास्तव में कब बना है और इसे किसने बनाया है। इसीलिए आज पाठकों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया जाता है।

ग्रन्थ की विलक्षणता

जिस समय इस ग्रन्थ को परीक्षादृष्टि से अवलोकन करते हैं उस समय यह ग्रन्थ बड़ा ही विलक्षण मालूम होता है। इस ग्रन्थ में तीन खण्ड हैं– १. पूर्व, २. मध्यम, ३. उत्तर और श्लोकों की संख्या लगभग सात हजार है। परन्तु ग्रन्थ के अन्त में जो १८ श्लोकों का 'अन्तिम वक्तव्य' दिया है उसमें ग्रन्थ के पाँच खण्ड बतलाये हैं और श्लोकों की संख्या १२ हजार सूचित की है। यथा–

प्रथमो व्यवहाराख्यो ज्योतिराख्यो द्वितीयकः।
तृतीयोऽपि निमित्ताख्यश्चतुर्थोऽपि शरीरजः॥१॥
पंचमोऽपि स्वराख्यश्च पंचखंडैरियं मता।
द्वादशसहस्त्रं प्रमिता संहितेयं जिनोदिता॥२॥

अन्तिम वक्तव्य अन्तिम खण्ड के अन्त में होना चाहिए था, परन्तु यहाँ पर तीसरे खण्ड के अन्त में दिया है। चौथे पाँचवें खण्डों का कुछ पता नहीं, और न उनके सम्बन्ध में इस विषय का कोई शब्द ही लिखा है। किसी ग्रन्थ में तीन खंडों के होने पर ही उनका पूर्व, मध्यम और उत्तर इस प्रकार का विभाग ठीक हो सकता है, पाँच खण्डों की हालत में नहीं। पाँच खण्डों के होने पर दूसरे खण्ड को 'मध्यम' और तीसरे को 'उत्तरखण्ड' कहना ठीक नहीं बैठता। पहले और अंत के खण्डों के बीच में रहने से दूसरे खण्ड को यदि 'मध्यम खण्ड' कहा जाये तो इस दृष्टि से तीसरे खण्ड को भी 'मध्यम खण्ड' कहना होगा, 'उत्तरखण्ड' नहीं। परन्तु यहाँ पर पद्य में भी तीसरे खण्ड को, उसके दस अध्यायों की सूची देते हुए, 'उत्तरखण्ड ही लिखा है। यथा–

ग्रहस्तुतिः प्रतिष्ठां च मूलमंत्रर्षिपुत्रिके।
शास्तिचक्रे क्रियादीपे फलशान्ती दशोत्तरे॥८॥

इसलिए खण्डों का यह विभाग समुचित प्रतीत नहीं होता। खण्डों के इस विभाग-सम्बन्ध में एक बात और भी नोट किये जाने योग्य है और वह यह है कि इस ग्रन्थ में पूर्व खण्ड की संधि देने के पश्चात्, दूसरे खण्ड का प्रारंभ करते हुए, ''अथ भद्रबाहु-संहितायां उत्तरखण्डः प्रारभ्यते'' यह वाक्य दिया है और इसके द्वारा दूसरे खण्ड को 'उत्तरखण्ड' सूचित किया है, परन्तु खण्ड के अंत में उसे वही 'मध्यमखण्ड' लिखा है। हो सकता है कि ग्रन्थकर्ता का ग्रन्थ में पहले दो ही खण्डों के रखने का विचार हो और इसीलिए दूसरा खण्ड शुरू करते हुए उसे 'उत्तरखण्ड' लिखा हो, परन्तु बाद को

दूसरा खण्ड लिखते हुए किसी समय वह विचार बदलकर तीसरे खण्ड की जरूरत पैदा हुई हो और इसलिए अन्त में खण्ड को 'मध्यमखण्ड' करा दिया हो और पहले जो उसके लिए 'उत्तरखण्ड' पद लिखा गया था उसका सुधार करना स्मृतिपथ से निकल गया हो। कुछ भी हो, पर इससे ग्रन्थ का अव्यवस्थितपना प्रकट होता है। यह तो हुई खण्डों के साधारण विभाग की बात, अब उनके विषय-विभाग की अपेक्षा विशेष नामकरण को लीजिए। ऊपर उद्धृत किये हुए श्लोक नं० १ में दूसरे खण्ड का नाम 'ज्योतिष-खण्ड' और तीसरे का नाम 'निमित्तखण्ड'[३] दिया है जिससे यह सूचित होता है कि ये दोनों विषय एक दूसरे से भिन्न अलग-अलग खण्डों में रखे गये हैं। परन्तु दोनों खण्डों के अध्यायों का पाठ करने से ऐसा मालूम नहीं होता। तीसरे खण्ड में सिर्फ 'ऋषिपुत्रिका' और 'दीप' नाम के दो अध्याय ही ऐसे हैं जिनमें 'निमित्त' का कथन है। बाकी के आठ अध्यायों में दूसरी ही बातों का वर्णन है। इससे पाठक सोच सकते हैं कि इस खण्ड का नाम कहाँ तक 'निमित्त खण्ड' हो सकता है। रही दूसरे खण्ड की बात, इसमें १. केवलकाल, २. वास्तुलक्षण, ३. दिव्येन्दुसंपदा, ४. चिह्न और ५. दिव्योषधि नाम के पाँच अध्याय तो ऐसे हैं जिनका ज्योतिष से प्रायः कुछ सम्बन्ध नहीं और 'उल्का' आदि २६ अध्याय तथा शकुन (स्वरादि द्वारा शुभाशुभज्ञान), लक्षण और व्यंजन नाम के कई अध्याय ऐसे हैं जो निमित्त से सम्बन्ध रखते हैं और उस अष्टांग निमित्त में दाखिल हैं जिसके नाम 'राजवार्तिक' में इस प्रकार दिये हैं-

अंतरिक्ष-भौमांग-स्वर-स्वप्न-लक्षण-व्यंजन-छिन्नानि अष्टौ महानिमित्तानि।

इस खण्ड के शुरू के २६ अध्यायों को उनकी संधियों में दिये हुए 'भद्रबाहु के निमित्ते' इन शब्दों द्वारा निमित्ताध्याय सूचित भी किया है। शेष के अध्यायों में एक अध्याय (नं० ३०) का नाम ही 'निमित्त' अध्याय है और उसके प्रतिज्ञा वाक्य में भी निमित्त कथन की प्रतिज्ञा की गई है। यथा-

अथ वक्ष्यामि केषांचिन्निमित्तानां प्ररूपणं।
कालज्ञानादिभेदेन यदुक्तं पूर्वसूरिभिः॥१॥

इस तरह इस खण्ड में निमित्ताध्यायों की बहुलता है। यदि दो निमित्ताध्यायों के होने से ही तीसरे खण्ड का नाम 'निमित्त' खण्ड रखा गया है तो इस खण्ड का नाम सबसे पहले 'निमित्तखण्ड' रखना चाहिए था, परन्तु ऐसा नहीं किया गया। इसलिए खण्डों का यह नामकरण भी समुचित प्रतीत नहीं होता। यहाँ पर पाठकों को यह जानकर और भी आश्चर्य होगा कि इस खण्ड के शुरू में निमित्त ग्रन्थ के कथन के लिए ही प्रश्न किया गया है और उसी के कथन की प्रतिज्ञा भी की गई है। यथा-

सुखग्राह्यं लघुग्रन्थं स्पष्टं शिष्यहितावहम्।
सर्वज्ञभाषितं तथ्यं निमित्तं तु ब्रवीहि नः॥२-१-१४॥
भवद्भिर्यदहं पृष्टो निमित्तं जिनभाषितम्।
समासव्यासतः सर्वं तन्निबोध यथाविधि॥२-२॥

३. तीसरे खण्ड के अंत में भी उसका नाम 'निमित्तखण्ड' लिखा है।

ऐसी हालत में इस खण्ड का नाम 'ज्योतिषखण्ड' कहना पूर्वापर-विरोध को सूचित करता है। खण्डों के इस नामकरण के समान बहुत से अध्यायों का नामकरण भी ठीक नहीं हुआ। उदाहरण के तौर पर तीसरे खण्ड के 'फल' नाम के अध्याय को लीजिए। इसमें सिर्फ कुछ स्वप्नों और ग्रहों के फल का वर्णन है। यदि इतने पर से ही इसका नाम 'फलाध्याय' रखा गया तो इससे पहले के स्वप्नाध्याय को और ग्रहाचार प्रकरण के अनेक अध्यायों को फलाध्याय कहना चाहिए था। क्योंकि उनमें भी इसी प्रकार का विषय है। बल्कि उक्त फलाध्याय में जो ग्रहाचार का वर्णन है उसके सब श्लोक पिछले ग्रहाचार सम्बन्धी अध्यायों से ही उठाकर रखे गये हैं, तो भी उन पिछले अध्यायों को फलाध्याय नाम नहीं दिया गया। इसलिए कहना पड़ता है कि यह नामकरण भी ठीक नहीं हुआ। इसके सिवाय ग्रन्थ के आदि में मंगलाचरणपूर्वक जो प्रतिज्ञा-वाक्य दिया है और जिसे सम्पूर्ण ग्रन्थ के लिए व्यापक समझना चाहिए वह इस प्रकार है–

गोवर्धनं गुरुं नत्वा दृष्ट्वा गौतमसंहिताम्।
वर्णाश्रमस्थितियुता संहिता वर्ण्यतेऽधुना॥३॥

अर्थात्– 'गोवर्धन' गुरु को नमस्कार करके और 'गौतमसंहिता' को देखकर अब वर्णों तथा आश्रमों की स्थिति वाली संहिता का वर्णन किया जाता है।

इस प्रतिज्ञा-वाक्य में 'अधुना' (अब) शब्द बहुत खटकता है और इस बात को सूचित करता है कि ग्रन्थ में पहले से कोई कथन चल रहा है जिसके बाद का यह प्रकरण है, परन्तु ग्रन्थ में इससे पहले कोई कथन नहीं है। सिर्फ मंगलाचरण के दो श्लोक और दिये हैं जो 'नत्वा' और 'प्रणम्य' शब्दों से शुरू होते हैं और जिनमें कोई अलग प्रतिज्ञा वाक्य नहीं है। इसलिए इन दोनों श्लोकों से सम्बन्ध रखनेवाला यह 'अधुना' शब्द नहीं हो सकता। परन्तु इसे रहने दीजिए और खास प्रतिज्ञा पर ध्यान दीजिए। प्रतिज्ञा में संहिता का अभिधेय-संहिता का उद्देश्य-वर्णों और आश्रमों की स्थिति को बतलाना प्रकट किया है। इस अभिधेय से दूसरे-तीसरे खण्डों का कोई सम्बन्ध नहीं, खासकर दूसरा 'ज्योतिषखण्ड' बिल्कुल ही अलग हो जाता है और वह कदापि इस वर्णाश्रमवती संहिता का अंग नहीं हो सकता। दूसरे खण्ड के शुरू में, 'अथ भद्रबाहुसंहितायां उत्तरखण्डः प्रारभ्यते' के बाद 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः, श्रीभद्रबाहवे नमः' ये दो मंत्र देकर, 'अथ भद्रबाहुकृतनिमित्तग्रन्थः लिख्यते' यह एक वाक्य दिया है। इससे भी इस दूसरे खण्ड का अलग ग्रन्थ होना पाया जाता है। इतना ही नहीं, इस खण्ड के पहले अध्याय में ग्रन्थ के बनने का सम्बन्ध (शिष्यों का भद्रबाहु से प्रश्न आदि) और ग्रन्थ के (दूसरे खण्ड के) अध्यायों अथवा विषयों की सूची भी दी है जिससे इस खण्ड के भिन्न ग्रन्थ होने की और भी अधिकता के साथ पुष्टि होती है। अन्यथा, ग्रन्थ के बनने की यह सब सम्बन्ध-कथा और संहिता के पूरे अध्यायों वा विषयों की सूची पहले खण्ड के शुरू में दी जानी चाहिए, जहाँ वह नहीं दी गई। यहाँ पर खसूसियत के साथ एक खण्ड के सम्बन्ध में वह असम्बद्ध मालूम होती है। दूसरे खण्ड में भी इतनी विशेषता और है कि वह सम्पूर्ण खण्ड किसी एक व्यक्ति का बनाया हुआ मालूम नहीं होता।

उसके आदि के २४ या ज्यादह से ज्यादह २५ अध्यायों का टाइप और साँचा, दूसरे अध्यायों से भिन्न एक प्रकार का है। वे किसी एक व्यक्ति के बनाये हुए जान पड़ते हैं और शेष अध्याय किसी दूसरे तथा तीसरे व्यक्ति के। यही वजह है कि इस खण्ड में शुरू से २५वें अध्याय तक तो कहीं कोई मंगलाचरण नहीं है, परन्तु २६वें अध्याय से उसका प्रारंभ पाया जाता है, जो एक नई और विलक्षण बात है[४]। आम तौर पर जो ग्रन्थकर्ता ग्रन्थों में मंगलाचरण करते हैं वे ग्रन्थ की आदि में उसे जरूर रखते हैं। एक ग्रन्थकर्ता होने की हालत में यह कभी संभव नहीं कि ग्रन्थ की आदि में मंगलाचरण न दिया जाकर, ग्रन्थ के मध्य भाग से भी पीछे उसका प्रारंभ किया जाये। इसके सिवाय इन अध्यायों की संधियों में प्रायः 'इति' शब्द के बाद ''नैर्ग्रन्थे भद्रबाहुके निमित्ते'' ऐसे विशेष पदों का प्रयोग पाया जाता है, जो २६वें अध्याय को छोड़कर संहिताभर में और किसी भी अध्याय के साथ देखने में नहीं आता और इसलिए यह भेद-भाव भी बहुत खटकता है। सम्पूर्ण ग्रन्थ का एक कर्ता होने की हालत में इस प्रकार का भेदभाव नहीं बन सकता। अस्तु। अब एक बात और प्रकट की जाती है जो इस दूसरे खण्ड की अध्याय-सूची अथवा विषय-सूची से सम्बन्ध रखती है और वह यह है कि इस खण्ड के पहले अध्याय में, क्रमशः कथन करने के लिए, जो अध्यायों अथवा विषयों की सूची दी है उसमें ग्रहयुद्ध के बाद 'वातिक' और वातिक के बाद 'स्वप्न' का विषय-कथन करना लिखा है। यथा-

[५]गन्धर्वनगरं गर्भान् यात्रोत्पातांस्तथैव च।
ग्रहचारं पृथक्त्वेन ग्रहयुद्धं च कृत्स्नशः॥१६॥
वातिकं चाथ स्वप्नांश्च मुहूर्तांश्च तिथींस्तथा।
करणानि निमित्तं च शकुनं पाकमेव च॥१७॥

परन्तु कथन करते हुए 'ग्रहयुद्ध' के बाद 'ग्रहसंयोग अर्घकांड' नाम का एक अध्याय (नं० २५) दिया है और फिर उसके बाद 'स्वप्नाध्याय' का कथन किया है। यद्यपि 'ग्रहसंयोग अर्घकांड' नाम का विषय ग्रहयुद्ध का ही एक विशेष है और इसलिए श्लोक नं० १६ में लिये हुए 'कृत्स्नशः' पद से उसका ग्रहण किया जा सकता है, परन्तु इस अध्याय के बाद 'वातिक' नाम के अध्याय का कोई वर्णन नहीं है। स्वप्नाध्याय से पहले ही नहीं, बल्कि पीछे भी उसका कहीं कथन नहीं है। इसलिए कथन से इस विषय का साफ छूट जाना पाया जाता है। इसके आगे, विषय-सूची में, श्लोक नं० १७ के बाद ये दो श्लोक और दिये हैं-

ज्योतिषं केवलं कालं वास्तु दिव्येन्द्रसंपदा।
लक्षणं व्यंजनं चिह्नं तथा दिव्यौषधानि च॥१५॥

---

४. २६वें अध्याय का वह मंगलाचरण इस प्रकार है-
नमस्कृत्य महावीरं सुरासुरनमस्कृतम्। स्वप्नान्यहं प्रवक्ष्यामि शुभाशुभसमीरितम्॥१॥

५. इससे पहले विषय-सूची का निम्न श्लोक और है-
उल्का समासतो व्यासात्परिवेषांस्तथैव च। विद्युतोऽभ्राणि संध्याश्च मेघान्वातान्प्रवर्षणम्॥१५॥

बलाबलं च सर्वेषां विरोधं च पराजयं।
तत्सर्वमानुपूर्वेण प्रब्रवीहि महामते॥१६॥

इन श्लोकों में 'बलाबलं च सर्वेषां' इस पद के द्वारा पूर्वकथित सम्पूर्ण विषयों के बलाबल कथन की सूचना की गई है, परन्तु कथन करते हुए, अध्याय नं० ४१ और ४२ में सिर्फ ग्रहों का ही बलाबल दिखलाया गया है। शेष किसी भी विषय के बलाबल का इन दोनों अध्यायों में कहीं कोई वर्णन नहीं है और न आगे ही इस विषय का कोई अध्याय पाया जाता है। इसलिए यह कथन अधूरा है और प्रतिज्ञा का एक अंश पालन किया गया मालूम होता है। यदि श्लोक नं० १९ को १६ के बाद रखा जाये तो ''बलाबलं च सर्वेषां' इस पद के द्वारा ग्रहों के बलाबल कथन का बोध हो सकता है। और श्लोक नं० १४ में दिये हुए 'सुखग्राह्यं लघुग्रन्थं' इस पद का भी कुछ अर्थ सध सकता है (यद्यपि श्रुतकेवली के सम्बन्ध में लघु ग्रन्थ होने की बात कुछ अधिक महत्त्व की नहीं समझी जा सकती), परन्तु ऐसा करने पर श्लोक नं० १७-१८ और उनके कथन-विषयक समस्त अध्यायों को अस्वीकार करके ग्रन्थ का अंग न मानकर ग्रन्थ से अलग करना होगा जो कभी इष्ट नहीं हो सकता। इसलिए कथन अधूरा है और उसके द्वारा प्रतिज्ञा का सिर्फ एक अंश पालन किया गया है, यही मानना पड़ेगा। इस प्रकार की और भी अनेक विलक्षण बातें हैं जिनको इस समय यहाँ पर छोड़ा जाता है। इन सब विलक्षणों से ग्रन्थ में किसी विशेष गोलमाल की सूचना होती है जिसका अनुभव पाठकों को आगे चलकर स्वतः हो जायेगा। यहाँ पर मैं इतना जरूर कहूँगा और इसे कहने में मुझे जरा भी संकोच नहीं है कि ऐसा असम्बद्ध, अधूरा, अव्यवस्थित और विलक्षणों से पूर्ण ग्रन्थ भद्रबाहु श्रुतकेवली जैसे विद्वानों का बनाया हुआ नहीं हो सकता। क्यों नहीं हो सकता? यद्यपि विद्वानों को इस बात के बतलाने की जरूरत नहीं है, वे इस ऊपर के कथन पर से ही सब कुछ अनुभव कर सकते हैं, परन्तु फिर भी चूँकि समाज में घोर अज्ञानान्धकार फैला हुआ है, अन्धी श्रद्धा का प्रबल राज्य है, गतानुगतिकता चल रही है, स्वतंत्र विचारों का वातावरण बंद है और कुछ विद्वान् भी उसमें दिशा भूल रहे हैं, इसलिए मैं सविशेष रूप से इस बात को सिद्ध करने की चेष्टा करूँगा कि यह ग्रन्थ भद्रबाहु श्रुतकेवली का बनाया हुआ नहीं है।

श्वेताम्बरों की मान्यता

परन्तु इसे सिद्ध करने की चेष्टा से पहले मैं अपने पाठकों को यह बतला देना जरूरी समझता हूँ कि यह ग्रन्थ (भद्रबाहुसंहिता) श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी भद्रबाहु श्रुतकेवली का बनाया हुआ माना जाता है। श्वेताम्बर साधु मुनि आत्माराम जी ने अपने 'तत्त्वादर्श' के अन्तिम परिच्छेद में भद्रबाहु श्रुतकेवली के साथ उसका भी नामोल्लेख किया है और उसे एक ज्योतिष शास्त्र बतलाया है, जिससे इस संहिता के उस दूसरे खण्ड का अभिप्राय जान पड़ता है, जो ऊपर एक अलग ग्रन्थ सूचित किया गया है। बम्बई के श्वेताम्बर बुक सेलर शा भीमसिंह माणिक जी ने इसी भद्रबाहुसंहिता नाम के ज्योतिःशास्त्र का गुजराती अनुवाद संवत् १९५९ में छपाकर प्रसिद्ध किया था, जिसकी प्रस्तावना में

उक्त प्रसिद्धकर्ता महाशय ने लिखा है कि–

''आ भद्रबाहुसंहिता ग्रन्थ जैनना ज्योतिष विषयमां आद्य ग्रन्थ छे. तेमना रचनार श्रीभद्रबाहुस्वामि, चौदपूर्वधर श्रुतकेवली हता. तेमनां वचनो जैनमां आप्त वचनो गणाय छे। ...श्रीभद्रबाहुसंहिता नामना ग्रन्थनी महत्वता अति छतां आ प्रसिद्ध थयेला भाषांतररूप ग्रन्थनी महत्वता जो जनसमुदाय ने अल्प लागे तो तेनो दोष पंचमकालने शिर छे।''

प्रसिद्धकर्ता के इन वाक्यों से श्वेताम्बर सम्प्रदाय में ग्रन्थ की मान्यता का अच्छा पता चलता है, परन्तु इतना जरूर है कि इस सम्प्रदाय में भी दिगम्बर सम्प्रदाय के समान, यह ग्रन्थ कुछ अधिक प्रचलित नहीं है। इसलिए श्रीयुत मुनि जिनविजय जी अपने [६]पत्र में लिखते हैं कि ''पाटन के किसी नये या पुराने भण्डार में भद्रबाहुसंहिता की प्रति नहीं है। गुजरात के या मारवाड़ के अन्य किसी प्रसिद्ध भण्डार में भी इसकी प्रति नहीं है। श्वेताम्बरों के भद्रबाहुचरितों में उनके संहिता बनाने का उल्लेख मिलता है, परन्तु पुस्तक अभी तक नहीं देखी गई।''

गुजराती अनुवाद

संहिता के इस गुजराती अनुवाद के साथ मूलग्रन्थ लगा हुआ नहीं है। प्रस्तावना में लिखा है कि ''यह अनुवाद श्रावक हीरालाल हंसराज जी का किया हुआ है, जिन्होंने माँगने पर भी मूलग्रन्थ नहीं दिया और न प्रयत्न करने पर किसी दूसरे स्थान से ही मूलग्रन्थ की प्राप्ति हो सकी। इससे समूल छापने की इच्छा रहते भी यह अनुवाद निर्मूल ही छापा गया है।'' यद्यपि इस अनुवाद के सम्बन्ध में मुझे कुछ कहने का अवसर नहीं है, परन्तु सर्वसाधारण की विज्ञप्ति और हित के लिए संक्षेप से, इतना जरूर कहूँगा कि यह अनुवाद सिर से पैर तक प्रायः गलत मालूम होता है। इस अनुवाद में ग्रन्थ के दो स्तबक (गुच्छक) किये हैं, जिनमें पहले स्तबक में २१ अध्यायों का और दूसरे में २२ अध्यायों का अनुवाद दिया है। पहले स्तबक का मिलान करने से जान पड़ता है कि अनुवादक जगह–जगह पर बहुत से श्लोकों का अनुवाद छोड़ता, कुछ कथन अपनी तरफ से मिलाता और कुछ आगे–पीछे करता हुआ चला गया है। शुक्रचार के कथन में उसने २३४ श्लोकों के स्थान में सिर्फ पाँच सात श्लोकों का ही अनुवाद दिया है। मंगलचार, राहुचार, सूर्यचार, चंद्रचार और ग्रहसंयोग अर्घकाण्ड नाम के पाँच अध्यायों का अनुवाद कतई छोड़ दिया है। उनका ग्रन्थ में नाम भी नहीं है। रही दूसरे स्तबक की बात, सो वह बिल्कुल ही विलक्षण तथा अनुवादक द्वारा कल्पित मालूम होता है। संहिता के पहले अध्याय में ग्रन्थभर में क्रमशः वर्णनीय विषयों की जो उपर्युल्लिखित सूची लगी हुई है और जिसका अनुवाद अनुवादक ने भी दिया है उससे इस स्तबक का प्रायः कुछ भी सम्बन्ध नहीं मिलता। उसके अनुसार इस स्तबक में मुहूर्त, तिथि, करण, निमित्त, शकुन, पाक, ज्योतिष, काल, वास्तु, इंद्रसंपदा, लक्षण, व्यंजन, चिह्न, औषधि, सर्व निमित्तों का बलाबल, विरोध और पराजय इन विषयों का वर्णन होना चाहिए था, जो नहीं है। उनके स्थान में यहाँ राशि, नक्षत्र, योग, ग्रहस्वरूप, केतु को छोड़कर

६. यह पत्र श्रीयुत पं० नाथूरामजी प्रेमी के नाम लिखा गया है।

शेष ग्रहों की महादशा, राजयोग, दीक्षायोग, और ग्रहों के द्वाद्वश भावों का फल, इन बातों का वर्णन दिया है। चूँकि यह अनुवाद मूल के अनुकूल नहीं था शायद इसीलिए अनुवादक को मूल ग्रन्थ की कापी देने में संकोच हुआ हो। अन्यथा दूसरी कोई वजह समझ में नहीं आती। प्रकाशक को भी अनुवाद पर कुछ संदेह हो गया है और इसीलिए उन्होंने अपनी प्रस्तावना में लिखा है कि–

''आ भाषांतर 'खरी भद्रबाहुसंहिता' नामना ग्रन्थनुं छे एम विद्वानोनी नजरमां आवे तो ते बाबतनो मने अति संतोष थशे, परंतु तेथी विरुद्ध जो विद्वानोनी नजरमां आवे तो हुं तो लेशमात्र ते दोषने पात्र नथी। में तो सरल अंतःकरणथी आ ग्रन्थ खरा ग्रन्थनुं भाषांतर छे एम मानी छपाव्यो छे तेम छतां विद्वानोनी नजरमां मारी भूल लागे तो हुं क्षमा मागुं छूं।''

इस प्रस्तावना में प्रकाशक जी के उन विचारों का भी उल्लेख है जो मूलग्रन्थ के सम्बन्ध में इस अनुवाद पर से उनके हृदय में उत्पन्न हुए हैं और जो इस प्रकार हैं–

''श्रीबराहमिहिरे करेली वाराहीसंहिता अति विस्तारयुक्त ग्रन्थ छे, तेना प्रमाणमां आ उपलब्ध थयेलो भद्रबाहुसंहिता ग्रन्थ अति स्वल्प छे. श्रीभद्रबाहुस्वामि जेवा श्रुतकेवली पुरुषे ज्योतिष विषयनो रचैलो ग्रन्थ आटलो स्वल्प होय एम अंतःकरण कबुल करतुं नथी, ते ग्रन्थ वाराहीसंहिता करतां पण अति विस्तारवालो होवो जोइए।''

समझ में नहीं आता कि क्यों हीरालाल जी ने ऐसा अधूरा, गलत और कल्पित अनुवाद प्रकाशित करने के लिए दिया और क्यों उसे भी सी माणिक जी ने ऐसी संदिग्धावस्था में प्रकाशित किया। यदि सचमुच ही श्वेताम्बर सम्प्रदाय में ऐसी कोई भद्रबाहुसंहिता मौजूद है जिसका उपर्युक्त गुजराती अनुवाद सत्य समझा जाये तो मुझे इसे कहने में भी कोई संकोच नहीं है कि वह संहिता और भी अधिक आपत्ति के योग्य है।

ग्रन्थ कब बना ? और किसने बनाया ?

अब यहाँ पर, विशेष रूप से परीक्षा का प्रारंभ करते हुए, कुछ ऐसे प्रमाण पाठकों के सम्मुख उपस्थित किये जाते हैं जिनसे यह भले प्रकार स्पष्ट हो जाये कि यह ग्रन्थ भद्रबाहु श्रुतकेवली का बनाया हुआ नहीं है और जब उनका बनाया हुआ नहीं है तो यह कब बना है और इसे किसने बनाया है–

१. इस ग्रन्थ के दूसरे खण्ड के पहले अध्याय में ग्रन्थ के बनने का जो सम्बन्ध प्रकट किया है उसमें लिखा है कि, एक समय राजगृह नगर के पांडुगिरि पर्वत पर अनेक शिष्य-प्रशिष्यों से घिरे हुए द्वादशांग के वेत्ता भद्रबाहु मुनि बैठे हुए थे। उन्हें प्रीतिपूर्वक नमस्कार करके शिष्यों ने, दिव्यज्ञान के कथन की आवश्यकता प्रकट करते हुए, उनसे उस दिव्यज्ञान नाम के निमित्त ज्ञान को बतलाने की प्रार्थना की और साथ ही, उन विषयों की नामावली देकर जिनकी क्रमशः कथन करने की प्रार्थना की गई, उन्होंने नम्रता के साथ अंत में यह निवेदन किया–

सर्वानेतान्यथोद्दिष्टान् भगवन्वक्तुमर्हसि।
प्रश्नं शुश्रूषवः सर्वे वयमन्ये च साधवः॥२०॥

अर्थात्– 'हे भगवन् क्या आप कृपाकर इन समस्त यथोद्दिष्ट विषयों का वर्णन करेंगे? हम सब शिष्यगण तथा अन्य साधुजन उनके सुनने की इच्छा रखते हैं।' इसके बाद ग्रन्थ में दूसरे अध्याय का प्रारंभ करते हुए, जो वाक्य दिये हैं वे इस प्रकार हैं–

ततः प्रोवाच भगवान् दिग्वासा श्रमणोत्तमः।
यथावस्थासुविन्यासद्वादशांगविशारदः ॥१॥
भवद्भिर्यदहं पृष्टो निमित्तं जिनभाषितं।
समासव्यासतः सर्वं तन्निबोध यथाविधि॥२॥

अर्थात्– यह सुनकर यथावत् द्वादशांग के ज्ञाता उत्कृष्ट दिगम्बर साधु भगवान् भद्रबाहु बोले कि ''आप लोगों ने संक्षेप–विस्तार से जो कुछ जिनभाषित निमित्त मुझसे पूछा है उस सम्पूर्ण निमित्त को सुनिए।''

एक स्थान पर, इसी खण्ड के ३६ वें अध्याय में पुरुष–लक्षणों के बाद स्त्री–लक्षणों का वर्णन करते हुए यह भी लिखा है–

कन्या च कीदृशी ग्राह्या कीदृशी च विवर्जिता।
कीदृशी कुलजा चैव भगवन्वक्तुमर्हसि॥१३६॥
भद्रबाहुरुवाचेति भो भव्याः संनिबोधत।
कन्याया लक्षणं दिव्यं दोषकोशविवर्जितम्॥१३७॥

अर्थात्– हे भगवन्! क्या आप कृपया यह बतलाएँगे कि ग्राह्य कन्या कैसी होती है, विवर्जिता कैसी और कुलजा किस प्रकार की होती है? इस पर भद्रबाहु बोले कि हे भव्य पुरुषों तुम कन्या का दोषजाल से रहित दिव्य लक्षण सुनो। इसके सिवाय इस खण्ड के बहुत से श्लोकों में 'भद्रबाहुवचो यथा–' भद्रबाहु ने ऐसा कहा है इन शब्दों के प्रयोग द्वारा यह सूचित किया है कि अमुक–अमुक कथन भद्रबाहु के वचनानुसार लिखा गया है। उन श्लोकों में से दो श्लोक नमूने के तौर पर इस प्रकार हैं–

पापासूल्कासु यद्यस्तु यदा देवः प्रवर्षति।
प्रशांतं तद्भयं विंद्याद्भद्रबाहुवचो यथा॥३–६५॥
द्योतयंती दिशः सर्वा यदा संध्या प्रदृश्यते।
महामेघस्तदा विंद्याद्भद्रबाहुवचो यथा॥७–१६॥

इस सम्पूर्ण कथन और कथन–शैली से मालूम होता है कि यह ग्रन्थ अथवा कम से कम इसका दूसरा खण्ड भले ही भद्रबाहु श्रुतकेवली के वचनानुसार लिखा गया हो, परन्तु वह खास भद्रबाहु श्रुतकेवली का बनाया हुआ नहीं है और चूँकि ऊपर भद्रबाहु के कथन के साथ 'प्रोवाच उवाच' ऐसी परोक्षभूत की क्रिया का प्रयोग किया गया है, जिसका यह अर्थ होता है कि वह प्रश्नोत्तर रूप की

सम्पूर्ण घटना ग्रन्थकर्ता की साक्षात् अपनी आँखों से देखी हुई नहीं है। वह उस समय मौजूद ही न था। उससे बहुत पहले की बीती हुई वह घटना है। इसलिए यह ग्रन्थ भद्रबाहु श्रुतकेवली के किसी साक्षात् शिष्य या प्रशिष्य का भी बनाया हुआ नहीं है। इसका सम्पादन बहुत काल पीछे किसी तीसरे ही व्यक्ति द्वारा हुआ है, जिसके समयादिक का निर्णय आगे चलकर किया जायेगा। यहाँ पर सिर्फ इतना ही समझना चाहिए कि यह ग्रन्थ भद्रबाहु का बनाया हुआ या भद्रबाहु के समय का बना हुआ नहीं है।

२. द्वादशांग वाणी अथवा द्वादशांग श्रुत के विषय में जो कुछ कहा जाता है और जैन शास्त्रों में उसका जैसा कुछ स्वरूप वर्णित है उससे मालूम होता है कि संसार में कोई भी विद्या या विषय ऐसा नहीं होता, जिसका उसमें पूरा-पूरा वर्णन न हो और न दूसरा कोई पदार्थ ही ऐसा शेष रहता है जिसका ज्ञान उसकी परिधि से बाहर हो। इसलिए सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान का उसे एक अनुपम भण्डार समझना चाहिए। उसी द्वादशांग श्रुत के असाधारण विद्वान् श्रुतकेवली भगवान् होते हैं। उनके लिए कोई भी विषय ऐसा बाकी नहीं रहता जिसका ज्ञान उन्हें द्वादशांग को छोड़कर किसी दूसरे ग्रन्थ द्वारा सम्पादन करना पड़े। इसलिए उन्हें सम्पूर्ण विषयों के पूर्ण ज्ञाता समझना चाहिए। वे, जानने के मार्ग प्रत्यक्ष परोक्ष भेद को छोड़कर समस्त पदार्थों को केवलज्ञानियों के समान ही जानते और अनुभव करते हैं। ऐसी हालत होते हुए, श्रुतकेवली के द्वारा यदि कोई ग्रन्थ रचा जाये तो उसमें केवलज्ञानी के समान, उन्हें किसी आधार या प्रमाण के उल्लेख करने की जरूरत नहीं है और न द्वादशांग को छोड़कर दूसरे किसी ग्रन्थ से सहायता लेने की जरूरत है। उनका वह ग्रन्थ एक स्वतंत्र ग्रन्थ होना चाहिए। उसमें, खण्डन-मण्डन को छोड़कर, यदि आधार प्रमाण का कोई उल्लेख किया भी जाये अर्थात् अपने प्रतिपाद्य विषय की पुष्टि में किसी वाक्य के उद्धृत करने की जरूरत भी पैदा हो, तो वह केवली और द्वादशांग श्रुत को छोड़कर दूसरे किसी व्यक्ति या ग्रन्थ से सम्बन्ध रखने वाला न होना चाहिए। ऐसा न करके दूसरे ग्रन्थों और ग्रन्थकर्ताओं का उल्लेख करना, उनके आधार पर अपने कथन की रचना करना, उनके वाक्यों को उद्धृत करके अपने ग्रन्थ का अंग बनाना और किसी खास विषय को, उत्तमता की दृष्टि से, उन दूसरे ग्रन्थो में देखने की प्रेरणा करना, यह सब काम श्रुतकेवली पद के विरुद्ध ही नहीं किन्तु उसको बट्टा लगाने वाला है। ऐसा करना, श्रुतकेवली के लिए, केवली भगवान् और द्वादशांग श्रुत का अपमान करने के बराबर होगा, जिसकी श्रुतकेवली जैसे महर्षियों द्वारा कभी आशा नहीं की जा सकती। चूँकि इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर भद्रबाहु का ऐसा ही अयुक्ताचरण प्रकट हुआ है, इससे मालूम होता है कि यह ग्रन्थ भद्रबाहु श्रुतकेवली का बनाया हुआ नहीं है। नमूने के तौर पर यहाँ उसका कुछ थोड़ा-सा परिचय दिया जाता है। विशेष विचार यथावसर आगे होगा-

(क) दूसरे खण्ड के ३७ वें अध्याय में, घोड़ों का लक्षण वर्णन करते हुए, घोड़ों के अरबी आदि १८ भेद बतलाकर लिखा है कि, उनके लक्षण नीति के जानने वाले 'चंद्रवाहन' ने कहे हैं। यथा-

ऐरावताश्च काश्मीरा हया अष्टादशस्मृताः।
तेषां च लक्षणान्यूचे नीतिविच्चंद्रवाहनः॥१२६॥

इस कथन से पाया जाता है कि ग्रन्थकर्ता (भद्रबाहु) ने चंद्रवाहन के कथन को द्वादशांग के कथन से उत्तम समझा है और इसीलिए उसके देखने की प्रेरणा की है।

(ख) तीसरे खण्ड में 'शांतिविधान' नाम का १०वाँ अध्याय है, जिसमें दो श्लोक इस प्रकार से पाये जाते हैं–

परिभाषासमुद्देशे समुद्दिष्टेन लक्षणात्।
तन्मध्ये कारयेत्कुंडं शांतिहोमक्रियोचितं॥१५॥
हुताशनस्य मंत्रज्ञः क्रियां संधुक्षणादिकां।
विदध्यात्परिभाषायां प्रोक्तेन विधिना क्रमात्॥१६॥

इन दोनों श्लोकों में 'परिभाषासमुद्देश' नाम के किसी ग्रन्थ का उल्लेख है। पहले श्लोक में परिभाषासमुद्देश में कहे हुए लक्षण के अनुसार होमकुंड बनाने की और दूसरे में उक्त ग्रन्थ में कही हुई विधि के अनुसार संधुक्षणादिक (आग जलाना आदि) क्रिया करने की आज्ञा है। इसी खण्ड के छठे अध्याय में, यंत्रों की नामवाली देते हुए, एक 'यंत्रराज' नाम के शास्त्र का भी उल्लेख किया है और उसके सम्बन्ध में लिखा है कि, इस शास्त्र के जानने मात्र से बहुधा निमित्तों का कथन करना आ जाता है। यथा–

यंत्रराजागमे तेषां विस्तारः प्रतिपादितः।
येन विज्ञानमात्रेण निमित्तं बहुधा वदेत्॥२६॥

ये दोनों ग्रन्थ (परिभाषासमुद्देश और यंत्रराज) द्वादशांग श्रुत का कोई अंग न होने से दूसरे ही विद्वानों के बनाये हुए ग्रन्थ मालूम होते हैं, जिनका यहाँ आदर के साथ उल्लेख किया गया है और जिनका यह उल्लेख, ग्रन्थकर्ता की दृष्टि से, उनमें द्वादशांग से किसी विशिष्टता का होना सूचित करता है।

(ग) पहले खण्ड के पहले अध्याय में 'गौतमसंहिता' को देखकर इस संहिता के कथन करने की प्रतिज्ञा की गई है। साथ ही दो स्थानों पर ये वाक्य और दिये हैं–

१. आचमनस्वरूपभेदा गौतमसंहितातो ज्ञातव्याः।

२. पात्रभेदा गौतमसंहितायां दृष्टव्याः। भूम्यादिदानभेदाश्च ग्रन्थान्तरात् उत्सेयाः।

इनमें लिखा है कि (१) आचमन का स्वरूप और उसके भेद गौतमसंहिता से जानने चाहिए। (२) पात्रों के भेद गौतम संहिता में देखने चाहिए और भूमि आदि दान के भेद दूसरे ग्रन्थों से मालूम करने चाहिए। इस सम्पूर्ण कथन से 'गौतमसंहिता' नाम के किसी ग्रन्थ का स्पष्टोल्लेख पाया जाता है। गौतम का नाम आते ही पाठकों के हृदय में भगवान् महावीर के प्रधान गणधर गौतम स्वामी का ख्याल आ जाना स्वाभाविक है, परन्तु यह सर्वत्र प्रसिद्ध है कि गौतम स्वामी ने द्वादशांग सूत्रों की

रचना की थी। इसके सिवाय उन्होंने संहिता जैसे किसी अनावश्यक पृथक् ग्रन्थ की रचना की हो, इस बात को न तो बुद्धि ही स्वीकार करती है और न किसी माननीय प्राचीन आचार्य की कृति में ही उसका उल्लेख पाया जाता है। इसलिए यह 'गौतमसंहिता' गौतम गणधर का बनाया हुआ कोई ग्रन्थ नहीं है। यदि ऐसा कहा जाये कि सम्पूर्ण द्वादशांगसूत्रों या द्वादशांग श्रुत का नाम ही 'गौतमसंहिता' है तो यह बात भी नहीं बन सकती। क्योंकि ऊपर उद्धृत किये हुए दूसरे वाक्य में भूमि आदि दान के भेदों को ग्रन्थान्तर से जानने की प्रेरणा की गई है, जिससे साफ मालूम होता है कि गौतमसंहिता में उनका कथन नहीं था तभी ऐसा कहने की जरूरत पैदा हुई और इसलिए द्वादशांग के लक्षणानुसार ऐसे अधूरे ग्रन्थ का नाम, जिसमें दान के भेदों का भी वर्णन न हो, 'द्वादशांगश्रुत' नहीं हो सकता। बहुत संभव है कि इस संहिता का अवतार भी भद्रबाहुसंहिता के समान ही हुआ हो, अथवा यहाँ पर यह नाम दिये जाने का कोई दूसरा ही कारण हो।

(घ) एक स्थान पर, इस ग्रन्थ में, 'जटिलकेश' नाम के किसी विद्वान् का उल्लेख मिलता है, जो इस प्रकार है–

रविवाराद्या क्रमतो वाराः स्युः कथित जटिलकेशादेः।
वारा मंदस्य पुनर्द्याद्याशी विषस्यापि॥३-१०-१७३॥
इन्द्रानिलयमयक्षत्रितयनदहनाब्धिरक्षसां हरितः।
इह कथितजटिलकेशप्रभृतीनां स्युः क्रमेण दिशः॥ -१७४॥

इन उल्लेख वाक्यों में लिखा है कि रविवारादिक के क्रम से वारों का और इन्द्रादिक के क्रम से दिशाओं का कथन जटिलकेशादिक का कहा हुआ है, जिसको यहाँ नागपूजा-विधि में, प्रमाण माना है। इससे या तो द्वादशांग श्रुत का इस विषय में मौन पाया जाता है अथवा यह नतीजा निकलता है कि ग्रन्थकर्ता ने उसके कथन की अवहेलना की है।

(ङ) तीसरे खण्ड के आठवें अध्याय में उत्पातों के भेदों का वर्णन करते हुए लिखा है–

एतेषां वेदपंचाशद्भेदानां वर्णनं पृथक्।
कथितं पंचमे खंडे कुमारेण सुविन्दुना॥१४॥

अर्थात्– इन उत्पातों के ५४ भेदों का अलग-अलग वर्णन कुमारविन्दु ने पाँचवें खण्ड में किया है। इससे साफ जाहिर है कि ग्रन्थकर्ता ने कुमारविन्दु के कथन को द्वादशांग से श्रेष्ठ और विशिष्ठ समझा है तभी उसको देखने की इस प्रकार से प्रेरणा की गई है। साथ ही, यह भी मालूम होता है कि कुमारविन्दु ने भी कोई संहिता जैसा ग्रन्थ बनाया है, जिसमें पाँच खण्ड जरूर हैं। जैन हितैषी के छट्ठे भाग में 'दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्ता और उनके ग्रन्थ' नाम की जो बृहत् सूची प्रकाशित हुई है उसमें भी कुमारविन्दु के नाम के साथ 'जिनसंहिता' का उल्लेख किया है। यह संहिता अभी तक मेरे देखने में नहीं आई, परन्तु जहाँ तक मैं समझता हूँ 'कुमारविन्दु' नाम के कोई ग्रन्थकर्ता जैन विद्वान् भद्रबाहु श्रुतकेवली से पहले नहीं हुए। अस्तु। द्वादशांग श्रुत और श्रुतकेवली के स्वरूप का विचार करते हुए,

इन सब कथनों पर से यह ग्रन्थ भद्रबाहु श्रुतकेवली का बनाया हुआ प्रतीत नहीं होता।

३. भद्रबाहु श्रुतकेवली राजा श्रेणिक से लगभग १२५ वर्ष पीछे हुए हैं। इसलिए राजा श्रेणिक से उनका कभी साक्षात्कार नहीं हो सकता, परन्तु इस ग्रन्थ के दूसरे खण्ड में, एक स्थान पर, दरिद्रयोग का वर्णन करते हुए, उन्हें साक्षात् राजा श्रेणिक से मिला दिया है और लिख दिया है कि यह कथन भद्रबाहु मुनि ने राजा श्रेणिक के प्रश्न के उत्तर में किया है। यथा–

अथातः संप्रवक्ष्यामि दारिद्रं दुःखकारणं।
लग्नाधिपे रिष्कगते रिष्केशे लग्नमागते॥ अ.४१, श्लो.६५॥
मारकेशयुते दृष्टे जातः स्यान्निर्धनो नरः।
भद्रबाहुमुनिप्रोक्तः नृपश्रेणिकप्रश्नतः॥–६६॥

पाठक समझ सकते हैं कि ऐसा मोटा झूठ और ऐसा असत्य उल्लेख क्या कभी भद्रबाहु श्रुतकेवली जैसे मुनियों का हो सकता है? कभी नहीं। मुनि तो मुनि, साधारण धर्मात्मा गृहस्थ का भी यह कार्य नहीं हो सकता। इससे ग्रन्थकर्ता का, असत्यवक्तृत्व और छल पाया जाता है। साथ ही, यह भी मालूम होता है कि वे कोई ऐसे ही योग्य व्यक्ति थे जिनको भद्रबाहु और राजा श्रेणिक के समय तक की भी खबर नहीं थी। हिन्दुओं के यहाँ 'बृहत्पाराशरी होरा' नाम का एक बहुत बड़ा ज्योतिष का ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के ३१वें अध्याय में, दरिद्रयोग का वर्णन करते हुए, सबसे पहले जो श्लोक दिया है वह इस प्रकार है–

''लग्नेशे वै रिष्फगते रिष्फेशे लग्नमागते।
मारकेशयुते दृष्टे जातः स्यान्निर्धनो नरः॥१॥

ऊपर उद्धृत किये हुए संहिता के दोनों पद्यों में से पहले पद्य का पूर्वार्द्ध और दूसरे पद्य का उत्तरार्द्ध अलग कर देने से यही श्लोक शेष रह जाता है। सिर्फ 'लग्नेशे वै' के स्थान में 'लग्नाधिपे' का परिवर्तन है। इस श्लोक के आगे पीछे लगे हुए उपर्युक्त दोनों आधे-आधे पद्य बहुत ही खटकते हैं और असम्बद्ध मालूम होते हैं। दूसरे पद्य का उत्तरार्द्ध तो बहुत ही असम्बद्ध जान पड़ता है। उसके आगे इस प्रकरण के ९ पद्य और दिये हैं, जो उक्त होरा के प्रकरण में भी श्लोक नं० १ के बाद पाये जाते हैं। इससे मालूम होता है कि संहिता का यह सब प्रकरण उक्त होरा ग्रन्थ से उठाकर रखा गया है और उसे भद्रबाहु का बनाने की चेष्टा की गई है। इस प्रकार की चेष्टा अन्यत्र भी पाई जाती है और इस 'पाराशरी होरा' से और भी बहुत से श्लोकों का संग्रह किया गया है जिसका परिचय पाठकों को अगले लेख में कराया जायेगा।

४. इस ग्रन्थ के दूसरे ज्योतिष खण्ड में (केवल काल नाम के ३४वें अध्याय में) पंचम काल का वर्णन करते हुए शक, विक्रम और प्रथम कल्की का भी कुछ थोड़ा-सा वर्णन दिया है, जिसका हिन्दी आशय इस प्रकार है–

''वर्धमानस्वामी को मुक्ति प्राप्त होने पर ६०५ वर्ष और पाँच महीने छोड़कर प्रसिद्ध शक राजा

हुआ (अभवत्)। उससे शक संवत् प्रवर्तैगा (प्रवर्त्स्यति)। ४७० वर्ष से (?) प्रभु विक्रम राजा उज्जयिनी में अपना संवत् चलावेगा (वर्तयिष्यति)। शक राजा के बाद ३९४ वर्ष और सात महीने बीतने पर सद्धर्म का द्वेषी और ७० वर्ष की आयु का धारक 'चतुर्मुख' नाम का पहला कल्की हुआ (आसीत्)। उसने एक दिन अजितभूम नाम के मंत्री को यह आज्ञा दी (आदिशत्) कि 'पृथ्वी पर निर्ग्रन्थ मुनि हमारे अधीन नहीं हैं।' उनके पाणिपात्र में सबसे पहले जो ग्रास रखा जाये उसे तुम कर के तौर पर ग्रहण करो। इस नरक की कारणभूत आज्ञा को सुनकर मूढ़बुद्धि मंत्री ने वैसा ही किया (अकरोत्)। इस उपद्रव के कारण मुनिजन राजा से व्याकुल हुए (आसन्)। उस उपसर्ग को जानकर जिनशासन के रक्षक असुरेन्द्र चतुर्मुख को मार डालेंगे (हनिष्यन्ति)। तब वह पापात्मा कल्की मरकर अपने पाप की वहज से समस्त दुःखों की खान पहले नरक में गया (गतः)। उसी समय कल्की का जयध्वज नाम का पुत्र सुरेन्द्र के भय से सुरेन्द्र के किये हुए जिनशासन के माहात्म्य को प्रत्यक्ष देखकर और काललब्धि के द्वारा सम्यक्त्व को पाकर अपनी सेना और बन्धुजनादि सहित सुरेन्द्र की शरण गया (जगाम)॥४७-५७॥''

ऊपर के इस वर्णन को पढ़कर निःसंदेह पाठकों को कौतुक होगा! उन्हें इसमें भूतकाल और भविष्यत्काल की क्रियाओं का बड़ा ही विलक्षण योग देखने में आयेगा। साथ ही, ग्रन्थकर्ता की योग्यता का भी अच्छा परिचय मिल जायेगा। परन्तु यहाँ ग्रन्थकर्ता की योग्यता का परिचय कराना इष्ट नहीं है, इसका विशेष परिचय दूसरे लेख द्वारा कराया जायेगा, यहाँ पर सिर्फ यह देखने की जरूरत है कि इस वर्णन से ग्रन्थ के सम्बन्ध में किस बात का पता चलता है। पता इस बात का चलता है कि यह ग्रन्थ भद्रबाहु श्रुतकेवली का बनाया हुआ न होकर शक संवत् ३९५ अथवा विक्रम सं० ५३० से भी पीछे का बना हुआ है। यही वजह है कि इसमें उक्त समय से पहले की घटनाओं (प्रथमकल्की का होना आदि) का उल्लेख भूतकाल की क्रियाओं द्वारा पाया जाता है। ऊपर का सारा वर्णन भूतकाल की क्रियाओं से भरा हुआ है उसका प्रारंभ भी भूतकाल की क्रिया से हुआ है और अंत भी भूतकाल की क्रिया से, सिर्फ मध्य में तीन जगह भविष्यत्काल की क्रियाओं का प्रयोग है जो बिल्कुल असम्बद्ध मालूम होता है। इस असम्बद्धता का विशेष अनुभव प्राप्त करने के लिए मूल श्लोकों को देखना चाहिए जो इस प्रकार हैं-

त्यक्त्वा संवत्सरान्पंचाधिकषट्संमितान्।
पंचमासयुतान्मुक्तिं वर्द्धमाने गते सति॥४७॥
शकराजोऽभवत् ख्यातः तेन शाकः प्रवर्त्स्यति।
चतुर्वर्षशतैः सप्तत्यधिकैर्विक्रमो नृपः।
उज्जयिन्यां प्रभुः स्वस्य वत्सरं वर्तयिष्यति॥४८॥
उपसर्गं विदित्वा तं मुनीनामसुराधिपः।
चतुर्मुखं हनिष्यन्ति जिनशासनरक्षकः॥५४॥

इनमें से दूसरा श्लोक (नं० ४८) वास्तव में डेढ़ श्लोक है। उसके पूर्वार्द्ध का सम्बन्ध पहले श्लोक (नं० ४७) से मिलता है, परन्तु शेष दोनों अर्ध भागों का कोई सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता। 'त्यक्त्वा' शब्द के साथ 'चतुर्वर्षशतैः सप्तत्यधिकैः' इन पदों का कुछ भी मेल नहीं है। इसी प्रकार 'अभवत्' के साथ 'प्रवर्त्स्यति' क्रिया का भी कोई मेल नहीं है। प्रवर्तते क्रिया का सम्बन्ध ठीक बैठ सकता है। तीसरे श्लोक (नं० ५४) में 'हनिष्यन्ति' यह क्रिया बहुवचनात्मक है और इसका कर्ता 'असुराधिपः' एकवचनात्मक दिया है। इससे क्रिया का यह प्रयोग गलत है। यदि इस क्रिया को एक वचन की क्रिया 'हनिष्यति' समझ लिया जाये, तो भी काम नहीं चलता उससे छंदोभंग होता है। इसलिए यह क्रिया किसी तरह भी ठीक नहीं बैठती। इसके स्थान में परोक्षभूत की क्रिया को लिये हुए 'जघानेति' पद का प्रयोग बहुत ठीक हो सकता है और उससे आगे-पीछे का सारा सम्बन्ध मिल जाता है। परन्तु यहाँ ऐसा नहीं है। अस्तु। इन्हीं सब बातों से यह कथन एक विलक्षण कथन हो गया है। अन्यथा, ग्रन्थ में, इसके आगे 'जलमंथन' नाम के कल्की का-जिसका अवतार अभी तक भी नहीं हुआ-पाँचवें काल के अंत में होना कहा जाता है, जो वर्णन दिया है उसमें इस प्रकार की विलक्षणता नहीं है। उसका सारा वर्णन भविष्यत्काल की क्रियाओं को लिये हुए है। तब यह प्रश्न सहज ही उठ सकता है कि इसी वर्णन के साथ यह विलक्षणता क्यों है? इसका कोई कारण जरूर होना चाहिए। मेरे ख्याल में कारण यह है कि यह सारा प्रकरण ही नहीं बल्कि संभवतः सारा अध्याय किसी ऐसे पुराणादिक ग्रन्थ से उठाकर यहाँ रखा गया है जो विक्रम संवत् ५३० से बहुत पीछे का बना हुआ था। ग्रन्थकर्ता ने ऊपर के वर्णन का भद्रबाहु के साथ सम्बन्ध मिलाने और उसे भद्रबाहु की भविष्यद्वाणी प्रकट करने के लिए उसमें भविष्यत्काल की क्रियाओं का परिवर्तन किया है। परन्तु मालूम होता है कि वह सब क्रियाओं को यथेष्ट रीति से बदल नहीं सका। इसी से इस वर्णन में इस प्रकार की विलक्षणता और असम्बद्धता का प्रादुर्भाव हुआ है। मेरा यह उपर्युक्त ख्याल और भी दृढ़ता को प्राप्त होता है जबकि इस अध्याय के अंत में यह श्लोक देखने को मिलता है-

इत्येतत्कालचक्रं च केवलं भ्रमणान्वितं।
षड्भेदं संपरिज्ञाय शिवं साधयतं नृप॥१२४॥

इस श्लोक में लिखा है कि हे राजन्! इस प्रकार से केवल भ्रमण को लिये हुए इस छह भेदों वाले कालचक्र को भले प्रकार जानकर तुम अपना कल्याण साधन करो। यहाँ पर पाठकों को यह बतला देना जरूरी है कि इस ग्रन्थ में इससे पहले किसी राजा का कोई सम्बन्ध नहीं है और न किसी राजा के प्रश्न पर इस ग्रन्थ की रचना की गई है, जिसको संबोधन करके यहाँ पर यह वाक्य कहा जाता। इसलिए यह वाक्य यहाँ पर बिल्कुल असम्बद्ध है और इस बात को सूचित करता है कि यह प्रकरण किसी ऐसे पुराणादिक ग्रन्थ से उठाकर रखा गया है जो वि०सं० ५३० के बाद का बना हुआ है और जिसमें किसी राजा को लक्ष्य करके अथवा उसके प्रश्न पर इस सारे कथन की रचना की गई है और इसलिए यह उस ग्रन्थ से भी बाद का बना हुआ है।

५. एक स्थान पर, दूसरे खण्ड में, निमित्ताध्याय का वर्णन करते हुए, ग्रन्थकर्ता ने यह प्रतिज्ञा वाक्य दिया है–

पूर्वाचार्यैर्यथा प्रोक्तं दुर्गाद्येलादिभिर्यथा।
गृहीत्वा तदभिप्रायं तथा रिष्टं वदाम्यहम्॥३०-१०॥

अर्थात्– 'दुर्गादि और एलादिक नाम के पूर्वाचार्यों ने रिष्ट सम्बन्ध में जैसा कुछ वर्णन किया है उसके अभिप्राय को लेकर मैं वैसे ही यह रिष्ट का कथन करता हूँ'। इस प्रतिज्ञावाक्य से स्पष्ट है कि ग्रन्थकर्ता ने दुर्गादिक और एलादिक नाम के आचार्यों को 'पूर्वाचार्य' माना है। वे ग्रन्थकर्ता से पहले हो गये हैं और उन्होंने रिष्ट या अरिष्ट के सम्बन्ध में कोई ग्रन्थ लिखे हैं जिनके आधार से ग्रन्थकर्ता ने यहाँ कथन की प्रतिज्ञा की है। ऐसी हालत में उक्त आचार्यों और उनके ग्रन्थ की खोज लगाने की जरूरत पैदा हुई। खोज लगाने से मालूम हुआ कि भद्रबाहु श्रुतकेवली से पहले इस नाम के कोई भी उल्लेख योग्य आचार्य नहीं हुए। एक एलाचार्य भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य का दूसरा नाम है। दूसरे एलाचार्य चित्रकूटपुरनिवासी कहे जाते हैं जिनसे वीरसेनाचार्य ने सिद्धान्तशास्त्र पढ़ा था और जिनका उल्लेख इन्द्रनन्दि ने अपने 'श्रुतावतार' ग्रन्थ में किया है। तीसरे एलाचार्य भट्टारक हैं, जिनका नाम 'दिग० जैन ग्रन्थकर्ता और उनके ग्रन्थ' नाम की सूची में दर्ज है, और जिनके नाम के साथ उनके बनाये हुए ग्रन्थो में सिर्फ 'ज्वालामालिनी कल्प' नाम के किसी ग्रन्थ का उल्लेख है। ये तीनों एलाचार्य भद्रबाहु श्रुतकेवली से उत्तरोत्तर कई-कई शताब्दी बाद हुए माने जाते हैं। इनमें से किसी भी आचार्य का बनाया हुआ रिष्ट विषय का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ। 'दुर्ग' नाम के आचार्य की खोज लगाते हुए 'जैन ग्रन्थावली' से मालूम हुआ कि 'दुर्गदेव' नाम के किसी जैनाचार्य ने 'रिष्टसमुच्चय' नाम का कोई ग्रन्थ बनाया है और वह ग्रन्थ जैनियों के किसी भी प्रसिद्ध भण्डार में न होकर 'दक्कनकॉलेज पूना' की लायब्रेरी में मौजूद है। चूँकि यह ग्रन्थ उसी विषय से सम्बन्ध रखता था, जिसके कथन की प्रतिज्ञा का ऊपर उल्लेख है, इसलिए इसको मँगाने की कोशिश की गई। अंत को, श्रीयुत पं० नाथूराम जी प्रेमी ने अपने मित्र श्रीयुत मोहनलाल दलीचंद जी देसाई, वकील बम्बई हाईकोर्ट की मार्फत पूना की लायब्रेरी से उक्त ग्रन्थ को मँगाकर उसे मेरे पास भेज देने की कृपा की। देखने से मालूम हुआ कि ग्रन्थ प्राकृत भाषा में है, उसमें २६० (२५८+२) गाथायें हैं और उसकी वह प्रति एक पुरानी और जीर्ण-शीर्ण है। बड़ी सावधानी से संहिता के साथ उसका मिलान किया गया और मिलान से निश्चय हुआ कि, ऊपर के प्रतिज्ञावाक्य में जिन 'दुर्ग' नाम के आचार्य का उल्लेख है वे निःसंदेह ये ही 'दुर्गदेव' हैं और इनके इसी 'रिष्टसमुच्चयं' शास्त्र के आधार पर संहिता के इस प्रकरण की प्रधानता से रचना हुई है। वास्तव में इस शास्त्र की १०० से भी अधिक गाथाओं का आशय और अनुवाद इस संहिता में पाया जाता है। अनुवाद में बहुधा मूल के शब्दों का अनुकरण है और इसलिए अनेक स्थानों पर, जहाँ छंद भी एक है, वह मूल का छायामात्र हो गया है। नमूने के तौर पर यहाँ दोनों ग्रन्थों से कुछ पद्य उद्धृत किये जाते हैं जिससे इस विषय का पाठकों को अच्छा अनुभव हो जाये–

१. **करणचरणेसु अ तोयं, दिन्नं परिसुसइ जस्स निब्भंतं।**
सो जीवइ दियह तयं, इह कहिअं पुव्वसूरीहिं॥३१॥ (रिष्टस.)
पाणिपादोपरि क्षिप्तं तोयं शीघ्रं विशुष्यति।
दिनत्रयं च तस्यायुः कथितं पूर्वसूरिभिः॥१८॥ (भद्र. संहिता)

२. **बीआए ससिबिंबं, नियइ तिसिंगं च सिंगपरिहीणं।**
उवरम्मि धूमछायं, अह खंडं सो न जीवेइ॥६५॥ (रि. सं०)
द्वितीयायाः शशिबिंबं, पश्येत्त्रिशृंगं च शृंगपरिहीनं।
उपरि सधूमच्छायं, खंडं वा तस्य गतमायुः॥४३॥ (संहिता)

३. **अहव मयंकविहीणं, मलिणं चंदं च पुरिससारित्थं।**
सो जीयइ मासमेगं, इय दिट्ठं पुव्वसूरीहिं॥६६॥ (रि. सं०)
अथवा मृगांकहीनं, मलिनं चंद्रं च पुरुषसादृश्यं।
प्राणी पश्यति नूनं, मासादूर्ध्वं भवान्तरं याति॥४४॥ (संहिता)

४. **इय मंतियसव्वंगो, मंती जोएउ तत्थ वर छायं।**
सुहदियहे पुव्वण्हे, जलहरपवणेण परिहीणे॥७१॥ (रि.)
इति मंत्रितसर्वांगो, मंत्री पश्यंन्नरस्य वरछायां।
शुभदिवसे पूर्वाण्हे, जलधरपवनेन परिहीनं॥४९॥ (संहिता)

दुर्ग देव का यह 'रिष्ट समुच्चय' शास्त्र विक्रम संवत् १०८९ का बना हुआ है जैसा कि इसकी प्रशस्ति में दिये हुए निम्न पद्य से प्रकट है–

संवत्थर इगसहसे बीलोणे नवयसीइ संजुत्ते।
सावणसुक्के यारसि दियहम्मि मूलरिक्खम्मि॥२५७॥

दुर्ग देव का समय मालूम हो जाने से, ग्रन्थ मुख से ही, यह विषय बिल्कुल साफ हो जाता है और इसमें कोई संदेह बाकी नहीं रहता कि यह भद्रबाहुसंहिता ग्रन्थ भद्रबाहु श्रुतकेवली का बनाया हुआ नहीं है, न उनके किसी शिष्य प्रशिष्य का बनाया हुआ है और न वि०सं० १०८९ से पहले ही का बना हुआ है। बल्कि उक्त संवत् से बाद का विक्रम की ११ वीं शताब्दी से पीछे का बना हुआ है और किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा बनाया गया है जो विशेष बुद्धिमान न होकर साधारण मोटी अकल का आदमी था। यही वजह है कि उसे ग्रन्थ में उक्त प्रतिज्ञा वाक्य को रखते हुए यह ख्याल नहीं आया कि मैं इस ग्रन्थ को भद्रबाहु श्रुतकेवली के नाम से बना रहा हूँ– उसमें १२ सौ वर्ष पीछे होने वाले विद्वान् का नाम और उसके ग्रन्थ का प्रमाण न आना चाहिए। मालूम होता है कि ग्रन्थकर्ता ने जिस प्रकार अन्य अनेक प्रकरणों को दूसरे ग्रन्थों से उठाकर रखा है उसी प्रकार यह रिष्ट कथन या कालज्ञान का प्रकरण भी उसने किसी दूसरे ग्रन्थ से उठाकर रखा है और उसे इसके उक्त प्रतिज्ञा वाक्य को बदलने

या निकाल देने का स्मरण नहीं रहा। सच है 'झूठ छिपाये से नहीं छिपता'। फारसी की यह कहावत यहाँ बिल्कुल सत्य मालूम होती है कि ''दरोग़ गोरा हाफ़जा न वाशद'' अर्थात् असत्यवक्ता में धारण और स्मरण शक्ति की त्रुटि होती है। वह प्रायः पूर्वापर का यथेष्ट सम्बन्ध सोचे बिना मुँह से जो आता है निकाल देता है। उसे अपना असत्य छिपाने के लिए आगे पीछे के कथन का ठीक सम्बन्ध उपस्थित नहीं रहता। इस बात का पूरा ख्याल नहीं रहता कि मैंने अभी क्या कहा था और अब क्या कह रहा हूँ। मेरा यह कथन पहले कथन के अनुकूल है या प्रतिकूल, इसलिए वह पकड़ में आ जाता है और उसका सारा झूठ खुल जाता है। ठीक यही हालत कूटलेखकों और जाली ग्रन्थ बनाने वालों की होती है। वे भी असत्यवक्ता हैं। उन्हें भी इस प्रकार की बातों का पूरा ध्यान नहीं रहता और इसलिए एक न एक दिन उन्हीं की कृति से उनका वह सब कूट और जाल पकड़ा जाता है और सर्व साधारण पर खुल जाता है। यही सब यहाँ पर भी हुआ है। इसमें पाठकों को कुछ आश्चर्य करने की जरूरत नहीं है। आश्चर्य उन विद्वानों की बुद्धि पर होना चाहिए जो ऐसे ग्रन्थ को भी भद्रबाहु श्रुतकेवली का बनाया हुआ मान बैठे हैं। अस्तु। अब इस लेख में आगे यह दिखलाया जायेगा कि यह ग्रन्थ विक्रम की ११वीं शताब्दी से कितने पीछे का बना हुआ है।

६. वसुनन्दि आचार्य का बनाया हुआ 'प्रतिष्ठासारसंग्रह' नाम का एक प्रसिद्ध प्रतिष्ठापाठ है। इस प्रतिष्ठापाठ के दूसरे परिच्छेद में ६२ श्लोक हैं, जिनमें 'लग्नशुद्धि' का वर्णन है और तीसरे परिच्छेद में ८८ श्लोक हैं, जिनमें 'वास्तुशास्त्र' का निरूपण है। दूसरे परिच्छेद के श्लोकों में से लगभग ५० श्लोक और तीसरे परिच्छेद के श्लोकों में से लगभग ६० श्लोक इस ग्रन्थ के दूसरे खण्ड में क्रमशः 'मुहूर्त' और 'वास्तु' नाम के अध्यायों में उठाकर रखे गये हैं। उनमें से दो श्लोक नमूने के तौर पर इस प्रकार हैं–

पुनर्वसूत्तरापुष्यहस्तश्रवणरेवती-।
रोहिण्यश्विमृगर्क्षेषु प्रतिष्ठां कारयेत्सदा॥२७-११॥
जन्मनिष्क्रमणस्थानज्ञाननिर्वाणभूमिषु।
अन्येषु पुण्यदेशेषु नदीकूलनगेषु च॥३५-४॥

इनमें से पहला श्लोक उक्त प्रतिष्ठापाठ के दूसरे परिच्छेद में नं० ५ पर और दूसरा श्लोक तीसरे परिच्छेद में नं० ३ पर दर्ज है। इससे प्रकट है कि यह ग्रन्थ 'प्रतिष्ठासारसंग्रह' से पीछे का बना हुआ है। इस प्रतिष्ठापाठ के कर्ता वसुनन्दि का समय विक्रम की १२वीं-१३वीं शताब्दी पाया जाता है। इसलिए यह ग्रन्थ, जिसमें वसुनन्दि के वचनों का उल्लेख है, वसुनन्दि से पहले का न होकर विक्रम की १२वीं शताब्दी के बाद का बना हुआ है।

७. पंडित आशाधर और उनके बनाये हुए 'सागारधर्मामृत' से पाठक जरूर परिचित होंगे। सागारधर्मामृत अपने टाइप का एक अलग ही ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के बहुत से पद्य संहिता के पहले खण्ड में पाये जाते हैं, जिनमें से दो पद्य इस प्रकार है–

धर्मं यशः शर्म च सेवमानाः
केप्येकशः जन्म विदुः कृतार्थम्।
अन्ये द्विशो विद्म वयं त्वमोघा-
न्यहानि यान्ति त्रयसेवयैव॥३-३६३॥
निर्व्याजया मनोवृत्या सानुवृत्या गुरोर्मनः॥
प्रविश्य राजवच्छश्वद्विनयेनानुरंजयेत्॥१०-७२॥

इनमें से पहला पद्य सागारधर्मामृत के पहले अध्याय का १४ वाँ और दूसरा पद्य दूसरे अध्याय का ४६वाँ पद्य है। इससे साफ जाहिर है कि यह संहिता सागारधर्मामृत के बाद की बनी हुई है। सागारधर्मामृत को पं० आशाधर जी ने टीका सहित बनाकर विक्रम संवत् १२९६ में समाप्त किया है। इसलिए यह संहिता भी उक्त संवत् के बाद की विक्रम की १३ वीं शताब्दी से पीछे की बनी हुई है।

८. इस ग्रन्थ के तीसरे खण्ड में, 'फल' नामक नौवें अध्याय का वर्णन करते हुए सबसे पहले जो श्लोक दिया है, वह इस प्रकार है–

प्रणम्य वर्धमानं च जगदानंददायकम्।
प्रणिधाय मनो राजन् सर्वेषां शृणु तत्फलम्॥१॥

यह श्लोक बड़ा ही विलक्षण है। इसमें लिखा है कि–'जगत् को आनंद देने वाले वर्धमान स्वामी को नमस्कार करके (क्या कहता हूँ, ऐसी प्रतिज्ञा, आगे कुछ नहीं) हे राजन्! तुम उन सबका फल चित्त लगाकर सुनो।' परन्तु इससे यह मालूम न हुआ कि राजा कौन, जिसको संबोधन करके कहा गया और वे सब कौन, जिनका फल सुनाया जाता है। ग्रन्थ में इससे पहले कोई भी ऐसा प्रकरण या प्रसंग नहीं है जिसका इस श्लोक के 'राजन्' और 'तत्' शब्दों से सम्बन्ध हो सके। इसलिए यह श्लोक यहाँ पर बिल्कुल भद्दा और निरा असम्बद्ध मालूम होता है। इसके आगे ग्रन्थ में, श्लोक नं०१८ तक उन १६ स्वप्नों के फल का वर्णन है जिनका सम्बन्ध राजा चंद्रगुप्त से कहा जाता है और जिनका उल्लेख रत्ननन्दि ने अपने भद्रबाहु चरित्र में किया है। स्वप्नों का यह सब फल वर्णन प्रायः उन्हीं शब्दों में दिया है जिनमें कि वह उक्त भद्रबाहुचरित्र के दूसरे परिच्छेद में श्लोक नं० ३२ से ४८ तक पाया जाता है। सिर्फ किसी-किसी श्लोक में दो एक शब्दों का अनावश्यक परिवर्तन किया गया है। जैसा कि नीचे लिखे दो नमूनों से प्रकट है–

१. **रवेरस्तमनालोकात्कालेऽत्र पंचमेऽशुभे।**
एकादशांगपूर्वादिश्रुतं हीनत्वमेष्यति॥३२॥ –भद्रबाहुचरित्र।

भद्रबाहु संहिता के उक्त 'फल' नाम के अध्याय में यही श्लोक नं० ३ पर दिया है। सिर्फ 'रवेरस्तमनालोकात्' के स्थान में 'स्वप्ने सूर्यास्तावलोकात्' बदला हुआ है।

२. **तुंगमातंगमासीनशाखामृगनिरीक्षणात्।**
राज्यं हीना विधास्यन्ति कुकुला न च बाहुजाः॥४३॥

भद्रबाहुसंहिता के उक्त अध्याय में यह भद्रबाहु चरित्र का श्लोक नं० १३ पर दिया है। सिर्फ 'बाहुजाः' के स्थान में उसका पर्यायवाचक पद 'क्षत्रियः' बनाया गया है। भद्रबाहु चरित्र में, इस फलवर्णन से पहले, राजा चंद्रगुप्त और उसके स्वप्नादिकों का सब सम्बन्ध देकर उसके बाद नीचे लिखा वाक्य दिया है, जिससे वहाँ पर 'राजन्' और 'तत्' शब्दों का सम्बन्ध ठीक बैठता है और उस वाक्य में भी कोई असम्बद्धता मालूम नहीं होती–

प्रणिधाय मनो राजन् समाकर्णय तत्फलम्॥३१॥

यह वही वाक्य है जो जरा से गैर जरूरी परिवर्तन के साथ ऊपर उद्धृत किये हुए श्लोक नं० १ का उत्तरार्द्ध बनाया गया है। इन सब बातों से जाहिर है कि यह सब प्रकरण रत्ननन्दि के भद्रबाहु चरित्र से उठाकर यहाँ रखा गया है और इसलिए यह ग्रन्थ उक्त भद्रबाहु चरित्र से पीछे का बना हुआ है। रत्ननन्दि का भद्रबाहु चरित्र विक्रम की १६ वीं शताब्दी के अंत का या १७ वीं शताब्दी के शुरू का बना हुआ माना जाता है। परन्तु इसमें तो किसी को भी कोई संदेह नहीं है कि वह वि०सं० १५२७ के बाद बना हुआ जरूर है। क्योंकि उसके चौथे अधिकार में इस संवत् का लुंकामत (ढूँढियामत) की उत्पत्तिकथन के साथ उल्लेख किया है।[७] ऐसी हालत में यह ग्रन्थ वि०सं० १५२७ से पीछे का बना हुआ है, इसमें कुछ संदेह नहीं हो सकता।

९. हिन्दुओं के ज्योतिष ग्रन्थो में 'ताजिक नीलकंठी' नाम का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह अनन्तदैवज्ञ के पुत्र 'नीलकंठ' नाम के प्रसिद्ध विद्वान् का बनाया हुआ है। इसके बहुत से पद्य, संहिता के दूसरे खण्ड में 'विरोध' नाम के ४३ वें अध्याय में कुछ परिवर्तन के साथ पाये जाते है। यहाँ पर उनमें से कुछ पद्य, उदाहरण के तौर पर, उन पद्यों के साथ प्रकाशित किये जाते हैं जिन पर से वे कुछ परिवर्तन करके बनाये गये मालूम होते हैं–

१. **क्रूरमूशरिफोऽब्देशो जन्मेशः क्रूरितः शुभैः।**
कंबूलेपि विपन्मृत्युरित्थमन्याधिकारतः॥२-३-४॥ ताजिक नीलकंठी।
अब्देशः क्रूरमूशरिफः शुभेर्जन्मेशः क्रूरितः।
कंबूलेपि विपन्मृत्युरित्थं वर्षेशमुन्थहे॥४८॥ भ. संहिता।

२. **अस्तगौ मुथहालग्ननाथौ मंदेक्षितौ यदा।**
सर्वनाशोमृतिः कष्ठमाधिव्याघिभयं भवेत्॥-५॥ ता. नी.
यदा मंदेक्षितौ मुथहा-लग्ननाथवधो गतौ।
सर्वनाशो मृतिः कष्टमाधिव्याधिरुजां भयं॥४७॥ भ. सं०

---

७. यथा– मृते विक्रमभूपाले सप्तविंशतिसंयुते, दशपंचशतेऽब्दानामतीते शृणुता परम् ॥१५७॥
लुंकामतमभूदेकं लोपकं धर्मकर्मणः। देशेऽत्रगौजरे ख्याते विद्वत्ताजितनिर्जरे॥१५८॥

गुरुः केन्द्रे त्रिकोणे वा पापादृष्टः शुभेक्षितः।
लग्नचन्द्रेन्थिहारिष्टं विनश्यार्थसुखं दिशेत्॥४-२॥ ता. नी.
पापादृष्टो गुरुः केन्द्रे त्रिकोणे वा शुभेक्षितः।
लग्नसोमेन्थिहारिष्टं विनश्यार्थसुखं दिशेत्॥५६॥ भ. सं०

ऊपर के पद्यों से पाठकों को दो बातें मालूम होंगी। एक यह कि नीलकंठी के पद्यों से संहिता के पद्यों में जो भेद है वह प्रायः नीलकंठी के शब्दों को आगे पीछे कर देने या किसी शब्द के स्थान में उसका पर्यायवाचक शब्द रख देने मात्र से उत्पन्न किया गया है और इससे परिवर्तन का अच्छा अनुभव हो जाता है। इस परिवर्तन के द्वारा दूसरे पद्य के पहले चरण में एक अक्षर बढ़ गया है–८ के स्थान में ९ अक्षर हो गये हैं और चौथे चरण में 'व्याधि' के होते हुए 'रुज्' शब्द व्यर्थ पड़ा है। दूसरी बात यह है कि इन पद्यों में मूशरिफ (मुशरिफ़), कंबूल (क़बूल), मुथहामुन्थहा (मुन्तिही), इन्थिहा (इन्तिहा) ये शब्द जो पाये जाते हैं वे संस्कृत भाषा के शब्द नहीं हैं। अरबी-फारसी भाषा के परिवर्तित रूप हैं। ताजिकग्रन्थों की उत्पत्ति यवन ज्योतिष पर से हुई है, जिसको बहुत अधिक समय नहीं बीता, इसलिए इन शब्दों को यवन ज्योतिष में प्रयुक्त संज्ञाओं के अपभ्रंशरूप समझना चाहिए। दूसरे पद्यों में 'इत्थिसाल' (इत्तिसाल) आदि और भी इस प्रकार के अनेक शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। अस्तु। इन सब बातों से मालूम होता है कि संहिता में यह सब प्रकरण या तो नीलकंठी से परिवर्तित करके रखा गया है अथवा किसी ऐसे ग्रन्थ से उठाकर रखा गया है जो नीलकंठी पर से बना है और इसलिए यह संहिता 'ताजिक नीलकंठी' से पीछे बनी हुई है, इसमें कोई संदेह नहीं रहता। नील-कंठ का समय विक्रम की १७वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। उनके पुत्र गोविन्द दैवज्ञ ने, अपनी ३४ वर्ष की अवस्था में, 'मुहूर्तचिन्तामणि' पर 'पीयूषधारा' नाम की एक विस्तृत टीका लिखी है और उसे शक सं० १५२५ अर्थात् वि०सं० १६६० में बनाकर समाप्त किया है। इस समय से लगभग २० वर्ष पहले का समय ताजिक नीलकंठी के बनने का अनुमान किया जाता है और इसलिए कहना पड़ता है कि यह संहिता विक्रम संवत् १६४० के बाद की बनी हुई है।

१०. इस ग्रन्थ के दूसरे खण्ड में, २७ वें अध्याय का प्रारंभ करते हुए सबसे पहले यह वाक्य दिया है–

तत्रादौ च मुहूर्तानां संग्रहः क्रियते मया॥

यद्यपि इस वाक्य में आये हुए 'तत्रादौ'[८] शब्दों का ग्रन्थभर में पहले के किसी भी कथन से कोई सम्बन्ध नहीं है और इसलिए वे कथन की असम्बद्धता को प्रकट करते हुए इस बात को सूचित करते हैं कि यह वाक्य किसी दूसरे ग्रन्थ से उठाकर रखा गया है, जहाँ उसे उक्त ग्रन्थ के कर्ता ने अपने प्रकरणानुसार दिया होगा। परन्तु इसे छोड़कर इस वाक्य में मुहूर्तों का संग्रह करने की प्रतिज्ञा की गई है। लिखा है कि मेरे द्वारा मुहूर्तों का संग्रह किया जाता है, अर्थात् मैं इस अध्याय में मुहूर्तों का संग्रह

८. इसका अर्थ होता है–वहाँ, आदि में, उसके आदि में, अथवा उनमें सबसे पहले।

करता हूँ। यह वाक्य श्रुतकेवली का बतलाया जाता है। ऐसी हालत में पाठक सोचें और समझें कि यह कैसा अनोखा और असंमजस मालूम होता है। श्रुतकेवली और मुहूर्तों का संग्रह करें? जो स्वयं द्वाद्वशांग के पाठी और पूर्ण ज्ञानी हों जिनका प्रत्येक वाक्य संग्रह किये जाने के योग्य हो वे खुद ही इधर-उधर से मुहूर्तों के कथन को इकट्ठा करते फिरें, यह कभी नहीं हो सकता। वास्तव में यह सारा ही ग्रन्थ भद्रबाहु श्रुतकेवली का बनाया हुआ न होकर इधर-उधर के प्रकरणों का एक बेढंगा संग्रह है जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है और अगले लेखों में, असम्बद्ध विरुद्धादि कथनों का उल्लेख करते हुए और भी अच्छी तरह से दिखलाया जायेगा। इसलिए इस ग्रन्थ में उक्त प्रतिज्ञा के अनुसार मुहूर्तों का भी अनेक ग्रन्थों पर से संग्रह किया गया है। अर्थात् दूसरे ग्रन्थों के वाक्यों को उठा उठाकर रखा है। उन ग्रन्थों में 'मुहूर्तचिन्तामणि' नाम का भी एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसे नीलकंठ के छोटे भाई रामदैवज्ञ ने शक् संवत् १५२२ (वि०सं० १६५७) में निर्माण किया है।[१] इस ग्रन्थ से भी अनेक पद्य उठाकर उक्त अध्याय में रखे गये हैं, जिनमें से एक पद्य, उदाहरण के तौर पर, यहाँ उद्धृत किया जाता है-

क्षिप्रध्रुवाहिचरमूलमृदुत्रिपूर्वा ,
रौद्रेऽर्कविद्गुरुसितेन्दुदिने व्रतं सत्।
द्वित्रीषुरुद्ररविदिक् प्रमिते तिथौ च,
कृष्णादिमत्रिलवकेपि न चापराह्ने॥१४२॥

यह पद्य मुहूर्तचिन्तामणि के पाँचवें संस्कार प्रकरण का ४०वाँ पद्य है। इससे साफ़ जाहिर है कि यह संहिता ग्रन्थ मुहूर्तचिन्तामणि से बाद का अर्थात् वि०सं० १६५७ से पीछे का बना हुआ है।

यहाँ तक के इस सम्पूर्ण कथन से यह तो सिद्ध हो गया कि, यह खण्डत्रयात्मक ग्रन्थ (भद्रबाहुसंहिता) भद्रबाहु श्रुतकेवली का बनाया हुआ नहीं है, न उनके किसी शिष्य प्रशिष्य का बनाया हुआ है और न वि०सं० १६५७ से पहले ही का बना हुआ है, बल्कि उक्त संवत् से पीछे का बना हुआ है। परन्तु कितने पीछे का बना हुआ है और किसने बनाया है, इतना सवाल अभी और बाकी रह गया है।

भद्रबाहुसंहिता की वह प्रति जो झालरापाटन के भण्डार से निकली है और जिसका ग्रन्थ प्राप्ति के इतिहास में ऊपर उल्लेख किया गया है वि०सं० १६६५ की लिखी हुई है। इससे स्पष्ट है कि, यह ग्रन्थ वि०सं० १६६५ से पहले बन चुका था और वि०सं० १६५७ से पीछे का बनना उसका ऊपर सिद्ध किया जा चुका है। इसलिए यह ग्रन्थ इन दोनों संवतों (१६५७-१६६५) के मध्यवर्ती किसी समय में सात आठ वर्ष के भीतर बना है, इसे कहने में कोई संकोच नहीं होता। यही इस ग्रन्थ के अवतार का समय है। अब रही यह बात कि, ग्रन्थ किसने बनाया, इसके लिए झालरापाटन की उक्त प्रति के अंत

१. यथा-तदात्मज उदारधीर्विबुधनीलकंठानुजो, गणेशपदपंकजं हृदि निधाय रामाभिधः।
गिरीशनगरे वरे भुजभुजेषु चंद्रैर्मिते (१५२२), शके विनिरमादिमं मुहूर्तचिन्तामणिम्॥१४-३॥

में दी हुई लेखक की इस प्रशस्ति को गौर से पढ़ने की जरूरत है–

"संवत्सर १६६५ का मृगसिर सुदि १० लिपीकृतं ज्ञानभूषणेन गोपाचलपुस्तकभण्डार धर्मभूषणजी की सु लिपी। या पुस्तक दे जीनैं जिनधर्म का शपथ हजार छै। मुनिपरंपरा सूं विमुख छे। तीसूं न देणी। सूरि भी नहीं देवै। एक वार धर्मभूषण स्वामी दो चार स्थल मांगे दिये सो फेरि पुस्तक नहीं आई। तदि वामदेवजी फेर शुद्धकरि लिपी तयार करी। तीसूं नहीं देणी।"

ऊपर की इस प्रशस्ति से, जो कि ग्रन्थ बनने के अधिक समय बाद की नहीं है, साफ ध्वनित होता है कि यह ग्रन्थ गोपाचल (ग्वालियर) के भट्टारक धर्मभूषणजी की कृपा का एक मात्र फल है। वही उस समय इस ग्रन्थ के सर्व सत्वाधिकारी थे। उन्होंने वामदेव सरीखे अपने किसी कृपापात्र या आत्मीयजन के द्वारा इसे तैयार कराया है, अथवा उसकी सहायता से स्वयं तैयार किया है। तैयार हो जाने पर जब इस ग्रन्थ के दो चार अध्याय किसी को पढ़ने के लिए दिये गये और वे किसी कारण से वापस नहीं मिल सके तब वामदेवजी को फिर से दुबारा उनके लिए परिश्रम करना पड़ा। जिसके लिए प्रशस्ति का यह वाक्य "तदि वामदेवजी फेर शुद्ध करि लिपी तैयार करी" खासतौर से ध्यान दिये जाने के योग्य है और इस बात को सूचित करता है कि उक्त अध्यायों को पहले भी वामदेव ने ही तैयार किया था। मालूम होता है कि लेखक ज्ञानभूषणजी धर्मभूषण भट्टारक के परिचित व्यक्तियों में थे और आश्चर्य नहीं कि वे उनके शिष्यों में भी हो। उनके द्वारा खास तौर से यह प्रति लिखाई गई है। उन्होंने प्रशस्ति में अपने स्वामी धर्मभूषण की ग्रन्थ न देने सम्बन्धी आज्ञा का जो संभवतः उक्त अध्यायों के वापस न आने पर दी गई होगी उल्लेख करते हुए भोलेपन से उसके कारण का भी उल्लेख कर दिया है, जिसकी वजह से ग्रन्थकर्ता के विषय में उपर्युक्त विचारों को स्थिर करने का अवसर मिला है और इसीलिए पाठकों को उनके इस भोलेपन का आभास होना चाहिए। ता० २९-९-१९६१।

(२)

इस ग्रन्थ के साहित्य की जाँच से मालूम होता है कि जिस किसी व्यक्ति ने इस ग्रन्थ की रचना की है वह निःसंदेह अपने घर की अकल बहुत कम रखता था और उसे ग्रन्थ का संपादन करना नहीं आता था। साथ ही, जाली ग्रन्थ बनाने के कारण उसका आशय भी शुद्ध नहीं था। यही वजह है कि उससे, ग्रन्थ की स्वतंत्र रचना का होना तो दूर रहा, इधर-उधर से उठाकर रखे हुए प्रकरणों का संकलन भी ठीक तौर से नहीं हो सका और इसलिए उसका यह ग्रन्थ इधर-उधर के प्रकरणों का एक बेढंगा संग्रह बन गया है। आगे इन्हीं सब बातों का दिग्दर्शन कराया जाता है। इससे पाठकों पर ग्रन्थ का जालीपन और भी अधिकता के साथ खुल जायेगा और साथ ही उन्हें इस बात का पूरा अनुभव हो जायेगा कि ग्रन्थकर्ता महाशय कितनी योग्यता रखते थे–

(१) इस ग्रन्थ के तीसरे खण्ड में तीन अध्याय- चौथा, पाँचवाँ और सातवाँ ऐसे हैं जिनका मूल प्राकृत भाषा में है और अर्थ संस्कृत में दिया है। चूँकि इस संहिता पर किसी दूसरे विद्वान् की कोई टीका या टिप्पणी नहीं है इसलिए उक्त अर्थ उसी दृष्टि से देखा जाता है, जिस दृष्टि से कि शेष सम्पूर्ण ग्रन्थ।

अर्थात् वह ग्रन्थकर्ता भद्रबाहु का ही बनाया हुआ समझा जाता है, परन्तु ग्रन्थकर्ता को ऐसा करने की जरूरत क्यों पैदा हुई, यह कुछ समझ में नहीं आता। इसके उत्तर में यदि यह कहा जाये कि प्राकृत होने की वजह से ऐसा किया गया तो यह कोई समुचित उत्तर नहीं हो सकता। क्योंकि प्रथम तो ऐसी हालत में जबकि यह सारा ग्रन्थ संस्कृत में रचा गया है, इन अध्यायों को प्राकृत में रचकर ग्रन्थकर्ता का डबल परिश्रम करना ही व्यर्थ मालूम होता है। दूसरे, बहुत से ऐसे प्राकृत ग्रन्थ भी देखने में आते हैं जिनके साथ उनका संस्कृत अर्थ लगा हुआ नहीं है। और न भद्रबाहु के समय में, जबकि प्राकृत भाषा अधिक प्रचलित थी, प्राकृत ग्रन्थों के साथ उनका संस्कृत अर्थ लगाने की कोई जरूरत नहीं थी। तीसरे, इस खण्ड के तीसरे अध्याय में 'उवसग्गहर[1]' और 'तिजर्यपहुत्त[2]'नाम के दो स्तोत्र प्राकृत भाषा में दिये हैं, जिनके साथ में उनका संस्कृत अर्थ नहीं है। चौथे, पहले खण्ड के पहले अध्याय में कुछ संस्कृत के श्लोक भी ऐसे पाये जाते हैं जिनके साथ संस्कृत में ही उनकी टीका अथवा टिप्पणी लगी हुई है। ऐसी हालत में प्राकृत की वजह से संस्कृत अर्थ का दिया जाना कोई अर्थ नहीं रखता। यदि कठिनता और सुगमता की दृष्टि से ऐसा कहा जाये तो वह भी ठीक नहीं बन सकता। क्योंकि इस दृष्टि से उक्त चारों ही अध्यायों का प्राकृत में कोई विशेष भेद नहीं है। रही संस्कृत श्लोकों की बात, सो वे इतने सुगम हैं कि उन पर टीका टिप्पणी का करना ही व्यर्थ है। नमूने के तौर पर यहाँ दो श्लोक टीका टिप्पणी सहित उद्धृत किये जाते हैं–

[1]पात्रान्संतर्प्य दानेन भक्त्या भुंजेत्स्वयं पुनः।
भोगभूमिकरः स्वर्गप्राप्तेरुत्तमकारणम्॥८०॥

टीका–पात्रानिति बहुवचनं मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका इति चतुर्विध-पात्रप्रीत्यर्थं। एतेष्वन्यतमं पूर्वमाहारादिदानेन संतर्प्य पुनः स्वयं भुजेत्। पात्रदानं च भोगभूमिस्वर्गप्राप्तेरुत्तमकारणं ज्ञेयमित्यर्थः।

[2]कांस्यपात्रे न भोक्ताव्यमन्योन्यवर्णजैः कदा।
शूद्रस्त्वपक्कं पक्वं वा न भुंजेदन्यपंक्तिषु॥८४॥

टिप्पणी–पंक्तिषु इति बहुवचनाद्वर्णत्रपंक्तावेव पक्कमपक्वं वा न भुंजेत् इत्यर्थः।

इससे पाठक समझ सकते हैं कि श्लोक कितने सुगम हैं, और उनकी टीका-टिप्पणी में क्या विशेषता की गई है। साथ ही मुकाबले के लिए इससे पहले लेख में और इस लेख के अगले भाग में उद्धृत किये हुए बहुत से कठिन से कठिन श्लोकों को भी देख सकते हैं जिन पर कोई टीका-टिप्पणी नहीं है। और फिर उससे नतीजा निकाल सकते हैं कि कहाँ तक ऐसे श्लोकों की ऐसी टीका-टिप्पणी करना श्रुतकेवली जैसे विद्वानों का काम हो सकता है। सच तो यह है कि यह सब मूल और टीका-टिप्पणी भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का कार्य मालूम होता है। मूलकर्ताओं से टीकाकार भिन्न जान पड़ते हैं। सबका ढंग और कथन शैली प्रायः अलग है। चौथे और सातवें अध्यायों की टीका में बहुत से स्थानों

१-२ ये दोनों स्तोत्र श्वेताम्बरों के 'प्रतिक्रमणसूत्र' में भी पाये जाते हैं, परन्तु यहाँ पर उक्त प्रतिकमण सूत्र से पहले स्तोत्र में तीन और दूसरे में एक, ऐसी चार गाथायें अधिक हैं।

पर, 'इत्यपि पाठः' ऐसा भी पाठ है यह लिखकर, मूल का दूसरा पाठ भी दिया हुआ है, जो मूल का उल्लेख योग्य पाठ-भेद हो जाने के बाद टीका के बनने को सूचित करता है। यथा-

१. 'वाहिमरणं (व्याधिमरणं)'- 'रायमरणं (राजमरणं) इत्यपि पाठः' ॥४-३०॥

२. 'मेहंतर (मेघान्तर-)'- 'हेमंतर (हेमान्तर-) इत्यपि पाठः' ॥४-३१॥

३. 'अण्णेणवि (अन्येनापि)- 'अण्णोण्णवि (अन्योन्यमपि-परस्परमपि) इत्यपि पाठः'॥७-२१॥

इससे मूलकर्ता और टीकाकार की साफ तौर से विभिन्नता पाई जाती है। साथ ही, इन सब बातों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ग्रन्थकर्ता इन दोनों से भिन्न कोई तीसरा ही व्यक्ति है। उसे संभवतः ये सब प्रकरण इसी रूप में (टीका-टिप्पणी सहित या रहित) कहीं से प्राप्त हुए हैं और उसने उन्हें वहाँ से उठाकर बिना सोचे समझे यहाँ जोड़ दिया है।

(२) हिन्दुओं के यहाँ ज्योतिषियों में 'वराहमिहिर' नाम के एक प्रसिद्ध विद्वान् आचार्य हो गये हैं। उनके बनाये हुए ग्रन्थों में 'बृहत्संहिता' नाम का एक खास ग्रन्थ है, जिसको लोग 'वाराहीसंहिता' भी कहते हैं। इस ग्रन्थ का उल्लेख विक्रम की ११वीं शताब्दी में होने वाले 'सोमदेव' नाम के दिगम्बर जैनाचार्य ने भी अपने 'यशस्तिलक' ग्रन्थ में किया है। साथ ही 'जैनतत्त्वादर्श' आदि श्वेताम्बर ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख पाया जाता है। इस तरह पर दोनों संप्रदायों के विद्वानों द्वारा यह हिन्दुओं का एक ज्योतिष ग्रन्थ माना जाता है। परन्तु पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि इस बृहत्संहिता के अध्याय के अध्याय भद्रबाहुसंहिता में नकल किये गये हैं- ज्यों के त्यों या कहीं-कहीं कुछ भद्दे और अनावश्यक परिवर्तन के साथ उठाकर रखे गये हैं परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी वराहमिहिर या उनके इस ग्रन्थ का कहीं नामोल्लेख तक नहीं किया। प्रत्युत, वराहमिहिर के इन सब वचनों को भद्रबाहु के वचन प्रकट किए गए हैं और इस तरह पर एक अजैन विद्वान् के ज्योतिष कथन को जैन ज्योतिष का ही नहीं बल्कि जैनियों के केवली का कथन बतलाकर सर्व साधारण को धोखा दिया गया है। इस नीचता और धृष्टता के कार्य का पाठक जो चाहे नाम रख सकते हैं और उसके उपलक्ष्य में ग्रन्थकर्ता को चाहे जिस पदवी से विभूषित कर सकते हैं, मुझे इस विषय में कुछ कहने की जरूरत नहीं है। मैं सिर्फ यहाँ पर ग्रन्थकर्ता के इस कृत्य का पूरा परिचय दे देना ही काफी समझता हूँ और वह परिचय इस प्रकार है-

(क) भद्रबाहु संहिता के दूसरे खण्ड में 'करण' नाम का २९ वाँ अध्याय है, जिसमें कुल ९ पद्य हैं। इनमें से शुरू के ६ पद्य बृहत्संहिता के 'तिथि और करण' नाम के ९९वें अध्याय से, जिसमें सिर्फ ८ पद्य हैं और पहले दो पद्य केवल 'तिथि' से सम्बन्ध रखते हैं, ज्यों के त्यों (उसी क्रम से) उठाकर रखे गये हैं। सिर्फ पहले पद्य में कुछ अनावश्यक उलटफेर किया है। बृहत्संहिता का वह पद्य इस प्रकार है-

यत्कार्यं नक्षत्रे तद्दैवत्यासु तिथिषु तत्कार्यं।
करणमुहूर्तेष्वपि तत्सिद्धिकरं देवतासदृशम्॥३॥

भद्रबाहुसंहिता में इसके पूर्वार्द्ध को उत्तरार्द्ध और उत्तरार्द्ध को पूर्वार्द्ध बना दिया है। इससे अर्थ में कोई हेर फेर नहीं हुआ। इन छहों पद्यों के बाद भद्रबाहुसंहिता में सातवाँ पद्य इस प्रकार दिया है–

लाभे तृतीये च शुभैः समेते, पापैर्विहीने शुभराशिलग्ने।
वेध्यौ तु कर्णौ त्रिदशेज्यलग्ने[१०] तिष्येन्दुचित्राहरिरेवतीषु॥

यह पद्य बृहत्संहिता के 'नक्षत्र' नाम के ९८वें अध्याय से उठाकर रखा गया है, जहाँ इसका नंबर १७ है। यहाँ 'करण' के अध्याय से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके बाद के दोनों पद्य (नं० ८-९) भी इस करण विषयक अध्याय से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। वे बृहत्संहिता के अगले अध्याय नं० १०० से उठाकर रखे गये हैं, जिसका नाम है 'विवाह-नक्षत्रलग्ननिर्णय' और जिसमें सिर्फ ये ही दो पद्य हैं। इन पद्यों में से एक पद्य नमूने के तौर पर इस प्रकार है–

रोहिण्युत्तररेवतीमृगशिरोमूलानुराधामघा -
हस्तस्वातिषु षष्ठ तौलिमिथुनेषूद्यत्सु, पाणिग्रहः।
सप्ताष्टान्त्यबहिः शुभैरुडुपतावेकादशाद्वित्रिगे,
क्रूरैस्त्र्यायषडष्टगैर्न तु भृगौ षष्टे कुजे चाष्टमे॥८॥

(ख) बृहत्संहिता में 'वस्त्रच्छेद' नाम का ७१वाँ अध्याय है, जिसमें १४ श्लोक हैं। इनमें से श्लोक नं० १३ को छोड़कर बाकी सब श्लोक भद्रबाहुसंहिता के 'निमित्त' नामक ३०वें अध्याय में नं० १८३ से १९५ तक नकल किये गये हैं। परन्तु इस नकल करने में एक तमाशा किया है, और वह यह है कि अन्तिम श्लोक नं० १४ को तो अन्त में ही उसके स्थान पर (नं० १९५ पर) रखा है। बाकी श्लोकों में से पहले पाँच श्लोकों का एक और उसके बाद के सात श्लोकों का दूसरा ऐसे दो विभाग करके दूसरे विभाग को पहले और पहले विभाग को पीछे नकल किया है। ऐसा करने से श्लोकों के क्रम में कुछ गड़बड़ी हो गई है। अन्तिम श्लोक नं० १९५, जो नूतन वस्त्र धारण का विधान करने वाले दूसरे विभाग के श्लोकों से सम्बन्ध रखता था, पहले विभाग के श्लोकों के अंत में रखे जाने से बहुत खटकने लगा है और असम्बद्ध मालूम होता है। इसके सिवाय अन्तिम श्लोक और पहले विभाग के चौथे श्लोक में कुछ थोड़ा-सा परिवर्तन भी पाया जाता है। उदाहरण के तौर पर यहाँ इस प्रकरण के दो श्लोक उद्धृत किये जाते हैं–

वस्त्रस्य कोणेषु वसन्ति देवा नराश्च पाशान्तदशान्तमध्ये।
शेषास्त्रयश्चात्र निशाचरांशास्तथैव शय्यासनपादुकासु॥१॥
भोक्तुं नवाम्बरं शस्तमृक्षेऽपि गुणवर्जिते।
विवाहे राजसम्माने ब्राह्मणानां च सम्मते॥१४॥

---

१०. भद्रबाहुसंहिता में 'त्रिदशेज्य' की जगह 'अमरेज्य' बनाया है।

भद्रबाहुसंहिता में पहला श्लोक ज्यों का त्यों नं०१९० पर दर्ज है और दूसरे श्लोक में, जो अन्तिम श्लोक है, सिर्फ 'ब्राह्मणानां च सम्मते' के स्थान में 'प्रतिष्ठामुनिदर्शने' यह पद बनाया गया है।

(ग) वराहमिहिर ने अपनी बृहत्संहिता में अध्याय नं० ८६ से लेकर ९६ तक ११ अध्यायों में 'शकुन' का वर्णन किया है। इन अध्यायों के पद्यों की संख्या कुल ३१९ है। इसके सिवाय अध्याय नं० ८९ के शुरू में कुछ थोड़ा-सा गद्य भी दिया है। गद्य को छोड़कर इन पद्यों में से ३०१ पद्य भद्रबाहुसंहिता के 'शकुन' नाम के ३१वें अध्याय में उठाकर रखे गये हैं और उन पर नम्बर भी उसी (प्रत्येक अध्याय के अलग अलग) क्रम से डाले गये हैं जिस प्रकार कि वे उक्त बृहत्संहिता में पाये जाते हैं। बाकी के १८ पद्यों में से कुछ छूट गये और कुछ छोड़ दिये गये मालूम होते हैं। इस तरह पर ये ग्यारह के ग्यारह अध्याय भद्रबाहुसंहिता में नकल किये गये हैं और उनका एक अध्याय बनाया गया है। इतने अधिक श्लोकों की नकल में सिर्फ आठ दस पद्य ही ऐसे हैं जिनमें कुछ परिवर्तन पाया जाता है। बाकी सब पद्य ज्यों के त्यों नकल किए गए हैं। अस्तु! यहाँ पाठकों के संतोषार्थ और उन्हें इस नकल का अच्छा ज्ञान कराने के लिए कुछ परिवर्तित और अपरिवर्तित दोनों प्रकार के पद्य नमूने के तौर पर उद्धृत किये जाते हैं-

१. **वानरभिक्षुश्रवणावलोकनं नैऋतात्तृतीयांशे।**
फलकुसुमदन्तघटितागमश्च कोणाच्चतुर्थांशे॥२-८॥

इस पद्य में नैऋत कोण के सिर्फ तृतीय और चतुर्थ अंशों ही का कथन है। इससे पहले दो अंशों का कथन और होना चाहिए जो भद्रबाहुसंहिता में नहीं है। इसलिए यह कथन अधूरा है। बृहत्संहिता के ८७ वें अध्याय में इससे पहले के एक पद्य में वह कथन दिया है और इसलिए इस पद्य को नं० ९ पर रखा है। इससे स्पष्ट है कि वह पद्य यहाँ पर छूट गया है।

२. **अवाक्प्रदाने विहितार्थसिद्धिः पूर्वोक्तदिक्चक्रफलौरथान्यत्।**
वाच्यं फलं चोत्तममध्यनीचशाखास्थितायां वरमध्यनीचम्॥३-३९॥

बृहत्संहिता में, जिसमें इस पद्य का नं० ४६ है, इस पद्य से पहले सात पद्य और दिये हैं जो भद्रबाहुसंहिता में नहीं हैं और उनमें पिंगला जानवर से शकुन लेने का विधान किया है। लिखा है कि- 'संध्या के समय पिंगला के निवास-वृक्ष के पास जाकर ब्रह्मादिक देवताओं की और उस वृक्ष की नये वस्त्रों तथा सुगंधित द्रव्यों से पूजा करे। फिर अकेला अर्धरात्रि के समय उस वृक्ष के अग्निकोण में खड़ा होकर तथा पिंगला को अनेक प्रकार की शपथें (कसमें) देकर पद्य नं० ४२।४३।४४ में दिया हुआ मंत्र ऐसे स्वर से पढ़े जिसे पिंगला सुन सके और उसके साथ पिंगला से अपना मनोरथ पूछे। ऐसा कहने पर वृक्ष पर बैठी हुई वह पिंगला यदि कुछ शब्द करे तो उसके फल का विचार पद्य नं० ४५ में[11] दिया है और उसके कुछ शब्द न करने आदि का विचार इस ऊपर उद्धृत किये हुए पद्य में

११. यथा- ''इत्येवमुक्ते तरुमूर्ध्वगायाश्चिरिल्विरिल्वीतिरुतेऽर्थसिद्धिः।
अत्याकुलत्वं दिशिकारशब्दे कुचाकुचेत्येवमुदाहृते वा''॥४५॥

बतलाया है। इससे इस पद्य का साफ सम्बन्ध उक्त सात पद्यों से पाया जाता है। मालूम होता है कि ग्रन्थकर्ता को इसका कुछ भी स्मरण नहीं रहा और उसने उक्त सात पद्यों को छोड़कर इस पद्य को यहाँ पर असम्बद्ध बना दिया है।

३. राजा कुमारो नेता च दूतः श्रेष्ठी चरो द्विजः।
गजाध्यक्षश्च पूर्वाद्याः क्षत्रियाद्याश्चतुर्दिशम्॥५-४॥

यह पद्य यहाँ 'शिवारुत' प्रकरण में बिल्कुल ही असम्बद्ध मालूम होता है। इसका यहाँ कुछ भी अर्थ नहीं हो सकता। एक बार इसका अवतरण इसी ३१वें अध्याय के शुरू में नं० २८ पर हो चुका है और बृहत्संहिता के ८६वें अध्याय में यह नं० ३४ पर दर्ज है। नहीं मालूम इसे फिर से यहाँ रखकर ग्रन्थकर्ता ने क्या लाभ निकाला है। अस्तु। इसके बदले में इस प्रकरण का 'शान्ता' इत्यादि पद्य नं १३ ग्रन्थकर्ता से छूट गया है और इस तरह पर लेख बराबर हो गया अर्थात् प्रकरण के १४ पद्यों की संख्या ज्यों की त्यों बनी रही।

४. क्रूरः षष्ठे क्रूरदृष्टो विलग्नाद्यास्मिन्राशौ तद्गृहांगे व्रणः स्यात्।
एवं प्रोक्तं यन्मया जन्मकाले चिह्नं रूपं तत्तदस्मिन्विचिन्त्यं॥११-१३॥

इस पद्य के उत्तरार्द्ध में लिखा है कि 'इसी प्रकार से जन्मकालीन चिह्नों और फलों का जो कुछ वर्णन मैंने किया है उन सबका यहाँ भी विचार करना चाहिए।' वराहमिहिर ने 'बृहज्जातक' नाम का भी एक ग्रन्थ बनाया है जिसमें जन्मकालीन चिह्नों और उनके फलों का वर्णन है। इससे उक्त कथन के द्वारा वराहमिहिर ने अपने उस ग्रन्थ का उल्लेख किया मालूम होता है। ग्रन्थकर्ता ने उसे बिना सोचे समझे यहाँ ज्यों का त्यों रख दिया है। भद्रबाहुसंहिता में इस प्रकार का कोई कथन नहीं, जिससे इसका सम्बन्ध लगाया जाये।

५. ओजाः प्रदक्षिणं शस्ता मृगः सनकुलाण्डजाः।
चाषः सनकुलो वामो भृगुराहापराह्नतः॥१-३७॥

यह बृहत्संहिता (अ० ८६) का ४३वाँ पद्य है। इसमें 'भृगु' जी का नाम उनके वचन सहित दिया है। भद्रबाहुसंहिता में इसे ज्यों का त्यों रखा है। बदला नहीं है। संभव है कि यह पद्य परिवर्तन से छूट गया हो। अब आगे परिवर्तित पद्यों के दो नमूने दिखलाये जाते हैं—

६. श्रेष्ठो हयः सितः प्राच्यां शवमांसे च दक्षिणे।
कन्यका दधिनी पश्चादुदग्साधुजिनादयः॥१-४०॥

बृहत्संहिता में इस पद्य का पहला चरण 'श्रेष्ठे हयसिते प्राच्यां' और चौथा चरण 'दुदग्गो विप्रसाधवः' दिया है। बाकी दोनों चरण ज्यों के त्यों है। इससे भद्रबाहुसंहिता में इस पद्य के इन्हीं दो चरणों में तबदीली पाई जाती है। पहले चरण की तबदीली साधारण है और उससे कोई अर्थभेद नहीं हुआ। रही चौथे चरण की तबदीली, उसमें 'गोविप्र' (गोब्राह्मण) की जगह 'जिनादि' बनाया गया है और उससे यह सूचित किया है कि यात्रा के समय उत्तरदिशा में यदि साधु और जिनादिक होवें तो

श्रेष्ठ फल होता है। परन्तु इस तबदीली से यह मालूम न हुआ कि इसे करके ग्रन्थकर्ता ने कौनसी बुद्धिमत्ता का कार्य किया है। क्या 'साधु' शब्द में 'जिन' का और 'जिनादि' शब्दों में 'साधु' का समावेश नहीं होता था? यदि होता था तो फिर साधु और जिनादि ये दो शब्द अलग अलग क्यों रखे गये? साथ ही, जिस गौ और ब्राह्मण के नाम को उड़ाया गया हैं उसको यदि कोई 'आदि' शब्द से ग्रहण कर ले तो उसका ग्रन्थकर्ता ने इस श्लोक में क्या प्रतीकार रखा है? उत्तर इन सब बातों का कुछ नहीं हो सकता। इसलिए ग्रन्थकर्ता का यह सब परिवर्तन निरा भूलभरा और मूर्खता का द्योतक है।

७. धीवरशाकुनिकानां सप्तमभागे भयं भवति दीप्ते।
भोजनविघात उक्तो निधनभयं च तत्परतः॥२-३३॥

इस पद्य में सिर्फ 'निर्ग्रन्थभयं' के स्थान में 'निर्धनभयं' बनाया गया है और इसका अभिप्राय शायद ऐसा मालूम होता है कि ग्रन्थकर्ता को 'निर्ग्रंथ' शब्द खटका है। उसने इसका अर्थ दिगम्बर मुनि या जैन साधु समझा है और जैन साधुओं से किसी को भय नहीं होता, इसलिए उसके स्थान में 'निर्धन' शब्द बनाया गया है। परन्तु वास्तव में निर्ग्रंथ का अर्थ दिगम्बर मुनि या जैन साधु ही नहीं है बल्कि 'निर्धन' और 'मूर्ख' भी उसका अर्थ है[१२] और यहाँ पर वह ऐसे ही अर्थ में व्यवहृत हुआ है। अस्तु ग्रन्थकर्ता का इस परिवर्तन से कुछ ही अभिप्राय हो, परन्तु छंद की दृष्टि से उसका यह परिवर्तन ठीक नहीं हुआ। ऐसा करने से इस आर्या छंद के चौथे चरण में दो मात्रायें कम हो गई हैं- १५ के स्थान में १३ ही मात्रायें रह गई हैं।

यहाँ पाठकों का यह जानकर आश्चर्य होगा कि वराहमिहिर आचार्य ने तो अपना यह सम्पूर्ण शकुनसम्बन्धी वर्णन अनेक वैदिक ऋषियों तथा विद्वानों के आधार पर अनेक ग्रन्थों का आशय लेकर लिखा है और उसकी सूचना उक्त वर्णन के शुरू में लगा दी है। परन्तु भद्रबाहुसंहिता के कर्ता इतने कृतज्ञ थे कि उन्होंने जिस विद्वान् के शब्दों की इतनी अधिक नकल कर डाली है उसका आभार तक नहीं माना। प्रत्युत अध्याय के शुरू में मंगलाचरण के बाद यह लिखकर कि ''श्रेणिक के प्रश्नानुसार गौतम ने शुभ अशुभ शकुन का जो कुछ कथन किया है वह (यहाँ मेरे द्वारा) विशेष रूप से निरूपण किया गया है[१३]'' इस सम्पूर्ण कथन को जैन का ही नहीं बल्कि जैनियों के केवली का बना डाला है! पाठक सोचें और विचार करें, इसमें कितना अधिक धोखा दिया गया है।

(घ) भद्रबाहुसंहिता में शकुनाध्याय के बाद, 'पाक' नाम का ३२वाँ अध्याय है, जिसमें १७ पद्य हैं। यह पूरा अध्याय भी बृहत्संहिता से नकल किया गया है। बृहत्संहिता में इसका नं० ९७ है और पद्यों की संख्या वही १७ दी है। इन पद्यों में से ८ पद्यों की नकल भद्रबाहुसंहिता में ज्यों की त्यों पाई जाती है। बाकी के पद्य कुछ परिवर्तन के साथ उठाकर रखे गये हैं। परिवर्तन आम तौर पर शब्दों को प्रायः आगे पीछे कर देने या किसी-किसी शब्द के स्थान में उसका पर्यायवाचक शब्द रख देने

---

१२. यथा-'निर्ग्रन्थः क्षपणेऽधने बालिशेऽपि।' इति श्रीधरसेनः॥ 'निर्ग्रंथो निस्वमूर्खयोः श्रमणे च।' इति हेमचन्द्रः॥

१३. श्रेणिकेन यथा पृष्ठं तथा गौतमभाषितम्। शुभाशुभं च शकुनं विशेषेण निरूपितम्॥२॥

मात्र से उत्पन्न किया गया है। उदाहरण के तौर पर आदि अंत के दो पद्य उन पद्यों के साथ नीचे प्रकाशित किये जाते हैं जिनसे वे कुछ परिवर्तन करके बनाये गये हैं–

पक्षाद्भानोः सोमस्य मासिकोऽङ्गारकस्य वक्रोक्तः।
आदर्शनाच्च पाको बुधस्य जीवस्य वर्षेण॥१॥ (-बृहत्संहिता।)
पाकः पक्षाद्भानोः सोमस्य च मासिकः कुजस्य वक्रोक्तः।
आदर्शनाच्च पाको बुधस्य सुगुरोश्च वर्षेण॥१॥ (-भद्रबाहु संहिता।)

ऊपर के इस पद्य का भद्रबाहुसंहिता में जो परिवर्तन किया गया है, उससे अर्थ में कोई भेद नहीं हुआ। हाँ इतना जरूर हुआ है कि आर्या छंद के दूसरे चरण में १८ मात्राओं के स्थान में २१ मात्रायें हो गई हैं और एक की जगह दो 'पाक' शब्दों का प्रयोग व्यर्थ हुआ है। यदि शुरू के 'पाकः' पद को किसी तरह निकाल भी दिया जाये तो भी छंद ठीक नहीं बैठता। उस वक्त दूसरे चरण में १७ मात्रायें रह जाती हैं। इसलिए ग्रन्थकर्ता ने यह परिवर्तन करके कोई बुद्धिमानी का काम नहीं किया।

२. **निगदितसमये न दृश्यते चेदधिकतरं द्विगुणे प्रप्रच्यते तत्।**
यदि न कनकरत्नगोप्रदानैरुपशमितं विधिवद्द्विजैश्च शान्त्या॥१७॥ -बृहत्संहिता
निगदितसमये न दृश्यते चेत् अधिक (तरं) द्विगुणे विपच्यते तत्।
यदि न जिनवचो गुरूपचर्या शमितं तन्महकैश्च लोकशान्त्यै॥१७॥ भद्र. सं०

इस पद्य को देखने से मालूम होता है कि भद्रबाहुसंहिता में इसके उत्तरार्द्ध का खास तौर से परिवर्तन किया गया है। परिवर्तन किस दृष्टि से किया गया और उसमें किस बात की विशेषता रखी गई है, इस बात को जानने के लिए सबसे पहले बृहत्संहिता के इस पद्य का आशय मालूम होना जरूरी है और वह इस प्रकार है–

''ग्रहों तथा उत्पातों आदि के फल पकने का जो समय ऊपर वर्णन किया गया है, उस समय पर यदि फल दिखाई न दे तो उससे दूने समय में वह अधिकता के साथ प्राप्त होता है। परन्तु शर्त यह है कि वह फल सुवर्ण, रत्न और गोदानादिक शांति से विधिपूर्वक ब्राह्मणों के द्वारा उपशमित न हुआ हो। अर्थात् यदि वह फल इस प्रकार से उपशांत न हुआ हो तब ही दूने समय में उसका अधिक पाक होगा, अन्यथा नहीं।'' स्मरण रहे, भद्रबाहुसंहिता में इस पद्य का जो कुछ परिवर्तन किया गया है वह सिर्फ इस पद्य की उक्त शर्त का ही परिवर्तन है। इस शर्त के स्थान में जो शर्त रखी गई है वह इस प्रकार है–

''परन्तु शर्त यह है कि वह फल लोकशांति के लिए महत्पुरुषों द्वारा की हुई जिनवचन और गुरु की सेवा से शांत न हुआ हो।''

इस शर्त के द्वारा इस पद्य को जैन का लिबास पहनाकर उसे जैनी बनाया गया है। साथ ही, ग्रन्थकर्ता ने अपने इस कृत्य से यह सूचित किया है कि शांति सुवर्ण, रत्न, और गौ आदि के दान से नहीं होती बल्कि जिनवचन और गुरु की सेवा से होती है। परन्तु तीसरे खण्ड के 'ऋषिपुत्रिका' नामक

चौथे अध्याय में प्रतिमादिक के उत्पात की जिसके पाक का इस पाकाध्याय में भी वर्णन है, शांति का विधान करते हुए लिखा है कि–

[१४]जं किंचिवि उप्पादं अण्णं विग्घं च तत्थ णासेइ।
दक्खिणदेज्जसुवण्णं गावी भूमी उ विप्पदेवाणं॥११२॥

अर्थात्–जो कोई भी उत्पात या दूसरा कोई विघ्न हो उसमें ब्राह्मण देवताओं को दक्षिणा देना चाहिए- सोना, गौ और भूमि देना चाहिए। ऐसा करने से उत्पातादिक की शांति होती है।

इस गाथा को पढ़कर शायद कुछ पाठक यह कह उठें कि 'यह कथन जैनधर्म के विरुद्ध है।' परन्तु विरुद्ध हो या अविरुद्ध, यहाँ उसके दिखलाने का अभिप्राय या उस पर विचार करने का अवसर नहीं है अर्थात् विरुद्ध कथनों का अच्छा दिग्दर्शन पाठकों को अगले लेख में कराया जायेगा। यहाँ सिर्फ यह दिखलाने की गरज है कि ग्रन्थकर्ता ने एक जगह उक्त परिवर्तन के द्वारा यह सूचित किया है कि सोना तथा गौ आदिक के दान से ब्राह्मणों के द्वारा शांति[१५] नहीं होती और दूसरी जगह खुले शब्दों में उसका विधान किया है। ऐसी हालत में समझ में नहीं आता कि ग्रन्थकर्ता के इस कृत्य को उन्मत्तचेष्टा के सिवाय और क्या कहा जाये। यहाँ पर यह भी प्रकट कर देना जरूरी है कि ग्रन्थकर्ता ने, अपने इस कृत्य से छंद में भी कुछ गड़बड़ी पैदा की है। बृहत्संहिता का उक्त पद्य 'पुष्पिताग्रा' नामक छन्द में[१६] है। उसके लक्षणानुसार चतुर्थ पाद में भी गणों का विन्यास उसी प्रकार होना चाहिए था जिस प्रकार कि वह द्वितीय चरण में पाया जाता है। परन्तु भद्रबाहुसंहिता में ऐसा नहीं है। उसके चौथे चरण का गणविन्यास दूसरे चरण से बिल्कुल भिन्न हो गया है।

(ङ) भद्रबाहुसंहिता में 'वास्तु' नाम का ३५वाँ अध्याय है, जिसमें लगभग ६० श्लोक वसुनन्दि के 'प्रतिष्ठासारसंग्रह' ग्रन्थ से उठाकर रखे गये हैं और जिनका पिछले लेख में उल्लेख किया जा चुका है। इन श्लोकों के बाद एक श्लोक में वास्तुशास्त्र के अनुसार कथन की प्रतिज्ञा देकर १३ पद्य इस बृहत्संहिता के 'वास्तुविद्या' नामक ५३वें अध्याय से भी उठाकर रखे हैं। जिनमें से शुरू के चार पद्यों को आर्या छंद से अनुष्टुप् में बदलकर रखा है और बाकी को प्रायः ज्यों का त्यों उसी छंद में रहने दिया है। इन पद्यों में से भी दो नमूने इस प्रकार हैं–

१. **षष्ठिश्चतुर्विहीना वेश्मानि भवन्ति पंच सचिवस्य।**
स्वाष्टांशयुता दैर्घ्ये तदर्धतो राजमहिषीणाम्॥६॥ (–बृहत्संहिता।)

---

१४. इसकी संस्कृतछाया इस प्रकार है–
यत्किंचिदपि उत्पातं अन्यद्विघ्नं च तत्र नाशयति। दक्षिणा दद्यात् सुवर्णं गौः भूमिश्च विप्रदेवेभ्यः॥

१५. ब्राह्मणों के उत्कर्ष की बात को दो एक जगह और भी बदला है जिसका ऊपर उद्धृत किये हुए (ख) और (ग) भाग के पद्यों मे उल्लेख आ चुका है।

१६. इस छंद के विषम (१-३) चरणों में क्रमशः नगण, नगण, रगण, यगण और सम (२-४) चरणों में नगण, जगण, जगण, रगण और एक गुरु होते हैं।

सचिवस्य पंच वेश्मानि चतुर्हीना तु षष्ठिकाः।
स्वाष्टांशयुतदैर्घ्याणि महिषीणां तदर्धतः॥६८॥ -भद्रबाहुसंहिता।

२. **ऐशान्यां देवगृहं महानसं चापि कार्यमाग्नेय्याम्।**
नैर्ऋत्यां भाण्डोपस्करोऽर्थ धान्यानि मारुत्याम्॥७८॥

इन पद्यों में दूसरे नम्बर का पद्य ज्यों का त्यों नकल किया गया है और बृहत्संहिता में नं० ११८ पर दर्ज है। पहले पद्य में सिर्फ छंद का परिवर्तन है। शब्द प्रायः वही के वही पाये जाते हैं। इस परिवर्तन से पहले चरण में एक अक्षर बढ़ गया है-८ की जगह ९ अक्षर हो गये हैं। यदि ग्रन्थकर्ता जी किसी मामूली छंदोवित् से भी सलाह ले लेते तो वह कम से कम 'सचिवस्य' के स्थान में उन्हें 'मंत्रिणः' कर देना जरूर बतला देता, जिससे छंद का उक्त दोष सहज ही में दूर हो जाता। अस्तु।

ऊपर के इस सम्पूर्ण परिचय से ज्यों के त्यों उठाकर रखे हुए, स्थानान्तर किये हुए, छूटे हुए, छोड़े हुए और परिवर्तित किये हुए पद्यों के नमूनों से साफ जाहिर है और इसमें कोई संदेह बाकी नहीं रहता कि यह सब कथन उक्त बृहत्संहिता से उठाकर ही नहीं बल्कि चुराकर रखा गया है। साथ ही इससे ग्रन्थकर्ता की सारी योग्यता और धार्मिकता का अच्छा पता मालूम हो जाता है।

(३) पहले लेख में, भद्रबाहु और राजा श्रेणिक की (ग्रन्थकर्ता द्वारा गढ़ी हुई) असम्बद्ध मुलाकात को दिखलाते हुए, हिन्दुओं के 'बृहत्पाराशरी होरा' ग्रन्थ का उल्लेख किया जा चुका है। इस ग्रन्थ से लगभग दो सौ श्लोक उठाकर भद्रबाहुसंहिता के अध्याय नं० ४१ और ४२ में रखे गये हैं। संहिता में इन सब श्लोकों की नकल प्रायः ज्यों की त्यों पाई जाती है। सिर्फ दस पाँच श्लोक ही उनमें ऐसे नजर आते हैं जिनमें कुछ थोड़ा-सा परिवर्तन किया गया है। नमूने इस प्रकार हैं-

१. **भौमजीवारुणाः पापाः एक एव कविः शुभः।**
शनैश्चरेण जीवस्य योगोमेषभवो यथा॥४१-१६॥

२. **स्वत्रिंशांशेऽथवा मित्रे त्रिंशांशे वा स्थितो यदि।**
तस्य भुक्तिः शुभा प्रोक्ता भद्रबाहुमहर्षिभिः॥४२-१८॥

३. **एवं देहादिभावानां षडवर्गगतिभिः फलम्।**
सम्यग्विचार्य मतिमान्प्रवदेत् मागधाधिपः॥४२-द्वि.१७॥

इनमें से पहला श्लोक ज्यों का त्यों है और वह उक्त पाराशरी होरा के पूर्व खण्ड सम्बन्धी १३वें अध्याय में नं० १९ पर दर्ज है। दूसरे श्लोक[1] में 'कालविद्भिर्मनीषिभिः' के स्थान में 'भद्रबाहुमहर्षिभिः' और तीसरे[2] श्लोक में 'कालवित्तमः' की जगह 'मागधाधिपः' बनाया गया है। दूसरे श्लोक में भद्रबाहु के नाम का जो परिवर्तन है उस प्रकार का परिवर्तन इस अध्याय के और भी अनेक श्लोकों में पाया

१. यह श्लोक बृहत्पाराशरी होरा के ३७ वें अध्याय में नं० ३ पर दर्ज है।

२. यह श्लोक बृ. पाराशरी होरा के ४६वें अध्याय का ११ वाँ पद्य है।

जाता है और इस परिवर्तन के द्वारा ग्रन्थकर्ता ने हिन्दुओं के इस होरा कथन को भद्रबाहु का बनाने की चेष्टा की है। रहा तीसरे श्लोक का परिवर्तन, वह बड़ा ही विलक्षण है। इसके मूल में लिखा था कि ''इस प्रकार बुद्धिमान् ज्योतिषी (कालवित्तमः) भले प्रकार विचार करके फल कहे।'' परन्तु संहिता के कर्ता ने, अपने इस परिवर्तन से, फल कहने का वह काम मागधों के राजा के सुपुर्द कर दिया है! और इसलिए उसका यह परिवर्तन यहाँ बिल्कुल असंगत मालूम होता है। यदि विसर्ग को हटाकर यहाँ 'मागधाधिपः' के स्थान में 'मागधाधिप' ऐसा संबोधनपद भी मान लिया जाये तो भी असम्बद्धता दूर नहीं होती। क्योंकि ग्रन्थ में इससे पहले उक्त राजा का कोई ऐसा प्रकरण या प्रसंग नहीं है जिससे इस पद का सम्बन्ध हो सके।

(४) हिन्दुओं के यहाँ 'लघुपाराशरी' नाम का भी एक ग्रन्थ है और इस ग्रन्थ से भी बहुत से श्लोक कुछ परिवर्तन के साथ उठाकर भद्रबाहुसंहिता के अध्याय नं० ४१ में रखे हुए मालूम होते हैं, जिनमें से एक श्लोक उदाहरण के तौर पर इस प्रकार है–

योगो दशास्वपि भवेत्प्रायस्सुयोगकारिणोः।
दशायुग्मे मध्यगतस्तदयुक् शुभकारिणाम्॥४१॥

लघुपाराशरी में यह श्लोक इस प्रकार दिया है–

दशास्वपि भवेद्योगः प्रायशो योगकारिणोः।
दशाद्वयी मध्यगतस्तदयुक् शुभकारिणाम्॥१८॥

पाठक दोनों पद्यों पर दृष्टि डालकर देखें, कितना सुगम परिवर्तन है। दो एक शब्दों को आगे पीछे कर देने तथा किसी किसी शब्द का पर्यायवाचक शब्द रख देने मात्र से परिवर्तन हो गया है। लघुपाराशरी के दूसरे पद्यों का भी प्रायः यही हाल है। संहिता में उनका भी इसी प्रकार का परिवर्तन पाया जाता है।

(५) भद्रबाहुसंहिता के दूसरे खण्ड में 'लक्षण' नाम का एक अध्याय नं० ३७ है, जिसमें प्रधानतः[१७] स्त्री पुरुषों के अंगों उपांगों आदि के लक्षणों को दिखलाते हुए उनके शुभाशुभ फल का वर्णन किया है। इस अध्याय का पहला पद्य इस प्रकार है–

जिनदेवं प्रणम्यादौ सर्वज्ञं विबुधार्चितम्।
लक्षणानि च वक्ष्येऽहं भद्रबाहुर्यथागमं॥१॥

इस पद्य में, मंगलाचरण के बाद, लिखा है कि 'मैं भद्रबाहु आगम के अनुसार लक्षणों का कथन करता हूँ।' इस प्रतिज्ञा वाक्य से एकदम ऐसा मालूम होता है कि मानो भद्रबाहु स्वयं इस अध्याय का प्रणयन कर रहे हैं और ये सब शब्द उन्हीं की कलम से अथवा उन्हीं के मुख से निकले हुए हैं, परंतु नीचे के इन दो पद्यों के पढ़ने से, जो उक्त पद्य के अनन्तर दिये हैं, कुछ और ही मालूम होने लगता है। यथा–

---

१७. अंत के २० पद्यों में कुछ थोड़े से हाथी घोड़ों के भी लक्षण दिये हैं।

पूर्वमायुः परीक्षेत पश्चाल्लक्षणमेव च।
आयुर्हीननृनारीणां लक्षणैः किं प्रयोजनम्॥२॥
नारीणां वामभागे तु पुरुषस्य च दक्षिणे।
यथोक्तं लक्षणं तेषां भद्रबाहुवचो यथा॥३॥

पद्य नं० ३ में 'भद्रबाहुवचो यथा' ये शब्द आये हैं, जिनका अर्थ होता है 'भद्रबाहु के वचनानुसार अथवा जैसा कि भद्रबाहु ने कहा है।' अर्थात् ये सब वचन खास भद्रबाहु के शब्द नहीं हैं उन्होंने इस आशय का प्रणयन नहीं किया बल्कि उनके वचनानुसार (यदि यह सत्य हो) किसी दूसरे ही व्यक्ति ने इसकी रचना की है। आगे भी इस अध्याय के श्लोक नं० ३२, १३१ और १९५ में यही 'भद्रबाहुवचो यथा', शब्द पाये जाते हैं, जिनसे इस पिछले कथन की और भी अधिक पुष्टि होती है। इसके सिवाय एक स्थान पर, श्लोक नं० १३६ में, ग्राह्यकन्या कैसी होती है, इत्यादि प्रश्न देकर अगले श्लोक नं० १३७ में 'भद्रबाहुरुवाचेति' इस पर भद्रबाहु बोले, इन शब्दों के साथ उसका उत्तर दिया गया है। प्रश्नोत्तर रूप के ये दोनों श्लोक पहले लेख में उद्धृत किये जा चुके हैं। इनसे बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि यह सब कथन भले ही भद्रबाहु के वचनानुसार लिखा गया हो, परन्तु वह खास भद्रबाहु का वचन नहीं है और न उन लोगों का वचन है, जिनके प्रश्न पर भद्रबाहु उत्तर रूप से बोले थे। क्योंकि यहाँ 'उवाच' ऐसी परोक्षभूत की क्रिया का प्रयोग पाया जाता है। ऐसी हालत में कहना पड़ता है कि यह सब रचना किसी तीसरे ही व्यक्ति की है। परन्तु ऐसा होने पर पहले श्लोक में दिये हुए उक्त प्रतिज्ञा वाक्य से विरोध आता है और इसलिए सारे कथन पर जालीपने का संदेह हो जाता है। तीसरे नम्बर के पद्य को फिर से जरा गौर के साथ पढ़ने पर मालूम होता है कि उसमें 'भद्रबाहुवचो यथा' के होते हुए 'यथोक्तं' पद व्यर्थ पड़ा है, उसका ''तेषां' शब्द खटकता है और चूँकि 'यथोक्तं'' पद 'लक्षणं' पद का विशेषण है, इसलिए इस पद्य में कोई क्रियापद नहीं है और न पिछले तथा अगले दोनों पद्यों की क्रियाओं से उसका कोई सम्बन्ध पाया जाता है। ऐसी हालत में, इस पद्य का अर्थ होता है–''स्त्रियों के वाम भाग में और पुरुष के दक्षिण भाग में उनका यथोक्त लक्षण भद्रबाहु के वचनानुसार।'' इस अर्थ से यह पद्य यहाँ बिल्कुल असम्बद्ध मालूम होता है और किसी दूसरे पद्य पर से परिवर्तित करके बनाये जाने का ख्याल उत्पन्न करता है। शब्दकल्पद्रुम कोश में 'सामुद्रक' शब्द के नीचे कुछ श्लोक किसी सामुद्रकशास्त्र से उद्धृत करके रखे गये हैं जिनमें के दो श्लोक इस प्रकार हैं–

वामभागे तु नारीणां दक्षिणे पुरुषस्य च।
निर्दिष्टं लक्षणं तेषां समुद्रेण यथोदितम्॥
पूर्वमायुः परीक्षेत पश्चाल्लक्षणमेव च।
आयुर्हीनं नराणां चेत् लक्षणैः किं प्रयोजनम्॥

इन श्लोकों में पहला श्लोक उक्त तीसरे पद्य से बहुत कुछ मिलता जुलता है। मालूम होता है

कि संहिता का उक्त पद्य इसी श्लोक पर से या इसके सदृश किसी दूसरे श्लोक पर से परिवर्तित किया गया है और इस परिवर्तन के कारण ही वह कुछ दूषित और असम्बन्धित बन गया है। अन्यथा, इस श्लोक में उक्त प्रकार का कोई दोष नहीं है। इसका 'तेषां' पद भी इससे पहले श्लोक के[१८] उत्तरार्द्ध में आये हुए 'मनुष्याणां' पद से सम्बन्ध रखता है। रहा दूसरा श्लोक, उसे देखने से मालूम होता है कि वह और संहिता का ऊपर उद्धृत किया हुआ पद्य नं० २ दोनों एक हैं। सिर्फ तीसरे चरण में कुछ नाम मात्र का परिवर्तन है जिससे कोई अर्थभेद नहीं होता। बहुत संभव है कि संहिता का उक्त पद्य भी इस दूसरे श्लोक पर से परिवर्तित किया गया हो। परन्तु इसे छोड़कर यहाँ एक बात और नोट की जाती है और वह यह है कि इस अध्याय में एक स्थान पर, 'नारदस्य वचो यथा' यह पद देकर नारद के वचनानुसार भी कथन करने को सूचित किया है। यथा–

ललाटे यस्य जायेत रेखात्रयसमागमः।
षष्ठिवर्षायुरुद्दिष्टं नारदस्य वचो यथा॥१३०॥

इससे मालूम होता है कि इस अध्याय का कुछ कथन किसी ऐसे ग्रन्थ से भी उठाकर रख गया है जो हिन्दुओं के नारद मुनि या नारदाचार्य से सम्बन्ध रखता है। 'नारदस्य वचो यथा' और 'भद्रबाहुवचो यथा' ये दोनों पद एक ही वजन के हैं। आश्चर्य नहीं कि इस अध्याय में जहाँ 'भद्रबाहुवचो यथा' इस पद का प्रयोग पाया जाता है वह 'नारदस्य वचो यथा' इस पद को बदलकर ही बनाया गया हो और ऊपर के पद्य में 'नारदस्य' के स्थान में 'भद्रबाहु' का परिवर्तन करना रह गया हो। परन्तु कुछ भी हो ऊपर के इस सम्पूर्ण कथन से इस विषय में कोई संदेह नहीं रहता कि इस अध्याय का यह सब कथन, जो २२० पद्यों में है, एक या अनेक सामुद्रिकशास्त्रों, लक्षणग्रन्थों अथवा तद्विषयक अध्यायों से उठाकर रखा गया है और कदापि भद्रबाहु श्रुतकेवली का वचन नहीं है।

(६) भद्रबाहुसंहिता के पहले खण्ड में दस अध्याय हैं, जिनके नाम हैं– १ चतुर्वर्णनित्यक्रिया, २ क्षत्रियनित्यकर्म, ३ क्षत्रियधर्म, ४ कृतिसंग्रह, ५ सीमानिर्णय, ६ दंडपारुष्य, ७ स्तैन्यकर्म, ८ स्त्रीसंग्रहण, ९ दायभाग और १० प्रायश्चित्त। इन सब अध्यायों की अधिकांश रचना प्रायः मनु आदि स्मृतियों के आधार पर हुई है, जिनके सैकड़ों पद्य या तो ज्यों के त्यों और या कुछ परिवर्तन के साथ जगह जगह पर इन अध्यायों में पाये जाते हैं। मनु के १८ व्यवहारों अर्थात् विवादपदों का भी अध्याय नं० ३ से ९ तक कथन किया गया है। परन्तु यह सब कथन पूरा और सिलसिलेवार नहीं है। इसके बीच में कृतिसंग्रह नाम का चौथा अध्याय अपनी कुछ निराली ही छटा दिखला रहा है। उसका मजमून ही दूसरा है और उसमें कई विवादों के कथन का दर्शन तक भी नहीं कराया गया। इन अध्यायों पर यदि विस्तार के साथ विचार किया जाये तो एक खासा अलग लेख बन जाये, परन्तु यहाँ इसकी जरूरत न समझकर सिर्फ उदाहरण के तौर पर कुछ पद्यों के नमूने दिखलाये जाते हैं–

---

१८. वह उत्तरार्द्ध इस प्रकार है– ''लक्षणं तु मनुष्याणां एकैकेन वदाम्यहम्''

क—ज्यों के त्यों पद्य

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दंडनीतिं च शाश्वतीम्।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारंभांश्च लोकतः॥२-१३४॥
तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं संधिविग्रहम्।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च॥ -१४५॥

ये दोनों पद्य मनुस्मृति के सातवें अध्याय के हैं जहाँ वे क्रमशः नं० ४३ और ५६ पर दर्ज हैं।

नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्तवदर्शने।
समानशयने चैव न शयीत तया सह॥४-४२॥

यह पद्य मनुस्मृति के चौथे अध्याय का ४०वाँ पद्य है।

कन्यैव कन्यां या कुर्यात्तस्याः स्याद् द्विशतो दमः।
शुल्कं च द्विगुणं दद्याच्छिफाश्चैवाप्नुयाद्दश॥८-१४॥

यह पद्य मनुस्मृति के आठवें अध्याय में नं० ३६९ पर दर्ज है।

ख—परिवर्तित पद्य

मनुस्मृति के सातवें अध्याय में, राजधर्म का वर्णन करते हुए, राजा के काम से उत्पन्न होने वाले दस व्यसनों के जो नाम दिये हैं, वे इस प्रकार हैं—

मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियोमदः।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः॥४७॥

भद्रबाहुसंहिता में इस पद्य के स्थान में निम्नलिखित डेढ़ पद्य दिया है—

परिवादो दिवास्वप्नः मृगयाक्षो वृथाटनम्।
तौर्यत्रिकं स्त्रियो मद्यमसत्यं स्तैन्यमेव च॥२-१३८॥
इमे दशगुणाः प्रोक्ताः कामजाः बुधनिन्दिताः।

दोनों पद्यों के मिलान से जाहिर है कि भद्रबाहुसंहिता का यह डेढ़ पद्य मनुस्मृति के उक्त पद्य नं० ४७ पर से, उसके शब्दों को आगे पीछे करके बनाया गया है। सिर्फ 'असत्य' और 'स्तैन्य' ये दो व्यसन इसमें ज्यादह बढ़ाये गये हैं, जिनकी वजह से कामज व्यसनों या गुणों की संख्या दस के स्थान में बारह हो गई है। परन्तु वैसे भद्रबाहुसंहिता में भी यह संख्या दस ही लिखी है, जिससे विरोध आता है। संभव है कि ग्रन्थकर्ता ने 'तौर्यत्रिक' को एक गुण या एक चीज समझा हो। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। गाना, बजाना और नाचना ये तीनों चीजें अलग अलग हैं और अलग अलग गुण कहे जाते हैं, जैसा कि उक्त पद में लगे हुए 'त्रिक' शब्द से भी जाहिर है।

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति॥४-१७२॥ (-मनुस्मृतिः)

नाधर्मस्त्वरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥४-८५॥ –भद्रबाहुसंहिता।

ये दोनों पद्य प्रायः एक हैं। भद्रबाहुसंहिता के पद्य में जो कुछ थोड़ा सा परिवर्तन है वह समीचीन मालूम नहीं होता। उसका 'मिश्रं' पद बहुत खटकता है और वह यहाँ पर कुछ भी अर्थ नहीं रखता। यदि उसे किसी तरह पर 'सद्यः' का पर्यायवाचक शब्द 'शीघ्र' मान लिया जाये तो ऐसी हालत में 'स्त्वरितो' के स्थान में 'श्चरितो' भी मानना पड़ेगा और तब पद्य भर में सिर्फ एक शब्द का ही अनावश्यक परिवर्तन रह जायेगा।

आत्मा वै जायते पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत्॥९-२६॥

दायभाग प्रकरण का यह पद्य वही है जो मनुस्मृति के ९वें अध्याय में नं० १३० पर दर्ज है। सिर्फ उसके 'यथैवात्मा तथा पुत्रः' के स्थान में 'आत्मा वै जायते पुत्रः' यह वाक्य बनाया गया है। इस परिवर्तन से 'पुत्र अपने ही समान हकदार है' की जगह ''आत्मा निश्चय से पुत्ररूप होकर उत्पन्न होता है'' यह अर्थ हो गया है।

कृत्वा यज्ञोपवीतं तु पृष्ठतः कंठलम्बितम्।
विण्मूत्रे तु गृही कुर्याद्वामकर्णे व्रतान्वितः॥१-१८॥

यह पद्य वही है जिसे विट्ठल नारायण कृत 'आह्निक' में 'अंगिराः' ऋषि का वचन लिखा है। सिर्फ 'समाहितः' के स्थान में यहाँ पर 'व्रतान्वितः' का परिवर्तन किया गया है।

मनुस्मृति के आठवें अध्याय में, लोक व्यवहार के लिए कुछ संज्ञाओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि झरोखे के भीतर सूर्य की किरणों के प्रविष्ट होने पर जो सूक्ष्म रजः कण दिखलाई देते हैं उसको त्रसरेणु कहते हैं। आठ त्रसरेणुओं की एक लीख, तीन लीखों का एक राजसर्षप, तीन राजसर्षपों का एक गौरसर्षप और छह गौरसर्षपों का एक मध्यम यव (जौ) होता है। यथा–

जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते॥१३२॥
त्रसरेणवोऽष्टौ विज्ञेया लिक्षैका परिमाणतः।
ता राजसर्षपस्तिस्त्रस्ते त्रयो गौरसर्षपाः॥१३३॥
सर्षपाः षट् यवो मध्यः ....।

भद्रबाहुसंहिता के कर्ता ने मनुस्मृति के इस कथन में त्रसरेणु से परमाणु का अभिप्राय समझकर तथा राजसर्षप और गौरसर्षप के भेदों को उड़ाकर जो कथन किया है वह इस प्रकार है–

[१९]यस्य भागो पुनर्नस्यात्परमाणुः स उच्यते।
तेऽष्टौ लिक्षा त्रयस्तच्च सर्षपस्ते यवो हि षट्॥३-२५२॥

अर्थात् जिसका विभाग न हो सके उसको परमाणु कहते हैं। आठ परमाणुओं की एक लीख, तीन लीखों का एक सर्षप (सरसों का दाना) और छह सर्षपों का एक जौ होता है। संहिता का यह सब कथन जैन दृष्टि से बिल्कुल गिरा हुआ ही नहीं बल्कि नितान्त असत्य मालूम होता है। इस कथन के अनुसार एक जौ, असंख्यात अथवा अनंत परमाणुओं की जगह, सिर्फ १४४ परमाणुओं का पुंज ठहरता है, जबकि मनुस्मृति का कर्ता उसे ४३२ त्रसरेणुओं के बराबर बतलाता है। एक त्रसरेणु में बहुत से परमाणुओं का समूह होता है। परमाणु को जैन शास्त्रों में इंद्रियगोचर नहीं माना, ऐसी हालत होते हुए लौकिक व्यवहार में परमाणु के पैमाने का प्रयोग भी समुचित प्रतीत नहीं होता। इन सब बातों से मालूम होता है कि ग्रन्थकर्ता ने संज्ञाओं का यह कथन मनुस्मृति या उसके सदृश किसी दूसरे ग्रन्थ से लिया तो जरूर है, परन्तु वह उसके आशय को ठीक तौर से समझा नहीं सका और उसने परमाणु का लक्षण साथ में लगाकर जो इस कथन को जैन की रंगत देनी चाही है उससे यह कथन उल्टा जैन के विरुद्ध हो गया है और इससे ग्रन्थकर्ता की साफ मूर्खता टपकती है। सत्य है 'मूर्खों का प्रसाद भी भयंकर होता है।'

(७) इस संहिता में अनेक कथन ऐसे पाये जाते हैं जिन्हें ग्रन्थकर्ता ने बिना किसी नूतन आवश्यकता के एक से अधिक बार वर्णन किया है और जिनके इस वर्णन से न सिर्फ ग्रन्थकर्ता की मूढ़ता अथवा हिमाकत ही जाहिर होती है बल्कि साथ ही यह बात और स्पष्ट हो जाती है कि यह पूरा ग्रन्थ किसी एक व्यक्ति की स्वतंत्र रचना न होकर प्रायः भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के प्रकरणों का एक बेढंगा संग्रह मात्र है। ऐसे कथनों के कुछ नमूने इस प्रकार हैं-

(क) पहले खण्ड के 'प्रायश्चित्त' नामक १०वें अध्याय में, एक स्थान पर, ये तीन पद्य दिये हैं-

पण दस बारस णियमा पण्णारस होइ तहय दिवसेहिं।
खत्तिय बंभाविस्सा सुद्दाय कमेण सुज्झंति॥३७॥
क्षत्रियासूतकं पंच विप्राणां दश उच्यते।
वैश्यानां द्वादशाहेन मासार्धेष्वितरे जने॥३८॥
यतिः क्षणेन शुद्धः स्यात्पंच रात्रेण पार्थिवः।
ब्राह्मणो दशरात्रेण मासार्धेनेतरो जनः॥३९॥

इन तीनों पद्यों में से कोई भी पद्य 'उक्तं च' आदि रूप से किसी दूसरे व्यक्ति का प्रकट नहीं किया

---

१९. इससे पहले श्लोक में त्रसरेण्वादि के भेद से ही मानसंज्ञाओं के कथन की प्रतिज्ञा की गई है जिससे मालूम होता है कि ग्रन्थकर्ता ने त्रसरेणु को परमाणु समझा है।
यथा-संसारव्यवहारार्थे मानसंज्ञा प्रकथ्यते। हेमरत्नादिवस्तूनां त्रसरेण्वादिभेदतः॥२५१॥

गया और न दूसरा पद्य पहले प्राकृत पद्य की छाया है। तो भी पहले पद्य में जिस बात का वर्णन दिया है वही वर्णन दूसरे पद्य में भी किया गया है। दोनों पद्यों में क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्रों की सूतकशुद्धि की मर्यादा क्रमशः पाँच, दस, बारह और पंद्रह दिन की बतलाई है। रहा तीसरा पद्य, उसमें क्षत्रियों और ब्राह्मणों की शुद्धि का तो कथन वही है जो ऊपर के दोनों पद्यों में दिया है और इसलिए यह कथन तीसरी बार आ गया है, बाकी रही वैश्यों और शूद्रों की शुद्धि की मर्यादा, वह इसमें १५ दिन की बतलाई है, जिससे वैश्यों की शुद्धि का कथन पहले दोनों पद्यों के कथन से विरुद्ध पड़ता है। क्योंकि उनमें १२ दिन की मर्यादा लिखी है। इसके सिवाय ग्रन्थ में इन तीनों पद्यों का ग्रन्थ के पहले पिछले पद्यों के साथ कुछ सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता और ये तीनों ही पद्य यहाँ 'उठाऊ चूल्हा' जैसे मालूम पड़ते हैं।

(ख) दूसरे खण्ड में 'तिथि' नाम का २८वाँ अध्याय है, जिसमें कुल तेरह पद्य हैं। इनमें से छह पद्य नं० ४, ५, ७, ८, ९, १० बिल्कुल वे ही हैं जो इससे पहले 'मुहूर्त' नाम के २७वें अध्याय में क्रमशः नं० ९, १०, १७, १८, १९, २० पर दर्ज हैं। यहाँ पर उन्हें व्यर्थ ही दुबारा रखा गया है।

(ग) दूसरे खण्ड में 'विरोध' नाम का एक ४३वाँ अध्याय भी है जिसमें कुल ६३ श्लोक हैं। इन श्लोकों में शुरू के साढ़े तेईस श्लोक नं० २ से नं० २५ के पूर्वार्द्ध तक बिल्कुल ज्यों के त्यों वे ही हैं जो पहले इसी खण्ड के 'ग्रहयुद्ध' नाम के २४वें अध्याय के[20] शुरू में आ चुके हैं और उन्हीं नम्बरों पर दर्ज हैं। समझ में नहीं आता कि जब दोनों अध्यायों का विषय भिन्न-भिन्न था तो फिर क्यों एक अध्याय के इतने अधिक श्लोकों को दूसरे अध्याय में फिजूल नकल किया गया। संभव है कि इन दोनों विषयों में ग्रन्थकर्ता को परस्पर कोई भेद ही मालूम न हुआ हो। उसे इस 'विरोध' नाम के अध्याय को रखने की जरूरत इस वजह से पड़ी हो कि उसके नाम की सूचना उस विषय सूची में की गई है जो इस खण्ड के पहले अध्याय में लगी हुई है और जो पहला अध्याय अगले २३-२४ अध्यायों के साथ किसी दूसरे व्यक्ति का बनाया हुआ है, जैसा कि पहले लेख में सूचित किया जा चुका है और इसलिए ग्रन्थकर्ता ने इस अध्याय में कुछ श्लोकों को 'ग्रहयुद्ध' प्रकरण से और बाकी को एक या अनेक ताजिक ग्रन्थों से उठाकर रख दिया हो और इस तरह पर इस अध्याय की पूर्ति की हो। परन्तु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि ग्रन्थकर्ता ने अपने इस कृत्य द्वारा सर्व साधारण पर अपनी खासी मूर्खता और हिमाकत का इजहार किया है।

(घ) इस ग्रन्थ में 'स्वप्न' नाम का एक अध्याय नं० २६ है, जिसमें केवल स्वप्न का ही वर्णन है और दूसरा 'निमित्त' नाम का ३०वाँ अध्याय है, जिसमें स्वप्न का भी वर्णन दिया है। इन दोनों अध्यायों में स्वप्न विषयक जो कुछ कथन किया गया है उसमें से बहुत-सा कथन एक दूसरे से मिलता जुलता है और एक के होते दूसरा बिल्कुल व्यर्थ और फिजूल मालूम होता है। नमूने के तौर पर यहाँ दोनों अध्यायों से सिर्फ दो-दो श्लोक उद्धृत किये जाते हैं-

२०. इस २४ वें अध्याय में कुल ४३ श्लोक हैं।

१. मधुरेर्चिर्विशेत्स्वप्ने दिवा वा यस्य वेश्मनि।
तस्यार्थनाशं नियतं मृतोवाप्यभिनिर्दिशेत्॥४५॥ -अध्याय २६।
मधुछत्रं विशेत्स्वप्ने दिवा वा यस्य वेश्मनि।
अर्थनाशो भवेत्तस्य मरणं वा विनिर्दिशेत्॥१३३॥ -अध्याय ३०।

२. मूत्रं वा कुरुते स्वप्ने पुरीषं वा सलोहितम्।
प्रतिबुध्येत्तथा यश्च लभते सोऽर्थनाशनम्॥५२॥ -अध्याय २६।
पुरीषं लोहितं स्वप्ने मूत्रं वा कुरुते तथा।
तदा जागर्ति यो मर्त्यो द्रव्यं तस्य विनश्यति॥१२१॥ -अध्याय ३०।

इनसे साफ जाहिर है कि ग्रन्थकर्ता ने इन दोनों अध्यायों का स्वप्नविषयक कथन भिन्न-भिन्न स्थानों से उठाकर रखा है और उसमें इतनी योग्यता नहीं थी कि वह उस कथन को छाँटकर अलग कर देता जो एक बार पहले आ चुका है। इसी तरह पर इस ग्रन्थ में 'उत्पात' नाम का एक अध्याय नं० १४ है, जिसमें केवल उत्पात का ही वर्णन है और दूसरा 'ऋषिपुत्रिका' नाम का चौथा अध्याय, तीसरे खण्ड में है जिसमें उत्पात का प्रधान प्रकरण है। इन दोनों अध्यायों का बहुत-सा उत्पात विषयक कथन भी एक दूसरे से मिलता जुलता है। इनके भी दो दो नमूने इस प्रकार हैं-

नर्तनं जलनं हास्यं उल्कालापौ निमीलनं।
देवा यत्र प्रकुर्वन्ति तत्र विंद्यान्महद्भयम्॥१४-१०२॥
[21]देवा णच्चंति जहिं पसिज्जंति तहय रोवंती।
जइ धूमंति चलंति य हसंति वा विविहरूवेहिं॥
लोयस्स दिंतिं मारिं दुब्भिक्खं तहय रोय पीडं वा॥४-७८२॥
आरण्या ग्राममायान्ति वनं गच्छंति नागरा:।
उदंति चाथ जल्पंति तदारण्याय कल्पते॥१४-६॥
[22]आरण्णयमिग पक्खी गामे णयरम्मि दीसदे जत्थ।
होहदि णायरविणासो परचक्कादो ण संदेहो॥४-५६॥

इससे स्पष्ट मालूम होता है कि इन अध्यायों का यह उत्पात-विषयक कथन भी भिन्न-भिन्न

---

२१. संस्कृतछाया-देवा नृत्यंति यदि प्रस्वेद्यंति तथा च रुदन्ति।
यदि घूमंति चलंति च हसंति वा विविधरूपैः॥
लोकस्य ददति मारीं दुर्भिक्षं तथा रोगपीडां वा॥७८॥

२२. संस्कृतछाया- आरण्यकमृगपक्षी ग्रामे नगरे च दृश्यते यत्र।
भविष्यति नगरविनाशः परचक्रात् न संदेहः॥५६॥

स्थानों से उठाकर रखा गया है और चूँकि इन दोनों अध्यायों में बहुत सा कथन एक दूसरे के विरुद्ध भी पाया जाता है, जिसका दिग्दर्शन अगले लेख में कराया जायेगा, इसलिए ये दोनों अध्याय किसी एक व्यक्ति के बनाये हुए भी नहीं हैं। ग्रन्थकर्ता ने उन्हें जहाँ-तहाँ से उठाकर बिना सोचे समझे यहाँ जोड़ दिया है।

(८) यद्यपि इससे पहले लेख में और इस लेख में भी ऊपर, प्रसंगानुसार, असम्बद्ध कथनों का बहुत कुछ उल्लेख किया जा चुका है तो भी यहाँ पर कुछ थोड़े से असम्बद्ध कथनों को और दिखलाया जाता है, जिससे पाठकों पर ग्रन्थ का बेढंगापन और भी अधिकता के साथ स्पष्ट हो जाये–

(क) गणेशादिमुनीन् सर्वान् नमंति शिरसा सदा।
निर्वाणक्षेत्रपूजादीन् भुंजन्तीन्द्राश्च भो नृप॥३६-५१॥
त्रसरेण्वादिकं चान्यत्तिलकालकसंभवं।
इत्येवं व्यंजनानां च लक्षणं तत्त्वतो नृप॥३८-१९॥
मनुष्येषु भवेच्चिह्नं छत्रतोरणचामरं।
सिंहासनादिमत्स्यान्तं राज्यचिह्नं भवेन्नृप॥३९-६॥
विदिग्गतश्चोर्ध्वगतोऽधोगतो दीप एव च।
कदाचिद्भवति प्रायो ज्ञेयो राजन् शुभोऽशुभः॥३-८-१८॥

ये चारों पद्य क्रमशः १ दिव्येन्द्रसंपदा, २ व्यंजन, ३ चिह्न और ४ दीप नाम के चार अलग-अलग अध्यायों के पद्य हैं। इनमें 'नृप' और 'राजन्' शब्दों द्वारा किसी राजा को संबोधन करके कथन किया गया है, परन्तु पहले यह बतलाया जा चुका है कि इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में कहीं भी किसी राजा का कोई प्रकरण या प्रसंग नहीं है और न किसी राजा के प्रश्न पर इस ग्रन्थ की रचना की गई है, जिसको संबोधन करके ये सब वाक्य कहे जाते। इसलिए ये चारों पद्य इस ग्रन्थ में बिल्कुल असम्बद्ध तथा अनमेल मालूम होते हैं और साथ ही इस बात को सूचित करते हैं कि ग्रन्थकर्ता ने इन चारों पद्यों ही को नहीं, बल्कि संभवतः उक्त चारों अध्यायों को किसी ऐसे दूसरे ग्रन्थ या ग्रन्थों से उठाकर यहाँ रखा है, जहाँ उक्त ग्रन्थ या ग्रन्थों के कर्ताओं ने उन्हें अपने-अपने प्रकरणानुसार दिया होगा। मालूम होता है कि संहिता के कर्ता के ध्यान में ही ये संबोधन पद नहीं आये। अथवा यों कहना चाहिए कि उसमें इनके सम्बन्ध विशेष को समझने की योग्यता ही नहीं थी। इसलिए उसने उन्हें ज्यों का त्यों नकल कर दिया है।

(ख) इस ग्रन्थ के तीसरे खण्ड में 'नवग्रहस्तुति' नाम का सबसे पहला अध्याय है। अंतिम वक्तव्य में भी इस अध्याय का नाम 'ग्रहस्तुति' ही लिखा है, परन्तु इस सारे अध्याय का पाठ कर जाने पर, जिसमें कुल १५ पद्य हैं, ग्रहों की स्तुति का इसमें कहीं भी कुछ पता नहीं है। इसका पहला पद्य मंगलाचरण और प्रतिज्ञा का हैं, जिसमें 'ग्रहशान्तिं प्रवक्ष्यामि' इस वाक्य के द्वारा ग्रहों की स्तुति नहीं,

बल्कि शान्ति के कथन की प्रतिज्ञा की गई है।[२३] दूसरे पद्य में ग्रहों (खेचरों) को 'जैनेन्द्र' बतलाया है और उनके पूजन की प्रेरणा की है। इसके बाद चार पद्यों में तीर्थंकरों और ग्रहों के नामों का मिश्रण है। ये चारों पद्य संस्कृत साहित्य की दृष्टि से बड़े ही विलक्षण मालूम होते हैं। इनसे किसी यथेष्ट आशय का निकालना बड़े बुद्धिमान् का काम है।[२४] सातवें पद्य में खेचरों सहित जिनेन्द्रों के पूजन की प्रेरणा है। आठवें पद्य में ग्रहों के नाम दिये हैं और उन्हें 'जिन' भगवान् की पूजा करने वाले बतलाया है। इसके बाद के दो पद्यों में लिखा है कि –''जो कोई जिनेन्द्र के सन्मुख ग्रहों को प्रसन्न करने के लिए 'नमस्कारशत' को भक्तिपूर्वक १०५ बार जपता है (उससे क्या होता है? यह कुछ नहीं बतलाया)। पाँचवें श्रुतकेवली भद्रबाहु ने यह सब कथन किया है। विद्यानुवाद पूर्व की ग्रहशांति विधि की गई।'' यथा–

जिनानामग्रतो योहि ग्रहाणां तुष्टिहेतवे।
नमस्कारशतं भक्त्या जपेदष्टोत्तरं शतं॥९॥
भद्रबाहुरुवाचेति पंचमः श्रुतकेवली।
विद्यानुवादपूर्वस्य ग्रहशांतिविधिः कृतः॥१०॥

११वें पद्य में यह बतलाया है कि जो कोई नित्य प्रातःकाल उठकर विघ्नों की शांति के लिए पढ़े (क्या पढ़े? यह कुछ सूचित नहीं किया) उसकी विपदाएँ नाश हो जाती हैं और उसे सुख मिलता है। इसके बाद एक पद्य में ग्रहों की धूप के, दूसरे में ग्रहों की समाधि के और तीसरे में सप्त धान्यों के नाम दिये हैं और अन्तिम पद्य में यह बतलाया है कि कैसे यज्ञ के समान कोई शत्रु नहीं है। अध्याय के इस सम्पूर्ण परिचय से पाठक भले प्रकार समझ सकते हैं कि इन सब कथनों का प्रकृत विषय (ग्रहस्तुति) से कहाँ तक सम्बन्ध है और आपस में भी ये सब कथन कितने एक दूसरे से संबंधित और सुगठित मालूम होते हैं! आश्चर्य है कि ऐसे असम्बद्ध कथनों को भी भद्रबाहु श्रुतकेवली का वचन बतलाया जाता है।

(ग) तीसरे खण्ड में 'शास्ति' नाम के पाँचवें अध्याय का प्रारंभ करते हुए सबसे पहले निम्नलिखित श्लोक दिया है–

---

२३. 'शान्ति' नाम का एक दूसरा अध्याय नं० १० इस तीसरे खण्ड में अलग दिया है, जिसमें 'ग्रहशांति' का बहुत कुछ विस्तार के साथ वर्णन है। यह अध्याय ग्रहशांति का नहीं है।

२४. उक्त चारों पद्य इस प्रकार हैं, जिनका अर्थ पाठकों को किसी संस्कृत जानने वाले से मालूम करना चाहिए–
''पद्मप्रभस्य मार्तण्डश्चंद्रश्चन्द्रप्रभस्य च। वासुपूज्यस्य भूपुत्रो बुधेप्यष्टजिनेश्वराः॥३॥
विमलानन्तधर्माणः शांतिकुंथुर्नमिस्तथा। वर्धमानजिनेन्द्रस्य पादपद्मे बुधं न्यसेत्॥४॥
वृषभाजितसुपार्श्वश्चाभिनंदनशीतलौ। सुमतिः संभवः स्वामी श्रेयांसश्च बृहस्पतेः॥५॥
सुविधेः कथितः शुक्रः सुव्रतस्य शनैश्चर। नेमिनाथो भवेद्राहोः केतुः श्रीमल्लिपार्श्वयोः॥६॥''

ग्रहस्तुतिः प्रतिष्ठा च मूलमंत्रर्षिपुत्रिके।
शास्तिचक्रे क्रियादीपे फलशान्ती दशोत्तरे॥१॥

यह श्लोक वही है जो, उत्तर खण्ड के दस अध्यायों की सूची प्रकट करता हुआ, अन्तिम वक्तव्य में नं० ५ पर पाया जाता है और जिसका पिछले लेख में उल्लेख हो चुका है। यहाँ पर यह श्लोक बिल्कुल असम्बद्ध मालूम होता है और ग्रन्थकर्ता की उन्मत्तदशा को सूचित करता है। साथ ही इससे यह भी पाया जाता है कि 'अंतिम वक्तव्य' अन्तिम खण्ड के अंत में नहीं बना, बल्कि वह कुल या उसका कुछ भाग पहले से गढ़ा जा चुका था। तब ही उसके उक्त वाक्य का यहाँ इतने पहले से अवतार हो सका है। इस श्लोक के आगे प्राकृत के ११ पद्यों में संस्कृत छाया सहित इस अध्याय का जो कुछ वर्णन किया है वह पहले पद्य को छोड़कर जिसमें मंगलाचरण और प्रतिज्ञा है, किसी यक्ष की पूजा से उठाकर रखा गया है और उसकी 'जयमाल' मालूम होता है।[२५]

(घ) तीसरे खण्ड के ९ वें अध्याय में ग्रहचार का वर्णन करते हुए 'शनैश्चरचार' के सम्बन्ध में जो पद्य दिया है वह इस प्रकार है–

शनैश्चरं चारमिदं च भूमिपोयो केत्ति विद्वान्निभृतो यथावत्।
सपूजनीयो भुवि लब्धकीर्तिः सदा सहायेव हि दिव्यचक्षुः॥४३॥

इस पद्य में शनैश्चरचार का कुछ भी वर्णन न देकर सिर्फ उस विद्वान् राजा की प्रशंसा की गई जो शनैश्चरचार के 'इस कथन' को जानता है। परन्तु इससे यह मालूम न हुआ कि शनैश्चरचार का वह कथन कौनसा है जिसका यहाँ 'इदं' (इस) शब्द से ग्रहण किया गया है। क्योंकि अध्याय भर में इस पद्य से पहले या पीछे इस विषय का कोई भी दूसरा पद्य नहीं है जिससे इस 'इदं' शब्द का सम्बन्ध हो सके। इसलिए यह पद्य यहाँ पर बिल्कुल असम्बद्ध और अनर्थक मालूम होता है। ग्रन्थकर्ता ने इसे दूसरे खण्ड के 'शनैश्चरचार' नाम के १६वें अध्याय से उठाकर रखा है जहाँ पर यह उक्त अध्याय के अंत में दर्ज है। इसी तरह पर ग्रहाचार सम्बन्धी अध्यायों के प्रायः अन्तिम पद्य है और वहीं से उठाकर यहाँ रखे गये हैं। नहीं मालूम ग्रन्थकर्ता ने ऐसा करके अपनी मूर्खता प्रकट करने के सिवाय और कौन सा लाभ निकाला है।

(ङ) पहले खण्ड में 'प्रायश्चित्त' नाम का दसवाँ अध्याय है। इस अध्याय के शुरू में, पहले कुछ गद्य देकर 'इदं प्रायश्चित्तप्रकरणमारभ्यते' इस वाक्य के बाद, ये तीन पद्य दिये हैं, और इनके आगे बरतनों की शुद्धि आदि का कथन है–

यथाशुद्धि व्रतं धृत्वे पासकाचारसूचितम्।
भोगोपभोगनियमं दिग्देशनियतिं तथा॥१॥

---

२५. मंगलाचरण के बाद का पद्य निम्न प्रकार है और अंत में 'घत्ता' के बाद 'मइ णिम्मल होउ...' इत्यादि एक पद्य दिया है– ''चारणावास कैलास सैलासिओ, किंणरीवेणुवीणाझुणीतोसिओ। सामवण्णो सउण्णो पसण्णो मुहो, आइ देवाण देवाहि पम्मो मुहो॥३॥''

अनर्थदंडविरतिं तथा नित्यं व्रतं क्रमात्।
अर्हदादीन्नमस्कृत्य चरणं गृहमेधिनाम्॥२॥
कथितं मुनिनाथेन श्रुत्वा तच्छ्रावयेदमून्।
पायाद्यतिकुलं नत्वा पुनर्दर्शनमस्त्विति॥३॥

इन तीनों पद्यों का अध्याय के पहले पिछले कथन से प्रायः कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। तीसरे पद्य का उत्तरार्द्ध भी शेष पद्यों के साथ असंगत जान पड़ता है। इसलिए ये पद्य यहाँ पर असम्बद्ध मालूम होते हैं। इनमें लिखा है कि– 'उपासकाचार में कहे हुए भोगोपभोगपरिमाण व्रत को दिग्विरति, देशविरति तथा अनर्थदंडविरति नाम के व्रतों को और वैसे ही अन्य नित्य व्रतों को क्रमशः यथाशक्ति धारण करके और अर्हतादिक को नमस्कार करके मुनिनाथ ने गृहस्थों के चारित्र का वर्णन किया है। उसको सुनकर उन्हें सुनाये, रक्षा करे, यतिकुल को नमस्कार करके फिर दर्शन होवे, इस प्रकार।' इस कथन की अन्य बातों को छोड़कर, मुनिनाथ ने उपासकाचार में कहे हुए श्रावकों के व्रतों को धारण किया, और वह भी पूरा नहीं, यथाशक्ति। तब कहीं गृहस्थों के चारित्र का वर्णन किया, यह बात बहुत खटकती है और कुछ बनती हुई मालूम न होकर असमंजस प्रतीत होती है। जैन सिद्धान्त की दृष्टि से मुनीश्वरों को श्रावकों के व्रतों के धारण करने की कोई जरूरत नहीं है। वे अपने महाव्रतों को पालन करते हुए गृहस्थों को उनके धर्म का सब कुछ उपदेश दे सकते हैं। नहीं मालूम ग्रन्थकर्ता ने कहाँ-कहाँ के पदों को आपस में जोड़कर यहाँ पर यह असमंजसता उत्पन्न की है। परन्तु इसे छोड़िए और एक नया दृश्य देखिए। वह यह है कि, इस अध्याय में अनेक स्थानों पर कीड़ी, बीड़ा, ताम्बूल बीड़ा, खटीक, चमार, मोची, डोहर, कोली, कंदी, जिमन, खाती, सोनार, ठठेरा, छीपी, तेली, नाई, डोंव, वुरुड और मनियार इत्यादि बहुत से ऐसे शब्दों का प्रयोग पाया जाता है जिनका हिन्दी आदि दूसरी भाषाओं के साथ सम्बन्ध है। संस्कृत ग्रन्थ में संस्कृत वाक्यों के साथ इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग बहुत ही खटकता है और इनकी वजह से यह सारा अध्याय बड़ा ही विलक्षण और बेढंगा मालूम होता है। नमूने के तौर पर ऐसे कुछ वाक्य नीचे उद्धृत किये जाते हैं–

१. ''चांडालकलालचमारमोचीडोहरयोगिकोलीकंदीनां गृहे जिमन-इतर-समाचारं करोति तस्य प्रायश्चित्त....मोकलाभिषेकाः विंशति...बीड़ा १००।''

२.''अष्टादशप्रकारजातिमध्ये सालिमालीतेलीतंवीसूत्रधार-खातीसोनार-ठठेरा-कुंभकार-परोथट-छीपी-नाई-डोंववुरुडगणीमनी यारचित्रकार इत्यादयः प्रकारा एतेषां गृहे भुंक्ते समाचारं करोति तस्य प्रायश्चित्तं उपवासा ९, एकभक्तानि ३... ताम्बूल बीड़ा ४००।

मालूम होता है कि ग्रन्थकर्ता ने यह सब कथन किसी ऐसे ही खिचड़ी ग्रन्थ से उठाकर रखा है और उसे इसको शुद्ध संस्कृत का रूप देना नहीं आया। इससे पाठक ग्रन्थकर्ता की संस्कृत संबंधित योग्यता का भी बहुत कुछ अनुभव कर सकते हैं। इस तरह पर यह ग्रन्थ इधर-उधर के प्रकरणों का एक बेढंगा संग्रह है। ग्रन्थकर्ता यह सब संग्रह कर तो गया, परन्तु मालूम होता है कि बाद को किसी

घटना से उसे इस बात का भय जरूर हुआ है कि कहीं मेरी यह सब पोल सर्वसाधारण पर खुल न जाये। और इसलिए उसने इस ग्रन्थ पर, अपने अन्तिम वक्तव्य में, यह आज्ञा चढ़ा दी है कि, 'यह संहिता (भट्टारक की गद्दी पर बैठने वाले) आचार्य के सिवाय और किसी को भी न दी जाये। मिथ्यादृष्टि और मूढात्मा को देने से लोप हो जायेगा। आगे के लोग पक्षपाती होंगे। यह संहिता सम्यग्दृष्टि महासूरि (भट्टारक) के ही योग्य है, दूसरे के योग्य नहीं है।' यथा–

संहितेयं तु कस्यापि न देया सूरिभिर्विना॥१५॥
मिथ्यात्विने च मूढाय दत्ता धर्मे विलुंपति।
पक्षपातयुताश्चाग्रे भविष्यंति जनाः खलु॥१६॥
एषा महामंत्रयुता सुप्रभावा च संहिता।
सम्यग्दृशो महासूरेर्योग्येयं नापरस्य च॥१७॥

पाठकगण! देखा, कैसी विलक्षण आज्ञा है! धर्म के लोप हो जाने का कैसा अद्‌भुत सिद्धान्त है! कैसी अनोखी भविष्यवाणी की गई है! और किस प्रकार से ग्रन्थकर्ता ने अपने मिथ्यात्व, मूढ़ता और पक्षपात पर परदा डालने के लिए दूसरों को मिथ्यादृष्टि, मूढ़ और पक्षपाती ठहराया है!! साम्प्रदायिक मोह और बेशरमी की भी हद हो गई!!! परन्तु कुछ भी हो, इस आज्ञा का इतना परिणाम जरूर निकला है कि समाज में इस संहिता का अधिक प्रचार नहीं हो सका और यह अच्छा ही हुआ। अब जो लोग इस संहिता का प्रचार करना चाहते हैं, समझना चाहिए कि, वे ग्रन्थकर्ता के उक्त समस्त कूटजाल और अयुक्ताचरण के पोषक तथा अनुमोदक ही नहीं बल्कि भद्रबाहु श्रुतकेवली की योग्यता और उनके पवित्र नाम को बट्टा लगाने वाले हैं। अगले लेख में, विरुद्ध कथनों का उल्लेख करते हुए, यह भी दिखलाया जायेगा कि ग्रन्थकर्ता ने इस संहिता के द्वारा अपने किसी कुत्सित आशय को पूरा करने के लिए लोगों को मार्गभ्रष्ट (गुमराह) और श्रद्धान भ्रष्ट करने का कैसा नीच प्रयत्न किया है।

१५-११-१९१६

(३)

इस ग्रन्थ में निमित्त और ज्योतिष आदि सम्बन्धी फलादेश का जो कुछ वर्णन है, यदि उस सब पर बारीकी के साथ सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाये और उसे सिद्धान्त से मिलान करके दिखलाया जाये, तो इसमें संदेह नहीं, कि विरुद्ध कथनों के ढेर के ढेर लग जायें। परन्तु जैन समाज अभी इतने बारीक तथा सूक्ष्म विचारों को सुनने और समझने के लिए तैयार नहीं है और न एक ऐसे ग्रन्थ के लिए इतना अधिक प्रयास और परिश्रम करने की कोई जरूरत है, जो पिछले लेखों द्वारा बहुत स्पष्ट शब्दों में विक्रम संवत् १६५७ और १६६५ के मध्यवर्ती समय का बना हुआ ही नहीं, बल्कि इधर उधर के प्रकरणों का एक बेढंगा संग्रह भी सिद्ध किया जा चुका है। इसलिए आज इस लेख में, फलादेश सम्बन्धी सूक्ष्म विचारों को छोड़कर, बहुत मोटे रूप से विरुद्ध कथनों का दिग्दर्शन कराया जाता है। जिससे और भी जैनियों की कुछ थोड़ी-बहुत आँखें खुलें, उनका साम्प्रदायिक मोह टूटे और उनकी

अंधी श्रद्धा दूर होकर उनमें सदसद्विवेकवती बुद्धि का विकास हो सके–

पूर्वापर विरुद्ध।

(१) पहले खण्ड के तीसरे अध्याय में, दंड के स्वरूप का वर्णन करते हुए, लिखा है कि–

''हा-मा-धिक्कारभेदश्च वाग्दंडः प्रथमो मतः।
द्वितीयो धनदण्डश्च देहदंडस्तृतीयकः॥२४२॥
तुरीयो ज्ञातिदंडश्च देयाः कृत्यानुसारतः।
दोषानुसारतश्चैव चतुर्वर्णेभ्य एव च॥२४३॥
आप्तश्रीआदिदेवेन प्रथमो दंड उद्धृतः।
वासुपूज्यो द्वितीयं च तृतीयं षोडशस्तथा॥२४४॥
तुरीयं वर्धमानस्तु प्रोक्तवानद्य पंचमे।
काले दोषानुसारेण दीयंते सर्वभूमिपैः॥२४५॥

अर्थात्–दंड चार प्रकार का होता है। पहला वाग्दंड, जिसके हा, मा और धिक्कार ऐसे तीन भेद हैं, दूसरा धनदण्ड, तीसरा देहदंड (वधबन्धादिरूप) और चौथा ज्ञातिदंड (जातिच्युतादिरूप)। ये सब दंड अपराधों और कृत्यों के अनुसार चारों ही वर्णों के लिए प्रयुक्त किये जाने के योग्य हैं। इनमें से पहले दंड के प्रणेता भगवान् श्री आदिनाथ (ऋषभदेव), दूसरे के भगवान् वासुपूज्य, तीसरे के १६वें तीर्थंकर श्री शांतिनाथ और चौथे दंड के प्रणेता श्री वर्धमान स्वामी हुए हैं। आजकल पांचवें काल में सम्पूर्ण राजाओं के द्वारा ये सभी दंड अपराधों के अनुसार प्रयुक्त किये जाते हैं। इस कथन से ऐसा सूचित होता है कि, तीसरे काल के अंत से प्रारंभ होकर, चतुर्थ काल में यह चार प्रकार का दंडविधान उपर्युक्त अलग अलग तीर्थंकरों के द्वारा संसार में प्रवर्तित हुआ है। परन्तु वास्तव में ऐसा हुआ या नहीं, यह अभी निर्णयाधीन है और उस पर विचार करने का इस समय अवसर नहीं है। यहाँ पर मैं सिर्फ इतना बतला देना जरूरी समझता हूँ कि दंडप्रणयन-सम्बन्धी यह सब कथन ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ सत्य प्रतीत नहीं होता। श्री गुणभद्राचार्यकृत महापुराण (उत्तरपुराण) में या उससे पहले के बने हुए किसी माननीय प्राचीन जैन ग्रन्थ में भी इसका कोई उल्लेख नहीं है। हाँ, भगवज्जिनसेन-प्रणीत आदिपुराण में इतना कथन जरूर मिलता है कि ऋषभदेव ने हा-मा-धिक्कार लक्षण वाला वह वाचिक दंड प्रवर्तित किया था जिसको उनसे पहले के कुलकर (मनु) जारी कर चुके थे और इसलिए जो उनके अवतार से पहले ही भूमंडल पर प्रचलित था। साथ ही, उक्त ग्रन्थों में यह भी लिखा हुआ मिलता है कि ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती ने वधबन्धादि लक्षण वाले शारीरिक दंड की भी योजना की थी।[२६] जिससे पौराणिक दृष्टि की अपेक्षा यह बात स्पष्ट हो जाती है कि तीसरे शारीरिक दंड का प्रणयन शान्तिनाथ से बहुत पहले प्रायः ऋषभदेव के समय में ही हो चुका था। यहाँ पाठकों को यह

२६. यथा–शारीरं दंडनं चैव वध-बन्धादिलक्षणम्। नृणां प्रबलदोषेण भरतेन नियोजितम् ॥२१६॥

जानकर आश्चर्य होगा कि आदिपुराण का यह सब कथन संहिता के 'केवल काल' नामक ३४ [२७] वें [२८]अध्याय में भी पाया जाता है। परन्तु इन सब बातों को छोड़िए, और संहिता के इस निम्न वाक्य पर ध्यान दीजिए, जिसमें उक्त कथन से आगे अपराधों के चार विभाग करके प्रत्येक के दंड विधान का नियम बतलाते हुए लिखा है कि– 'व्यवहार में वाग्दंड, चोरी के काम में धनदण्ड, बालहत्यादिक में देहदंड और धर्म के लोप में ज्ञाति दंड का प्रयोग होना चाहिए।' यथा–

''व्यवहारे तु प्रथमो द्वितीयः स्तैन्यकर्मणि।
तृतीयो बालहत्यादौ धर्मलोपेऽन्तिमः स्मृतः॥२४७॥

दंड विधान का यह नियम जगत् का शासन करने के लिए कहाँ तक समुचित और उपयोगी है, इस विचार को छोड़कर, जिस समय हम इस नियम को सामने रखते हुए इसी खण्ड के अगले दंड विधान सम्बन्धी अध्यायों का पाठ करते हैं उस समय मालूम होता है कि ग्रन्थकर्ता महाशय ने स्थान स्थान पर स्वयं ही इस नियम का उल्लंघन किया है। और इसलिए उनका यह सम्पूर्ण दंड विषयक कथन पूर्वापर विरोध दोष से दूषित है साथ ही, श्रुतकेवली जैसे विद्वानों की कीर्ति को कलंकित करने वाला है। उदाहरण के तौर पर यहाँ उसके कुछ नमूने दिखलाये जाते हैं–

''हामाकारौ च दंडोऽन्यैः पंचभिः सम्प्रवर्तितः।
पंचभिस्तु ततः शेषैर्हामाधिक्कारलक्षणः॥३-२१५॥
''कूपाद्रज्जुं घटं वस्त्रं यो हरेत्स्तैन्यकर्मणा।
कशाविंशतिभिस्ताड्यः पुनर्ग्रामाद्विवासयेत्॥७-१२॥

इस पद्य में कुएँ पर से रस्सी, घड़ा तथा वस्त्र चुराने वाले के लिए २० चाबुक से ताड़ित करने और फिर ग्राम से निकाल देने की सजा तजवीज की गई है। पाठक सोचें, यह सजा पहले नियम के कितनी विरुद्ध है और साथ ही कितनी अधिक सख्त है! उक्त नियमानुसार चोरी के इस अपराध में धनदण्ड (जुर्माना) का विधान होना चाहिए था, देह दंड या निर्वासन का नहीं।

''कुलीनानां नराणां च हरणे बालकन्ययोः।
तथानुपमरत्नानां चौरो बंदिग्रहं विशेत्॥७-१६॥
येन यज्ञोपवीतादिकृते सूत्राणि यो हरेत्।
संस्कृतानि नृपस्तस्य मासैकं बंधके न्यसेत्॥२४॥

इन दोनों पद्यों में चोर के लिए बंदीग्रह (जेलखाना) की सजा बतलाई गई है। पहले पद्य में यह सजा कुलीन मनुष्यों, बालक-बालिकाओं और उत्तम रत्नों को चुराने के अपराध में तजवीज की गई

---

२७. जिसका एक पद्य इस प्रकार है–''हामाधिग्नीतिमार्गोक्तोऽस्य पुत्रो भरतोऽग्रजः।
चक्री कुलकरो जातो वध बन्धादिदंडभृत् ॥१२०॥''

२८. इस अध्याय की शब्दरचना से मालूम होता है कि वह प्रायः आदिपुराण पर से उसे देखकर बनाया गया है।

है। दूसरे पद्य में लिखा है कि जो यज्ञोपवीत (जनेऊ) आदि के लिए संस्कारित किये हुए सूत के डोरों को चुराता है, राजा को चाहिए कि उसे एक महीने तक कैद में रखे। चोरी के काम में धनदण्ड विधान न करके यह दंड तजवीज करना भी उपर्युक्त नियम के विरुद्ध है।

"केशान् ग्रीवां च वृषणं कोधाद्गृह्णाति यः शठः।
दंड्यते स्वर्णनिष्केण प्राणिघाताभिलोलुपः॥६-२०॥
त्वग्भेत्ता तु शतैर्दण्ड्यः ब्राह्मणोऽसृक्प्रच्यावने।
शतद्वयेन दंड्यः स्यात्तुर्यैर्मांसापकर्षकः ॥२१॥

इन दोनों पद्यों में प्राणिघात की इच्छा से क्रोध में आकर दूसरे के केश, गर्दन और अंडकोश पकड़ने वाले व्यक्ति को, तथा त्वचा का भेद करने वाले, रक्तपात करने वाले और मांस उखाडने वाले ब्राह्मण को शारीरिक दंड का विधान न करके धनदण्ड का विधान किया गया है। यह भी उपर्युक्त नियम के विरुद्ध है। इसके आगे तीन पद्यों में, उद्यान को जाते हुए किसी वृक्ष की छाल, दंड, पत्र या पुष्पादिक को तोड़ डालने अथवा नष्ट कर डालने के अपराध में धनदण्ड का विधान न करके 'प्रवास्यो वृक्षभेदकः' इस पद के द्वारा वृक्ष तोड़ डालने वाले के लिए देश से निकाल देने की सजा तजवीज की है। यह सजा उपर्युक्त नियम से कहाँ तक सम्बन्ध रखती है, इसे पाठक स्वयं विचार सकते हैं।

"वैश्यः शूद्रोऽथवा काष्ठधातुनिर्मित आसने।
क्षत्रियद्विजयोर्मोहाद्दर्पाच्चोपविशेत्तदा ॥६-१७॥
कशाविंशतिभिर्वैश्यः पंचाशद्भिश्च ताड्यते।
शूद्रः पुनस्तु सता-(?) मासनं कोऽपि न श्रयेत्॥१८॥
दृष्ट्वा महान्तं यो दर्पान्निष्ठीवति हसेच्च वा।
चतुर्वर्णेषु यः कश्चिद्दण्ड्यते दश राजतैः॥१९॥"

इन पद्यों में से दो पद्यों में लिखा है कि 'यदि क्षत्रिय तथा ब्राह्मण के आसन पर कोई वैश्य अथवा शूद्र बैठ जाये तो वैश्य को २० और शूद्र को ५० चाबुक की सजा देनी चाहिए! तीसरे पद्य में किसी भी वर्ण के उस व्यक्ति के लिए धनदण्ड का विधान किया गया है जो किसी महान् पुरुष को देखकर हँसता है अथवा घृणा प्रकाशित करने रूप थूकता है। उपर्युक्त नियमानुसार इन दोनों प्रकार के कृत्यों के लिए यदि कोई दंडविधान हो सकता था तो वह सिर्फ वाग्दंड था। क्योंकि आसन पर बैठने और हँसने आदि कृत्यों का चोरी आदि अपराधों में समावेश नहीं हो सकता। परन्तु यहाँ पर ऐसा विधान नहीं किया गया, इसलिए यह कथन भी पूर्वापर विरोध दोष से दूषित है।

"मूर्खः सारथिरेव स्याद्युग्यस्था दंडभागिनः।
भूपः पणशतं लात्वा हानिमीशं च दापयेत्॥६-३५॥

इस पद्य में, मूर्ख गाड़ीवान के कारण गाड़ी से किसी को हानि पहुँचने पर, गाड़ी में बैठे हुए

उन स्त्री पुरुषों को भी धनदण्ड का पात्र ठहराया है जो बेचारे उस गाड़ी के स्वामी नहीं हैं और न जिनको उक्त गाड़ीवान के मूर्ख या कुशल होने का कोई ज्ञान है। समझ में नहीं आता कि उक्त नियम के अनुसार गाड़ी में बैठे हुए ऐसे मुसाफिरों को कौन से अपराध का अपराधी माना जाये? अस्तु, इस प्रकार के विरुद्ध कथनों से इस ग्रन्थ के कई अध्याय भरे हुए हैं। मालूम होता है कि ग्रन्थकर्ता को इधर-उधर से वाक्यों को उठाकर रखने में आगे पीछे के कथनों का कुछ भी ध्यान नहीं रहा और इससे उसका यह सम्पूर्ण दंड विषयक कथन कुछ अच्छा व्यापक और सिलसिलेवार भी नहीं बन सका।

(२) दूसरे खण्ड के 'उत्पात' नामक १४ वें अध्याय में लिखा है कि, यदि बाजे बिना बजाये हुए स्वयं बजने लगें और विकृत रूप को धारण करें तो कहना चाहिए कि छठे महीने राजा बद्ध होगा (बंदिगृह में पड़ेगा) और अनेक प्रकार के भय उत्पन्न होंगे। यथा-

''अनाहतानि तूर्याणि नदन्ति विकृतिं यथा।
षष्ठे मासे नृपो बद्धो भयानि च तदा दिशेत्॥१६५॥

परन्तु तीसरे खण्ड के 'ऋषिपुत्रिका' नामक चौथे अध्याय में इसी उत्पात का फल पाँचवें महीने राजा की मृत्यु होना लिखा है। यथा-

अह णंदितूरसंखा वज्जंति अणाहया विफुट्टंति।
अह पंचमम्मि मासे णरवइमरणं च णायव्वं॥९३॥[२९]

इससे साफ प्रकट है कि ये दोनों पद्य पूर्वापर विरोध को लिये हुए हैं और इसलिए इनका निर्माण किसी केवली द्वारा नहीं हुआ। साथ ही, इससे यह भी सूचित होता है कि ये दोनों पद्य ही नहीं बल्कि संभवतः ये दोनों अध्याय ही भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा रचे गये हैं।

(३) भद्रबाहुसंहिता के 'चंद्रचार' नामक २३वें अध्याय में लिखा है कि 'श्वेत, रक्त, पीत तथा कृष्ण वर्ण का चंद्रमा यथाक्रम अपने वर्णवाले को (क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को) सुख का देने वाला और विपरीत वर्ण के लिए भयकारी होता है। यथा-

श्वेतो रक्तश्च पीतश्च कृष्णश्चापि यथाक्रमं।
सवर्णं सुखदश्चन्द्रो विपरीतं भयावहः॥१६॥

परन्तु तीसरे खण्ड के उसी 'ऋषिपुत्रिका' नाम के चौथे अध्याय में यह बतलाया है कि 'समानवर्ण का चंद्रमा समान वर्णवाले को भय और पीड़ा को देने वाला होता है' 'कृष्ण चंद्रमा शूद्रों का विनाश करता है' यथा-

''समवण्णो समवण्णं भयं च पीडं तहा णिवेदेहि।
लक्खारसप्पयासो कुणदि भयं सव्वदेसेसु॥३६॥
किण्हो सुद्दविणासइ.............................. चंदो॥३८॥

---

२९. संस्कृतच्छाया- अथ नंदितूरशंखा नदन्ति अनाहताः स्फुटंति।
अथ पंचमें मासे नरपतिमरणं च ज्ञातव्यं॥९३॥

चंद्रफलादेश सम्बन्धी यह कथन पहले कथन के बिल्कुल विरुद्ध है वह सुख होना कहता है तो यह दुःख होना बतलाता है। समझ में नहीं आता कि ऐसी हालत में कौन बुद्धिमान् इन कथनों को केवली या श्रुतकेवली के वाक्य मानेगा? वास्तव में ऐसे पूर्वापर विरुद्ध कथन किसी भी केवली के वचन नहीं हो सकते। अस्तु। ये तो हुए पूर्वापर विरुद्ध कथनों के नमूने। अब आगे दूसरे प्रकार के विरुद्ध कथनों को लीजिए।

मिथ्या क्रियायें

(४) संहिता के द्वितीय खण्ड विषयक अध्याय नं० २७ में लिखा है कि 'प्रीति' और 'सुप्रीति' ये दो क्रियायें पुत्र के जन्म होने पर करनी चाहिए। साथ ही, जन्म से पहले 'पुंसवन' और '[३०]सीमन्त' नाम की दूसरी दो क्रियाओं के करने का भी विधान किया है। यथा–

गर्भस्य त्रितये मासे व्यक्ते पुंसवनं भवेत्।
गर्भे व्यक्ते तृतीये चेच्चतुर्थे मासि कारयेत्॥१३९॥
अथ षष्ठाष्टमे मासि सीमन्तविधिरुच्यते।
केशमध्ये तु गर्भिण्याः सीमा सीमन्तमुच्यते॥१४२॥
पुत्रस्य जन्मसंजातौ प्रीतिसुप्रीतिके क्रिये।
प्रियोद्भवश्च सोत्साहः कर्तव्यो जातकर्मणि॥१४९॥

परन्तु भगवज्जिनसेनप्रणीत आदिपुराण में गर्भाधान से निर्वाण पर्यन्त ५३ क्रियाओं का वर्णन करते हुए, जिनमें उक्त 'पुंसवन' और 'सीमन्त' नाम की क्रियायें नहीं हैं, लिखा है कि 'प्रीति' क्रिया गर्भ से तीसरे महीने और सुप्रीति क्रिया पाँचवें महीने करनी चाहिए। साथ ही, यह भी लिखा है कि उक्त ५३ क्रियाओं से भिन्न जो, दूसरे लोगों की मानी हुई, गर्भ से मरण तक की क्रियायें हैं वे सम्यक् क्रियायें न होकर मिथ्या क्रियायें समझनी चाहिए। यथा–

''गर्भाधानात्परं मासे तृतीये संप्रवर्त्तते।
प्रीतिर्नामि क्रिया प्रीतैर्याऽनुष्ठेया द्विजन्मभिः॥३८-७७॥
आधानात्पंचमे मासि क्रिया सुप्रीतिरिष्यते।
या सुप्रीतैः प्रयोक्तव्या परमोपासकव्रतैः ॥८०॥
क्रिया गर्भदिका यास्ता निर्वाणान्ताः पुरोदिताः।
आधानादिस्मशानान्ता न ताः सम्यक्क्रिया मताः॥३९-२५॥

इससे साफ जाहिर है कि संहिता उक्त कथन आदिपुराण के कथन से विरुद्ध है और उसकी 'पुंसवन' तथा 'सीमंत' नाम की दोनों क्रियायें भगवज्जिनसेन के वचनानुसार मिथ्या क्रियायें हैं। वास्तव में ये दोनों क्रियायें हिन्दू धर्म की क्रियायें (संस्कार) हैं। हिन्दुओं के धर्म ग्रन्थों में इनका विस्तार के साथ वर्णन पाया जाता है। पुंसवन सम्बन्धी क्रिया का अभिप्राय उनके यहाँ यह माना जाता है

३०. गर्भवती के केशों की रचना-विशेष माँग उपाड़ना।

कि इसके कारण गर्भिणी के गर्भ से लड़का पैदा होता है। परन्तु जैन सिद्धान्त के अनुसार, इस प्रकार के संस्कार से, गर्भ में आई हुई लड़की का लड़का नहीं बन सकता। इसलिए जैन धर्म से इस संस्कार का कुछ सम्बन्ध नहीं है।

दंड में मुनि-भोजन-विधान

(५) इस संहिता के प्रथम खण्ड में 'प्रायश्चित्त' नाम का एक अध्याय है, जिसके दो भाग हैं- पहला पद्य भाग और दूसरा गद्य भाग। पद्य भाग में व्यभिचार का दण्डविधान करते हुए, एक स्थान पर ये चार पद्य दिये हैं-

माता मातानुजा ज्येष्ठा लिंगिनी भगिनी स्नुषा।
चाण्डाली भ्रातृपत्नी च मातुली गोत्रजाथवा॥२८॥
सकृद्भ्रान्त्याथ दर्पाद्वा सेविता दुर्जनेरिता।
प्रायश्चित्तोपवासाः स्युस्त्रिंशत्तच्छीर्षमुंडनम्॥२९॥
तीर्थयात्राश्च पंचैव महाभिषेकपूर्वकम्।
कृत्वा नित्यार्चनायाश्च क्षेत्रं घंटां वितीर्य च॥३०॥
भोजयेन्मुनिमुख्यानां संघं द्विशतसंमितं।
वस्त्राभरणताम्बूलभोजनैः श्रावकान् भजेत्॥३१॥

इन पद्यों में लिखा है कि यदि एक बार भ्रम से अथवा जान बूझकर अपनी माता, माता की छोटी-बड़ी बहिन, लिंगिनी (आर्यिकादिक), बहिन, पुत्रवधू, चांडाली, भाई की स्त्री, मामी अथवा अपने गोत्र की किसी दूसरी स्त्री का सेवन हो जाये तो उसके प्रायश्चित्त में तीस उपवास करने चाहिए, उस स्त्री का सिर मूँडना चाहिए, महाभिषेक पूर्वक पाँच तीर्थयात्रायें करनी चाहिए, नित्यपूजन के लिए भूमि तथा घंटा वितरण करना चाहिए। और यह सब कर चुकने के बाद, प्रधान मुनियों के दो सौ संख्या प्रमाण संघ को भोजन खिलाना चाहिए। साथ ही, श्रावकों को वस्त्राभूषण, ताम्बूल और भोजन से संतुष्ट करना चाहिए। इस दंडविधान में, अन्य बातों को छोड़कर, दो सौ मुनियों को भोजन कराने की बात बड़ी ही विलक्षण है। जैनियों के चरणानुयोग तथा प्राचीन यत्याचार-विषयक ग्रन्थों से इसका जरा भी मेल नहीं है। जिन जैन मुनियों के विषय में लिखा है कि वे उद्गमादिक छ्यालीस दोषों तथा ३२ अंतरायों को टालकर शुद्ध आहार लेते हैं। किसी का निमंत्रण स्वीकार नहीं करते और यह मालूम हो जाने पर, कि भोजन उनके उद्देश्य से तैयार किया गया है, दातार के घर से वापस चले जाते हैं। उनके लिए दंड स्वरूप में प्रस्तुत किया हुआ और खास उन्हीं के उद्देश्य से तैयार किया हुआ इस प्रकार का भोजन कभी विधेय नहीं हो सकता। इसलिए दंडविधान का यह नियम जैनधर्म की नीति के विरुद्ध है। साथ ही, इसका अनुष्ठान भी प्रायः अशक्य जान पड़ता है। बहुत संभव है कि इस दंडविधान में उस समय के भट्टारकों का, जो अपने आपको मुनिमुख्य मानते थे और जिनका थोड़ा बहुत परिचय इस लेख में आगे चलकर दिया जायेगा, कुछ स्वार्थ छिपा हुआ हो। परन्तु कुछ भी हो, इसमें संदेह

नहीं कि, यह कथन जैनधर्म की दृष्टि से विरुद्ध अवश्य है। जैनधर्म के प्रायश्चित्त ग्रन्थों में श्री नन्दनन्द्याचार्य के शिष्य गुरुदासाचार्य का बनाया हुआ 'प्रायश्चित्तसमुच्चय' नाम का एक प्राचीन ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की चूलिका में उक्त प्रकार के अपराध का प्रायश्चित्त सिर्फ ३२ उपवास प्रमाण लिखा है। यथा–

सुतामातृभगिन्यादि चाण्डालीरभिगम्य च।
अश्नुवीतोपवासानां द्वात्रिंशतमसंशयम्॥१५०॥

इससे मालूम होता है कि संहिता के उपर्युक्त दंडविधान में उपवासों को छोड़कर शेष मुंडन, तीर्थयात्रा, महाभिषेक, पूजन के लिए भूम्यादि अर्पण और मुनिभोजनादि का, सम्पूर्ण विधान सिर्फ दो उपवासों के स्थान में प्रस्तुत किया गया है। साथ ही, दंड क्षेत्र विस्तृत करने के लिए इसमें कुछ अधिकार वृद्धि भी पाई जाती है। पाठक देखें और सोचें कि, यह सब कथन प्रायश्चित्तसमुच्चय के कथन से कितना असंगत और विरुद्ध है। इस प्रकार का और भी बहुत सा कथन इस अध्याय में पाया जाता है।

पद्य में कुछ और गद्य में कुछ

(६) साथ ही, इस अध्याय में कुछ दंड-विधान ऐसा भी देखने में आता है जो पद्य में कुछ है तो गद्य में कुछ और है। अर्थात् एक ही अपराध के लिए दोनों भागों में भिन्न-भिन्न प्रकार का दंड प्रयोग किया गया है। और जो इस बात को भी सूचित करता है कि ये दोनों भाग किसी एक व्यक्ति के बनाये हुए नहीं हैं। इस प्रकार के कथनों का एक नमूना इस प्रकार है–

गर्वान्मांसं च मद्यं च क्षौद्रं सेवितवानसौ।
एकशः क्षपणं तस्य विंशत्यभ्यधिकं शतम्॥२२॥
प्रमादादुपवासाः स्युर्विंशतिर्दोषहानये।

इस डेढ़ पद्य में गर्व से मद्य, मांस और मधु नामक तीन मकारों के सेवन का प्रायश्चित्त १२१ उपवास प्रमाण और प्रमाद से उनके सेवन का प्रायश्चित्त सिर्फ २० उपवास प्रमाण लिखा है। अब गद्य भाग को देखिए–

''मकारत्रयसेवितस्य प्रायश्चित्तं विद्येत उपवासा द्वादश १२, अभिषेकाः पंचाशत् ५०, आहारदानानि पंचाशत् ५०, कलशाभिषेक एकः १, पुष्पसहस्रचतुर्विंशतिः २४०००, तीर्थयात्रा द्वे २, गंधं पलचतुष्टयं ४, संघपूजा, गद्याण? त्रय सुवर्णे ३, वीटिका शतमेकं, कायोत्सर्गाश्चतुर्विंशतिः। यदि प्रमादतः मकारत्रयसेविता उपवासषट्कं ६, एकभक्ताष्टकं, पंचविंशत्याहारदानानि २५, पंचविंशतिरभिषेकाः २५, पुष्पसहस्राणि पंच ५०००, गंधं पलद्वयं २, पूजा द्वादश १२, ताम्बूलबीटक-पंचाशत् ५०, कायोत्सर्गा द्वादश १२॥''

यह कथन पहले कथन से कितना विलक्षण है, इसे बतलाने की जरूरत नहीं है। पाठक एक नजर डालते ही स्वयं मालूम कर सकते हैं। हाँ, प्रायश्चित्तसमुच्चय का इस विषय में क्या विधान है?

यह बतला देना जरूरी है। और वह इस प्रकार है–

''रेतोमूत्रपुरीषाणि मद्यमांसमधूनि च।
अभक्ष्यं भक्षयेत्षष्ठं दर्पतश्च द्विषट् क्षमाः॥१४७॥

इसमें दर्प से मद्य, मांस और मधु के सेवन का प्रायश्चित्त बारह उपवास प्रमाण बतलाया है और प्रमाद से उनका सेवन होने में 'षष्ठ' नाम का प्रायश्चित्त तजवीज किया है, जो तीन उपवास प्रमाण होता है।

सबके लिए एक ही दंड

(७) उक्त 'प्रायश्चित्त' नाम के अध्याय में ब्रह्महत्या, गोहत्या, स्त्रीहत्या, बालहत्या और सामान्य मनुष्यहत्या इन सब हत्याओं में से प्रत्येक हत्या करने वाले के लिए एक ही प्रकार का दंड तजवीज किया गया है। यथा–

'ब्रह्महत्या–गोहत्या–स्त्रीहत्या–बालहत्या–सामान्य–मनुष्यहत्यादिकरणे प्रायश्चित्तं उपवासाः त्रिंशत् ३०, एकभक्तानि पंचाशत् ५०, कलशाभिषेकौ द्वौ।'

परन्तु जैनधर्म की दृष्टि से इन सभी अपराधों के अपराधी एक ही दंड के पात्र नहीं हो सकते। प्रायश्चित्तसमुच्चय की चूलिका में भी गोहत्या से स्त्रीहत्या, स्त्रीहत्या से बालहत्या, बालहत्या से श्रावकहत्या और श्रावकहत्या से साधुहत्या का प्रायश्चित्त उत्तरोत्तर अधिक बतलाया है। यथा–

''साधूपासकबालस्त्रीधेनूनां घातने क्रमात्।
यावद्द्वादश मासाः स्यात्षष्ठमर्धार्धहानियुक्॥११॥[३१]

ऐसी हालत में संहिता का सबके लिए उपर्युक्त एक ही प्रकार का दंडविधान करना जैनधर्म की दृष्टि के अनुकूल प्रतीत नहीं होता।

प्रायश्चित्त या अन्याय

(८) इसी प्रायश्चित्ताध्याय में गृहस्थों के लिए बहुत-सा ऐसा दंडविधान भी पाया जाता है जो आकस्मिक घटनाओं से होने वाली मृत्युओं से सम्बन्ध रखता है। जैसे साँप बिच्छू आदि से डसा जाना, व्याघ्र आदि से भक्षित होना, वृक्ष या मकान पर से गिर जाना, मार्ग में जाते हुए ठोकर खाकर गिर पड़ना, वज्रपात का होना, सींगवाले पशु का सींग लग जाना और स्त्री के प्रसव का होना आदि। इन सब कारणों में से किसी भी कारण से जो आकस्मिक मृत्यु होती है उसके लिए यह दंडविधान किया गया है–

''प्रायश्चित्तं उपवासाः ५, एकभक्तानि विंशतिः २०, कलशाभिषेकद्वयं २, पंचामृताभिषेकाः ५, लध्वभिषेकाः पंचविंशतिः, आहारदानानि चत्वारिंशत्, गावौ द्वे २, गंधपला १०, पुष्पसहस्त्र १०००,

३१. इस पद्य में मुनियों द्वारा ऐसी हत्या हो जाने पर उनके लिए प्रायश्चित्त का विधान किया है। श्रावकों के लिए इससे कमती प्रायश्चित्त है। परन्तु वह भी उत्तरोत्तर इसी क्रम को लिये हुए है। जैसा कि उक्त चूलिका के इस पद्य से प्रकट है– ''श्रमणच्छेदनं यच्च श्रावकानां तदेव हि। द्वयोरपि त्रयाणां च षण्णमर्धार्धहानितः॥१३७॥

संघपूजा गद्याण (?) द्वयं, तीर्थयात्रा कायोत्सर्गाः ६, वीटिका ताम्बूल ५०।''

परन्तु इस दंड का पात्र कौन है? किसको इसका अनुष्ठान करना होगा? यह सब यहाँ कुछ भी नहीं बतलाया गया। जो शख्स मर चुका है उसके लिए तो यह दंड विधान हो नहीं सकता। इसलिए जरूर है कि मृतक के किसी कुटुम्बी के लिए यह सब दंड तजवीज किया गया है। परन्तु उस बेचारे ने कोई अपराध नहीं किया और न मृतक का ही इसमें कोई अपराध था। बिना अपराध के दंड देना सरासर अन्याय है। इसलिए कहना पड़ता है कि यह प्रायश्चित्त नहीं बल्कि अन्याय और अधर्म है, श्रुतकेवली जैसे विद्वानों का यह कर्म नहीं हो सकता। जरूर इसमें किसी का स्वार्थ छिपा हुआ है। गंध, फूल और पानों के बीड़ों आदि को छोड़कर यहाँ पाठकों के सन्मुख दो गाय भी उपस्थित हैं। ये भी दंड में किसी को दान स्वरूप भेंट की जायेंगी। यद्यपि जैनधर्म में गौदान की कोई महिमा नहीं है और न उसके देने से किसी पाप की कोई शांति का होना माना जाता है। प्रत्युत अनेक जैन ग्रन्थों में इस दान को निषिद्ध जरूर लिखा है।[३२] तो भी [३३]उमास्वामिश्रावकाचार जैसे जाली ग्रन्थों में जिनमंदिर के लिए गौदान करने का विधान जरूर पाया जाता है, जिससे अर्हद्भट्टारक के लिए रोजाना शुद्ध पंचामृत तैयार हो सके।[३४] आश्चर्य नहीं कि ऐसे ही किसी आशय से प्रेरित होकर, उसकी पूर्ति के लिए, उपर्युक्त दंडविधान में तथा इसी ग्रन्थ के अंतर्गत और भी बहुत से दंड प्रयोगों में गोदान का विधान किया गया हो। अस्तु! इसी प्रकार इस अध्याय में कुछ दंडविधान ऐसा भी देखने में आता है जिसमें 'अपराधी कोई और दंड किसी को' अथवा 'खता किसी की सजा किसी को' इस दुर्नीति का अनुसरण किया गया है। जैसे आत्महत्या (खुदकुशी) का दंड आत्मघाती के किसी कुटुम्ब को, इत्यादि।

संकीर्ण हृदयोद्‌गार

(९) अब इस प्रायश्चित्ताध्याय से दो चार नमूने ऐसे भी दिखलाये जाते हैं, जो जैनधर्म की उदार नीति के विरुद्ध हैं। यथा–

१. ''अस्नातान्न स्पृशेत्सर्वान् स्नातानपि च शूद्रकान्।
कुलालमालिकदिवाकीर्त्तिचक्रिकुविंदकान्॥४५॥

---

३२. यथा–यया जीवा हि हन्यन्ते पुच्छशृंगखुरादिभिः॥९-५४॥ यस्यां च दुहामानायां तर्णकः पीड्यते तरं। तां गां वितरता श्रेयो लभ्यते न मनागपि॥ -५५॥'' -इति अमितगत्युपासकाचारः।

३३. यह ग्रन्थ परीक्षा द्वारा जाली सिद्ध किया जा चुका है। देखो जैन हितैषी दसवाँ भाग अंक १-२।

३४. जैसा कि निम्न वाक्यों से प्रकट है–

''-पुष्पं देयं महाभक्त्या न तु दुष्टजनैर्धृतम्॥२-१२९॥
पयोर्थं गौ जलार्थं वा कूपं पुष्पसुहेतवे। वाटिकां संप्रकुर्वंश्च नातिदोषधरो भवेत्॥१३०॥''

२. मातंगश्वपचादीनां छायापतनमात्रतः।
तदा जलाशयं गत्वा सचेलस्नानमाचरेत्॥५६॥
३. उच्छिष्टास्पृश्यकाकादिविण्मूत्रस्पर्शसंशये।
अस्पृश्यमृष्टसूर्पादिकटादिस्पर्शने द्विजः॥८२॥
४. शुद्धे वारिणि पूर्वोक्तयंत्रमंत्रैः सचेलकः।
कुर्यात्स्नानत्रयं दंतजिह्वाघर्षणपूर्वकम्॥८३॥
५. मिथ्यादृशां गृहे पात्रे भुंक्ते वा शूद्रसद्मनि।
तदोपवासाः पंच स्युर्जाप्यं तु द्विसहस्त्रकम्॥८६॥

इन पद्यों में से पहले पद्य में लिखा है कि, चारों वर्णों में से किसी भी वर्ण का अथवा मनुष्य मात्र में से कोई भी क्यों न हो यदि उसने स्नान नहीं किया है तो उसे छूना नहीं चाहिए और शूद्रों को कुम्हार, माली, नाई, तेली तथा जुलाहों को यदि वे स्नान भी किये हुए हों तो भी नहीं छूना चाहिए। ये सब लोग अस्पृश्य हैं। दूसरे पद्य में यह बतलाया है कि यदि किसी मातंग श्वपदादिक की अर्थात् भील, चांडाल, म्लेच्छ, भंगी और चमार आदि की छाया भी शरीर पर पड़ जाये तो तुरन्त जलाशय को जाकर वस्त्रसहित स्नान करना चाहिए तीसरे और चौथे पद्य में यहाँ तक आज्ञा की है कि, यदि किसी उच्छिष्ट पदार्थ से, अस्पृश्य मनुष्यादिक से, काकादिक[३५] से अर्थात् कौआ, कुत्ता, गधा, ऊँट, पालतू सुअर नाम के जानवरों से और मलमूत्र से छू जाने का संदेह भी हो जाये अथवा किसी ऐसे छाज-छलनी वगैरह का तथा चटाई आसनादिक का स्पर्श हो जाये जिसमें कोई अस्पृश्य पदार्थ लगा हुआ हो तो इन दोनों ही अवस्थाओं में दाँतों तथा जीभ को रगड़कर यंत्र मंत्रों के साथ शुद्धजल में तीन बार वस्त्रसहित स्नान करना चाहिए!! और पाँचवें पद्य में इससे भी बढ़कर यह आदेश है कि यदि मिथ्यादृष्टियों अर्थात् अजैनों के घर पर अपने पात्रों में तथा अपने ही घर पर उनके पात्रों में भोजन हो जाये अथवा शूद्र के घर पर बैठकर चाहे वह सम्यग्दृष्टि और व्रतिक जैनी ही क्यों न हो कुछ खा लिया जाये तो इस पाप की शांति के लिए तुरन्त दो हजार संख्या प्रमाण जाप्य के साथ पाँच उपवास करने चाहिए!!! पाठको! देखा, कैसा धार्मिक उपदेश है! घृणा और द्वेष के भावों से कितना अलग है! परोपकारमय जीवन बिताने तथा जगत् का शासन, रक्षण और पालन करने के लिए कितना अनुकूल है! सार्वजनिक प्रेम और वात्सल्यभाव इससे कितना प्रवाहित होता है। और साथ ही, जैनधर्म के उस उदार उद्देश्य से कितना सम्बन्ध है जिसका चित्र जैन ग्रन्थों में, जैन तीर्थंकरों की 'समवसरण' नाम की सभा का नक्शा खींचकर दिखलाया जाता है!! कहा जाता है कि जैन तीर्थंकरों की सभा में ऊँच-नीच के भेदभाव को छोड़कर, सब मनुष्य ही नहीं बल्कि पशु-पक्षी तक भी शामिल

---

३५. 'आदि' शब्द से श्वान (कुत्ता) आदि का जो ग्रहण किया गया है वह इससे पहले के 'स्पृष्टे विण्मूत्रकाक-श्वाखरोष्ट्रग्रामशूकरे' इस वाक्य के आधार पर किया गया है।

होते थे। और वहाँ पहुँचते ही वे आपस में ऐसे हिल-मिल जाते थे कि अपने-अपने जाति-विरोध तक को भी भुला देते थे। सर्प निर्भय होकर नकुल के पास खेलता था और बिल्ली प्रेम से चूहे का आलिंगन करती थी। कितना ऊँचा आदर्श और कितना विश्वप्रेममय भाव है! कहाँ यह आदर्श? और कहाँ संहिता का उपर्युक्त विधान? इससे स्पष्ट है कि संहिता का यह सब कथन जैनधर्म की शिक्षा न होकर उससे बहिर्भूत है। जैन तीर्थंकरों का कदापि ऐसा अनुदार शासन नहीं हो सकता है और न जैन सिद्धान्तों से इसका कोई मेल है। इसलिए कहना होगा कि उपर्युक्त प्रकार का सम्पूर्ण कथन दूसरे धर्मों से उधार लेकर रखा गया है। और यह किसी ऐसे संकीर्णहृदय व्यक्ति का हृदयोद्गार है जिसने शुद्धि और अशुद्धि के तत्त्व को ही नहीं समझा।[३६] निःसंदेह जब से, कुछ महात्माओं की कृपा से, जैनधर्म के साहित्य में इस प्रकार के अनुदार विचारों का प्रवेश हुआ है तब से जैनधर्म को बहुत बड़ा धक्का पहुँचा है और उसकी सारी प्रगति रुक गई। वास्तव में ऐसे अनुदार विचारों के अनुकूल चलने वाले संसार में कभी कोई उन्नति नहीं कर सकते और न उच्च तथा महान् बन सकते हैं।

पिण्डदान और तर्पण

(१०) पहले खण्ड के 'दायभाग' नामक ९वें अध्याय में लिखा है कि 'दायग्रहण और पिण्डदान में दोहिते पोतों की बराबर हैं'। साथ ही, दूसरे स्थान पर पुत्रों का विभाग करते हुए, जैनागम के अनुसार छह प्रकार के पुत्रों को दायग्रहण और पिण्डदान के अधिकारी बतलाये हैं। यथा—

दाये वा पिण्डदाने च पौत्रैः दौहित्रकाः समाः॥२५॥

औरसो दत्तको मुख्यौ क्रीतसौतसहोदराः।
तथैवोपनतश्चैव इमे गौणा जिनागमे॥
दायादाः पिंडदाश्चैव इतरे नाधिकारिणः॥८४॥

इस कथन से ग्रन्थकर्ता ने यह सूचित किया है कि पितरों के लिए पिण्डदान का करना भी जैनियों द्वारा मान्य है और यह जैनधर्म की क्रिया है। परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। यह सब हिन्दूधर्म की कल्पना है। हिन्दुओं के यहाँ इस पिण्डदान के करने से पितरों की सद्गति आदि अनेक फल माने गये हैं और उनके लिए वे गया आदिक तीर्थों पर भी पिंड देने जाते हैं। जिसका जैनधर्म से कुछ सम्बन्ध नहीं है। जैन सिद्धान्त के अनुसार न तो वह पिंड उन पितरों को पहुँचता है और न उसके द्वारा उनकी सद्गति आदि कोई दूसरा कल्याण हो सकता है। इसलिए संहिता का यह कथन जैनधर्म के विरुद्ध है। इसी प्रकार कुल-देवताओं का तर्पण-विषयक कथन भी जैनधर्म के विरुद्ध है, जिसे ग्रन्थकर्ता ने इसी खण्ड के पहले अध्याय में दिया है। यथा—

''वामहस्तपयः पात्राज्जलमग्नकरांजलौ।
कृत्वान्नममृतीकृत्य तर्पयेत्कुलदेवताः॥९७॥

३६. लेखक का विचार है कि शुद्धि तत्त्व मीमांसा नाम का एक विस्तृत लेख लिखा जाये और उसके द्वारा इस विषय पर प्रकाश डाला जाये। अवसर मिलने पर उसके लिए प्रयत्न किया जायेगा।

ओम् ह्रीं ओम् वं हूँ पयः इदमन्नममृतं भवतु स्वाहा।
अन्नेन घृतसिक्तेन नमस्कारेण वै भुवि।
त्रिस्त्र एवाहुतीर्दद्याद्भोजनादौ तु दक्षिणे॥९८॥

यह कथन भोजन-समय का है अर्थात् भोजन के लिए गोबर का चतुष्कोणादि मंडल बनाकर बैठने के बाद का यह विधान है इसमें लिखा है कि ''भोजन से पहले, बायें हाथ के जलपात्र से अंजलि में जल लेकर और उपर्युक्त मंत्र पढ़कर, अन्न का अमृतीकरण करे। और फिर उस घृतमिश्रित अन्न से कुल-देवताओं का इस प्रकार से तर्पण करे कि उस अन्न से तीन आहुतियें दक्षिण की ओर पृथ्वी पर छोड़े।'' इसके बाद 'आपोऽशन' का विधान है। अस्तु, यह सब कथन भी हिन्दूधर्म का कथन है और उन्हीं के धर्मग्रन्थों से लिया गया मालूम होता है। जैन सिद्धान्त के अनुसार तर्पण का अन्नजल पितरों तथा देवताओं को नहीं पहुँच सकता और न उससे उनकी कोई तृप्ति होती है। हिन्दू धर्म में तर्पण का कैसा सिद्धान्त है? कैसी कैसी विचित्र कल्पनायें हैं? जैनधर्म के सिद्धान्तों से उनका कहाँ तक मेल है? वे कितनी असंगत और विभिन्न हैं? और किस प्रकार से कुछ कपट वेषधारी निर्बल आत्माओं ने उन्हें जैन समाज में प्रचलित करना चाहा है? इन सब बातों का कुछ विशेष परिचय पाने के लिए पाठकों को 'जिनसेन त्रिवर्णाचार' की [३७]परीक्षा का लेख देखना चाहिए!

दन्तधावन का फल नरक

(११) संहिता के पहले अध्याय में, दन्तधावन का वर्णन करते हुए एक पद्य इस प्रकार से दिया है-

''सहस्त्रांशावनुदिते यः कुर्याद्दन्तधावनम्।
स पापी नरकं याति सर्वजीवदयातिगः॥३८॥

इसमें लिखा है कि ''जो मनुष्य सूर्योदय से पहले दन्तधावन करता है वह पापी है, सर्व जीवों के प्रति निर्दयी है और नरक जायेगा।'' परन्तु उसने पाप का कौनसा विशेष कार्य किया? कैसे सर्व जीवों के प्रति उसका निर्दयत्व प्रमाणित हुआ? और जैनधर्म के किस सिद्धान्त के अनुसार उसे नरक जाना होगा? इन सब बातों का उक्त पद्य से कुछ भी बोध नहीं होता। आगे पीछे के पद्य भी इस विषय में मौन हैं और कुछ उत्तर नहीं देते। जैन-सिद्धान्तों को बहुत कुछ टटोला गया। कर्मफिलॉसोफी का बहुतेरा मंथन किया गया। परन्तु ऐसा कोई सिद्धान्त अर्थात् कर्मप्रवृत्ति का कोई नियम मेरे देखने में नहीं आया जिससे बेचारे प्रातःकाल उठकर दन्तधावन करने वाले को नरक भेजा जाये। हाँ, इस ढूंढ खोज में, स्मृतिरत्नाकर से, हिन्दूधर्म का एक वाक्य जरूर मिला है, जिसमें उपवास के दिन दन्तधावन करने वाले को नरक की कड़ी सजा दी गई है। और इतने पर भी संतोष नहीं किया गया बल्कि उसे चारों युगों में व्याघ्र का शिकार भी बनाया गया है। यथा-

---

३७. यह लेख जैनहितैषीकी १० वें वर्ष की फायल में छपा है।

''उपवासदिने राजन् दन्तधावनकृन्नरः।
स घोरं नरकं याति व्याघ्रभक्षश्चतुर्युगम्॥ इति नारदः।

बहुत संभव है कि ग्रन्थकर्ता ने हिन्दूधर्म के किसी ऐसे ही वाक्य का अनुसरण किया हो। अथवा जरूरत बिना जरूरत उसे कुछ परिवर्तन करके रखा हो। परन्तु कुछ भी हो इसमें संदेह नहीं कि संहिता का उक्त वाक्य सैद्धान्तिक दृष्टि से जैनधर्म के बिल्कुल विरुद्ध है।

अद्भुत न्याय

(१२) पहले खण्ड के तीसरे अध्याय में एक स्थान पर ये दो पद्य पाये जाते हैं–

दंडोऽदंड्येषु देयस्तु यशोघ्नो दुरिताकरः।
परत्र नरकं याति दाता भूपः कुटुम्बयुक्॥२४८॥
अदंड्यदंडनं राजा कुर्वन्दंड्यानदंडयन्।
लोके निन्दामवाप्नोति परत्र नरकं व्रजेत्॥२४९॥

इन दोनों पद्यों में निरपराधी को दंड देने वाले राजा को और दूसरे पद्य में अपराधी को छोड़ देने वाले अर्थात् क्षमा कर देने वाले राजा को भी नरक का पात्र ठहराया है। लिखा है कि इस लोक में उसकी निन्दा होती है जो प्रायः सत्य है और मरकर परलोक में वह नरक गति को जाता है। नरक गति का यह फर्मान इस विषय का कोई फाइनल आर्डर (अंतिम फैसला) हो सकता है या नहीं? अथवा यों कहिए कि वह नियम से नरक गति जायेगा या नहीं? यह बात अभी विवादास्पद है। जैन सिद्धान्त की दृष्टि से यदि किसी निरपराधी को दंड मिल जाये अथवा कोई अपराधी दंड से छूट जाये या छोड़ दिया जाये तो सिर्फ इतने कृत्य से ही कोई राजा नरक का पात्र नहीं बन जाता। उसके लिए और भी अनेक बातों की जरूरत रहती है। परन्तु मनु का ऐसा विधान जरूर पाया जाता है। यथा–

''अदंड्यान्दंडयन् राजा दंड्याश्चैवाप्यदंडयन्।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति॥८-१२८॥

यह पद्य ऊपर के दूसरे पद्य नं० २४९ से बहुत कुछ मिलता जुलता है, और दोनों का विषय भी एक है। आश्चर्य नहीं कि ऊपर का वह पद्य इसी पद्य पर से बनाया गया हो। परन्तु इन सब प्रासंगिक बातों को छोड़िए, और खास पहले पद्य नं० २४८ के 'कुटुम्बयुक्' पद पर ध्यान दीजिए, जिसका अर्थ होता है कि वह राजा कुटुम्ब-सहित नरक जाता है। क्यों? कुटुम्बियों ने क्या कोई अपराध किया है जिसके लिए उन्हें नरक भेजा जाये? चाहे उन बेचारों को राजा के कृत्यों की खबर तक भी न हो, वे उसके उन कार्यों में सहायक और अनुमोदक भी न हों और चाहे राजा के उस आचरण को बुरा ही समझते हों, परन्तु फिर भी उन सबको नरक जाना होगा! यह कहाँ का न्याय और इंसाफ है!! जैनधर्म की कर्म फिलॉसोफी के अनुसार कुटुम्ब का प्रत्येक व्यक्ति अपने ही कृत्यों का उत्तरदायी और अपने ही उपार्जन किये हुए कर्मों के फल का भोक्ता है। ऐसी हालत में ऊपर का सिद्धान्त कदापि जैनधर्म का सिद्धान्त नहीं हो सकता। अस्तु, इसी प्रकार का एक कथन दायभाग नाम

के अध्याय में भी पाया जाता है। यथा–

''दत्तं चतुर्विधं द्रव्यं नैव गृह्णंति चोत्तमाः।
अन्यथा सकुटुम्बास्ते प्रयान्ति नरकं ततः॥७१॥

इसमें लिखा है कि 'उत्तम पुरुष दिये हुए चार प्रकार के द्रव्य को वापस नहीं लेते। और यदि ऐसा करते हैं तो वे उसके कारण कुटुम्ब सहित नरक में जाते हैं।' ऐसे अटकलपच्चू और अव्यवस्थित वाक्य कदापि केवली या श्रुतकेवली के वचन नहीं हो सकते। उनके वाक्य बहुत ही जँचे और तुले होने चाहिए। परन्तु ग्रन्थकर्ता इन्हें 'उपासकाध्ययन' से उद्धृत करके लिखना बयान करता है, जो द्वादशांगश्रुत का सातवाँ अंग कहलाता है! पाठक सोचें, कि ग्रन्थकर्ता महाशय कितने सत्य वक्ता है!

कन्याओं पर आपत्ति

(१३) दूसरे खण्ड के 'लक्षण' नामक ३७वें अध्याय में, स्त्रियों के कुलक्षणों का वर्णन करते हुए, लिखा है कि 'जिस कन्या का नाम किसी नदी, देवी, कुल, आम्नाय, तीर्थ या वृक्ष के नाम पर होवे उसका मुख नहीं देखना चाहिए। यथा–

नदीदेवीकुलाम्नायतीर्थवृक्षसुनामतः ।
एतन्नामा च या कन्या तन्मुखं नावलोकयेत्॥१२०॥

यह वचन कितना निष्ठुर है! कितना धर्मशून्य है! और इसके द्वारा कन्याओं पर कितनी आपत्ति डालने का आयोजन किया गया है, इसका विचार पाठक स्वयं कर सकते हैं। समझ में नहीं आता कि किस आधार पर यह आज्ञा प्रचारित की गई है? और लक्षण-शास्त्र से इस कथन का क्या सम्बन्ध है? क्या पैदा होते समय कन्या के मस्तकादिक किसी अंगविशेष पर उसका कोई नाम खुदा हुआ होता है, जिससे अशुभ या शुभ नाम के कारण वह भयंकरी समझ ली जाये? और लोगों को उससे अपना मुँह छिपाने, आँखें बन्द करने या उसे कहीं प्रवासित करने की जरूरत पैदा हो? जब ऐसा कुछ भी न होकर स्वयं माता-पिताओं के द्वारा अपनी इच्छानुसार कन्याओं का नाम रखा जाता है तो फिर उसमें उन बेचारी अबलाओं का क्या दोष है, जिससे वे अदर्शनीय और अनवलोकनीय समझी जायें? जिन पाठकों को उस कपटी साधु का उपाख्यान याद है, जिसने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए अपनी पाशविक इच्छा को पूरा करने के अभिप्राय से एक सर्वांग सुन्दरी कन्या को कुलक्षणा और अदर्शनीया कहकर उसे उसके पिता द्वारा मंजूषे में बन्द कराकर नदी में बहाया था, वे इस बात का अनुभव कर सकते हैं कि समय-समय पर इस प्रकार के निराधार और निर्हेतुक वचन ऐसे ही स्वार्थ-साधुओं द्वारा भूमंडल पर प्रचारित हुए हैं। मनुष्यों को विवेक से काम लेना चाहिए और किसी के कहने सुनने या धोखे में नहीं आना चाहिए।

कूटोपदेश और मायाजाल

(१४) तीसरे खण्ड के 'प्रतिष्ठा क्रम' नामक दूसरे अध्याय में, गुरू के उपदेशानुसार कार्य करने का विधान करते हुए लिखा है कि–

''यो न मन्येत तद्वाक्यं सो मन्येत न चार्हतम्।
जैनधर्मबहिर्भूतः प्राप्नुयान्नारकीं गतिं॥८८॥''

अर्थात्–जो गुरु के वचन को नहीं मानता वह अर्हन्त के वचनों को नहीं मानता। उसे जैनधर्म से बहिर्भूत समझना चाहिए और वह मरकर नरक गति को प्राप्त होगा। नरक गति का यह फर्मान भी बड़ा ही विलक्षण है! इसके अनुसार जो लोग जैनधर्म से बहिर्भूत हैं अर्थात् अजैनी हैं उन सबको नरक जाना पड़ेगा! साथ ही, जो जैनी हैं और जैन गुरु के पदवीधारी गुरु के उल्टे-सीधे सभी वचनों को नहीं मानते, किसी को मान लेते हैं और किसी को अमान्य कर देते हैं उन सबको भी नरक जाना होगा! कैसा कूटोपदेश है! स्वार्थ रक्षा की कैसी विचित्र युक्ति है! समाज में कितनी अन्धश्रद्धा फैलाने वाला है! धर्मगुरुओं स्वार्थसाधुओं कपट वेषधारियों के अन्याय और अत्याचार का कितना उत्पादक और पोषक है। साथ ही, जैनियों के तत्त्वार्थसूत्र में दिये हुए नरकायु के कारण विषयक सूत्र से 'बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः' इस वाक्य से इसका कहाँ तक सम्बन्ध है? इन सब बातों को विज्ञ पाठक विचार सकते हैं। समझ में नहीं आता कि जैन गुरु के किसी वचन को न मानने से ही किस प्रकार कोई जैनी अर्हन्त के वचनों का मानने वाला नहीं रहता? क्या सभी जैन गुरु पूर्णज्ञानी और वीतराग होते हैं! क्या उनमें कोई स्वार्थसाधु, कपट वेषधारी, निर्बलात्मा और कदाचारी नहीं होता? और क्या जिन गुरुओं के कृत्यों की यह समालोचना (परीक्षा) हो रही है, वे जैन गुरु नहीं थे? यदि ऐसा कोई नियम नहीं है बल्कि वे अल्पज्ञानी, रागी द्वेषी आदि सभी कुछ होते हैं और जिनके कृत्यों की यह समालोचना हो रही है, वे भी जैन गुरु कहलाते थे, तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि जो गुरु के वचन को नहीं मानता वह अर्हन्त के वचनों को भी नहीं मानता? और उसे जैनधर्म से बहिर्भूत खारिज अजैनी समझना चाहिए? मालूम होता है कि यह सब भोले जीवों को ठगने के लिए कपटी साधुओं का मायाजाल है। उनके कार्यों में कोई बाधा न डाल सके, उनकी काली कृतियों पर, उनके अत्याचार दुराचारों पर कोई आक्षेप न कर सके और समाज में उनकी उल्टी-सीधी सभी बातें प्रचलित हो जायें, इन्हीं सब बातों के लिए यह बंध बांधा गया है। आगे साफ लिख दिया है कि 'तदाज्ञाकारको मर्त्यो न दुष्यति विधौ पुनः'– गुरु की आज्ञा से काम करने वाले को कोई दोष नहीं लगता। कितना बड़ा आश्वासन है। ऐसे ही मिथ्या आश्वासन के द्वारा जैन समाज में मिथ्यात्व का प्रचार हुआ है। अनेक प्रकार की पूजायें देवी देवताओं की उपासनायें जारी हुई हैं, जिनका बहुत-सा कथन इस ग्रन्थ में भी पाया जाता है। इसी प्रतिष्ठाध्याय में अनेक ऐसे कृत्यों की सूचना की गई है जो जैनधर्म के विरुद्ध है, जैन सिद्धान्त से जिनका कोई सम्बन्ध नहीं है और जिनका सर्व साधारण के सन्मुख स्वतंत्र विवेचन प्रकट किये जाने की जरूरत है। यहाँ इस अध्याय के सम्बन्ध में सिर्फ इतना और बतलाया जाता है कि, इसमें मुनि को, साधारण मुनि को नहीं बल्कि गणि और गच्छाधिपति को प्रतिष्ठा का अधिकारी बतलाया है। उसके द्वारा प्रतिष्ठित किए हुए बिम्बादिक के पूजन सेवन का उपदेश दिया है और यहाँ तक लिख दिया है कि जो प्रतिष्ठा ऐसे महामुनि द्वारा न हुई हो उसे सम्यक् तथा सातिशयवती प्रतिष्ठा ही न

समझनी चाहिए और इसलिए उक्त प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित हुई मूर्तियाँ अप्रतिष्ठित ही मानी जानी चाहिए। यथा–

''सामायिकादिसंयुक्तः प्रभुः सूरिर्विचक्षणः।
देशमान्यो राजमान्यः गणी गच्छाधिपो भवेत्॥९२॥
बिम्बं प्रतिष्ठामिन्द्रत्वं तेन संस्कारितं भजेत्।
नो चेत्प्रतिष्ठा न भवेत्सम्यक् सातिशयान्विता॥९३॥

परन्तु इन्द्रनन्दि, वसुनन्दि और एकसंधि आदि विद्वानों ने, पूजासारादि ग्रन्थों में, महाव्रती मुनि के लिए प्रतिष्ठाचार्य होने का सख्त निषेध किया है। और अणुव्रती के लिए चाहे वह स्वदारसंतोषी हो या ब्रह्मचारी, उसका विधान किया है। ऐसी हालत में, जैनी लोग कौनसे गुरु की बात मानें, यह बड़ी कठिन समस्या है! जिस गुरु की बात को वे नहीं मानेंगे उसी की आज्ञा-उल्लंघन के पाप द्वारा उन्हें नरक जाना पड़ेगा। इसलिए जैनियों को सावधान होकर अपने बचने का कोई उपाय करना चाहिए।

अजैन देवताओं की पूजा

(२५) भद्रबाहुसंहिता के तीसरे खण्ड में 'ऋषिपुत्रिका' नामक चौथे अध्याय में, देवताओं की मूर्तियों के फूटने-टूटने आदिरूप उत्पातों के फल का वर्णन करते हुए, 'अथान्यदेवतोत्पातमाह' यह वाक्य देकर लिखा है कि 'भंग होने पर कुबेर की प्रतिमा वैश्यों का, स्कंद की प्रतिमा भोज्यों का, नंदिवृषभ (नादिया बैल) की प्रतिमा कायस्थों का नाश करती है, इन्द्र की प्रतिमा युद्ध को उपस्थित करती है, कामदेव की प्रतिमा भोगियों का, कृष्ण की प्रतिमा सर्व लोक का, अर्हन्त-सिद्ध तथा बुद्धदेव की प्रतिमायें साधुओं का नाश करती हैं, कात्यायनी, चंडिका, केशी, काली की मूर्तियाँ सर्व स्त्रियों का, पार्वती, दुर्गा, सरस्वती, त्रिपुरा की मूर्तियाँ बालकों का, वराही की मूर्ति हाथियों का घात करती है, नागिनी की मूर्ति स्त्रियों के गर्भों का और लक्ष्मी तथा शांकभरी देवी की मूर्तियाँ नगरों का विनाश करती हैं। इसी प्रकार यदि शिवलिंग फूट जाये तो उससे मंत्री का भेद होता है, उसमें से अग्निज्वाला निकलने पर देश का नाश समझना चाहिए, और चर्बी, तेल तथा रुधिर की धारायें निकलने पर वे किसी प्रधान पुरुष के रोग का कारण होती हैं। यदि इन देवताओं की भक्तिभावपूर्वक पूजा नहीं की जाती है तो ये सभी उत्पात तीन महीने के भीतर अपना-अपना रंग दिखलाते हैं अर्थात् फल देते हैं।' इस कथन के आदि और अंत की दो-दो गाथायें नमूने के तौर पर इस प्रकार हैं–

''वणियाणं च कुबेरो खंदो भोयाण णासणं कुणदि।
कायत्थाणं वसहो इंदो रण्णं णिवेदेदि॥८२॥
भोगवदीण य कामो किण्हो पुण सव्वलोयणासयरो।
अरहंतसिद्धबुद्धा जदीण णासं पकुव्वंति॥८३॥
'फुडिदो मंतियभेदं अग्गीजालेण देसणासयरो।

वसतेलरुहिरधारा कुणंति रोगं णरवरस्स॥८७॥
मासेहिं तीयेहिं रूवं दंसंति अप्पणो सव्वे।
जदि णवि कीरदि पूजा देवाणं भक्तिरायेण॥८८॥''

इसके आगे उत्पातों की शांति के लिए उक्त कुबेरादिक देवताओं के पूजन का विधान करते हुए लिखा है कि 'ऐसी उत्पातावस्था में ये सब देव गंध, माल्य, दीप, धूप और अनेक प्रकार के बलिदानों से पूजा किये जाने पर संतुष्ट हो जाते हैं, शांति को देते हैं और पुष्टि प्रदान करते हैं।' साथ ही यह भी लिखा है कि, 'चूँकि अपमानित देवता मनुष्यों का नाश करते हैं और पूजित देवता उनकी सेवा करते हैं, इसलिए इन देवताओं की नित्य ही पूजा करना श्रेष्ठ है। इस पूजा के कारण न तो देवता किसी का नाश करते हैं, न रोगों को उत्पन्न करते हैं और न किसी को दुःख या संताप देते हैं। बल्कि अतिविरुद्ध देवता भी शांत हो जाते हैं।' यथा–

''मल्लेहिं गंधधूवेहिं पूजिदा बलिपयारदीवेहिं।
तूसंति तत्थ देवा संतिं पुट्ठिं णिवेदिंति॥८९॥
अवमाणिया य णासं करंति तह पूजिदा य पूजंति।
देवाण णिच्चपूजा तम्हा पुण सोहणा भणिया॥९०॥
ण य कुव्वंति विणासं ण य रोगं णेव दुक्खसंतावं।
देवावि अइविरुद्धा हवंति पुण पुज्जिदा संता॥९१॥

इसके बाद कुछ दूसरे प्रकार के उत्पातों का वर्णन देकर, सर्व प्रकार के उत्पातों की शांति के लिए अर्हन्त और सिद्ध की पूजा के साथ हरि-हर-ब्रह्मादिक देवों के पूजन का भी विधान किया है। साथ ही, ब्राह्मण देवताओं को दक्षिणा देने अर्थात् सोना, गौ और भूमि प्रदान करने तथा सम्पूर्ण ब्राह्मणों और श्रेष्ठ मुनियों आदि को भोजन खिलाने का भी उपदेश दिया है। और अंत में लिखा है कि उत्पात शांति के लिए यह विधि हमेशा करने योग्य है। यथा–

''अरहंतसिद्धपूजा कायव्वा सुद्धभत्तीए॥११०॥
हरिहरविरंचिआईदेवाण य दहियदुद्धण्हवणंपि।
पच्छावलिं च सिरिखंडेण य लेवधूपदीवआदीहिं॥१११॥
जं किंचिवि उप्पादं अण्णं विग्घं च तत्थ णासेइ।
दक्खिणदेज्जसुवण्णं गावी भूमीउ विप्पदेवाणं॥११२॥
भुंजावेज्जसुसव्वे बह्मे तवसीलसव्वलोयस्स।
णिस्साव्वय यइ सारय एस विही सव्वकालस्स॥११३॥

इस तरह पर, बहुत स्पष्ट शब्दों में, अजैन देवताओं के पूजन का यह विधान इस ग्रन्थ में पाया जाता है। और वह भी प्राकृत भाषा में, जिस भाषा में बने हुए ग्रन्थ को आजकल की साधारण जैन

जनता कुछ प्राचीन और अधिक महत्त्व का समझा करती है। इस विधान में सिर्फ उत्पातों की शांति के लिए ही हरि, हर, ब्रह्मादिक देवताओं का पूजन करना नहीं बतलाया, बल्कि नित्य पूजन न किये जाने पर कहीं वे देवता अपने को अपमानित न समझ बैठें और इसलिए कुपित होकर जैनियों में अनेक प्रकार के रोग, मरी तथा अन्य उपद्रव खड़े न कर दें, इस भय से उनका नित्य पूजन करना भी ठहराया गया है। और उसे सुन्दर श्रेष्ठ पूजा- शोभना पूजा बयान किया है। आश्चर्य है कि इतने पर भी कुछ जैन विद्वान् इस ग्रन्थ को जैन ग्रन्थ मानते हैं। जैन ग्रन्थ ही नहीं, बल्कि श्रुतकेवली का वचन स्वीकार करते हैं और जैन समाज में उसका प्रचार करना चाहते हैं! अन्धी श्रद्धा की भी हद हो गई!! यहाँ पर मुझे उस मनुष्य की अवस्था याद आती है जो अपने घर की चिट्ठी में किसी कौतुकी द्वारा यह लिखा हुआ देखकर, कि तुम्हारी स्त्री विधवा हो गई है, फूट फूटकर रोने लगा था और लोगों के बहुत कुछ समझाने बुझाने पर उसने यह उत्तर दिया था कि 'यह तो मैं भी समझता हूँ कि मेरे जीवित रहते हुए मेरी स्त्री विधवा कैसे हो सकती है। परन्तु चिट्ठी में ऐसा ही लिखा है और जो नौकर उस चिट्ठी को लाया है वह बड़ा विश्वासपात्र है, इसलिए वह जरूर विधवा हो गई है, इसमें कोई संदेह नहीं, और यह कहकर वह फिर से दुहत्थड़ मारकर रोने लगा था! जैनियों की हालत भी आजकल कुछ ऐसी ही विचित्र मालूम होती है। किसी ग्रन्थ में जैन-सिद्धान्त, जैनधर्म और जैन-नीति के प्रत्यक्ष विरुद्ध कथनों को देखते हुए भी, यह ग्रन्थ हमारे शास्त्र भण्डार से निकला है और एक प्राचीन जैनाचार्य का उस पर नाम लिखा हुआ है, बस इतने पर से ही, बिना किसी जाँच और परीक्षा के, उस ग्रन्थ को मानने मनाने के लिए तैयार हो जाते हैं, उसे साष्टांग प्रणाम करने लगते हैं और उस पर अमल भी शुरू कर देते हैं! यह नहीं सोचते कि जाली ग्रन्थ भी हुआ करते हैं, वे शास्त्र भण्डारों में भी पहुँच जाया करते हैं और इसलिए हमें ''लकीर के फकीर न बनकर विवेक से काम लेना चाहिए।'' पाठक सोचें, इस अंधेर का भी कहीं कुछ ठिकाना है! क्या जैन गुरुओं की, चाहे वे दिगम्बर हों या श्वेताम्बर, ऐसी आज्ञायें भी जैनियों के लिए माने जाने के योग्य हैं? क्या इन आज्ञाओं का पालन करने से जैनियों को कोई दोष नहीं लगेगा? क्या उनका श्रद्धान और आचरण बिल्कुल निर्मल ही बना रहेगा? और क्या इनके उल्लंघन से भी उन्हें नरक जाना होगा? ये सब बातें बड़ी ही चक्कर में डालने वाली हैं। और इसलिए जैनियों को बहुत सावधान होने की जरूरत है। यहाँ पाठकों पर यह भी प्रकट कर देना उचित है कि इस अध्याय के शुरू में भद्रबाहु मुनि का नामोल्लेखपूर्वक यह प्रतिज्ञावाक्य भी दिया हुआ है-

अह खलु तो रिसिपुत्तियणाम णिमित्तं सूप्पाज्झयणा।
पवक्खइस्सामि सयं सुभद्दबाहू मुणिवरोहं॥३॥

इसमें लिखा है कि 'मैं भद्रबाहु मुनिवर निश्चयपूर्वक उत्पादाध्ययन नाम के पूर्व से स्वयं ही इस 'ऋषिपुत्रिका' नाम के निमित्ताध्याय का वर्णन करूँगा।' इससे यह सूचित किया गया है कि यह अध्याय खास द्वादशांग वाणी से निकला हुआ है, उसके 'उत्पाद' नाम के एक पूर्व का अंग है और उसे भद्रबाहु स्वामी ने खास अपने आप ही रचा है, अपने किसी शिष्य या चेले से भी नहीं बनवाया

और इसलिए वह बड़ी ही पूज्य दृष्टि से देखे जाने के योग्य है! निःसंदेह ऐसे वाक्यों ने सर्व साधारण को बहुत बड़े धोखे में डाला है। यह सब कपटी साधुओं का कृत्य है, जिन्हें कूट बोलते हुए जरा भी लज्जा नहीं आती और जो अपने स्वार्थ के सामने दूसरों के हानि-लाभ को कुछ नहीं समझते।

ग्रहादिक देवता

(१६) इसी प्रकार से दूसरे अध्यायों में और खास कर तीसरे खण्ड के 'शांति' नामक दसवें अध्याय में रोग, मरी, दुर्भिक्ष और उत्पातादिक की शांति के लिए ग्रह-भूत-पिशाच-योगिनी-यक्षादिक तथा सर्पादिक और भी बहुत-से देवताओं की पूजा का विधान किया है, उन्हें शान्ति का कर्ता बतलाया है और उनसे तरह-तरह की प्रार्थनायें की गई हैं, जिन सबका कथन यहाँ विस्तार के भय से छोड़ा जाता है। सिर्फ ग्रहों के पूजन-सम्बन्ध में दो श्लोक नमूने के तौर पर उद्धृत किये जाते हैं जिनमें लिखा है कि ''ग्रहों का पूजन करने के बाद उन्हें बलि देने से, जिनेन्द्र का अभिषेक करने से और जैन महामुनियों के संघ को दान देने से, नवग्रह तृप्त होते हैं और तृप्त होकर उन लोगों पर अनुग्रह करते हैं जो ग्रहों से पीड़ित हैं। साथ ही, अपने किये हुए रोगों को दूर कर देते हैं।'' यथा-

''पूजान्ते बलिदानेन जिनेन्द्राभिषवेण च।
महाश्रमणसंघस्य दानेन विहितेन च॥२०९॥
नवग्रहास्ते तृप्यंति ग्रहार्तांश्चानुगृह्णते।
शमयंति रोगांस्तान्स्वस्वस्थान्स्वात्मना कृतान्॥२१०॥

इससे यह सूचित किया गया है कि सूर्यादिक नव देवता अपनी इच्छा से लोगों को कष्ट देते हैं और उनके अंगों में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न करते हैं। जब वे पूजन और बलिदानादिक से संतुष्ट हो जाते हैं, तब स्वयं ही अपनी माया को समेट लेते हैं और इच्छापूर्वक लोगों पर अनुग्रह करने लगते हैं। दूसरे देवताओं के पूजन-सम्बन्ध में भी प्रायः इसी प्रकार का भाव व्यक्त किया गया है। इससे मालूम होता है कि यह सब पूजन-विधान जैन-सिद्धान्तों के विरुद्ध है, मिथ्यात्वादिक को पुष्ट करके जैनियों को उनके आदर्श से गिराने वाला है और इसलिए कदापि इसे जैनधर्म की शिक्षा नहीं कह सकते। स्वामिकार्तिकेय लिखते हैं कि 'जो मनुष्य ग्रह, भूत, पिशाच, योगिनी और यक्षों को अपने रक्षक मानता है और इसलिए पूजनादिक द्वारा उनके शरण में प्राप्त होता है, समझना चाहिए कि वह मूढ़ है और उसके तीव्र मिथ्यात्व का उदय है। यथा-

''एवं पेच्छंतो बिहु गहभयपिसायजोइणीजक्खं।
सरणं भण्णइ मूढो सुगाढमिच्छत्तभावादो॥२७॥

इसी प्रकार के और भी बहुत से लेखों से, जो दूसरे ग्रन्थों में पाये जाते हैं, स्पष्ट है कि यह सब पूजन-विधान जैनधर्म की शिक्षा न होकर दूसरे धर्मों से उधार लिया गया है।

गुरु मंत्र या गुप्त मंत्र

(१७) उधार लेने का एक गुरु मंत्र या गुप्त मंत्र भी इस ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय में पाया जाता

है और वह इस प्रकार है–

''शान्तिनाथमनुस्मृत्य येन केन प्रकाशितम्।
दुर्भिक्षमारीशान्त्यर्थं विदध्यात्सुविधानकम्॥२२५॥

इसमें लिखा है कि दुर्भिक्ष और मरी (उपलक्षण से रोग तथा अन्य उत्पातादिक) की शांति के लिए जिस किसी भी व्यक्ति ने कोई अच्छा विधान प्रकाशित किया हो वह ''शांतिनाथ को स्मरण करके अर्थात् शांतिनाथ की पूजा उसके साथ जोड़ करके जैनियों को भी कर लेना चाहिए।'' इससे साफ तौर पर अजैन विधानों को जैन बनाने की खुली आज्ञा और विधि पाई जाती है। इसी मंत्र के आधार पर, मालूम होता है कि, ग्रन्थकर्ता ने यह सब पूजन–विधान दूसरे धर्मों से उधार लेकर यहाँ रखा है। शायद इसी मंत्र की शिक्षा से शिक्षित होकर ही उसने दूसरे बहुत से प्रकरणों को भी, जिनका परिचय पहले लेखों में दिया गया है, अजैन ग्रन्थों से उठाकर इस संहिता में शामिल किया हो। और इस तरह पर उन्हें भद्रबाहु के वचन प्रकट करके जैन का कथन बनाया हो। परन्तु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि, यह मंत्र बहुत बड़े काम का मंत्र है। देखने में छोटा मालूम होने पर भी इसका प्रकाश दूर तक फैलता है और यह अनेक बड़े बड़े विषयों पर भी अपना प्रकाश डालता है। इसलिए इसे [३८]महामंत्र कहना चाहिए। नहीं मालूम इस महामंत्र के प्रभाव से समय–समय पर कितनी कथायें, कितने व्रत, कितने नियम, कितने विधान, कितने स्तोत्र, कितनी प्रार्थनायें, कितने पूजा–पाठ, कितने मंत्र और कितने सिद्धान्त तक जैन–साहित्य में प्रविष्ट हुए हैं, जिन सबकी जाँच और परीक्षा होने की जरूरत है। जाँच से पाठकों को मालूम होगा कि संसार में धर्मों की पारस्परिक स्पर्धा और एक–दूसरे की देखा–देखी आदि कारणों से कितने काम हो जाते हैं और फिर वे कैसे आप्तवाक्य का रूप धारण कर लेते हैं।

शान्ति विधान और झूठा आश्वासन

(१८) इस संहिता के तीसरे खण्ड में 'शांति' नामक १०वें अध्याय में रोग, मरी और शत्रुओं आदि की शांति के लिए एक शांतिविधान का वर्णन देकर लिखा है कि, 'जो कोई राष्ट्र, देश, पुर, ग्राम, खेट, कर्वट, पत्तन, मठ, घोष, संवाह, वेला, द्रोणमुखादिक तथा घर, सभा, देवमंदिर, बावड़ी, नदी, कुआँ और तालाब इस शांति होम के साथ स्थापन किये जाते हैं, वे सब निश्चय से उस वक्त तक कायम रहेंगे जब तक कि आकाश में चंद्रमा स्थित है। अर्थात् वे हमेशा के लिए, अमर हो जायेंगे, उनका कभी नाश नहीं होगा। यथा–

''राष्ट्रदेशपुरग्रामखेटकर्वटपत्तनं।
मठं च घोषसंवाहवेलाद्रोणमुखानि च॥११५॥
इत्यादीनां गृहाणां च सभानां देववेश्वनाम्।
वापीकूपतटाकानां सन्नदीनां तथैव च॥११६॥

---

३८. शायद इसीलिए ग्रन्थकर्त्ता ने, अपने अन्तिम वक्तव्य में, इस संहिता का 'महामंत्रयुता' ऐसा विशेषण दिया हो?

शांतिहोमं पुरस्कृत्य स्थापयेद्दर्भमुत्तमं।
आचंद्रस्थायि तत्सर्वं भवत्येव कृते सति॥११७॥

इस कथन में कितना अधिक आश्वासन और प्रलोभन भरा हुआ है, यह बतलाने की यहाँ जरूरत नहीं है। परन्तु इतना जरूर कहना होगा कि यह सब कथन निरी गप्प के सिवाय और कुछ भी नहीं है। ऐसा कोई भी विधान नहीं हो सकता जिससे कोई कृत्रिम पदार्थ अपनी अवस्था विशेष में हमेशा के लिए स्थित रह सके। नहीं मालूम कितने मंदिर, मकान, कुएँ, बावड़ी, और नगर ग्रामादिक इस शांतिविधान के साथ स्थापित हुए होंगे जिनका आज निशान भी नहीं है और जो मौजूद हैं उनका भी एक दिन निशान मिट जायेगा। ऐसी हालत में संहिता का उपर्युक्त कथन बिल्कुल असंभव मालूम होता है और उसके द्वारा लोगों को व्यर्थ का झूठा आश्वासन दिया गया है। श्रुतकेवली जैसे विद्वानों का कदापि ऐसा निःसार और गौरव-शून्य वचन नहीं हो सकता। अस्तु, जिस शांतिविधान का इतना बड़ा माहात्म्य वर्णन किया गया है और जिसके विषय में लिखा है कि वह अकालमृत्यु, शत्रु, रोग और अनेक प्रकार की मरी तक को दूर कर देने वाला है उसका परिचय पाने के लिए पाठक जरूर उत्कंठित होंगे। इसलिए यहाँ संक्षेप में उसका भी वर्णन दिया जाता है और वह यह है कि इस शांतिविधान के मुख्य तीन अंग हैं–१. शांतिभट्टारक का महाभिषेक, २. बलिदान और ३. होम। इन तीनों क्रियाओं के वर्णन में होममंडप, होमकुंड, वेदी, गंधकुटी और स्नानमंडप आदि के आकार-विस्तार, शोभा-संस्कार तथा रचना विशेष का विस्तृत वर्णन देकर लिखा है कि गंधकुटी में शांतिभट्टारक का, उसके सामने सरस्वती का और दाहने बायें यक्ष-यक्षी का स्थापन किया जाये और फिर, अभिषेक से पहले, भगवान् शांतिनाथ की पूजा करना ठहराया है। इस पूजन में जल चंदनादिक के सिवाय लोटा, दर्पण, छत्र, पालकी, ध्वजा, चँवर, रकेवी, कलश, व्यंजन, रत्न और स्वर्ण तथा मोतियों की मालाओं आदि से भी पूजा करने का विधान किया है। अर्थात् ये चीजें भी, इस शांतिविधान में, भगवान् को अर्पण करनी चाहिए, ऐसा लिखा है। यथा–

भृंगारमुकुरच्छत्रपालिकाध्वजचामरैः।
घंटैः पंचमहाशब्दकलशव्यंजनाचलैः॥५६॥
सद्गंधचूर्णैर्मणिभिः स्वर्णमौक्तिकदामभिः।
वेणुवीणादिवादित्रैः गीतैर्नृत्यैश्च मंगलैः॥५७॥
भगवंतं समभ्यर्च्य शांतिभट्टारकं ततः।
तत्पादाम्बुरुहोपान्ते शांतिधारां निपातयेत्॥५८॥

ऊपर के तीसरे पद्य में यह भी बतलाया गया है कि पूजन के बाद शांतिनाथ के चरण कमलों के निकट शांतिधारा छोड़नी चाहिए। यही इस प्रकरण में अभिषेक का विधान है जिसको 'महाभिषेक' प्रकट किया है! इस अभिषेक के बाद 'शान्त्यष्टक' को और फिर 'पुण्याहमंत्र' को, जिसे 'शांतिमंत्र' भी सूचित किया है और जो केवल आशीर्वादात्मक गद्य है, पढ़ने का विधान करके लिखा है कि ''गुरु

प्रसन्न चित्त[३९] होकर भगवान् के स्नान का वह जल (जिसे भगवान् के शरीर ने छुआ भी नहीं) उस मनुष्य के ऊपर छिड़के, जिसके लिए शांतिविधान किया गया है। साथ ही उस नगर तथा ग्राम के रहने वाले दूसरे मनुष्यों, हाथी-घोड़ों, गाय-भैंसों, भेड़-बकरियों और ऊँट तथा गधों आदि अन्य प्राणियों पर भी उस जल के छिड़के जाने का विधान किया है।''

इसके बाद एक सुन्दर नवयुवक को सफेद वस्त्र तथा पुष्पमालादिक से सजाकर और उसके मस्तक पर 'सर्वाल्ह' नाम के किसी यक्ष की मूर्ति विराजमान करके उसे गाजेबाजे के साथ चौराहों, राजद्वारों, महाद्वारों, देवमंदिरों, अनाज के ढेरों या हाथियों के स्तंभों, स्त्रियों के निवास स्थानों, अश्वशालाओं, तीर्थों और तालाबों पर घुमाते हुए पाँच वर्ण के नैवेद्य से गंध, पुष्प, अक्षत के साथ जलधारापूर्वक बलि देने का विधान किया है। और साथ ही यह भी लिखा है कि पूजन, अभिषेक और बलिदान सम्बन्धी यह सब अनुष्ठान दिन में तीन बार करना चाहिए। इस बलिदान के पहले तीन पद्यों को छोड़कर, जो उस नवयुवक की सजावट से सम्बन्ध रखते हैं, शेष पद्य इस प्रकार हैं–

कस्यचिच्चारुरूपस्य पुंसः सद्गात्रधारिणः।
सर्वाल्हयक्षं सोष्णीषे मूर्द्धन्यारोपयेत्ततः ॥६९॥
तत्सहायो विनिर्गच्छेद्बलिदानाय मंत्रवित्।
छत्रचामरसत्केतुशंखभेर्यादिसंपदा ॥७०॥
चतुष्पथेषु ग्रामस्य पत्तनस्य पुरस्य च।
राजद्वारे महाद्वार्षु देवतायतनेषु च ॥७१॥
स्तम्बेराणां च स्थानेषु तुरंगानां च धामसु।
बहुसेव्येषु तीर्थेषु चरतां सरसामपि ॥७२॥
चरुणां पंचवर्णेन गंधपुष्पाक्षतैरपि।
यथाविधि बलिं दद्याज्जलधारापुरःसरं ॥७३॥
अनुष्ठितो विधिर्योयं पूर्वाह्णेऽभिषवादिकः।
मध्याह्ने च प्रदोषे च तं तथैव समाचरेत् ॥७४॥

इसके बाद अर्धरात्रि के समय खूब रोशनी करके, सुगंधित धूप जलाकर और आह्वानपूर्वक शांतिनाथ का अनेक बहुमूल्य द्रव्यों से पूजन तथा वही जलधारा छोड़नेरूप अभिषेक-विधान करके शांतिमंत्र से होम करना शान्त्यष्टक पढ़ना और फिर विसर्जन करना बतलाया है। इसके बाद फिर ये पद्य दिये हैं–

---

३९. गुरु की प्रसन्नता सम्पादन करने के लिए इसी अध्याय में एक स्थान पर लिखा है कि जिस द्रव्य के देने से आचार्य प्रसन्नचित्त हो जाये वही उसको देना चाहिए। यथा–

द्रव्येण येन दत्तेनाचार्यः सुप्रसन्नहृदयः स्यात्। ग्रहशान्त्यन्ते दद्यात्तत्तस्मै श्रद्धया साध्यः॥२१५॥

एवं संध्यात्रये चार्धरात्रौ च दिवसस्य यः।
जिनस्नानादिहोमान्तो विधिः सम्यगनुसृतः ॥१०२॥
तं कृत्स्नमपि सोत्साहो बुधः सप्त दिनानि वा।
यद्वैकविंशतिं कुर्याद्यावदिष्टप्रसिद्धिता ॥१०३॥
साध्यः सप्त गुणोपेतः समस्तगुणशालिनः।
शांतिहोमदिनेष्वेषु सर्वेष्वप्यतिथीन् यतीन् ॥१०४॥
क्षीरेण सर्पिषा दध्ना सूपखण्डसितागुडैः।
व्यंजनैर्विविधैर्भक्ष्येर्लड्डुकापूरिकादिभिः ॥१०५॥
स्वादुभिश्चोचमोचाम्रफनसादिफलैरपि ।
उपेतं भोजयेन्मृष्टं शुद्धं शाल्यन्नमादरात् ॥१०६॥
क्षान्तिभ्यः श्रावकेभ्यश्च श्राविकाभ्यश्च सादरः।
वितरेदोदनं योग्यं विदद्याच्चाम्बरादिकं ॥१०७॥
कुमाराँश्च कुमारींश्च चतुर्विंशतिसम्मितान्।
भोजयेदनुवर्तेत दीनानथजनानपि ॥१०८॥''

इनमें लिखा है कि–''इस प्रकार तीनों संध्याओं और अर्धरात्रि के समय की, स्नान से लेकर होम पर्यन्त की, जो यह विधि कही गई है वह उत्साहपूर्वक सात दिन तक या २१ दिन तक अथवा जब तक साध्य की सिद्धि न हो तब तक करनी चाहिए। और इन सम्पूर्ण दिवसों में शांति कराने वाले को चाहिए कि अतिथियों तथा मुनियों को केला आम्रादि अनेक रसीले फलों के सिवाय दूध, दही, घी, मिठाई तथा लड्डू, पूरी आदि खूब स्वादिष्ट और तर माल खिलावे। मुनि, आर्यिकाओं, श्रावक, श्राविकाओं को चावल वितरण करे तथा वस्त्रादिक देवे। और २४ कुमार-कुमारियों को जिमाने के बाद दीनों तथा दूसरे मनुष्यों को भी भोजन करावे।'' इस तरह पर यह सब शांतिहोम का विधान है जिसकी महिमा का ऊपर उल्लेख किया गया है। विपुल धन साध्य होने पर भी ग्रन्थकर्ता ने छोटे-छोटे कार्यों के लिए भी इसका प्रयोग करना बतलाया है। बल्कि यहाँ तक लिख दिया है कि जो कोई भी अशुभ होनहार का सूचक चिह्न दिखलाई दे उस सबकी शांति के लिए यह विधान करना चाहिए। यथा–

''यो यो भद्रापको (?) हेतुरशुभस्य भविष्यतः।
शांतिहोममम् कुर्यात्तत्र तत्र यथाविधि॥११४॥

इस शांतिविधान का इतना महत्त्व क्यों वर्णन किया गया? क्यों इसके अनुष्ठान की इतनी अधिक प्रेरणा की गई? आडम्बर के सिवाय इसमें कोई वास्तविक गुण है भी या कि नहीं इन सब बातों को तो ग्रन्थकर्ता महाशय या केवली भगवान् ही जानें! परन्तु सहृदय पाठकों को, इस सम्पूर्ण कथन से, इतना जरूर मालूम हो जायेगा कि इस विधान में, जैनधर्म की शिक्षा के विरुद्ध कथनों को छोड़कर, कपटी और लोभी गुरुओं की स्वार्थ साधना का बहुत कुछ तत्त्व छिपा हुआ है।

आचार्यपद-प्रतिष्ठा

(१९) इस ग्रन्थ के तीसरे खण्ड सम्बन्धी सातवें अध्याय में, दीक्षालग्न का निरूपण करने के बाद, आचार्य पद की प्रतिष्ठा विधि का जो वर्णन दिया है उसका सार इस प्रकार है। फुट नोट्स में कुछ पद्यों का नमूना भी दिया जाता है-

''जिस नगर या ग्राम में आचार्य पद की प्रतिष्ठा-विधि की जाये, वह सिर्फ निर्मल और साफ ही नहीं बल्कि राजा के संघ से भी युक्त होना चाहिए। इस विधान के लिए प्रासुक भूमि पर सौ हाथ परिमाण का, एक क्षेत्र मण्डप के लिए ठीक करना चाहिए और उसमें दो वेदी बनानी चाहिए। [४०]पहली वेदी में पाँच रंगों के चूर्ण से 'गणधरवलय' नाम का मंडल बनाया जाये, और [४१]दूसरी वेदी में शांतिमंडल की महिमा करके चक्र को नाना प्रकार के घृत-दुग्धादिमिश्रित भोजनों से संतुष्ट किया जाये। संतुष्ट करने की यह क्रिया उत्कृष्ट १२ दिन तक जारी रहनी चाहिए। और उस समय तक वहाँ प्रतिदिन कोई योगीजन शास्त्र बाँचा करे। साथ ही अभिषेकादि क्रियाओं का व्याख्यान और अनुष्ठान भी हुआ करे। जिस दिन आचार्य पद की प्रतिष्ठा की जाये उस दिन एकान्त में सारस्वत युक्त आचारांग की एक बार संघ-सहित और दूसरी बार, अपने वर्गसहित, पूजा करनी चाहिए। यदि वह मनुष्य (मुनि), जो आचार्य पद पर नियुक्त किया जाये, दूसरे गणधर का शिष्य हो तो उसका केशलोंच और आलोचनापूर्वक नामकरण संस्कार भी होना चाहिए। [४२]बारह दिन तक दीनों को दान बाँटा जाये और युवतीजन भक्तिपूर्वक मंगल गीत गावें। [४३]आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने वाले उस मनुष्य को चाहिए कि बारह दिन तक ऐसा कोई शब्द न कहे जिससे संघ में मत्सर भाव उत्पन्न हो जाये (काम बन जाने पर पीछे से भले ही कहले)। [४४]मुनियों के इस उत्सव में नाचने गाने का भी विधान किया गया है, जिसके लिए बारह पुरुषों और उनकी बारह स्त्रियों को चाहिए कि वे खूब सजधज कर इंद्र इंद्राणियों का रूप बनाकर और अपने सिरों पर कलशे रखकर भावी आचार्य के सन्मुख नाचें, गायें और पाठ पढ़ें। इसके बाद वे सब इंद्र इंद्राणियाँ मंडल को नमस्कार करें और दक्षिण ओर के मंगल द्रव्य को प्राप्त होकर तथा सात धान्यों को छूकर एक मंत्र का जाप्य करें। [४५]स्नान के लिए चाँदी सोने के रंग के चार कलशे पानी और अनेक औषधियों से भरे हुए होने चाहिए और चार ही सिंहासन होना चाहिए।

---

४०. कायव्वं तत्थ पुणो गणहरवलयस्स पंचवण्णेण। चुण्णेण य कायव्वं उद्धरणं चाह सोहिल्लं॥

४१. दुइजम्मि संति मंडलमहिमा काऊण पुप्फधूवेहिं। णाणाविहभक्खेहिं य करिज्जपरितोसियं चक्कं॥

४२. वासरवारस जावदु दीणजणाणं च दिज्जए दाणं। गायइ मंगलगीयं जुवइजणो भत्तिराएण॥

४३. जेण वयणेण संघो समच्छरो होइ तं पुणो वयणं। बारसदिवसं जावदु वज्जियदव्वं अपमत्तेण॥

४४. वारस इंदा रम्मा तावदिया चेव तेसिमबलाओ। ण्हाणादिसुद्धदेहा रत्तंभरमउडकतसोहा॥
पुंडिक्खुदंडहत्था इंदाइंदायणीउ सिरकलसा। आयरियस्स पुरत्था पढंति णाचंति गायंति॥

४५. कलसाइं चारि रूप्पय-हेमय-वण्णाइं तोयभरियाइं। दिव्वोसहिजुत्ताइं पयण्हवणे होंति इत्थ जोगाइं॥

[४६]सिहांसन सोना, रूपा, ताम्बा, काष्ठ और पाषाण, इसमें से चाहे किसी चीज के बने हुए हों सब आचार्य-प्रतिष्ठा के योग्य हैं, बल्कि यदि वे खूब अच्छी तरह से सजे हुए और जड़ाऊ भी हों तो भी शुद्ध और ग्राह्य हैं। [४७]एक सिंहासन के नीचे आठ पंखुड़ी का कमल भी चावलों से बनाना चाहिए। [४८]इसके बाद वह भावी आचार्य, यंत्र की पूजा प्रदक्षिणा करके, सिंहासन पर कलश डालकर और अपने गुरु से पूछकर उस सिंहासन पर बैठे। बैठ जाने पर पूर्वाचार्यों के नाम लेकर स्तुति करे। इसके बाद एक इन्द्र उस आचार्य के सन्मुख वाँचने के लिए सिद्धान्तादि शास्त्र रखे और [४९]फिर सम्पूर्ण संघ उसे वंदना करके इस बात की घोषणा करे कि 'वह गुरु जिनेन्द्र के समान हमारा स्वामी है। धर्म के लिए यह जो कुछ कराएगा (चाहे वह कैसा ही अनुचित कार्य क्यों न हो?), उसको जो कोई मुनि, आर्यिका या श्रावक नहीं मानेगा वह संघ से बाहर समझा जायेगा। [५०]इस घोषणा के बाद मोतियों की माला तथा उत्तम वस्त्रादिक से शास्त्र की और गुरु के चरणों की पूजा करनी चाहिए। [५१]दूसरे दिन संघ के सुख के लिए शांतिविधान पूर्वक' (वही विधान जिसका पहले उल्लेख किया है) ''महामह नाम का बड़ा पूजन करना चाहिए।'' [५२]इसके बाद बाहर से आये हुए दूसरे आचार्यों को अपने-अपने गणसहित इस नये आचार्य को (मंडलाचार्य या आचार्य चक्रवर्ती को) वन्दना करके स्वदेश को चले जाना चाहिए। [५३]संघ के किसी भी व्यक्ति को इस नवप्रतिष्ठित आचार्य की कभी निन्दा नहीं करनी चाहिए और न उससे नाराज ही होना चाहिए (चाहे वह कैसा ही निन्दनीय और नाराजी का काम क्यों न करे)।''[५४]

---

४६. सीहासणं पसत्थं भम्मारसुरूप्पकठ्ठपाहणयं। आयरियठवणजोग्गं विसेसदो भूसियं सुद्धं॥

४७. तस्सतले वरपउमं अट्ठदलं सालितंदुलोक्किण्णं। मज्झे मायापत्ते तलपिंडं चारु सव्वत्थ॥

४८. पच्छा पुज्जिवि जंतं तिय पाहिण देहि सिंहपीठस्स। कुंभिय पायाणो स गणं परिपुच्छिय विउसउतं पीठे॥

४९. तो वंदिऊण संघो विच्छाकिरयाए चारुभावेण। आघोसदि एस गुरू जिणुव्व अम्हाण सामीय॥
जं कारदि एस गुरू धम्मत्थं तं जो ण मण्णेदि। सो सवणो अज्जा वा सावय वा संघवाहिरओ।

५०. एवं संघोसित्ता मुत्तामालादिदिव्ववत्थेहिं। पोत्थयपूयं किच्चा तदोपरं पायपूया य॥

५१. तत्तो विदिए दिवसे महामहं संतिवायणाजुत्तं। भूयवलिं गहसंति करिज्जए संघसोखत्थं॥

५२. सगसगगणेण जुत्ता आयरिया जह कमेण वंदित्ता। लहुवा जंति सदेसं परिकलिय सूरिसूरेण॥

५३. सो पठदि सव्वसत्थं दिक्खा विज्जाइ धम्म वट्ठत्थं। णहु णिंददि णहु रूसदि संघो सव्वो विसव्वत्थ॥

५४. जिस अध्याय का यह सब कथन है उसके आदि और अंत में दोनों ही जगह भद्रबाहु का नाम भी लगा हुआ है। शुरू के पद्य में यह सूचित किया है कि 'गुप्तिगुप्त' नाम के मुनिराज के प्रश्न पर भद्रबाहु स्वामी जी ने इस अध्याय का प्रणयन किया है। और अन्तिम पद्य में लिखा है कि 'इस प्रकार परमार्थ के प्ररूपण में महा तेजस्वी भद्रबाहु जिनके सहायक होते हैं वे धन्य हैं और पूरे पुण्याधिकारी हैं। यथा–
''सिरिभद्रबाहुसामिं णमसित्ता गुत्तिगुत्तमुणिणाहिं। परिपुच्छियं पसत्थं अट्ठं पइट्ठावणं जइणो॥३॥''
''इय भद्रबाहुसूरी परमत्थपरूवणे महातेओ। जेसिं होइ समत्थो ते धण्णा पुण्णपुण्णा य॥१०॥''

पाठक, देखा, कैसा विचित्र विधान है! स्वार्थ साधना का कैसा प्रबल अनुष्ठान है! जैनधर्म की शिक्षा से इसका कहाँ तक सम्बन्ध है! जैन महामुनियों की आरंभ और परिग्रह के त्यागी महाव्रतियों की पैसा तक पास न रखने वाले तपस्वियों की कैसी मिट्टी पलीद की गई है!! क्या जैनियों के आचारांग सूत्रों में निर्ग्रंथ साधुओं के लिए ऐसे कृत्यों की कोई विधि हो सकती है? कभी नहीं। जिन लोगों को जैनधर्म के स्वरूप का कुछ भी परिचय है और जिन्होंने जैनधर्म के मूलाचार आदि यत्याचार विषयक ग्रन्थों का कुछ अध्ययन किया है वे ऊपर के इस विधि-विधान को देखकर एकदम कह उठेंगे कि 'यह कदापि जैनधर्म के निर्ग्रंथ आचार्यों की प्रतिष्ठाविधि नहीं हो सकती' निर्ग्रंथ मुनियों का इस विधान से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। वास्तव में यह सब उन महात्माओं की लीला है, जिन्हें हम आजकल आधुनिक भट्टारक, शिथिलाचारी साधु या श्रमणाभास आदि नामों से पुकारते हैं। ऐसे लोगों ने समाज में अपना सिक्का चलाने के लिए, अपने को तीर्थंकर के तुल्य पूज्य मनाने के लिए और अपनी स्वार्थ-साधना के लिए जैनधर्म की कीर्ति को बहुत कुछ कलंकित और मलिन किया है, उसके वास्तविक स्वरूप को छिपाकर उस पर मनमाने तरह-तरह के रंगों के खोल चढाये हैं, वही सब खोल बाह्य दृष्टि से देखने वाले साधारण जगत् को दिखलाई देते हैं और उन्हीं को साधारण जनता जैनधर्म का वास्तविक रूप समझकर धोखा खा रही है। इसीलिए आज जैन समाज में भी घोर अंधकार फैला हुआ है, जिसके दूर करने के लिए सातिशय प्रयत्न की जरूरत है।

दिगम्बर मुनियों पर कोप

(२०) तीसरे खण्ड के इसी सातवें अध्याय में दो पद्य इस प्रकार से दिये हैं-

''भरहे दूसमसमये संघकमं मेल्लिऊण जो मूढो।
परिवट्टइ दिगविरओ सो सवणो संघवाहिरओ॥५॥[५५]

''पासत्थाणं सेवी पासत्थो पंचचेलपरिहीणो।
विवरीयट्ठपवादी अवंदणिज्जो जई होई॥१४॥

पहले पद्य में लिखा है कि 'भरतक्षेत्र का जो कोई मुनि इस दुःषम पंचम काल में संघ के क्रम को मिलाकर दिगम्बर हुआ भ्रमण करता है-अर्थात् यह समझकर कि चतुर्थ काल में पूर्वजों की ऐसी ही दैगम्बरी वृत्ति रही है, तदनुसार इस पंचम काल में प्रवर्तता है-वह मूढ़ है और उसे संघ से बाहर तथा खारिज समझना चाहिए। और दूसरे पद्य में यह बतलाया है कि वह यति भी अवंदनीय है जो पंच प्रकार के वस्त्रों से रहित है। अर्थात् उस दिगम्बर मुनि को भी अपूज्य ठहराया है जो खाल, छाल, रेशम, ऊन और कपास, इन पाँचों प्रकार के वस्त्रों से रहित होता है। इस तरह पर ग्रन्थकर्ता ने दिगम्बर मुनियों पर अपना कोप प्रकट किया है। मालूम होता है कि ग्रन्थकर्ता को आधुनिक भट्टारकों तथा दूसरे श्रमणाभासों को तीर्थंकर की मूर्ति बनाकर या जिनेन्द्र के तुल्य मनाकर ही संतोष नहीं हुआ, बल्कि

५५. इस पद्य की संस्कृत टीका इस प्रकार दी है: ''भरते दुःषमसमये पंचमकाले संघक्रमं मेलयित्वा यो मूढः परिवर्तते परिभ्रमति चतुर्दिक्षु विरतः विरक्तः सन् दिगम्बरः सन् स्वेच्छया भ्रमति स श्रमणः संघबाह्यः।''

उसे दिगम्बर मुनियों का अस्तित्त्व भी असह्य तथा कष्टकर मालूम हुआ है और इसलिए उसने दिगम्बर मुनियों को मूढ़, अपूज्य और संघबाह्य करार देकर उनके प्रति अपनी घृणा का प्रकाश किया है। इतने पर भी दिगम्बर जैनियों की अंधश्रद्धा और समझ की बलिहारी है कि वे ऐसे ग्रन्थ का भी प्रचार करने के लिए उद्यत हो गये। सच है, साम्प्रदायिक मोह की भी बड़ी ही विचित्र लीला है।

उपसंहार

ग्रन्थ की ऐसी हालत होते हुए, जिसमें अन्य बातों को छोड़कर दिगम्बर मुनि भी अपूज्य और संघबाह्य ठहराये गये, यह कहने में कोई संकोच नहीं होता कि, यह ग्रन्थ किसी दिगम्बर साधु का कृत्य नहीं है। परन्तु श्वेताम्बर साधुओं का भी यह कृत्य मालूम नहीं होता, क्योंकि इसमें बहुत-सी बातें हिन्दू धर्म की ऐसी पाई जाती हैं जिनका श्वेताम्बर धर्म से भी कोई सम्बन्ध नहीं है। साथ ही, दूसरे खण्ड के दूसरे अध्याय में 'दिग्वासा श्रमणोत्तमः' इस पद के द्वारा भद्रबाहु श्रुतकेवली को उत्कृष्ट दिगम्बर साधु बतलाया है। इसलिए कहना पड़ता है कि यह ग्रन्थ सिर्फ ऐसे महात्माओं की करतूत है जो दिगम्बर- श्वेताम्बर कुछ भी न होकर स्वार्थ साधना और ठगविद्या को ही अपना प्रधान धर्म समझते थे। ऐसे लोग दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में हुए हैं। श्वेताम्बरों के यहाँ भी इस प्रकार के और बहुत से जाली ग्रन्थ पाये जाते हैं, जिन सबकी जाँच, परीक्षा और समालोचना होने की जरूरत है। श्वेताम्बर विद्वानों को इसके लिए खास परिश्रम करना चाहिए और जैनधर्म पर चढ़े हुए शैवाल (काई) को दूर करके महावीर भगवान् का शुद्ध और वास्तविक शासन जगत् के सामने रखना चाहिए। ऐसा किये जाने पर विचार-स्वातंत्र्य फैलेगा। और उससे न सिर्फ जैनियों की बल्कि दूसरे लोगों की भी साम्प्रदायिक मोह मुग्धता और अंधी श्रद्धा दूर होकर उनमें सदसद्विवेकवती बुद्धि का विकास होगा। ऐसे ही सदुद्देश्यों से प्रेरित होकर यह परीक्षा की गई है। आशा है कि इन परीक्षा-लेखों से जैन-अजैन विद्वान् तथा अन्य साधारण जन सभी लाभ उठावेंगे। अंत में जैन विद्वानों से मेरा निवेदन है कि, यदि सत्य के अनुरोध से इन लेखों में कोई कटुक शब्द लिखा गया हो अथवा अपने पूर्व संस्कारों के कारण उन्हें वह कटुक मालूम होता हो तो वे कृपया उसे 'अप्रिय पथ्य' समझकर या 'सत्यं मनोहारि च दुर्लभं वचः' इस नीति का अनुसरण करके क्षमा करें। इत्यलम्।

❑ ❑ ❑

ग्रन्थ परीक्षा : सोमसेन-त्रिवर्णाचार

कुछ वर्ष हुए मैंने 'जैन हितैषी' में 'ग्रन्थ परीक्षा' नाम की एक लेखमाला निकालनी प्रारम्भ की थी, जो कई वर्ष तक जारी रही और जिसमें (१) उमास्वामि श्रावकाचार (२) कुन्दकुन्द श्रावकाचार (३) जिनसेन त्रिवर्णाचार, (४) भद्रबाहु संहिता और (५) धर्म परीक्षा (श्वेताम्बर) नामक ग्रन्थों पर विस्तृत आलोचनात्मक निबंध लिखे गये[१] और उनके द्वारा, गहरी खोज तथा जाँच के बाद, इन ग्रन्थों की असलियत को खोलकर सर्वसाधारण के सामने रखा गया और यह सिद्ध किया गया कि ये सब ग्रन्थ जाली तथा बनावटी हैं और इनका अवतार कुछ क्षुद्र पुरुषों अथवा तस्कर लेखकों द्वारा आधुनिक भट्टारकी युग में हुआ है। इस लेखमाला ने समाज को जो नया संदेश सुनाया, जिस भूल तथा गफलत का अनुभव कराया, अंधश्रद्धा की जिस नींद से उसे जगाया और उसमें जिस विचारस्वातंत्र्य तथा तुलनात्मक पद्धति से ग्रन्थों के अध्ययन को उत्तेजित किया, उसे यहाँ बतलाने की जरूरत नहीं है, उसका अच्छा अनुभव उक्त लेखों के पढ़ने से ही सम्बन्ध रखता हैं। हाँ, इतना जरूर बतलाना होगा कि इस प्रकार की लेखमाला उस वक्त जैन समाज के लिये एक बिल्कुल ही नई चीज थी, इसने उसके विचार वातावरण में अच्छी क्रान्ति उत्पन्न की, सहृदय विद्वानों ने इसे खुशी से अपनाया, इसके अनेक लेख दूसरे पत्रों में उद्धृत किये गये, अनुमोदन किये गये, मराठी में अनुवादित हुए और अलग पुस्तकाकार भी छपाये गये।[२] स्याद्वादवारिधि पं० गोपालदास जी बरैया ने, जिनसेन त्रिवर्णाचार की परीक्षा के बाद से, त्रिवर्णाचारों को अपने विद्यालय के पठन क्रम से निकाल दिया और दूसरे विचारशील विद्वान् भी उस वक्त से बराबर अपने कार्य तथा व्यवहार के द्वारा उन लेखों की उपयोगितादि को स्वीकार करते अथवा उनका अभिनंदन करते आ रहे हैं। उस वक्त जिनसेन त्रिवर्णाचार की परीक्षा लिखते समय मैंने यह प्रकट किया था कि "सोमसेन त्रिवर्णाचार की परीक्षा भी एक स्वतंत्र लेख द्वारा की जायेगी"। परंतु खेद है कि अनवकाश के कारण इच्छा रहते भी, मुझे आज तक उसकी परीक्षा लिखने का कोई अवसर नहीं मिल सका। मैं उस वक्त से बराबर ही दूसरे जरूरी कामों से घिरा रहा हूँ। आज भी मेरे पास, यद्यपि, इसके लिये काफी समय नहीं है, दूसरे अधिक जरूरी कामों का ढेर का ढेर सामने पड़ा हुआ है और उसकी चिंता हृदय को व्यथित कर रही है, परंतु

---

१. अकलंक प्रतिष्ठा पाठ, नेमिचन्द्र संहिता (प्रतिष्ठा तिलक) और पूज्यपाद-उपसकाचार नाम के ग्रन्थों पर भी छोटे छोटे लेख लिखे गये, जिनका उद्देश्य प्रायः ग्रन्थ कर्ता और ग्रन्थ के निर्माण समयादि विषयक नासभक्ती को दूर करना था और उनके द्वारा यह स्पष्ट किया गया कि ये ग्रन्थ क्रमशः तत्त्वार्थ राजवार्तिक के कर्ता भट्टाकलंकदेव, गोम्मटसार के प्रणेता श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती और सर्वार्थसिद्धि के रचयिता श्री पूज्यपादाचार्य के बनाये हुए नहीं है।

२. बम्बई के जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय ने 'ग्रन्थ परीक्षा' प्रथम भाग और द्वितीय भाग नाम से, पहले चार ग्रन्थों के लेखों को दो भागों में छापकर प्रकाशित किया है और उनका लागत मूल्य क्रमशः छह आने तथा चार आने रखा है।

कुछ अर्से से कई मित्रों का यह लगातार आग्रह चल रहा है कि इस त्रिवर्णाचार की शीघ्र परीक्षा की जाये। वे आजकल इसकी परीक्षा को खास तौर से आवश्यक महसूस कर रहे हैं और इसलिये आज उसी का यत्किंचित् प्रयत्न किया जाता है।

इस त्रिवर्णाचार का दूसरा नाम 'धर्मरसिक' ग्रन्थ भी है और यह तेरह अध्यायों में विभाजित है। इसके कर्ता सोमसेन, यद्यपि, अनेक पद्यों में अपने को 'मुनि', 'गणी' और 'मुनीन्द्र' तक लिखते हैं[३] परन्तु वे वास्तव में उन आधुनिक भट्टारकों में से थे जिन्हें शिथिलाचारी और परिग्रहधारी साधु अथवा श्रमणाभास कहते हैं। और इसलिये उनके विषय में बिना किसी संदेह के यह भी नहीं कहा जा सकता कि–वे पूर्ण रूप से श्रावक की ७ वीं प्रतिमा के भी धारक थे। उन्होंने अपने को पुष्कर गच्छ के भट्टारक गुणभद्रसूरि का पट्टशिष्य लिखा है और साथ ही महेन्द्र कीर्ति गुरु का जिस रूप से उल्लेख किया है उससे यह जान पड़ता है कि वे इनके विद्या गुरु थे। भट्टारक सोमसेन जी कब हुए हैं और उन्होंने किस सन् सम्वत् में इस ग्रन्थ की रचना की है, इसका अनुसंधान करने के लिये कहीं दूर जाने की जरूरत नहीं है। स्वयं भट्टारकजी ग्रन्थ के अंत में लिखते हैं–

अब्दे तत्त्वरसर्तुचन्द्रकलिते श्रीविक्रमादित्यजे
मासे कार्तिकनामनीह धवले पक्षे शरत्संभवे।
वारे भास्वति सिद्धनामनि तथा योगेसुपूर्णतिथौ।
नक्षत्रेऽश्विनिनाम्नि धर्मरसिको ग्रन्थश्च पूर्णीकृतः॥२१७॥

अर्थात् यह धर्मरसिक ग्रन्थ विक्रम सं० १६६५ में कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा को रविवार के दिन सिद्ध योग और अश्विन नक्षत्र में बनाकर पूर्ण किया गया है।

इस ग्रन्थ के पहले अध्याय में एक प्रतिज्ञा वाक्य निम्न प्रकार से दिया हुआ है–

यत्प्रोक्तं जिनसेनयोग्यगणिभिः सामन्तभद्रैस्तथा
सिद्धान्तेगुणभद्रनाममुनिभिर्भट्टाकलंकैः परैः
श्री सूरिद्विजनामधेय विबुधैराशाधरैर्वाग्वरै-
स्तद्दृष्ट्वा रचयामि धर्मरसिकं शास्त्रं त्रिवर्णात्मकम्॥६॥

अर्थात् जिनसेनगणी, समंतभद्राचार्य, गुणभद्रमुनि, भट्टाकलंक, विबुध ब्रह्मसूरि और पं० आशाधर ने अपने-२ ग्रन्थों में जो कुछ कहा है, उसे देखकर मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य नाम के तीन वर्णों का आचार बतलाने वाला यह 'धर्मरसिक' नाम का शास्त्र रचता हूँ।

---

३. यथा–

...श्री भट्टारक सोमसेन मुनिभिः ...॥२-११५॥
...श्री भट्टारक सोमसेन गर्णिनाः ...॥४-२१७॥
...पुर्णयाश्लिषैः सोमसेनैर्मुनीन्द्रैः ...॥६-११८॥

ग्रन्थ के शुरू में इस प्रतिज्ञा वाक्य को देखते ही यह मालूम होने लगता है कि इस ग्रन्थ में जो कुछ भी कथन किया गया है, वह सब उक्त विद्वानों के ही वचनानुसार (उनके ही ग्रन्थों को देखकर) किया गया है। परन्तु ग्रन्थ के कुछ पत्र पलटने पर उसमें एक जगह ज्ञानार्णव ग्रन्थ के अनुसार, जो कि शुभचंद्राचार्य का बनाया हुआ है, ध्यान का कथन करने की और दूसरी जगह भट्टारक एकसंधि कृत संहिता (जिनसंहिता) के अनुसार होमकुण्डों का लक्षण कथन करने की प्रतिज्ञाएँ भी पाई जाती हैं। यथा–

''ध्यानं तावदहं वदामि विदुषां ज्ञानार्णवे यन्मतम्॥१-२७॥

''लक्षणं होमकुण्डानां वक्ष्ये शास्त्रानुसारतः।
भट्टारकैकसंधेश्च दृष्ट्वा निर्मलसंहिताम् ॥४-१०४॥

इसके सिवाय कहीं-२ पर खास तौर से ब्रह्मसूरि, अथवा जिनसेनाचार्य के महापुराण के अनुसार कथन करने की जो पृथक् रूप से प्रतिज्ञा या सूचना की गई है उसे पहली प्रतिज्ञा के ही अंतर्गत अथवा उसी का विशेष रूप समझना चाहिए, ऐसी एक सूचना तथा प्रतिज्ञा नीचे दी जाती है–

श्रीब्रह्मसूरिद्विजवंशरत्नं श्रीजैनमार्गप्रविबुद्धतत्त्वः
वाचंतु तस्यैवविलोक्यशास्त्रं कृतं विशषम्मुनिसोमसेनैः॥३-१५०॥

जिनसेनमुनिं नत्वा वैवाहविधिमुत्सवम्।
वक्ष्ये पुराणमार्गेण लौकिकाचारसिद्धये॥११-२॥

इन सब प्रतिज्ञा वाक्यों और सूचनाओं से ग्रन्थकर्ता ने अपने पाठकों को दो बातों का विश्वास दिलाया है–

(१) एक तो यह कि यह त्रिवर्णाचार कोई संग्रह ग्रन्थ नहीं है, बल्कि अनेक जैन ग्रन्थों को देखकर उनके आधार पर इसकी स्वतंत्र रचना की गई है।[४]

(२) दूसरे यह कि इस ग्रन्थ में जो कुछ लिखा गया है वह उक्त जिनसेनादि छहों विद्वानों के अनुसार तथा जैनागम के अनुकूल लिखा गया है और जहाँ कहीं दूसरे (शुभचन्द्रादि) विद्वानों के ग्रन्थानुसार कुछ कहा गया है, वहाँ पर उन विद्वानों अथवा उनके ग्रन्थों का नाम दे दिया गया है।

परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। ग्रन्थ को परीक्षादृष्टि से अवलोकन करने पर मालूम होता है कि यह ग्रन्थ एक अच्छा खासा संग्रह ग्रन्थ है, इसमें दूसरे विद्वानों के ढेर के ढेर वाक्यों को ज्यों का त्यों उठा कर या उनमें कहीं-कहीं कुछ साधारण-सा अथवा निरर्थक-सा परिवर्तन करके रखा गया है, वे वाक्य ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय को पुष्ट करने के लिये 'उक्तं च' आदि रूप से नहीं दिये गये, बल्कि वैसे ही ग्रन्थ का अंग बनाकर अपनाये गये हैं और उनको देते हुए उनके लेखक विद्वानों का

---

४. ग्रन्थ के नाम से भी यह कोई संग्रह ग्रन्थ मालूम नहीं होता और न इसकी संधियों में ही इसे संग्रह ग्रन्थ प्रकट किया गया है। एक संधि नमूने के तौर पर इस प्रकार है–

इति श्री धर्मरसिकशास्त्रे त्रिवर्णाचारनिरूपके भट्टारकश्रीसोमसेनविरचिते स्नानवस्त्राचमनसंध्यातर्पणवर्णनो नाम तृतीयोऽध्यायः।

या उन ग्रन्थों का नाम तक भी नहीं दिया है, जिनसे उठाकर उन्हें रखा है। शायद पाठक यह समझें कि ये दूसरे विद्वान् वे ही होंगे, जिनका उक्त प्रतिज्ञा वाक्यों में उल्लेख किया गया है। परन्तु ऐसा नहीं है, उनके अतिरिक्त और भी बीसियों विद्वानों के शब्दों से ग्रन्थ का कलेवर बढ़ाया गया है और वे विद्वान् जैन ही नहीं किन्तु अजैन भी हैं। अजैनों के बहुत से साहित्य पर हाथ साफ किया गया है और उसे दुर्भाग्य से जैन साहित्य प्रकट किया गया है, यह बड़े ही खेद का विषय है। इस व्यर्थ की उठाधरी के कारण ग्रन्थ की तरतीब भी ठीक नहीं बैठ सकी। वह कितने ही स्थानों पर स्खलित अथवा कुछ बेढंगेपन को लिये हुए हो गई है और साथ में पुनरुक्तियाँ भी हुई हैं। इसके सिवाय, कहीं २ पर उन विद्वानों के विरुद्ध भी कथन किया गया है। जिनके वाक्यानुसार कथन करने की प्रतिज्ञा अथवा सूचना की गई है और बहुत-सा कथन जैन सिद्धांत के विरुद्ध अथवा जैनादर्श से गिरा हुआ भी इसमें पाया जाता है। इस तरह यह ग्रन्थ एक बड़ा ही विचित्र ग्रन्थ जान पड़ता है और 'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुनबा जोड़ा' वाली कहावत को भी कितने ही अंशों में चरितार्थ करता है। यद्यपि यह ग्रन्थ उक्त जिनसेन त्रिवर्णाचारादि की तरह का जाली ग्रन्थ नहीं है, इसकी रचना प्राचीन बड़े आचार्यों के नाम से नहीं हुई, फिर भी यह अर्धजाली जरूर है और इसे एक मान्य जैन ग्रन्थ के तौर पर स्वीकार करने में बहुत बड़ा संकोच होता है। नीचे इन्हीं सब बातों का दिग्दर्शन कराया जाता है, जिससे पाठकों को इस ग्रन्थ के विषय में अपनी ठीक सम्मति स्थिर करने का अवसर मिल सके।

सबसे पहले मैं अपने पाठकों को यह बतला देना चाहता हूँ कि उक्त प्रतिज्ञा पद्य नं० ९ में जिन विद्वानों के नाम दिये गये हैं उनमें 'भट्टाकलंक' से अभिप्राय राजवार्तिक के कर्ता भट्टाकलंक देव से नहीं है, बल्कि अकलंक प्रतिष्ठापाठ (प्रतिष्ठातिलक) आदि के कर्ता दूसरे भट्टाकलंक से है, जिन्होंने अपने को 'भट्टाकलंकदेव' भी लिखा है और जो विक्रम की प्रायः १६ वीं शताब्दी के विद्वान थे।[५] और 'गुणभद्र' मुनि संभवतः वे ही भट्टारक गुणभद्र जान पड़ते हैं जो ग्रन्थकर्ता के पट्टगुरु थे। गुणभद्र भट्टारक के बनाये हुए 'पूजाकल्प' नामक एक ग्रंथ का उल्लेख भी 'दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्ता और उनके ग्रन्थ' नामक सूची में पाया जाता है। हो सकता है कि इस ग्रन्थ के आधार पर भी प्रकृत त्रिवर्णाचार में कुछ कथन किया गया हो और इसके भी वाक्यों को बिना नाम-धाम के उठा कर रखा गया हो। परन्तु मुझे गुणभद्र मुनि के किसी भी ग्रन्थ के साथ इस ग्रन्थ के साहित्य को जाँचने का अवसर नहीं मिल सका और इसलिये मैं उनके ग्रन्थ विषय का यहाँ कोई उल्लेख नहीं कर सकूँगा। बाकी चार विद्वानों में से जिनसेनाचार्य तो 'आदिपुराण' के कर्ता, स्वामी समन्तभद्र 'रत्नकरण्डक' श्रावकाचार

५. इस त्रिवर्णाचार में जिनसेन आदि दूसरे विद्वानों के वाक्यों का जिस प्रकार से उल्लेख पाया जाता है, उस प्रकार से राजवार्तिक के कर्ता भट्टाकलंक देव के बनाये हुए किसी भी ग्रन्थ का प्रायः कोई उल्लेख नहीं मिलता। हाँ, अकलंक प्रतिष्ठापाठ के कितने ही कथनों के साथ त्रिवर्णाचार के कथनों का मेल तथा सादृश्य जरूर है और कुछ पद्यादिक दोनों ग्रन्थों में समान रूप से भी पाये जाते हैं। इससे उक्त पद्य में 'भट्टाकलंकैः' पद का वाच्य क्या है, यह बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है।

के प्रणेता, पं० आशाधर 'सागार धर्मामृत' आदि के रचयिता और विबुध ब्रह्मसूरि 'ब्रह्मसूरि त्रिवर्णाचार' अथवा 'जिनसंहितासारोद्धार' के विधाता हुए हैं जिसका दूसरा नाम 'प्रतिष्ठातिलक' भी है। आशाधर की तरह ब्रह्मसूरि भी गृहस्थ विद्वान् थे और उनका समय विक्रम की प्रायः १५वीं शताब्दी पाया जाता है। ये जैनधर्मानुयायी ब्राह्मण थे। सोमसेन ने भी 'श्री ब्रह्मसूरिद्विजवंशरत्नं', 'ब्रह्मसूरिसुविप्रेण', 'श्री ब्रह्मासूरिवरविप्रकवीश्वरेण' आदि पदों के द्वारा इन्हें ब्राह्मण वंश का प्रकट किया है। इनके पिता का नाम 'विजयेन्द्र' और माता का 'श्री' था। इनके एक पूर्वज गोविन्दभट्ट, जो वेदान्तानुयायी ब्राह्मण थे, स्वामी समन्तभद्र के 'देवागम' स्तोत्र को सुनकर जैनधर्म में दीक्षित हो गये थे।[६] उसी वक्त से इनके वंश में जैनधर्म की बराबर मान्यता चली आई है, और उसमें कितने ही विद्वान् हुए हैं।

ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार को देखने से ऐसा मालूम होता है कि ब्रह्मसूरि के पूर्वज जैनधर्म में दीक्षित होने के समय हिन्दूधर्म के कितने ही संस्कारों को अपने साथ लाये थे, जिनको उन्होंने स्थिर ही नहीं रखा बल्कि उन्हें जैन का लिबास पहिनाने और त्रिवर्णाचार जैसे ग्रन्थों द्वारा उनका जैन समाज में प्रचार करने का भी आयोजन किया है। संभव है देश-काल की परिस्थिति ने भी उन्हें वैसा करने के लिये मजबूर किया हो। उस वक्त ब्राह्मण लोग जैन द्विजों अथवा जैन धर्म में दीक्षितों को 'वर्णान्त्रःपाती' और संस्कारविहीनों को 'शूद्र' तक कहते थे, आश्चर्य नहीं जो यह बात नव दीक्षितों को, खासकर विद्वानों को असह्य हो उठी हो और उसके प्रतिकार के लिये ही उन्होंने अथवा उनसे पूर्व दीक्षितों ने उपर्युक्त आयोजन किया हो। परन्तु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि उस वक्त दक्षिण भारत में इस प्रकार के साहित्य (संहिता शास्त्रों, प्रतिष्ठा पाठों और त्रिवर्णाचारों) की बहुत कुछ सृष्टि हुई है। एक संधि भ० जिनसंहिता, इन्द्रनन्दिसंहिता, नेमिचंद्र[७] संहिता, भद्रबाहुसंहिता, आशाधर प्रतिष्ठापाठ, अकलंक प्रतिष्ठापाठ और जिनसेन त्रिवर्णाचार आदि बहुत से ग्रन्थ उसी वक्त के बने हुए हैं। इस प्रकार के सभी उपलब्ध ग्रन्थों की सृष्टि विक्रम की प्रायः दूसरी सहस्राब्दी में पाई जाती है। विक्रम की पहली सहस्राब्दी (दसवीं शताब्दी तक) का बना हुआ वैसा एक भी ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ और इससे यह जाना जाता है कि ये ग्रन्थ उस जमाने की किसी खास हलचल के परिणाम हैं और इनके कितने ही नूतन विषयों का, जिन्हें खास तौर से लक्ष्य में रखकर ऐसे ग्रन्थों की सृष्टि की गई है, जैनियों के प्राचीन साहित्य के साथ प्रायः कोई सम्बन्ध विशेष नहीं है। अस्तु।

ग्रन्थ का संग्रहत्व

(१) इस त्रिवर्णाचार में सबसे अधिक संग्रह यदि किसी ग्रन्थ का किया गया है तो वह ब्रह्मसूरि का उक्त त्रिवर्णाचार ही है। सोमसेन ने अपने त्रिवर्णाचार की श्लोक संख्या, ग्रन्थ के अंत में, २७०० दी है और यह संख्या ३२ अक्षरों की श्लोक गणना के अनुसार जान पड़ती है। परन्तु वैसे, ग्रन्थ की

६. देखो उक्त 'जिनसंहितासारोद्धार' की प्रशस्ति।

७. नेमिचंद्र संहिता के रचयिता 'नेमिचंद्र' भी एक गृहस्थ विद्वान् थे और वे ब्रह्मसूरि के भानजे थे। देखो नेमिचंद्र संहिता की प्रशस्ति अथवा जैन हितैषी के १२ वें भाग का अंक नं० ४-५.

पद्य संख्या २०४६ है और बाकी का उसमें मंत्र भाग है जो ५५० या ६०० श्लोकों के करीब होगा। कुछ अपवादों को छोड़कर, यह सारा मंत्र भाग ब्रह्मसूरि त्रिवर्णाचार से उठाकर ''ज्यों का त्यों अथवा कहीं-कहीं कुछ बदलकर'' रखा गया है। रही पद्यों की बात, उनका जहाँ तक मुकाबला किया गया उससे मालूम हुआ कि इस ग्रन्थ में १६९ पद्य तो ऐसे हैं जो प्रायः ज्यों के त्यों और १७७ पद्य ऐसे हैं जो कुछ परिवर्तन के साथ ब्रह्मसूरि त्रिवर्णाचार से उठाकर रखे गये हैं। इस तरह पर ग्रन्थ का कोई एकतिहाई भाग ब्रह्मसूरि त्रिवर्णाचार से लिया गया है और उसे जाहिर में अपनी रचना प्रकट किया गया है। इस ग्रन्थ संग्रह के कुछ नमूने इस प्रकार हैं–

(क) ज्यों के त्यों उठाकर रखे हुए पद्य–

सुखं वांछन्ति सर्वेऽपि जीवा दुःखं न जातुचित्।
तस्मात्सुखैषिणो जीवाः संस्कारायाभिसम्मताः॥२/७॥
एवं दशाहपर्यन्तमेतत्कर्म विधीयते।
पिंडं तिलोदकं चापि कर्ता दद्यात्तदान्वहम्॥१३/१७६॥

इन पद्यों में से पहला पद्य ब्रह्मसूरि त्रिवर्णाचार का ५वाँ और दूसरा पद्य उसके अन्तिम पर्व का १३९वाँ पद्य है। दूसरे पद्य के आगे-पीछे के और भी पचासों पद्य ब्रह्मसूरि त्रिवर्णाचार से ज्यों के त्यों उठाकर रखे गये हैं। दोनों ग्रन्थों के अन्तिम भाग (अध्याय तथा पर्व) सूतक-पातक अथवा जननाशौच और मृताशौच नाम के प्रायः एक ही विषय को लिये हुए भी हैं।

(ख) परिवर्तन करके रखे हुए पद्य–

कालादिलब्धितः पुंसामन्तःशुद्धिः प्रजायेते।
मुख्यापेक्ष्या तु संस्कारो बाह्यशुद्धिमपेक्षते॥२/८॥
चतुर्थे दिवसे स्नायात्प्रातर्गोसर्गतः पुरा।
पूर्वाह्ने घटिकाषट्कं गोसर्ग इति भाषितः॥१३/२२॥
शुद्धाभर्तुश्चतुर्थेऽह्नि भोजने रन्धनेऽपि वा।
देवपूजा-गुरूपास्तिहोमसेवासु पंचमे॥१३/२३॥

ये पद्य ब्रह्मसूरि त्रिवर्णाचार के जिन पद्यों को परिवर्तित करके बनाये गये हैं, वे क्रमशः इस प्रकार हैं–

अंतः शुद्धिस्तु जीवानां भवेत्कालादिलब्धितः।
एषामुख्यापिसंस्कारे बाह्यशुद्धिरपेक्षते॥७॥
रजस्वला चतुर्थेऽन्हि स्नायाद्गोसर्गतः परं।
पूर्वाह्ने घटिकाषट्कं गोसर्ग इति भाषितः॥८-१३॥
तस्मिन्नहनि योग्या स्यादुदक्या गृहकर्मणि।
देवपूजा गुरूपास्तिहोमसेवासु पंचमे॥८-१४॥

इन पद्यों का परिवर्तित पद्यों के साथ मुकाबला करने से यह सहज ही में मालूम हो जाता है कि– पहले पद्य में जो परिवर्तित किया गया है उससे कोई अर्थभेद नहीं होता, बल्कि साहित्य की दृष्टि से वह कुछ घटिया जरूर हो गया है। मालूम नहीं फिर इस पद्य को बदलने का क्यों परिश्रम किया गया, जबकि इससे पहला 'सुखं वांछन्ति' नाम का पद्य ज्यों का त्यों उठाकर रखा गया था। इसे भी उसी तरह पर उठाकर रख सकते थे। शेष दोनों पद्यों के उत्तरार्द्ध ज्यों के त्यों है, सिर्फ पूर्वार्द्ध बदले गये हैं और उनकी यह तबदीली बहुत कुछ भद्दी जान पड़ती है। दूसरे पद्य की तबदीली ने तो कुछ विरोध भी उपस्थित कर दिया है–ब्रह्मसूरि ने चौथे दिन रजस्वला के स्नान का समय पूर्वाह्न की छह घड़ी के बाद कुछ दिन चढ़े रखा था, परन्तु ब्रह्मसूरि के अनुसार कथन की प्रतिज्ञा करने वाले सोमसेन जी ने, अपनी इस तबदीली के द्वारा गोसर्ग की उक्त छह घड़ी से पहले रात्रि में ही उसका विधान कर दिया है! इससे इन पद्यों के परिवर्तन की निरर्थकता स्पष्ट है और साथ ही सोमसेन जी की योग्यता का भी कुछ परिचय मिल जाता है।

(ग) परिवर्तित और अपरिवर्तित मन्त्र।

इस ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में, एक स्थान पर, दश दिक्पालों को प्रसन्न करने के मंत्र देते हुए लिखा है–

ततोऽपि मुकुलितकरकुड्मलः सन् ''ॐ नमोर्हते भगवते श्री शांतिनाथाय शांतिकराय सर्वविघ्नप्रणाशनाय सर्वरोगापमृत्युविनाशनाय सर्वपरकृतक्षुद्रोपद्रवविनाशनाय मम सर्वशान्तिर्भवतु'' इत्युच्चार्य–

इसके बाद–'पूर्वस्यां दिशि इन्द्रः प्रसीदतु, आग्नेयां दिशि अग्निः प्रसीदतु, दक्षिणस्यां दिशि यमः प्रसीदतु' इत्यादि रूप से वे प्रसन्नता सम्पादन कराने वाले दसों मंत्र दिये हैं। ये सब मंत्र वे ही हैं जो ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार में भी दिये हुए हैं, सिर्फ 'उत्तरस्यां दिशि कुबेरः प्रसीदतु' नामक मंत्र में कुबेरः की जगह यहाँ 'यक्षः' पद का परिवर्तन पाया जाता है। परन्तु इन मंत्रों से पहले 'ततोऽपि मुकुलितकरकुड्मलः सन्' और 'इत्युच्चार्य' के मध्य का जो मंत्र पाठ है वह ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार में निम्न प्रकार से दिया हुआ है–

ॐ नमोर्हते श्रीशांतिनाथाय शांतिकराय सर्वशांतिर्भवतु स्वाहा।[८]

इस प्रदर्शन से यह स्पष्ट जाना जाता है कि सोमसेन जी इन क्रिया मंत्रों को ऐसे आर्ष मंत्र नहीं समझते थे जिनके अक्षर जँचे-तुले अथवा गिने-चुने होते हैं और जिनमें अक्षरों की कमी-बेशी आदि के कारण कितनी ही विडम्बना हो जाया करती है अथवा यों कहिये कि यथेष्ट फल संघटित नहीं हो सकता। वे शायद इन मंत्रों को इतना साधारण समझते थे कि अपने जैसों को भी उनके परिवर्तन का

---

८. इस मंत्र में जिन विशेषण पदों को बढ़ाकर इसे ऊपर का रूप दिया गया है उसे सोमसेनजी के उस विशेष कथन का एक नमूना समझना चाहिए जिसकी सूचना उन्होंने अध्याय के अंत में निम्न पद्य द्वारा की है–

श्रीब्रह्मसूरिद्विजवंशरत्नं श्रीजैनमार्गप्रतिबुद्धतत्त्वः। वाचं तु तस्यैव विलोक्य शास्त्रं कृतं विशेषान्मुनिसोमसेनैः॥

अधिकारी मानते थे। यही वजह है जो उन्होंने उक्त दोनों मंत्रों में और इसी तरह और भी बहुत से मंत्रों में अपनी इच्छानुसार तबदीली अथवा न्यूनाधिकता की है, जिस सबको यहाँ बतलाने की आवश्यकता नहीं है। मंत्रों का भी इस ग्रन्थ में कुछ ठिकाना नहीं, अनेक देवताओं के पूजा मंत्रों को छोड़कर, नहाने, धोने, कुल्ला दाँतुन करने, खाने, पीने, वस्त्र पहनने, चलने फिरने, उठने बैठने और मल-मूत्र क्षेपण आदि बात-बात के मंत्र पाये जाते हैं- मंत्रों का एक खेल-सा नजर आता है और उनकी रचना का ढंग भी प्रायः बहुत कुछ सीधा सादा तथा आसान है। ॐ, ह्रीं, अर्हं स्वाहा आदि दो चार अक्षर इधर-उधर जोड़कर और कहीं-कहीं कुछ विशेषण पद भी साथ में लगाकर संस्कृत में वह बात कह दी गई है जिस विषय का कोई मंत्र है। ऐसे कुछ मंत्रों का सारांश यदि हिन्दी में दे दिया जाये तो पाठकों को उन मंत्रों की जाति तथा प्रकृति आदि के समझने में बहुत कुछ सहायता मिलेगी। अतः नीचे ऐसे ही कुछ मंत्रों का हिन्दी में दिग्दर्शन कराया जाता है-

(१) ॐ ह्रीं, हे यहाँ के क्षेत्रपाल! क्षमा करो, मुझे मनुष्य जानो, इस स्थान से चले जाओ, मैं यहाँ मल-मूत्र का त्याग करता हूँ, स्वाहा।

(२) ॐ इन्द्रों के मुकुटों की रत्नप्रभा से प्रक्षालित पादपद्म अर्हन्त भगवान् को नमस्कार, मैं शुद्ध जल से पैर धोता हूँ, स्वाहा।

(३) ॐ ह्रीं ह्रौं..., मैं हाथ धोता हूँ, स्वाहा।

(४) ॐ ह्रीं क्ष्वीं इवीं, मैं मुँह धोता हूँ, स्वाहा।

(५) ॐ परमपवित्राय, मैं दंतधावन (दाँतन कुल्ला) करता हूँ, स्वाहा।

(६) ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐँ अर्हं असिआउसा, मैं स्नान करता हूँ, स्वाहा।

(७) ॐ ह्रीं, संसार सागर से निकले हुए अर्हन्त भगवान् को नमस्कार, मैं पानी से निकलता हूँ, स्वाहा।

(८) ॐ ह्रीं क्ष्वीं इवीं अर्हं हं सः परम पावनाय, मैं वस्त्र पवित्र करता हूँ, स्वाहा।

(९) ॐ, हे श्वेतवर्ण वाली, सर्व उपद्रवों को हरने वाली, सर्व महाजनों का मनोरंजन करने वाली, धोती दुपट्टा धारण करने वाली हं झं वं मं सं तं मैं धोती-दुपट्टा धारण करता हूँ स्वाहा।

(१०) ॐ भूर्भुवः स्वः असिआउसा, मैं प्राणायाम करता हूँ, स्वाहा।

(११) ॐ ह्रीं..., मैं सिर के ऊपर पानी के छींटे देता हूँ, स्वाहा।

(१२) ॐ ह्रीं..., मैं चुल्लू में पानी लेता हूँ, स्वाहा।

(१३) ॐ ह्रीं..., मैं चुल्लू का अमृत (जल) पीता हूँ, स्वाहा।

(१४) ॐ ह्रीं अर्हं, मैं किवाड़ खोलता हूँ, स्वाहा।

(१५) ॐ ह्रीं अर्हं... मैं द्वारपाल को (भीतर जाने की) सूचना देता हूँ, स्वाहा।

(१६) ॐ ह्रीं, अर्हं... मैं मंदिर में प्रवेश करता हूँ, स्वाहा।

(१७) ॐ ह्रीं, मैं मुख वस्त्र को उघाड़ता हूँ, स्वाहा।

(१८) ॐ ह्रीं, अर्हं, मैं यागभूमि में प्रवेश करता हूँ, स्वाहा।

(१९) ॐ ह्रीं, मैं बाजा बजाता हूँ, स्वाहा।

(२०) ॐ ह्रीं... मैं पृथ्वी को पानी से धोकर शुद्ध करता हूँ, स्वाहा।

(२१) ॐ ह्रीं अर्हं क्षां ठ ठ, मैं दर्भासन बिछाता हूँ, स्वाहा।

(२२) ॐ ह्रीं अर्हं निस्सही हूँ फट् मैं दर्भासन पर बैठता हूँ, स्वाहा।

(२३) ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः, श्री अर्हन्त भगवान् को नमस्कार, मैं शुद्ध जल से बरतन धोता हूँ, स्वाहा।

(२४) ॐ ह्रीं अर्हं..., मैं पूजा के द्रव्य को धोता हूँ, स्वाहा।

(२५) ॐ ह्रीं अर्हं..., मैं हाथ जोड़ता हूँ, स्वाहा।

(२६) ॐ ह्रीं स्वस्तये, मैं कलश उठाता हूँ, स्वाहा।

(२७) ॐ ऊँ ऊं ऊं रं रं रं रं, मैं दर्भ डालकर आग जलाता हूँ, स्वाहा।

(२८) ॐ ह्रीं, मैं पवित्र जल से द्रव्य शुद्धि करता हूँ, स्वाहा।

(२९) ॐ ह्रीं मैं कुश ग्रहण करता हूँ, स्वाहा।

(३०) ॐ ह्रीं मैं पवित्र गंधोदक को सिर पर लगाता हूँ, स्वाहा।

(३१) ॐ ह्रीं..., मैं बालक को पालने में झुलाता हूँ, स्वाहा।

(३२) ॐ ह्रीं अर्हं असिआउसा, मैं बालक को बिठलाता हूँ, स्वाहा।

(३३) ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं, मैं बालक के कान-नाक बींधता हूँ, अ सि आ उ सा स्वाहा।

(३४) ॐ भुक्ति शक्ति के देने वाले अर्हन्त भगवान् को नमस्कार, मैं बालक को भोजन कराता हूँ...स्वाहा।

(३५) ॐ..., मैं बालक को पैर धरना सिखलाता हूँ, स्वाहा।

प्रायः ये सभी मंत्र ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार में भी पाये जाते हैं और वहीं से उठाकर यहाँ रखे गये मालूम होते हैं। परंतु किसी २ मंत्र में कुछ, अक्षरों की कमीबेशी अथवा तबदीली जरूर पाई जाती है और इससे उस विचार को और भी ज्यादा पुष्टि मिलती है, जो ऊपर जाहिर किया गया है। साथ ही, यह मालूम होता है कि ये मंत्र जैन समाज के लिये कुछ अधिक प्राचीन तथा रूढ़ नहीं हैं और न उसकी व्यापक प्रकृति या प्रवृत्ति के अनुकूल ही जान पड़ते हैं। कितने ही मंत्रों की सृष्टि उनकी नवीन कल्पना, भट्टारकी युग में हुई है और यह बात आगे चलकर स्पष्ट की जायेगी।

(२) पं० आशाधर के ग्रन्थों से भी कितने ही पद्य, इस त्रिवर्णाचार में, बिना नाम धाम के संग्रह किये गये हैं, छठे अध्याय में २२ और दसवें अध्याय में १३ पद्य सागारधर्मामृत से लिये गये हैं। इनमें से छठे अध्याय के दो पद्यों को छोड़कर, जिनमें कुछ परिवर्तन किया गया है, शेष ३२ पद्य ऐसे हैं जो इन अध्यायों में ज्यों के त्यों उठाकर रखे गये हैं। अनगारधर्मामृत से भी कुछ पद्य लिये गये हैं और आशाधर प्रतिष्ठापाठ से भी कितने ही पद्यों का संग्रह किया गया है। छठे अध्याय के ११ पद्यों का

आशाधर प्रतिष्ठा पाठ के साथ जो मुकाबला किया गया तो उन्हें ज्यों का त्यों पाया गया। इन पद्यों के कुछ नमूने इस प्रकार हैं–

योग्य कालासनस्थानमुद्राऽऽवर्तशिरोनतिः।
विनयेन यथाजातः कृतिकर्मामलं भजेत्॥१/६३॥
किमिच्छकेन दानेन जगदाशा प्रपूर्य यः।
चक्रिभिः क्रियते सोऽर्हद्यज्ञो कल्पद्रुमो मतः॥६/७९॥
जाती पुष्पसहस्राणि जप्त्वा द्वादश सदृशः।
विधिनादत्त होमस्य विद्या सिद्ध्यति वर्णिनः॥६/४॥

इनमें से पहला पद्य अनगारधर्मामृत के ८ वें अध्याय का ७८ वाँ, दूसरा पद्य सागारधर्मामृत के दूसरे अध्याय का २८ वाँ और तीसरा पद्य आशाधर प्रतिष्ठापाठ (प्रतिष्ठासारोद्धार) के प्रथमाध्याय का १३ वाँ पद्य है। प्रतिष्ठापाठ के अगले नं० १४ से २४ तक के पद्य भी यहीं एक स्थान पर ज्यों के त्यों उठाकर रखे गये हैं।

जीविते मरणे लाभेऽलाभे योगे विपर्यये।
बन्ध्वावरौ सुखे दुःखे सर्वदा समता मम॥१/६४॥

यह अनगारधर्मामृत के आठवें अध्याय का २७ वाँ पद्य है। इसका चौथा चरण यहाँ बदला हुआ है–'साम्यमेवाभ्युपैम्यहम्' की जगह 'सर्वदा समता मम' ऐसा बनाया गया है। मालूम नहीं इस परिवर्तन की क्या जरूरत पैदा हुई और इसने कौनसी विशेषता उत्पन्न की! बल्कि नियतकालिक सामायिक के अनुष्ठान में 'सर्वदा' शब्द का प्रयोग कुछ खटकता जरूर है।

मद्यमांसमधून्युज्झेत्पंचक्षीरफलानि च।
अष्टैतान् गृहिणां मूलगुणान् स्थूलवधाद्विदुः॥६/१९४॥

यह पद्य सागार-धर्मामृत के दूसरे अध्याय के पद्य नं० २ और नं० ३ बनाया गया है। इसका पूर्वार्द्ध पद्य नं० २ का उत्तरार्द्ध और उत्तरार्द्ध पद्य नं० ३ का पूर्वार्द्ध है। साथ ही 'स्थूलवधादि वा' की जगह यहाँ 'स्थूलवधाद्विदुः' ऐसा परिवर्तन भी किया गया है। सागारधर्मामृत के उक्त पद्य नं० २ का पूर्वार्द्ध है 'तत्रादौ श्रद्धधज्जैनीमाज्ञां हिंसामपासितुं' और पद्य नं० ३ का उत्तरार्द्ध है 'फलस्थाने स्मरेद् द्यूतं मधुस्थान इहैव वा'। ये दोनों पद्य १० वें अध्याय में ज्यों के त्यों उद्धृत भी किये गये हैं और वहाँ पर अष्टमूलगुणों का विशेष रूप से कथन भी किया गया है, फिर नहीं मालूम यहाँ पर यह अष्टमूलगुणों का कथन दोबारा क्यों किया गया है और इससे क्या लाभ निकाला गया। प्रकरण तो यहाँ त्याज्य अन्न अथवा भोजन का था, कोल्हापुर की छपी हुई प्रति में 'अथ त्याज्यान्नम्' ऐसा उक्त पद्य से पहले लिखा भी है, और उसके लिये इन आठ बातों का कथन उन्हें अष्टमूलगुण की संख्या न देते हुए भी किया जा सकता था और करना चाहिए था– खासकर ऐसी हालत में जबकि इनके त्याग

का मूलगुणरूप से आगे कथन करना ही था। इसके सिवाय दूसरे 'रागजीववधापाय'[१] नामक पद्य में जो परिवर्तन किया गया है यह बहुत ही साधारण है! उसमें 'रात्रिभक्तं' की जगह 'रात्रौभुक्तिं' बनाया गया है और यह बिल्कुल ही निरर्थक परिवर्तन जान पड़ता है।

(३) इस ग्रन्थ के दसवें अध्याय में रत्नकरण्डक-श्रावकाचार के 'विषयाशावशातीतो' आदि साठ पद्य तो ज्यों के त्यों और पाँच पद्य कुछ परिवर्तन के साथ संग्रह किये गये हैं। परिवर्तित पद्यों में से पहला पद्य इस प्रकार है-

अष्टांगैः पालितं शुद्धं सम्यक्त्वं शिवदायकम्।
न हि मंत्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम्॥२८॥

यह पद्य रत्नकरण्डकश्रावकाचार के २१ वें पद्य रूपान्तर है। इसका उत्तरार्द्ध तो वही है जो उक्त २१ वें पद्य का है, परन्तु पूर्वार्द्ध को बिल्कुल ही बदल डाला है और यह तबदीली साहित्य की दृष्टि से बड़ी ही भद्दी मालूम होती है। रत्नकरण्डकश्रावकाचार के २१ वें पद्य का पूर्वार्द्ध है-

नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिम्।

पाठकजन देखें, इस पूर्वार्द्ध का उक्त पद्य के उत्तरार्द्ध से कितना गहरा सम्बन्ध है। यहाँ सम्यग्दर्शन की अंगहीनता जन्मसंतति को नाश करने में असमर्थ है और वहाँ उदाहरण में मंत्र की अक्षरन्यूनता विषवेदना को दूर करने में अशक्त है- दोनों में कितना साम्य, कितना सादृश्य और कितनी एकता है, इसे बतलाने की जरूरत नहीं। परन्तु खेद है कि भट्टारकजी ने इसे नहीं समझा और इसलिये उन्होंने रत्न के एक टुकड़े को अलग करके उसकी जगह काँच जोड़ा है, जो बिल्कुल ही बेमेल तथा बेडौल मालूम होता है। दूसरे चार पद्यों की भी प्रायः ऐसी ही हालत है-उनमें जो परिवर्तन किया गया है वह व्यर्थ जान पड़ता है। एक पद्य में तो 'महाकुलाः' की जगह 'उत्तम-कुलाः' बनाया गया है, दूसरे में 'ज्ञेयं पाखण्डिमोहनं' को 'ज्ञेया पाखण्डिमूढता' का रूप दिया गया है, तीसरे में 'स्मयमाहुर्गतस्मयाः' की जगह 'श्रीयते तन्मदाष्टकम्' यह चौथा चरण कायम किया गया है और चौथे पद्य में 'दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते' के स्थान पर 'विद्यन्ते कामदा नित्यम्' यह नवीन पद जोड़ा गया है और इससे मूल का प्रतिपाद्य विषय भी कुछ कम हो गया है।

(४) श्रीजिनसेनाचार्य प्रणीत आदिपुराण से भी कितने ही पद्य उठाकर इस ग्रन्थ में रखे गये हैं, जिनमें से दो पद्य नमूने के तौर पर इस प्रकार हैं।

व्रतचर्यामहं वक्ष्ये क्रियामस्योपबिभ्रतः।
कट्यूरूरः शिरोलिंगमनूचानव्रतोचितम्॥९/६७॥
वस्त्राभरणामाल्यादिग्रहणं गुर्वनुज्ञया।
शास्त्रोपजीविवर्ग्यश्चेद्धारयेच्छस्त्रमप्यदः ॥९/८०॥

---

१. यह सागार-धर्मामृत के दूसरे अध्याय का १४ वाँ पद्य है और सोमसेन-त्रिवर्णाचार के छठे अध्याय में नं० २०१ पर दर्ज है।

इनमें से पहला पद्य तो आदिपुराण के ३८वें पर्व का १०९वाँ पद्य है इसके आगे के और भी कई पद्य ऐसे हैं जो ज्यों के त्यों उठाकर रखे गये हैं और दूसरा उसी पर्व के पद्य नं० १२५ के उत्तरार्द्ध और नं० १२६ के पूर्वार्द्ध को मिलाकर बनाया गया है। पद्य नं० १२५ का पूर्वार्द्ध और नं० १२६ का उत्तरार्द्ध क्रमशः इस प्रकार हैं–

कृतद्विजार्चनस्यास्य व्रतावतरणोचितम्॥ पू. १२५॥
स्ववृत्तिपरिरक्षार्थं शोभार्थं चास्य तद्ग्रहः॥ उ. १२६॥

मालूम नहीं दोनों पद्यों के इन अंशों को क्यों छोड़ा गया और उसमें क्या लाभ सोचा गया। इस व्यर्थ की छोड़ छाड़ तथा काट छाँट का ही यह परिणाम है जो यहाँ व्रतावतरण क्रिया के कथन में उस सार्वकालिक व्रत का कथन छूट गया है जो आदिपुराण के 'मद्यमांसपरित्यागः' नामक १२३वें पद्य में दिया हुआ है।[१०] और इसलिये उक्त ८० वें पद्य से पहले आदिपुराण का जो १२४ वाँ पद्य उद्धृत किया गया है वह एक प्रकार से बेढंगा तथा असंगत जान पड़ता है। वह पद्य इस प्रकार है–

व्रतावतरणं चेदं गुरुसाक्षिकृतार्चनम्।
वत्सरात् द्वादशादूर्ध्वमथवा षोडशात्परम्॥९/७९॥

इसमें 'इदं' शब्द का प्रयोग बहुत खटकता है और वह पूर्वकथन को 'व्रतावतरण' क्रिया का कथन बतलाता है, परन्तु ग्रन्थ में वह 'व्रतचर्या' का कथन है और 'व्रतचर्यामहं वक्ष्ये' इस ऊपर उद्धृत किये हुए पद्य से प्रारम्भ होता है। अतः भट्टारकजी की इस काट छाँट और उठाई धरी के कारण दो क्रियाओं के कथन में कितना गोलमाल हो गया है, इसका अनुभव विज्ञ पाठक स्वयं कर सकते हैं और साथ ही यह जान सकते हैं कि भट्टारकजी काट छाँट करने में कितने निपुण थे।

(५) श्री शुभचन्द्राचार्य प्रणीत 'ज्ञानार्णव' ग्रन्थ से भी इस त्रिवर्णाचार में कुछ पद्यों का संग्रह किया गया है। पहले अध्याय के पाँच पद्यों को जाँचने से मालूम हुआ कि उनमें से तीन पद्य तो ज्यों के त्यों और दो कुछ परिवर्तन के साथ उठाकर रखे गये हैं। ऐसे पद्यों में से एक एक पद्य नमूने के तौर पर इस प्रकार है–

चतुर्वर्णमयं मंत्रं चतुर्वर्गफलप्रदम्।
चतूरात्रं जपेद्योगी चतुर्थस्य फलं भवेत्॥७५॥
विद्यां षड्वर्णसंभूतामजय्यां पुण्यशालिनीम्।
जपन्प्रागुक्तमभ्येति फलं ध्यानी शतत्रयम्॥७६॥

ये दोनों पद्य ज्ञानार्णव के ३८ वें प्रकरण के पद्य हैं और वहाँ क्रमशः नं० ५१ तथा ५० पर दर्ज हैं यहाँ इन्हें आगे पीछे उद्धृत किया गया है। इनमें से दूसरा पद्य तो ज्यों का त्यों उठा कर रखा गया

---

१०. 'व्रतावतरणं चेदं' से पहले आदिपुराण का वह १२३ वाँ पद्य इस प्रकार है–

मद्यमांसपरित्यागः पंचोदुम्बरवर्जनम्। हिंसादिविरतिश्चास्य व्रतं स्यात्सार्वकालिकम्॥

है और पहले पद्य के उत्तरार्द्ध में कुछ परिवर्तन किये गये हैं, 'चतुःशतं' की जगह 'चतूरात्रं', 'जपन्' की जगह 'जपेत्' और 'लभेत्' की जगह 'भवेत्' बनाया गया है। इन परिवर्तनों में से पिछले दो परिवर्तन निरर्थक है—उनकी कोई जरूरत ही न थी और पहला परिवर्तन ज्ञानार्णव के मत से विरुद्ध पड़ता है जिसके अनुसार कथन करने की प्रतिज्ञा की गई है।[११] ज्ञानार्णव के अनुसार 'चतुरक्षरी मंत्र का चार सौ संख्या प्रमाण जप करने वाला योगी एक उपवास के फल को पाता है' परन्तु यहाँ, जाप्य की संख्या का कोई नियम न देते हुए, चार रात्रि तक जप करने का विधान किया गया है और तब कहीं एक उपवास[१२] का फल होना लिखा है। इससे दोनों में परस्पर कितना अंतर है और उससे प्रतिज्ञा में कहाँ तक विरोध आता है इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। इस अध्याय में और भी कितने ही कथन ऐसे हैं जो ज्ञानार्णव के अनुकूल नहीं हैं। उनमें से कुछ का परिचय आगे चलकर यथास्थान दिया जायेगा।

(६) एकसंधि भट्टारक की 'जिन संहिता' से भी कितने ही पद्यादिकों का संग्रह किया गया है और उन्हें प्रायः ज्यों का त्यों अथवा कुछ परिवर्तन के साथ उठाकर अनेक स्थानों पर रखा गया है। चौथे अध्याय में ऐसे जिन पद्यों का संग्रह किया गया है, उनमें से दो पद्य नमूने के तौर पर इस प्रकार हैं—

तीर्थकृद्गणभृच्छेष केवल्यन्तमहोत्सवे।
प्राप्य ये पूजनाङ्गत्वं पवित्रत्वमुपागताः॥११५॥

११. वह प्रतिज्ञा वाक्य इस प्रकार है—
ध्यानं तावदहं वदामि विदुषां ज्ञानार्णवे यन्मतम्।

१२. पं० पन्नालाल जी सोनी ने अपने अनुवाद में, ''चार रात्रि पर्यंत जप करें तो उन्हें मोक्ष की प्राप्ति होती है'' ऐसा लिखा है और इससे यह जाना जाता है कि आपने उक्त ७५वें पद्य में प्रयुक्त हुए 'चतुर्थ' शब्द का अर्थ उपवास न समझकर 'मोक्ष' समझा है! परन्तु यह आपकी बड़ी भूल है, मोक्ष इतना सस्ता है भी नहीं। इस पारिभाषिक शब्द का अर्थ यहाँ मोक्ष (चतुर्थवर्ग) न होकर 'चतुर्थ' नाम का उपवास है, जिसमें भोजन की चतुर्थ बेला तक निराहार रहना होता है। ७६वें पद्य में 'प्रागुक्तं' पद के द्वारा जिस पूर्वकथित फल का उल्लेख किया गया है उसे ज्ञानार्णव के पूर्ववर्ती पद्य नं० ४९ में 'चतुर्थतपसः फलं' लिखा है। इससे 'चतुर्थस्य फलं' और 'चतुर्थतपसः फलं' दोनों एकार्थवाचक पद हैं और वे पूरे एक उपवास फल के द्योतक हैं। पं० पन्नालाल जी बाकलीवाल ने भी ज्ञानार्णव के अपने अनुवाद में, जिसे उन्होंने पं० जयचन्द जी की भाषा टीका का 'अनुकरण मात्र' लिखा है, 'चतुर्थ का अर्थ अनेक स्थानों पर 'उपवास' दिया है। और प्रायश्चित्त ग्रन्थों से तो यह बात और भी स्पष्ट है कि 'चतुर्थ' का अर्थ 'उपवास' है जैसा कि 'प्रायश्चित्तचूलिका' की श्रीनन्दिगुरुकृत टीका के निम्न वाक्यों से प्रकट है—
''त्रिचतुर्थानि त्रीणि चतुर्थानि त्रय उपवासा इत्यर्थः।''
'चतुर्थ उपवासः'। इससे सोनीजी की भूल स्पष्ट है और उसे इसलिये स्पष्ट किया गया है जिससे मेरे उक्त लिखने में किसी को भ्रम न हो सके। अन्यथा, उनकी अनुवाद की भूलें दिखलाना यहाँ इष्ट नहीं है, भूलों से तो सारा अनुवाद भरा पड़ा है, कोई भी ऐसा पृष्ठ नहीं जिसमें अनुवाद की दस पाँच भूलें न हों, उन्हें कहाँ तक दिखलाया जा सकता है। हाँ, मेरे लेख के विषय से जिन भूलों का खास अथवा गहरा सम्बन्ध होगा उन्हें यथावसर स्पष्ट किया जायेगा।

ते त्रयोपि प्रणेतव्याः कुण्डेष्वेषु महानयम्।
गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निप्रसिद्धया॥११६॥

ये दोनों पद्य एकसंधि जिनसंहिता के ७वें परिच्छेद में क्रमशः नं० १६, १७ पर दर्ज हैं और वहीं से उठाकर रखे गये मालूम होते हैं। साथ में आगे-पीछे के और भी कई पद्य लिये गये हैं। इनमें से पहला पद्य वहाँ ज्यों का त्यों और दूसरे में 'महानयम्' की जगह 'महाग्नयः' तथा 'प्रसिद्धया' की जगह 'प्रसिद्धयः' ऐसा पाठभेद पाया जाता है और ये दोनों ही पाठ ठीक जान पड़ते हैं। अन्यथा, इनके स्थान पर जो पाठ यहाँ पाये जाते हैं, उन्हें पद्य के शेष भाग के साथ प्रायः असम्बद्ध कहना होगा। मालूम होता है ये दोनों पद्य संहिता में थोड़े से परिवर्तन के साथ आदिपुराण से लिये गये हैं। आदिपुराण के ४०वें पर्व में ये नं० ८३, ८४ पर दिये हुए हैं, सिर्फ पहले पद्य का चौथा चरण वहाँ 'पूजाङ्गत्वं समासाद्य' है और दूसरे पद्य का पूर्वार्द्ध है-'कुण्डत्रये प्रणेतव्यास्त्रय एते महाग्नयः'। इनका जो परिवर्तन संहिता में किया गया है वह कोई अर्थविशेष नहीं रखता, उसे व्यर्थ का परिवर्तन कहना चाहिए।

यहाँ पर इतना और भी बतला देना उचित मालूम होता है कि यह संहिता विक्रम की प्रायः १३ वीं शताब्दी की बनी हुई है और आदिपुराण विक्रम की ९वीं-१०वीं शताब्दी की रचना है।

(७) वसुनन्दि-प्रतिष्ठापाठ से भी बहुत से पद्य लिये गये हैं। छठे अध्याय के १९ पद्यों की जाँच में ११ पद्य ज्यों के त्यों और ८ पद्य कुछ बदले हुए पाये गये। इनमें से तीन पद्य नमूने के तौर पर इस प्रकार हैं-

लक्षणैरपि संयुक्तं बिम्बं दृष्टिविवर्जितम्।
न शोभते यतस्तस्मात्कुर्याद् दृष्टिप्रकाशनम्॥३३॥
अर्थनाशं विरोधं च तिर्यग्दृष्टेर्भयं तदा।
अधस्तात्पुत्रनाशं च भार्यामरणमूर्ध्वदृक्॥३४॥
शोकमुद्वेगसन्तापं सदा कुर्याद्धनक्षयम्।
शान्ता सौभाग्यपुत्रार्थं शान्तिवृद्धिप्रदानदृक्॥३५॥

ये तीनों पद्य वसुनन्दि-प्रतिष्ठापाठ (प्रतिष्ठासारसंग्रह) के चौथे परिच्छेद के पद्य हैं और उसमें क्रमशः नं० ७२, ७५, ७६ पर दर्ज हैं। इनमें पहला पद्य ज्यों का त्यों और शेष दोनों पद्य कुछ परिवर्तन के साथ उठा कर रखे गये हैं। दूसरे पद्य में 'दृष्टिर्भयं' की जगह 'दृष्टेर्भयं', 'तथा' की जगह 'तदा' और 'ऊर्ध्वगा' की जगह 'ऊर्ध्वदृक्' बनाया गया है। और तीसरे पद्य में 'स्तब्धा' की जगह 'सदा' और 'प्रदा भवेत्' की जगह 'प्रदानदृक्' का परिवर्तन किया गया है। ये सब परिवर्तन निरर्थक जान पड़ते हैं, 'तथा' की जगह 'तदा' का परिवर्तन भद्दा है और 'स्तब्धा' की जगह 'सदा' के परिवर्तन ने तो अर्थ का अनर्थ ही कर दिया है। यही वजह है जो पन्नालाल जी सोनी ने, अपने अनुवाद में, स्तब्धा दृष्टि के फल को भी ऊर्ध्व दृष्टि के फल के साथ जोड़ दिया है अर्थात् शोक, उद्वेग, संतान

और धनक्षय को भी ऊर्ध्व दृष्टि का फल बतला दिया है।[१३]

यहाँ इतना और भी जान लेना चाहिए कि पहले पद्य में जिस दृष्टि प्रकाशन की प्रेरणा की गई है, जिनबिम्ब की वह दृष्टि कैसी होनी चाहिए उसे बतलाने के लिये प्रतिष्ठापाठ में उसके अनन्तर ही निम्नलिखित दो पद्य और दिये हुए हैं–

नात्यन्तोन्मीलिता स्तब्धा न विस्फारितमीलिता।
तिर्यगूर्ध्वमधोदृष्टिं वर्जयित्वा प्रयत्नतः॥७३॥
नासाग्रनिहिता शान्ता प्रसन्ना निर्विकारिका।
वीतरागस्य मध्यस्था कर्तव्या चोत्तमा तथा॥७४॥

मालूम नहीं इन दोनों पद्यों को सोमसेन जी ने क्यों छोड़ा और क्यों इन्हें दूसरे पद्यों के साथ उद्धृत नहीं किया, जिनका उद्धृत किया जाना ऐसी हालत में बहुत जरूरी था और जिनके अस्तित्त्व के बिना अगला कथन कुछ अधूरा-सा मालूम होता है। सच है अच्छी तरह से सोचे समझे बिना यों ही पद्यों की उठाईधरी करने का ऐसा ही नतीजा होता है।

(८) ग्रन्थ के दसवें अध्याय में वसुनन्दिश्रावकाचार से छह और गोम्मटसार से आठ गाथाएँ प्रायः ज्यों की त्यों उठाकर रखी गई हैं, जिनमें से एक-एक गाथा नमूने के तौर पर इस प्रकार है–

पुव्वत्त णवविहाणं पि मेहुणं सव्वदा विवज्जंतो।
इत्थिकहादिणिवत्ती सत्तमं वंभचारी सो॥१२७॥
चत्तारि वि खेत्ताइं आउगवंधेण होइ सम्मत्तं।
अणुव्वयमहव्वयाइं ण हवइ देवाउगं मोत्तुं॥४१॥

इनमें से पहली गाथा वसुनन्दिश्रावकाचार की २९७ नंबर की और दूसरी गोम्मटसार की ६५२ नंबर की गाथा है। ये गाथाएँ भी किसी पूर्वकथित अर्थ का समर्थन करने के लिये 'उक्तं च' रूप से नहीं दी गई बल्कि वैसे ही अपनाकर ग्रन्थ का अंग बनाई गई हैं। प्राकृत की और भी कितनी ही गाथाएँ इस ग्रन्थ में पाई जाती हैं, वे सब भी 'मूलाचार' आदि दूसरे ग्रन्थों से उठाकर रखी गई हैं।

(९) भूपाल कवि प्रणीत 'जिनचतुर्विंशतिका' स्तोत्र के भी कई पद्य ग्रन्थ में संगृहीत हैं। पहले अध्याय में सुप्तोत्थितेन' और श्री 'लीलायतनं' चौथे में 'किसलयितमनल्पं' और 'देव त्वदंघ्रि' तथा छठे में 'स्वामिन्नद्य' और 'दृष्टं धाम रसायनस्य' नाम के पद्य ज्यों के त्यों उद्धृत पाये जाते हैं। और ये सब पद्य उक्त स्तोत्र में क्रमशः नं० १९, १, १३, १६, ३ और २५ पर दर्ज हैं।

(१०) सोमदेवसूरि प्रणीत 'यशस्तिलक' के भी कुछ पद्यों का संग्रह पाया जाता है, जिनमें से दो पद्य नमूने के तौर पर इस प्रकार हैं–

---

१३ यथा– "(प्रतिमा की) दृष्टि यदि ऊपर को हो तो स्त्री का मरण होता है और वह शोक, उद्वेग, सन्ताप और धन का क्षय करती है।"

मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट्।
अष्टौ शंकादयो दोषाः सम्यक्त्वे पंचविंशतिः॥१०/२९॥
श्रद्धा भक्तिस्तुष्टिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमा सत्वम्।
यत्रैते सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति॥१०/११८॥

इनमें से पहला 'यशस्तिलक' के छठे आश्वास का और दूसरा आठवें आश्वास का पद्य है। पहले में 'शंकादयश्चेति दृग्दोषाः' की जगह 'शंकादयो दोषाः सम्यक्त्वे' का परिवर्तन किया गया है और दूसरे में 'शक्तिः' की जगह 'सत्वम्' बनाया गया है। ये दोनों ही परिवर्तन साहित्य की दृष्टि से कुछ भी महत्त्व नहीं रखते और न अर्थ की दृष्टि से कोई खास भेद उत्पन्न करते हैं और इसलिये इन्हें व्यर्थ के परिवर्तन समझना चाहिए।

(११) इसी तरह पर और भी कितने ही जैन ग्रन्थों के पद्य इस त्रिवर्णाचार में फुटकर रूप से इधर उधर संगृहीत पाये जाते हैं, उनमें से दो चार ग्रन्थों के पद्यों का एक-एक नमूना यहाँ और दिये देता हूँ-

त्रिवर्गसंसाधनमन्तरेण पशोरिवायुर्विफलं नरस्य।
तत्रापि धर्मं प्रवरं वदन्ति न तं विना यद्भवतोऽर्थकामौ॥७/४॥

यह सोमप्रभाचार्य की 'सूक्तमुक्तावली' का जिसे 'सिन्दूरप्रकर' भी कहते हैं, तीसरा पद्य है।

सूक्ष्माः स्थूलास्तथा जीवाः सन्त्युदुम्बरमध्यगाः।
तन्निमित्तं जिनोद्दिष्टं पंचोदुम्बरवर्जनम्॥१०/१०४॥

यह 'पूज्यपाद उपासकाचार' का पद्य है और उसमें इसका संख्या नम्बर ११ है।

वधादसत्याच्चोर्याच्च कामाद् ग्रन्थान्निवर्तनम्।
पंचकाणुव्रतं रात्रिभुक्तिः षष्ठमणुव्रतम्॥१०/८५॥

यह चामुण्डराय विरचित 'चारित्रसार' ग्रन्थ के अणुव्रत प्रकरण का अंतिम पद्य है।

अह्नोमुखेऽवसाने च यो द्वे द्वे घटिके त्यजेत्।
निशाभोजनदोषज्ञोऽश्नात्यसौ पुण्यभोजनम्॥१०/८६॥

यह हेमचन्द्राचार्य के 'योगशास्त्र' का पद्य है और उसके तीसरे प्रकाश में नं० ६३ पर पाया जाता है। इसमें 'त्यजन्' की जगह 'त्यजेत्' और 'पुण्यभाजनम्' की जगह यहाँ 'पुण्यभोजनम्' बनाया गया है। पद्य का परिवर्तन कुछ अच्छा मालूम नहीं होता। इससे 'सुबह शाम की दो दो घड़ी छोड़कर दिन में भोजन करने वाला मनुष्य पुण्य का भाजन (पात्र) होता है की जगह यह आशय हो गया कि "जो सुबह शाम की दो दो घड़ी छोड़ता है वह पुण्यभोजन[१४] करता है" और यह आशय अथवा कथन का ढंग कुछ समीचीन प्रतीत नहीं होता।

---

१४ पं० पन्नालाल जी सोनी ने भी अपने अनुवाद में यही लिखा है कि "वह पुरुष पुण्यभोजन करता है।"

आस्तामेतद्यदिह जननीं वल्लभां मन्यमाना
निन्द्यां चेष्टां विदधति जना निस्त्रपा: पीतमद्या:।
तन्नाधिक्यं पथि निपतिता यत्किरत्सारमेयात्
वक्त्रे मूत्रं मधुरमधुरं भाषमाणा: पिबन्ति॥६/१९७॥

यह मद्यपान के दोष को दिखाने वाला पद्य पद्मनन्दि आचार्य विरचित 'पद्मनन्दिपंचविंशति' का २२वाँ पद्य है।

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं हिनस्त्यात्मा कषायवान्।
पूर्वं प्राणयन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वध:॥१०/७४॥

यह पद्य 'राजवार्तिक' के ७वें अध्याय में 'उक्तं च' रूप से दिया हुआ है और इसलिये किसी प्राचीन ग्रन्थ का पद्य जान पड़ता है। हाँ, राजवार्तिक में 'कषायवान्' की जगह 'प्रमादवान्' पाठ पाया जाता है, इतना ही दोनों में अंतर है।

यह तो हुई जैन ग्रन्थों से संग्रह की बात और इसमें उन जैन विद्वानों के वाक्यसंग्रह का ही दिग्दर्शन नहीं हुआ जिनके ग्रन्थों को देखकर उनके अनुसार कथन करने की (न कि उनके शब्दों को उठाकर ग्रन्थ का अंग बनाने की) प्रतिज्ञाएँ अथवा सूचनाएँ की गई थीं बल्कि उन जैन विद्वानों के वाक्य संग्रह का भी दिग्दर्शन हो गया जिनके वाक्यानुसार कथन करने की बात तो दूर रही, ग्रन्थ में उनका कहीं नामोल्लेख तक भी नहीं है। नं० ६ के बाद के सभी उल्लेख ऐसे ही विद्वानों के वाक्य संग्रह को लिये हुए हैं।

यहाँ पर इतना और भी बतला देना उचित मालूम होता है कि इस सम्पूर्ण जैन संग्रह में ब्रह्मसूरित्रिवर्णाचार जैसे दो एक समकक्ष ग्रन्थों को छोड़कर शेष ग्रन्थों से जो कुछ संग्रह किया गया है वह उस क्रियाकांड तथा विचारसमूह के साथ प्राय: कोई खास मेल अथवा सम्बन्ध विशेष नहीं रखता, जिसके प्रचार अथवा प्रसार को लक्ष्य में रखकर ही इस त्रिवर्णाचार का अवतार हुआ है और जो बहुत कुछ दूषित, त्रुटिपूर्ण तथा आपत्ति के योग्य है। उसे बहुधा त्रिवर्णाचार के मूल अभिप्रेतों या प्रधानत: प्रतिपाद्य विषयों के प्रचारादि का साधन मात्र समझना चाहिए अथवा यों कहना चाहिए कि वह खोटे, जाली तथा अल्प मूल्य सिक्कों को चलाने के लिये उनमें खरे, गैर, जाली तथा बहुमूल्य सिक्कों का संमिश्रण है और कहीं-कहीं मुलम्में का काम भी देता है और इसलिये एक प्रकार का धोखा है। इस धोखे से सावधान करने के लिये ही यह परीक्षा की जा रही है और यथार्थ वस्तुस्थिति को पाठकों के सामने रखने का यत्न किया जाता है। अस्तु।

अब उस संग्रह की भी बानगी लीजिये जो अजैन विद्वानों के ग्रन्थों से किया गया है और जिसके विषय की न कहीं कोई प्रतिज्ञा और न तत्सम्बन्धी विद्वानों के नामादिक की कहीं कोई सूचना ही ग्रन्थ में पाई जाती है। प्रत्युत इसके, जैन साहित्य के साथ मिलाकर अथवा जैनाचार्यों के वाक्यानुसार बतलाकर, उसे भी जैन साहित्य प्रकट किया गया है।

अजैन ग्रन्थों से संग्रह

(१२) अजैन विद्वानों के ग्रन्थों से जो विशाल संग्रह भट्टारकजी ने इस ग्रन्थ में किया है (उनके सैकड़ों पद-वाक्यों को ज्यों का त्यों अथवा कुछ परिवर्तन के साथ उठाकर रखा है) उस सबका पूरा परिचय यदि यहाँ दिया जाये तो लेख बहुत बढ़ जाये, और मुझे उनमें से कितने ही पद वाक्यों को आगे चलकर, विरुद्ध कथनों के अवसर पर, दिखलाना है वहाँ पर उनका परिचय पाठकों को मिलेगा ही। अतः यहाँ पर नमूने के तौर पर, कुछ थोड़े से ही पद्यों का परिचय दिया जाता है–

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥८-४६॥

यह पद्य, जिसमें भार्या से भर्तार के और भर्तार से भार्या के नित्य सन्तुष्ट रहने पर कुल में सुनिश्चित रूप से कल्याण का विधान किया गया है, 'मनु' का वचन है, और 'मनुस्मृति' के तीसरे अध्याय में नं० ६० पर दर्ज है। वहीं से ज्यों का त्यों उठाकर रखा गया मालूम होता है।

मांत्रं भौमं तथाऽग्रेयं वायव्यं दिव्यमेव च।
वारुणं मानसं चैव सप्तस्नानान्यनुक्रमात्॥३-५२॥

इस श्लोक में स्नान के सात भेद बतलाये गये हैं मंत्र स्नान, भूमि (मृत्तिका) स्नान, अग्नि (भस्म) स्नान, वायु स्नान, दिव्य स्नान, जल स्नान तथा मानस स्नान और यह 'योगि याज्ञवल्क्य' का वचन है। बिट्ठलात्मजनारायण कृत 'आन्हिकसूत्रावलि' में तथा श्रीवेङ्कटनाथ रचित 'स्मृतिरत्नाकर' में भी इसे योगियाज्ञवल्क्य का वचन बतलाया है और 'शब्द कल्पद्रुम' कोश में भी 'स्नान' शब्द के नीचे यह उन्हीं के नाम से उद्धृत पाया जाता है।

सिंहकर्कटयोर्मध्ये सर्वा नद्यो रजस्वलाः।
तासां तटे न कुर्वीत वर्जयित्वा समुद्रगाः॥७८॥
उपाकर्मणि चोत्सर्गे प्रातः स्नाने तथैव च।
चन्द्रसूर्यग्रहे चैव रजो दोषो न विद्यते॥७९॥
धनुस्सहस्राणयष्टौ तु गतिर्यासां न विद्यते।
न ता नद्यः समाख्याता गर्तास्ताः परिकीर्तिताः॥८०॥ -तृतीय अध्याय

ये तीनों पद्य जरा-२ से परिवर्तन के साथ 'कात्यायन स्मृति' से लिये गये मालूम होते हैं और उक्त स्मृति के दसवें खण्ड में क्रमशः नं० ५, ७ तथा ६ पर दर्ज हैं। 'आन्हिक सूत्रावली' में भी इन्हें 'कात्यायन' ऋषि के वचन लिखा है। पहले पद्य में 'मासद्वयं श्रावणादि' की जगह 'सिंहकर्कटयोर्मध्ये' और 'तासु स्नानं' की जगह 'तासां तटे' बनाया गया है, दूसरे में 'प्रेतस्नाने' की जगह 'प्रातःस्नाने' का परिवर्तन किया गया है और तीसरे में 'नदीशब्दवहाः' की जगह 'नद्यः समाख्याताः' ऐसा पाठ भेद किया गया है। इन चारों परिवर्तनों में पहला और अंत का दोनों परिवर्तन तो प्रायः कोई अर्थभेद नहीं

रखते परन्तु शेष दूसरे और तीसरे परिवर्तन ने बड़ा भारी अर्थभेद उपस्थित कर दिया है। कात्यायन स्मृतिकार ने, श्रावण भादों में सब नदियों को रजस्वला बतलाते हुए, यह प्रतिपादन किया था कि 'उनमें (समुद्रगामिनी नदियों को छोड़कर) स्नान न करना चाहिए।' भट्टारकजी ने इसकी जगह, अपने परिवर्तन द्वारा, यह विधान किया है कि 'उनके तट पर न करना चाहिए।' परंतु क्या न करना चाहिए, यह उक्त पद्य से कुछ भी जाहिर नहीं होता। हाँ, इससे पूर्व पद्य नं० ७७ में आपने तीर्थ तट पर प्राणायाम, आचमन, संख्या, श्राद्ध और पिण्डदान करने का विधान किया है और इसलिये उक्त पद्य के साथ संगति मिलाने से यह अर्थ हो जाता है कि ये प्राणायाम आदि की क्रियाएँ रजस्वला नदियों के तट पर नहीं करनी चाहिए, भले ही उनमें स्नान कर लिया जाये। परन्तु ऐसा विधान कुछ समीचीन अथवा सहेतुक मालूम नहीं होता और इसलिये इसे भट्टारकजी के परिवर्तन की ही खूबी समझना चाहिए। तीसरे परिवर्तन की हालत भी ऐसी ही है। स्मृतिकार ने जहाँ 'प्रेतस्नान' के अवसर पर नदी का रजस्वला दोष न मानने की बात कही है वहाँ आपने 'प्रातःस्नान' के लिये रजस्वला दोष न मानने का विधान कर दिया है! स्नान प्रधानतः प्रातःकाल ही किया जाता है, उसी की आपने छुट्टी दे दी है, और इसलिये यह कहना कि आपके इस परिवर्तन ने स्नान के विषय में नदियों के रजस्वला दोष को ही प्रायः उठा दिया है, कुछ भी अनुचित न होगा।

कृत्वा यज्ञोपवीतं च पृष्ठतः कण्ठलम्बितम्।
विण्मूत्रेतु गृही कुर्याद्वामकर्णो व्रतान्वितः॥२/२७॥

यह 'अंगिरा' ऋषि का वचन है। 'आन्हिकसूत्रावलि' में भी इसे अंगिरा का वचन लिखा है। इसमें 'समाहितः' की जगह 'व्रतान्वितः' का परिवर्तन किया गया है और वह निरर्थक जान पड़ता है। यहाँ, 'व्रतान्वितः' पद यद्यपि 'गृही' पद का विशेषण है और इस श्लोक में गृहस्थ के लिये मलमूत्र के त्याग समय यज्ञोपवीत को बाएँ कान पर रखकर पीठ की तरफ लम्बायमान करने का विधान किया गया है परन्तु पं० पन्नालाल जी सोनी ने ऐसा नहीं समझा और इसलिये उन्होंने इस पद्य के विषय को विभिन्न व्यक्तियों (व्रती-अव्रती) में बाँटकर इसका निम्न प्रकार से अनुवाद किया है-

''गृहस्थजन अपने यज्ञोपवीत (जनेऊ) को गर्दन के सहारे से पीठ पीछे लटकाकर टट्टी पेशाब करे और व्रती श्रावक बाएँ कान में लगाकर टट्टी पेशाब करे।''

इससे मालूम होता है कि सोनी जी ने यज्ञोपवीत दीक्षा से दीक्षित व्यक्ति को 'अव्रती' भी समझा है। परन्तु भगवज्जिनसेनाचार्य ने तो 'व्रतचिह्नं दधत्सूत्रं' आदि वाक्यों के द्वारा यज्ञोपवीत को व्रतचिह्न बतलाया है, तब सर्वथा 'अव्रती' के विषय में जनेऊ की कल्पना कैसी? परन्तु इसे भी छोड़िये, सोनीजी इतना भी नहीं समझ सके कि, जब इस पद्य के द्वारा यह विधान किया जा रहा है कि व्रती श्रावक तो जनेऊ को बाएँ कान पर रखकर और अव्रती उसे यों ही पीठ पीछे लटकाकर टट्टी पेशाब करे तो फिर अगले पद्य में यह विधान किसके लिये किया गया है कि-जनेऊ को पेशाब के समय

तो दाहिने कान पर और टट्टी के समय बाएँ कान पर टाँगना चाहिए। यही वजह है जो आप इन दोनों पद्यों के पारस्परिक विरोध का कोई स्पष्टीकरण भी अपने अनुवाद में नहीं कर सके। अस्तु, वह अगला पद्य इस प्रकार है–

मूत्रे तु दक्षिणे कर्णे पुरीषे वामकर्णके।
धारयेद्ब्रह्मसूत्रं तु मैथुने मस्तके तथा॥२८॥

इस पद्य का पूर्वार्द्ध, जो पहले पद्य के साथ कुछ विरोध उत्पन्न करता है, वास्तव में एक दूसरे विद्वान का वचन है। आन्हिक सूत्रावली में इसे 'आन्हिक कारिका' का वचन लिखा है और इसका उत्तरार्द्ध 'उपवीतं सदा धार्यं मैथुने तूपवीतिवत्' दिया है। भट्टारकजी ने उस उत्तरार्द्ध को 'धारयेद्ब्रह्मसूत्रं तु मैथुने मस्तके तथा' के रूप में बदल दिया है। परन्तु इस संग्रह और परिवर्तन के अवसर पर उन्हें इस बात का ध्यान नहीं रहा कि जब हम दो विद्वानों के परस्पर मतभेद को लिये हुए वचनों को अपना रहे हैं तो हमें अपने ग्रन्थविरोध को दूर करने के लिये कोई ऐसा शब्द प्रयोग साथ में जरूर करना चाहिए, जिससे ये दोनों विधिविधान विकल्प रूप से समझे जायें और यह सहज ही में 'तथा' की जगह 'अथवा' शब्द रख देने से भी हो सकता था। भट्टारकजी ने ऐसा नहीं किया और इससे उनकी संग्रह तथा परिवर्तन सम्बन्धी योग्यता का और भी अच्छा परिचय मिल जाता है।

अर्थबिल्वफलमात्रा प्रथमा मृत्तिका मता।
द्वितीया तु तृतीया तु तदर्धार्धा प्रकीर्तिता॥२-५०॥
शौचे यत्नः सदा कार्यः शौचमूलो गृही स्मृतः।
शोचाचारविहीनस्य समस्ता निष्फलाः क्रियाः॥२-५४॥
अत्यन्तमलिनः कायो नवच्छिद्रसमन्वितः।
स्त्रवत्यैव दिवारात्रौ प्राप्तः स्नानं विशोधनम्॥२-९८॥

ये 'दक्षस्मृति' के वाक्य हैं। तीसरा पद्य दक्षस्मृति के दूसरे अध्याय से ज्यों का त्यों उठाकर रखा गया है। शब्दकल्पद्रुम कोश में भी उसे 'दक्ष' ऋषि का वचन लिखा है। दूसरा पद्य उक्त स्मृति के पाँचवें अध्याय का पद्य है और उसमें नं० २ पर दर्ज है (स्मृतिरत्नाकर में भी वह 'दक्ष' के नाम से उद्धृत पाया जाता है) उसमें सिर्फ 'द्विजः' की जगह 'गृही' का परिवर्तन किया गया है। पहला पद्य भी पाँचवे अध्याय का ही पद्य है और उसमें नं० ७ पर दर्ज है। इस पद्य में ''प्रसृतिमात्रा तु'' की जगह 'बिल्वफलमात्रा', 'च' की जगह 'तु' और 'तदर्धा परिकीर्तिता' की जगह 'तदर्धार्धा प्रकीर्तिता' ये परिवर्तन किये गये हैं, जो साधारण हैं और कोई खास महत्त्व नहीं रखते। यह पद्य अपने दक्षस्मृति वाले रूप में ही आचारादर्श और शुद्धि विवेक नाम के ग्रन्थों में 'दक्ष' के नाम से उल्लेखित मिलता है।

अंतर्गृहे देवगृहे वल्मीके मूषकस्थले।
कृतशौचाविशेषे च न ग्राह्याः पंचमृत्तिकाः॥२-४५॥

यह श्लोक जिसमें शौच के लिये पाँच जगह की मिट्टी को त्याज्य ठहराया है[१५] 'शातातप' ऋषि के निम्न श्लोक को बदलकर बनाया गया मालूम होता है–

अंतर्जलाद्देवगृहाद्वल्मीकान्मूषकगृहात् ।
कृतशौचस्थलाश्चैव न ग्राह्याः पंचमृत्तिकाः॥

यह श्लोक 'आह्निक सूत्रावलि' में भी 'शातातप' के नाम से उद्धृत पाया जाता है।

अलाभे दन्तकाष्ठानां निषिद्धायां तिथावपि।
अपां द्वादशगण्डूषैर्मुखशुद्धिः प्रजायते॥२/ ७३॥

यह 'व्यास' ऋषि का वचन है। स्मृतिरत्नाकर और निर्णयसिन्धु में भी इसे 'व्यास' का वचन लिखा है। हाँ, इसके पूर्वार्द्ध में 'प्रतिषिद्धदिनेष्वपि' की जगह 'निषिद्धायां तिथावपि' और उत्तरार्द्ध में 'भविष्यति' की जगह 'प्रजायते' ऐसा पाठ भेद यहाँ पर जरूर पाया जाता है जो बहुत कुछ साधारण है और कोई खास अर्थ भेद नहीं रखता।

ग्रन्थ के दूसरे अध्याय में मल-मूत्र के लिये निषिद्ध स्थानों का वर्णन करते हुए, एक श्लोक निम्न प्रकार से दिया हुआ है–

हलकृष्टे जले चित्यां वल्मीके गिरिमस्तके।
देवालये नदीतीरे दर्भपुष्पेषु शाद्वले॥२२॥

यह 'बौधायन' नाम के एक प्राचीन हिन्दू लेखक का वचन है। स्मृतिरत्नाकर में भी यह 'बौधायन' के नाम से ही उद्धृत मिलता है। इसमें 'फालकृष्टे' की जगह यहाँ 'हलकृष्टे' और 'दर्भपृष्ठे तु' की जगह 'दर्भपुष्पेषु' बनाया गया है, और ये दोनों ही परिवर्तन कोई खास महत्त्व नहीं रखते बल्कि निरर्थक जान पड़ते हैं।

प्रभाते मैथुने चैव प्रस्त्रावे दन्तधावने।
स्नाने च भोजने वान्त्यां सप्तमौनं विधीयते॥२-३१॥

यह पद्य, जिसमें सात अवसरों पर मौन धारण करने की व्यवस्था की गई है यह विधान किया गया है कि १. प्रातःकाल, २. मैथुन, ३. मूत्र, ४. दन्तधावन, ५. स्नान, ६. भोजन, और ७. वमन के अवसर पर मौन धारण करना चाहिए, 'हारीत' ऋषि के उस वचन पर से कुछ परिवर्तन करके बनाया गया है, जिसका पूर्वार्द्ध 'प्रभाते' की जगह 'उच्चारे' पाठभेद के साथ बिल्कुल वही है जो इस पद्य का है और उत्तरार्द्ध है 'श्राद्धे (स्नाने[१६]) भोजनकाले च षट्सु मौनं समाचरेत्।' और जो 'आह्निक सूत्रावलि' में भी 'हारीत' के नाम से उद्धृत पाया जाता है। इस पद्य में 'उच्चारे' की जगह 'प्रभाते' का जो खास परिवर्तन किया गया है वह बड़ा ही विचित्र तथा विलक्षण जान पड़ता है और उससे

---

१५. इस श्लोक के बाद 'मलमूत्रसमीपे' नाम का एक पद्य और भी पंचमृत्तिका के निषेध का है और उसका अन्तिम चरण भी 'न ग्राह्याः पंचमृत्तिकाः' है। वह किसी दूसरे विद्वान् की रचना जान पड़ता है।

१६. 'श्राद्धे' की जगह 'स्नाने' ऐसा पाठभेद भी पाया जाता है। देखो शब्द 'कल्पद्रुम'।

मलत्याग के अवसर पर मौन का विधान न रहकर प्रातःकाल के समय मौन का विधान हो जाता है, जिसकी संगति कहीं से भी ठीक नहीं बैठती। मालूम होता है सोनीजी को भी इस पद्य की विलक्षणता कुछ खटकी है और इसलिये उन्होंने, पद्य की असलियत को न पहचानते हुए, यों ही अपने मनगढ़न्त 'प्रभाते' का अर्थ ''सामायिक करते समय'' और 'प्रस्रावे' का अर्थ ''टट्टी पेशाब करते समय'' दे दिया है, और इस तरह से अनुवाद की भर्ती द्वारा भट्टारकजी के पद्य की त्रुटि को दूर करने का कुछ प्रयत्न किया है। परन्तु आपके ये दोनों ही अर्थ ठीक नहीं है–'प्रभात' का अर्थ 'प्रातःकाल' है न कि 'सामायिक' और 'प्रस्राव' का अर्थ 'मूत्र'[17] है न कि 'मल–मूत्र' (टट्टी पेशाब) दोनों। और इसलिये अनुवाद की इस लीपापोती द्वारा मूल की त्रुटि दूर नहीं हो सकती और न विद्वानों की नजरों से वह छिप ही सकती है। हाँ, इतना जरूर स्पष्ट हो जाता है कि अनुवादकजी में सत्य अर्थ को प्रकाशित करने की कितनी निष्ठा, तत्परता और क्षमता है।

खदिरश्च करंजश्च कदम्बश्च वटस्तथा।
तित्तिणी वेणुवृक्षश्च निम्ब आम्रस्तथैव च॥२-६३॥
अपामार्गश्च बिल्वश्च ह्यर्क आमलकस्तथा।
एते प्रशस्ताः कथिता दन्तधावनकर्मणि॥२-६४॥

ये दोनों पद्य, जिनमें दाँतुन के लिये उत्तम काष्ठ का विधान किया गया है 'नरसिंहपुराण' के वचन हैं। आचारादर्श नामक ग्रन्थ में भी इन्हें 'नरसिंहपुराण' के ही वाक्य लिखा है। इनमें से पहले पद्य में 'आम्रनिम्बौ' की जगह 'निम्ब आम्रः' का तथा 'वेणुपृष्ठश्च' की जगह 'वेणुवृक्षश्च' का पाठभेद पाया जाता है, और दूसरे पद्य में 'अर्कश्चोदुम्बरः' की जगह 'ह्यर्क आमलकः' ऐसा परिवर्तन किया गया जान पड़ता है। दोनों पाठभेद साधारण हैं, और परिवर्तित पद के द्वारा उदुम्बर काष्ठ की जगह आँवले की दाँतुन का विधान किया गया है।

कुशाः काशा यवा दूर्वा उशीराश्च कुकुन्दराः।
गोधूमा व्रीहयो मुंजा दश दर्भाः प्रकीर्तिताः॥३/८१॥

यह 'गोभिल' ऋषि का वचन है। स्मृतिरत्नाकर में भी इसे 'गोभिल' का वचन लिखा है। इसमें 'गोधूमाश्चाथ कुन्दराः' की जगह 'उशीराश्च कुकुंदराः' और 'उशीराः' की जगह 'गोधूमाः' का परिवर्तन किया गया है, जो व्यर्थ जान पड़ता है, क्योंकि इस परिवर्तन से कोई अर्थभेद उत्पन्न नहीं होता, सिर्फ दो पदों का स्थान बदल जाता है।

एकपंक्त्युपविष्टानां धर्मिणां सहभोजने।
यद्येकोऽपि त्यजेत्पात्रं शेषैरन्नं न भुज्यते॥६/२२०॥

---

१७. यथा– १ 'मूत्रं प्रस्रावः'– इति अमरकोशः।
२ 'प्रस्रावः मूत्रं' इति शब्दकल्पद्रुमः।
३ 'उच्चारपस्सणोत्यादि' उच्चारः पुरीषः प्रस्रवणं मूत्रं। –इति क्रियाकलापटीकायां प्रभाचन्द्रः।

यह पद्य, जिसमें सहभोजन के अवसर पर एक पंक्ति में बैठे हुए किसी एक व्यक्ति के भी पात्र छोड़ देने पर शेष व्यक्तियों के लिये भोजनत्याग का विधान किया गया है, जरा से परिवर्तन के साथ 'पराशर' ऋषि का वचन है और वह परिवर्तन 'विप्राणं' की जगह 'धर्मिणां' ओर 'शेषमन्नं न भोजयेत्' की जगह 'शेषैरन्नं न भुज्यते' का किया गया है, जो बहुत कुछ साधारण है। आह्निकसूत्रावलि और स्मृतिरत्नाकर नाम के ग्रन्थों में भी यह पद्य 'पराशर' ऋषि के नाम से ही उद्धृत पाया जाता है।

स्वगृहे प्राक्शिरः कुर्याच्छ्वाशुरे दक्षिणामुखः।
प्रत्यङ्मुखः प्रवासे च न कदाचिदुदङ्मुखः॥८-२४॥

यह पद्य, जिसमें इस बात का विधान किया गया है कि अपने घर पर तो पूर्व की तरफ सिर करके, सास के घर पर दक्षिण की ओर मुँह करके और प्रवास में पश्चिम की ओर मुँह करके सोना चाहिए तथा उत्तर की तरफ मुँह करके कभी भी न सोना चाहिए। थोड़े से परिवर्तनों के साथ 'गर्ग' ऋषि का वचन है। आन्हिकसूत्रावलि में इसे गर्ग ऋषि के नाम से जिस तरह पर उद्धृत किया है उससे मालूम होता है कि यहाँ पर इसमें 'शेते श्वाशुर्ये' की जगह 'कुर्याच्छ्वाशुरे' का, 'प्राक्शिराः' की जगह 'प्राक्शिरः' का, 'तु' की जगह 'च' का और पिछले तीनों चरणों में प्रयुक्त हुए प्रत्येक 'शिराः' पद की जगह 'मुखः' पद का परिवर्तन किया गया है। और यह सब परिवर्तन कुछ भी महत्त्व नहीं रखता। 'शेते' की जगह 'कुर्यात्' का परिवर्तन भद्दा है और 'शिराः' पदों की जगह 'मुखः' पदों के परिवर्तन ने तो अर्थ का अनर्थ ही कर दिया है। किसी दिशा की ओर सिर करके सोना और बात है और उसकी तरफ मुँह करके सोना दूसरी बात है—एक दूसरे के विपरीत है। मालूम होता है भट्टारकजी को इसकी कुछ खबर नहीं पड़ी परन्तु सोनीजी ने खबर जरूर ले ली है। उन्होंने अपने अनुवाद में मुख की जगह सिर बनाकर उनकी त्रुटि को दूर किया है और इस तरह पर सर्वसाधारण को अपनी सत्यार्थप्रकाशकता का परिचय दिया है।

रात्रावेव समुत्पन्ने मृते रजसि सूतके।
पूर्वमेव दिनं ग्राह्यं यावन्नोदेति वै रविः॥१३-९॥

यह पद्य, 'नोदेति वै' की जगह 'नोदयते' पाठ भेद के साथ 'कश्यप' 'ऋषि' का वचन है। याज्ञवल्क्यस्मृति की 'मिताक्षरा' टीका में भी, 'यथाह कश्यपः' वाक्य के साथ, इसे 'कश्यप' ऋषि का वचन सूचित किया है।

पूर्वमायुः परीक्षेत पश्चाल्लक्षणमेव च।
आयुर्हीनजनानां च लक्षणैः किं प्रयोजनम्॥११-८॥

यह 'सामुद्रक' शास्त्र का वचन है। शब्दकल्पद्रुम कोश में इसे किसी ऐसे सामुद्रक शास्त्र से उद्धृत किया है, जिसमें श्रीकृष्ण तथा महेश का संवाद है और उसमें इसका तीसरा चरण 'आयुर्हीनं नराणां चेत्' इस रूप में दिया हुआ है।

महानद्यन्तरं यत्र गिरिर्वा व्यवधायकः।
वाचो यत्र विभिद्यन्ते तद्देशान्तरमुच्यते॥१३-६९॥

यह 'देशान्तर' का लक्षण प्रतिपादन करने वाला पद्य 'वृद्धमनु' का वचन है, ऐसा शुद्धिविवेक नामक ग्रन्थ से मालूम होता है, जिसमें 'वृद्धमनुरप्याह' इस वाक्य के साथ यह उद्धृत किया गया है। यहाँ पर इसके चरणों में कुछ कम भेद किया गया है। पहले चरण को तीसरे नंबर पर और तीसरे को पहले नंबर पर रखा गया है। बाकी पाठ सब ज्यों का त्यों है।

पितरौ चेन्मृतौ स्यातां दूरस्थोऽपि हि पुत्रकः।
श्रुत्वा तद्दिनमारभ्य पुत्राणां दशरात्रकम्॥१३-७१॥

यह पद्य, जिसमें माता-पिता की मृत्यु के समाचार सुनने पर दूर देशान्तर में रहने वाले पुत्र को समाचार सुनने के दिन से दस दिन का सूतक बतलाया गया है, 'पैठीनसि' ऋषि का वचन है। याज्ञवल्क्यस्मृति की 'मिताक्षरा' टीका में भी, जो एक प्राचीन ग्रन्थ है और अदालतों में मान्य किया जाता है, 'इति पैठीनसि स्मरणात्' वाक्य के द्वारा इसे 'पैठीनसि' ऋषि का वचन सूचित किया है। यहाँ इसका चौथा चरण बदला हुआ है-'दशाहं सूतकी भवेत्' की जगह 'पुत्राणां दशरात्रकम्' बनाया गया है। और यह तबदीली बिल्कुल भद्दी जान पड़ती है-'पुत्रकः' आदि पदों के साथ इन परिवर्तित पदों का अर्थसम्बन्ध भी कुछ ठीक नहीं बैठता, खासकर 'पुत्राणां' पद का प्रयोग तो यहाँ बहुत ही खटकता है-सोनीजी ने उसका अर्थ भी नहीं किया और वह भट्टारकजी की योग्यता को और भी अधिकता के साथ व्यक्त कर रहा है।

ज्वराभिभूता या नारी रजसा चेत्परिप्लुता।
कथं तस्या भवेच्छौचं शुद्धिः स्यात्केन कर्मणा॥८६॥
चतुर्थेऽहनि संप्राप्ते स्पृशेदन्या तु तां स्त्रियम्।
स्नात्वा चैव पुनस्तां वै स्पृशेत् स्नात्वा पुनः पुनः॥८७॥
दशद्वादशकृत्वो वा ह्याचमेच्च पुनः पुनः।
अन्त्ये च वाससां त्यागं स्नात्वा शुद्धा भवेत्तु सा॥८८॥ -१३ वाँ अध्याय।

इन पद्यों में ज्वर से पीड़ित रजस्वला स्त्री की शुद्धि का प्रकार बतलाया गया है और वह यों है कि ''चौथे दिन कोई दूसरी स्त्री स्नान करके उस रजस्वला को छूये, दोबारा स्नान करके फिर छूये और इस तरह दस या बारह बार स्नान करके प्रत्येक स्नान के बाद उसे छूये साथ ही बार-बार आचमन भी करती रहे। अंत में सब कपड़ों का (जिन्हें रजस्वला ओढ़े, पहने अथवा बिछाए हुए हो) त्याग कर दिया जाये तो वह रजस्वला शुद्ध हो जाती है''। ये तीनों पद्य जरा से परिवर्तन के साथ 'उशना' नामक हिन्दू ऋषि के वचन हैं, जिनकी 'स्मृति' भी 'औशनसधर्मशास्त्र' के नाम से प्रसिद्ध है। याज्ञवल्क्यस्मृति की मिताक्षरा टीका, शुद्धिविवेक और स्मृतिरत्नाकर आदि ग्रन्थों में भी इन्हें 'उशना' के वचन लिखा है। मिताक्षरा आदि ग्रन्थों में इन पद्यों का जो रूप दिया है उससे मालूम होता है कि पहले पद्य में सिर्फ

'च' की जगह 'चेत्' बनाया गया है, दूसरे का उत्तरार्द्ध ''सा सचेलावगाह्याप: स्नात्वा स्नात्वा पुनः स्पृशेत्'' नामक उत्तरार्द्ध की जगह कायम किया गया है और तीसरे में 'त्यागस्ततः' की जगह 'त्याग स्नाता' का परिवर्तन हुआ है। इन तीनों परिवर्तनों में से पहला परिवर्तन निरर्थक है और उसके द्वारा पद्य का प्रतिपाद्य विषय कुछ कम हो जाता है–जो स्त्री ज्वर से पीड़ित हो वह यदि रजस्वला हो जाये तो उसी की शुद्धि का विधान रहता है[१८] किन्तु जो पहले से रजस्वला हो और पीछे जिसे ज्वर आ जाये उसकी शुद्धि की कोई व्यवस्था नहीं रहती। 'च' शब्द का प्रयोग इस दोष को दूर कर देता है और वह दोनों में से किसी भी अवस्था की रजस्वला के लिये एक ही शुद्धि का विधान बतलाता है। अतः 'च' की जगह 'चेत्' का परिवर्तन यहाँ ठीक नहीं हुआ। दूसरा परिवर्तन एक विशेष परिवर्तन है और उसके द्वारा सचेल अवगाहन की बात को छोड़कर उस दूसरी स्त्री के सादा स्नान की बात को ही अपनाया गया है। रहा तीसरा परिवर्तन, यह बड़ा ही विलक्षण जान पड़ता है, उसके 'स्नाता' पद का सम्बन्ध अंतिम 'सा' पद के साथ ठीक नहीं बैठता और 'त्यागं' पद तो उसका और भी ज्यादा खटकता है। हो सकता है, कि यह परिवर्तन कुछ असावधान लेखकों की ही कर्तूत हो, उनके द्वारा 'त्यागस्ततः' का 'त्यागं स्नाता' लिखा जाना कुछ भी मुश्किल नहीं है, क्योंकि दोनों में अक्षरों की बहुत कुछ समानता है, परंतु सोनीजी ने 'त्यागं स्नाता' पाठ को ही शुद्ध समझा है–शुद्धिपत्र में भी उसका संशोधन नहीं दिया–- और अनुवाद में 'स्नाता' पद का सम्बन्ध उस दूसरी स्त्री के साथ जोड़ दिया है जो स्नान करके रजस्वला को छूये। यह सब देखकर बड़ा ही खेद होता है! आप लिखते हैं– ''अंत में वह स्पर्श करने वाली स्त्री अपने कपड़े भी उतार दे और उस रजस्वला के कपड़े भी उतार दे और स्नान कर ले।'' समझ में नहीं आता, जब उस दूसरी स्त्री को अंत में भी अपने कपड़े उतारने तथा स्नान करने की जरूरत बाकी रह जाती है और इस तरह पर वह उस अंतिम स्नान से पहले अशुद्ध होती है तो उस अशुद्धा के द्वारा रजस्वला की शुद्धि कैसे हो सकती है! सोनीजी ने इसका कुछ भी विचार नहीं किया और वैसे ही खींचतान कर 'स्नाता' पद का सम्बन्ध उस दूसरी स्त्री के साथ जोड़ दिया है, जिसके साथ पद्य में उसका कोई सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता। और इसलिये यह परिवर्तन यदि भट्टारकजी का ही किया हुआ है तो इससे उनकी योग्यता की और भी अच्छी कलई खुल जाती है।

यहाँ तक के इस सम्पूर्ण प्रदर्शन से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रन्थ, जैसा कि लेखारम्भ में जाहिर किया गया था, वास्तव में एक बहुत बड़ा 'संग्रह ग्रन्थ' है और इसमें जैन-अजैन दोनों ही प्रकार के विद्वानों के वाक्यों का भारी संग्रह किया गया है–ग्रन्थ की २७०० श्लोक संख्या में से शायद सौ डेढ़ सौ श्लोक ही मुश्किल से ऐसे निकलें जिन्हें ग्रन्थकार की स्वतन्त्र रचना कहा जा सके, बाकी सब श्लोक ऐसे ही हैं जो दूसरे जैन-अजैन ग्रन्थों से ज्यों के त्यों अथवा कुछ परिवर्तन के साथ उठाकर रखे गये हैं–अधिकांश पद्य तो इसमें अजैन ग्रन्थों तथा उन जैन ग्रन्थों पर से ही उठाकर

---

१८. शायद इसीलिये पं० पन्नालाल जी सोनी इस पद्य के अनुवाद में लिखते हैं– ''कोई ज्वर से पीड़ित स्त्री (यदि) रजस्वला हो जाये तो उसकी शुद्धि कैसे हो? कैसी क्रिया करने से वह शुद्ध हो सकती है?''

रखें गये हैं जो प्राय: अजैन ग्रन्थों के आधार पर या उनकी छाया को लेकर बने हुए हैं। साथ ही, यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ग्रन्थकार ने अपने प्रतिज्ञा वाक्यों तथा सूचनाओं के द्वारा जो यह विश्वास दिलाया था कि ''उसने इस ग्रन्थ में जो कुछ लिखा है वह उक्त जिनसेनादि छहों विद्वानों के ग्रन्थानुसार लिखा है और जहाँ कहीं दूसरे विद्वानों के ग्रन्थानुसार कुछ कथन किया है, वहाँ पर उन विद्वानों का अथवा उनके ग्रन्थों का नाम दे दिया है'' वह एक प्रकार का धोखा है। ग्रन्थकार महाशय (भट्टारकजी) अपनी प्रतिज्ञाओं तथा सूचनाओं का पूरी तौर से निर्वाह नहीं कर सके और न वैसा करना उन्हें इष्ट था, ऐसा जान पड़ता है—उन्होंने दो चार अपवादों को छोड़कर कहीं भी दूसरे विद्वानों का या उनके ग्रन्थों का नाम नहीं दिया और न ग्रन्थ का सारा कथन ही उन जैन विद्वानों के वाक्यानुसार किया है जिनके ग्रन्थों को देखकर कथन करने की प्रतिज्ञाएँ की गई थी, बल्कि बहुत सा कथन अजैन ग्रन्थों के आधार पर, उनके वाक्यों तक को उद्धृत करके किया है जिनके अनुसार कथन करने की कोई प्रतिज्ञा नहीं की गई थी और इसलिये यह कहना कि ''भट्टारकजी ने जानबूझकर अपनी प्रतिज्ञाओं का विरोध किया है और उसके द्वारा पब्लिक को धोखा दिया है'' कुछ भी अनुचित न होगा। इस प्रकार के विरोध तथा धोखे का कुछ और भी स्पष्टीकरण 'प्रतिज्ञादिविरोध' नाम के एक अलग शीर्षक के नीचे किया जायेगा।

यहाँ पर मैं सिर्फ इतना और बतला देना चाहता हूँ कि भट्टारकजी ने दूसरे विद्वानों के ग्रन्थों से जो यह बिना नाम-धाम का भारी संग्रह करके उसे अपने ग्रन्थों में निबद्ध किया है—'उक्तं च'[१९]आदि रूप से भी नहीं रखा- और इस तरह पर दूसरे विद्वानों की कृतियों को अपनी कृति अथवा रचना प्रकट करने का साहस किया है, वह एक बड़ा ही निन्द्य तथा नीच कर्म है। ऐसा जघन्य आचरण करने वालों को श्रीसोमदेवसूरि ने 'काव्यचोर' और पातकी' लिखा है। यथा—

कृत्वा कृती: पूर्वकृता: पुरस्तात्प्रत्यादरं ता: पुनरीक्षमाण:।
तथैव जल्पेदथ योऽन्यथा वा स काव्यचोरोऽस्तु स पातकी च॥ —यशस्तिलक।

श्री अजितसेनाचार्य ने तो दूसरे काव्यों के सुन्दर शब्दार्थों की छाया तक हरने वाले कवि को 'चोर' (पश्यतोहर) बतलाया है। यथा—

अन्यकाव्यसुशब्दार्थछायां नो रचयेत्कवि:।
स्वकाव्ये सोऽन्यथा लोके पश्यतोहरतामटेत्॥९५॥

—अलंकारचिन्तामणि।

ऐसी हालत में भट्टारक सोमसेन जी इस कलंक से किसी तरह भी मुक्त नहीं हो सकते। वे अपने ग्रन्थ की इस स्थिति में, उक्त आचार्यों के निर्देशानुसार, अवश्य ही 'काव्यचोर' और 'पातकी' कहलाये जाने के योग्य हैं और उनकी गणना तस्कर लेखकों में की जानी चाहिए। उन्हें इस कलंक से बचने

---

१९ ग्रन्थ में दस पाँच पद्यों को जो 'उक्तं च' आदि रूप से दे रखा है उनका यहाँ पर ग्रहण नहीं है।

के लिये कम से कम उन पद-वाक्यों के साथ में जो, ज्यों के त्यों उठाकर रखे गये हैं, उन विद्वानों अथवा उनके ग्रन्थों का नाम जरूर दे देना चाहिए था जिनके वे वचन थे, जैसा कि 'आचारादर्श' और 'मिताक्षरा' आदि ग्रन्थों के कर्ताओं ने किया है। ऐसा करने से ग्रन्थ का महत्त्व कम नहीं होता किन्तु उसकी उपयोगिता और प्रामाणिकता बढ़ जाती है। परन्तु भट्टारकजी ने ऐसा नहीं किया और उसके दो खास कारण जान पड़ते हैं- एक तो यह कि वे हिन्दू धर्म की बहुत-सी बातों को प्राचीन जैनाचार्यों अथवा जैन विद्वानों के नाम से जैन समाज में प्रचारित करना चाहते थे और यह बात अजैन विद्वानों के वाक्यों के साथ उनका अथवा उनके ग्रन्थों का नाम दे देने से नहीं बन सकती थी, जैनी जन उसे मान्य न करते। दूसरे यह कि, वे मुफ्त में अल्प परिश्रम से ही काव्यकीर्ति भी कमाना चाहते थे-दूसरे कवियों की कृतियों को अपनी कृति प्रकट करके, सहज ही में एक अच्छे कवि का पद तथा सम्मान प्राप्त करने की उनकी इच्छा थी- और वह इच्छा पूरी नहीं हो सकती थी यदि सभी उद्धृत पद-वाक्यों के साथ में दूसरे विद्वानों के नाम दे दिये जाते। तब तो आपकी निज की कृति प्रायः कुछ भी न रहती अथवा यों कहिये कि महत्त्वशून्य और तेजोहीन-सी दिखलाई पड़ती। अतः मुख्यतया इन दोनों चित्तवृत्तियों से अभिभूत होकर ही आप ऐसा हीनाचरण करने में प्रवृत्त हुए हैं, जो एक सत्कवि के लिये कभी शोभा नहीं देता, बल्कि उल्टा लज्जा तथा शर्म का स्थानक होता है। शायद इस लज्जा तथा शर्म को उतारने या उसका कुछ परिमार्जन करने के लिये ही भट्टारकजी ने ग्रन्थ के अंत में, उसकी समाप्ति के बाद, एक पद्य निम्न प्रकार से दिया है-

श्लोका येऽत्र पुरातना विलिखिता अस्माभिरन्वर्थत-
स्ते दीपा इव सत्सु काव्यरचनामुद्दीपयन्ते परम्।
नानाशास्त्रमतान्तरं यदि नवं प्रायोऽकरिष्यं त्वहम्
क्वाशा माऽस्य महस्तदेति सुधियः केचित्प्रयोगंवदाः॥

इस पद्य से जहाँ यह सूचना मिलती है कि ग्रन्थ में कुछ पुरातन पद्य भी लिखे गये हैं वहाँ ग्रन्थकार का उन पुरातन पद्यों के सहारे से अपनी काव्यरचना को उद्योतित करने अथवा काव्यकीर्ति कमाने का वह भाव भी बहुत कुछ व्यक्त हो जाता है जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है। भट्टारकजी पद्य के पूर्वार्द्ध में लिखते हैं- ''हमने इस ग्रन्थ में, प्रकरणानुसार, जिन पुरातन श्लोकों को लिखा है वे दीपक की तरह सत्पुरुषों के सामने हमारी काव्यरचना को उद्दीपित (प्रकाशित) करते है''। परन्तु उन्होंने, अपने ग्रन्थ में, जब स्वकीय और परकीय पद्यों का प्रायः कोई भेद नहीं रखा तब ग्रन्थ के कौन से पद्यों को 'दीपक' और कौनसों को उनके द्वारा 'उद्दीपित' समझा जाये, यह कुछ समझ में नहीं आता। साधारण पाठक तो उन दस पाँच पद्यों को छोड़कर जिन्हें 'उक्तं च' 'मतान्तरं' तथा 'अन्यमतम्' आदि नामों से उल्लेखित किया गया है और जिनका उक्त संग्रह में कोई खास जिक्र भी नहीं किया गया अथवा ज्यादा से ज्यादा कुछ परिचित पद्यों को भी उनमें शामिल करके, शेष सब पद्यों को भट्टारकजी की ही रचना समझते हैं और उन्हीं के नाम से उनका उल्लेख भी करते हुए देखे जाते

हैं। क्या यही भट्टारकजी की काव्यरचना का सच्चा उद्दीपन है? अथवा पाठकों में ऐसी गलत समझ उत्पन्न करके काव्यकीर्ति का लाभ उठाना ही इसका एक उद्देश्य है? मैं तो समझता हूँ पिछली बात ही ठीक है और इसी से उन पद्यों के साथ में उनके लेखकों अथवा ग्रन्थों का नाम नहीं दिया गया और न दूसरी ही ऐसी कोई सूचना साथ में की गई जिससे वे पढ़ते ही पुरातन पद्य समझ लिये जाते। पद्य के उत्तरार्द्ध में भट्टारकजी, अपनी कुछ चिन्ता-सी व्यक्त करते हुए, लिखते हैं- ''यदि मैं नाना शास्त्रों के मतान्तर की नवीनप्रायः रचना करता तो इस ग्रन्थ का तेज पड़ता- अथवा यह मान्य होता- इसकी मुझे कहाँ आशा थी।'' और फिर इसके अनन्तर ही प्रकट करते हैं- इसीलिये कुछ सुधीजन 'प्रयोगंवद' होते हैं- प्राचीन प्रयोगों का उल्लेख कर देना ही उचित समझते हैं।[२०] और इस तरह पर आपने अपने को प्रयोगबंद (प्रयोगवादी) अथवा प्रयोगंवद की नीति का अनुसरण करने वाला भी सूचित किया है। हो सकता है भट्टारकजी की उक्त चिन्ता कुछ ठीक हो- वे अपनी स्थिति और कमजोरी आदि को आप जानते थे- परन्तु जब उनकी अपनी रचना से तेज अथवा प्रभाव पड़ने की कोई आशा नहीं थी तब तो उन्हें दूसरे विद्वानों के वाक्यों के साथ में उनका नाम दे देने की और भी ज्यादा जरूरत थी। ऐसी हालत में भी उनका नाम न देना उक्त दोनों कारणों के सिवाय और किसी बात को सूचित नहीं करता। रही 'प्रयोगंवद' की नीति का अनुसरण करने की बात, प्रयोगंवद की यह नीति कदापि नहीं होती कि वह दूसरे की रचना को अपनी रचना प्रकट करे। यदि ऐसा हो तो 'काव्यचोर' और 'प्रयोगंवद' में फिर कुछ भी अंतर नहीं रह सकता। वह तो इस बात की बड़ी सावधानी रखता है और इसी में आनन्द मानता है कि दूसरे विद्वान का जो वाक्य प्रयोग उद्धृत किया जाये उसके विषय में किसी तरह पर यह जाहिर कर दिया जाये कि वह अमुक विद्वान का वाक्य है अथवा उसका अपना वाक्य नहीं है। उसकी रचना प्रणाली ही अलग होती है और वह दूसरों के प्रयोगों को बदल कर रखने की जरूरत नहीं समझता और न अपने को उसका अधिकारी ही मानता है। सोमसेन जी की स्थिति ग्रन्थ पर से ऐसी मालूम नहीं होती, वे इस विषय में प्रायः कुछ भी सावधान नजर नहीं आते, उन्होंने सैकड़ों पुरातन पद्यों को बिना जरूरत ही बदल डाला है और जिन पद्यों को ज्यों का त्यों उठाकर रखा है उनके विषय में प्रायः कोई सूचना ऐसी नहीं कि जिससे वे दूसरे विद्वानों के वाक्य समझे जायें। साथ ही, ग्रन्थ

---

२०. पं० पन्नालाल जी सोनी ने इस पद्य के उत्तरार्द्ध का अनुवाद बड़ा ही विलक्षण किया है और वह इस प्रकार है- ''यद्यपि मैंने अनेक शास्त्र और मतों से सार लेकर इस नवीन शास्त्र की रचना की है, उनके सामने इसका प्रकाश पड़ेगा यह आशा नहीं, तो भी कितने ही बुद्धिमान् नवीन-नवीन प्रयोगों को पसंद करते हैं, अतः उनका चित्त इससे अवश्य अनुरंजित होगा।''

अनुवादकजी और तो क्या लृङ् लकार की 'अकरिष्यं' क्रिया का अर्थ भी ठीक नहीं समझ सके! तब 'इति सुधियः केचित्प्रयोगंवदाः' का अर्थ समझना तो उनके लिये दूर की बात थी। आपने पुरातन पद्योद्धरण के समर्थन में नवीन-नवीन प्रयोगों को पसंद करने की बात तो खूब कही!! और ''उनका चित्त इससे अवश्य अनुरंजित होगा'' इस अंतिम वाक्यावतार ने तो आपके गजब ही ढा दिया!!!

की रचना-प्रणाली भी ऐसी मालूम नहीं होती जिसे प्रायः 'प्रयोगंवद' की नीति का अनुसरण करने वाली कही जा सके।[२१] ऐसी हालत में इस पद्य द्वारा जिन बातों की सूचना की गई है वे काव्यचोरी के उक्त कलंक को दूर करने के लिये किसी तरह भी समर्थ नहीं हो सकती। उन्हें प्रायः ढोंग मात्र समझना चाहिए अथवा यों कहना चाहिए कि वे पीछे से कुछ शर्म-सी उतारने अथवा अपने दुष्कर्म पर एक प्रकार का पर्दा डालने के लिये ही लिखी गई हैं। अन्यथा, विद्वानों के समक्ष उनका कुछ भी मूल्य नहीं है।

प्रतिज्ञादि-विरोध

यह त्रिवर्णाचार अनेक प्रकार के विरुद्ध तथा अनिष्ट कथनों से भरा हुआ है। ग्रन्थ के संग्रहत्व आदि का दिग्दर्शन कराने के बाद, अब मैं उन्हीं को लेता हूँ और उनमें भी सबसे पहले उन कथनों का दिग्दर्शन कराना चाहता हूँ जो प्रतिज्ञा आदि के विरोध को लिये हुए है। इस सब दिग्दर्शन से ग्रन्थ की रचना, तरतीब, उपयोगिता और प्रमाणता आदि विषयों की और भी कितनी ही बातें पाठकों के अनुभव में आ जायेगी और उन्हें यह अच्छी तरह से मालूम पड़ जायेगा कि इस ग्रन्थ में कितना धोखा है, कितना जाल है और वह एक मान्य जैन ग्रन्थ के तौर पर स्वीकार किये जाने के लिये कितना अयोग्य है अथवा कितना अधिक आपत्ति के योग्य है-

(१) भट्टारक सोमसेनजी ने, ग्रन्थ के शुरू में, 'यत्प्रोक्तं जिनसेनयोग्यगणिभिः' नामक पद्य के द्वारा जिन विद्वानों के ग्रन्थों को देखकर- उनके वचनानुसार- ग्रन्थ रचना की प्रतिज्ञा की है उनमें 'जिनसेनाचार्य' का नाम सबसे प्रथम है और उन्हें आपने 'योग्यगणी' भी सूचित किया है। इन जिनसेनाचार्य का बनाया हुआ एक 'पुराण' ग्रन्थ सर्वत्र प्रसिद्ध है जिसे 'आदिपुराण' अथवा 'महापुराण' भी कहते हैं और उसकी गणना बहुमान्य आर्ष ग्रन्थों में की जाती है। इस पुराण से पहले का दूसरा कोई भी पुराण ग्रन्थ ऐसा उपलब्ध नहीं है जिसमें गर्भाधानादिक क्रियाओं का संक्षेप अथवा विस्तार के साथ कोई खास वर्णन दिया हो। यह पुराण इन क्रियाओं के लिये खास तौर से प्रसिद्ध है। भट्टारकजी ने ग्रन्थ के आठवें अध्याय में इन क्रियाओं का वर्णन आरम्भ करते हुए, एक प्रतिज्ञा वाक्य निम्न प्रकार से दिया है-

गर्भाधानादयो भव्यस्त्रित्रिंशत्सुक्रिया मताः।
वक्ष्येऽधुना पुराणे तु याः प्रोक्ता गणिभिः पुरा॥३॥

इस वाक्य के द्वारा यह प्रतिज्ञा की गई है कि 'प्राचीन आचार्य महोदय (जिनसेन) ने पुराण

---

२१ ग्रन्थ में एक जगह ''कलौ तु पुनरुद्वाहं वर्जयेदिति गालवः'' ऐसा लिखा है। यह वाक्य बेशक प्रयोगंवद की नीति का अनुसरण करने वाला है-इसमें 'गालव' ऋषि' के वाक्य का उनके नाम के साथ उल्लेख है। यदि सारा ग्रन्थ अथवा ग्रन्थ का अधिकांश भाग इस तरह से भी लिखा जाता तो वह प्रयोगंवद की नीति का एक अच्छा अनुसरण कहलाता। और तब किसी को उपर्युक्त आपत्ति का अवसर ही न रहता। परन्तु ग्रन्थ में, दो चार उदाहरणों को छोड़कर, इस प्रकार की रचना का प्रायः सर्वत्र अभाव है।

(आदिपुराण) में जिन गर्भाधानादिक ३३ क्रियाओं का कथन किया है उन्हीं का मैं अब कथन करता हूँ।' यहाँ बहुवचनान्त 'गणिभिः' पद का प्रयोग वही है जो पहले प्रतिज्ञा-वाक्य में जिनसेनाचार्य के लिये उनके सम्मानार्थ किया गया है और उसके साथ में 'पुराणे'[२२] पद का एकवचनान्त प्रयोग उनके उक्त पुराण ग्रन्थ को सूचित करता है। और इस तरह पर इस विशेष प्रतिज्ञा-वाक्य के द्वारा यह घोषणा की गई है कि इस ग्रन्थ में गर्भाधानादिक क्रियाओं का कथन जिनसेनाचार्य के आदिपुराणानुसार किया जाता है। साथ ही, कुछ पद्य भी आदिपुराण से इस पद्य के अनन्तर उद्धृत किये गये हैं, 'व्युष्टि' नामक क्रिया को आदिपुराण के ही दोनों पद्यों ('ततोऽस्य हायने' आदि) में दिया है और 'व्रतचर्या' तथा 'व्रतावतरण' नामक क्रियाओं के भी कितने ही पद्य ('व्रतचर्यामहं वक्ष्ये' आदि) आदिपुराण से ज्यों के त्यों उठाकर रखे गये हैं। परंतु यह सब कुछ होते हुए भी इन क्रियाओं का अधिकांश कथन आदिपुराण अथवा भगवज्जिनसेनाचार्य के वचनों के विरुद्ध किया गया है, जिसका कुछ खुलासा इस प्रकार है-

(क) भगवज्जिनसेन ने गर्भाधानादिक क्रियाओं की संख्या ५३ दी है और साथ ही निम्न पद्य द्वारा यह प्रतिपादन किया है कि गर्भाधान से लेकर निर्वाण तक की ये ५३ क्रियाएँ परमागम में 'गर्भान्वय क्रिया' मानी गई हैं-

त्रयपंचाशदेता हि मता गर्भान्वयक्रियाः।
गर्भाधानादिनिर्वाणपर्यन्ताः परमागमे॥

परन्तु जिनसेन के वचनानुसार कथन करने की प्रतिज्ञा से बँधे हुए भट्टारकजी उक्त क्रियाओं की संख्या ३३ बतलाते हैं और उन्होंने उन ३३ के जो नाम दिये हैं वे सब भी वे ही नहीं हैं जो आदिपुराण की ५३ क्रियाओं में पाये जाते हैं। यथा-

आधानं प्रीतिः सुप्रीतिर्धृतिर्मोदः प्रियोद्भवः।
नामकर्म बहिर्यानं निषद्या प्राशनं तथा॥४॥
व्युष्टिश्च केशवापश्च लिपिसंस्थानसंग्रहः।
उपनीतिर्व्रतचर्या व्रतावतरणं तथा॥५॥
विवाहो वर्णलाभश्च कुलचर्या गृहीशिता।
प्रशान्तिश्च गृहत्यागो दीक्षाद्यं जिनरूपता॥६॥
मृतकस्य च संस्कारो निर्वाणं पिण्डदानकम्।
श्राद्धं च सूतकद्वैतं प्रायश्चित्तं तथैव च॥७॥

२२. पं० पन्नालाल जी सोनी ने 'पुराणे' पद का जो बहुचनान्त अर्थ ''शास्त्रों में'' ऐसा किया है वह ठीक नहीं है। इसी तरह 'गणिभिः' पद के बहुवचनान्त प्रयोग का आशय भी आप ठीक नहीं समझ सके और आपने उसका अर्थ 'महर्षियों ने'' दे दिया है।

तीर्थयात्रेति कथिता द्वात्रिंशत्संख्या क्रिया:।
त्रयस्त्रिंशच्च धर्मस्य देशनाख्या विशेषत:॥८॥

इनमें से पहले तीन पद्य तो आदिपुराण के पद्य हैं और उनमें गर्भाधान को आदि लेकर २४ क्रियाओं के नाम दिये हैं, बाकी के दो पद्य भट्टारकजी की प्राय: अपनी रचना जान पड़ते हैं और उनमें ९ क्रियाओं के नाम देकर तैंतीस क्रियाओं की पूर्ति की गई है। और यहीं से प्रकृत विषय के विरोध अथवा छल का आरम्भ हुआ है। इन ९ क्रियाओं में, 'निर्वाण' क्रिया को छोड़कर, मृतक संस्कार, पिण्डदान, श्राद्ध, दोनों प्रकार के सूतक (जननाशौच, मृताशौच), प्रायश्चित्त, तीर्थयात्रा और धर्मदेशना नाम की ८ क्रियाएँ ऐसी हैं जो आदिपुराण में नहीं हैं। आदिपुराण में उक्त २४ क्रियाओं के बाद 'मौनाध्ययनत्व' आदि २९ क्रियाएँ और दी हैं और उनमें अंतिम क्रिया 'निर्वृति' अर्थात् निर्वाण बतलाई है। और इसी से ये क्रियाएँ 'गर्भाधानादि निर्वाणान्त' कहलाती हैं। भगवज्जिनसेन ने इन गर्भाधान से लेकर निर्वाण तक की ५३ क्रियाओं को 'सम्यक् क्रिया' बतलाया है और उनसे भिन्न इस संग्रह की दूसरी क्रियाओं को अथवा 'गर्भाधानादि श्मशानान्त' नाम से प्रसिद्ध होने वाली दूसरे लोगों[२३] की क्रियाओं को मिथ्या क्रिया ठहराया है। यथा–

क्रिया गर्भादिका यास्ता निर्वाणान्ता पुरोदिता।
आधानादि श्मशानान्ता न ता: सम्यक् क्रिया मता:॥२५॥ ३९ वाँ पर्व

और इसलिये भट्टारकजी की 'पिण्डदान' तथा 'श्राद्ध' आदि नाम की उक्त क्रियाओं को भगवज्जिनसेनाचार्य के केवल विरुद्ध ही न समझना चाहिए बल्कि 'मिथ्या क्रियाएँ' भी मानना चाहिए।

(ख) अपनी उद्दिष्ट क्रियाओं का कथन करते हुए, भट्टारकजी ने गर्भाधान के बाद प्रीति, सुप्रीति, और धृति नाम की क्रियाओं का कोई कथन नहीं किया, जिन्हें आदिपुराण में क्रमश: तीसरे, पाँचवें और सातवें महीने करने का विधान किया है, बल्कि एकदम 'मोद' क्रिया का वर्णन दिया है और उसे तीसरे महीने करना लिखा है। यथा–

गर्भे स्थिरेऽथ संजाते मासे तृतीयके ध्रुवम्।
प्रमोदेनैव संस्कार्य: क्रियामुख्य: प्रमोदक:॥५२॥

---

२३. हिन्दुओं की क्रियाएँ 'गर्भाधानादिश्मशानांत' नाम से प्रसिद्ध हैं, यह बात 'याज्ञवल्क्यस्मृति' के निम्न वाक्य से स्पष्ट है– ब्रह्मक्षत्रियविटशूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजा:। निषेकाद्या: श्मशानान्तास्तेषां वै मंत्रत: क्रिया:॥१०॥

भट्टारकजी ने अपनी ३३ क्रियाएँ जिस क्रम से यहाँ (उक्त पद्यों में) दी हैं, उसी क्रम से उनका आगे कथन नहीं किया, 'मृतक संस्कार नाम की क्रिया को उन्होंने सबके अंत में रखा है और इसलिये उनकी इन क्रियाओं को भी 'गर्भाधानादिश्मशानांत' कहना चाहिए। यह दूसरी बात है कि उन्हें अपनी क्रियाओं की सूची उसी क्रम से देनी नहीं आई, और इसलिये उनके कथन में क्रम-विरोध हो गया, जिसका कि एक दूसरा नमूना 'व्रतावतरणं' क्रिया के बाद 'विवाह' को न देकर 'प्रायश्चित्त' का देना है।

परन्तु आदिपुराण में ''नवमे मास्यतोऽभ्यर्णे मोदो नाम क्रियाविधिः'' इस वाक्य के द्वारा 'मोद' क्रिया ९वें महीने करनी लिखी है। और इसलिये भट्टारकजी का कथन आदिपुराण के विरुद्ध है।

यहाँ पर इतना और भी बतला देना उचित मालूम होता है कि भट्टारकजी ने 'प्रीति' और 'सुप्रीति' नाम की क्रियाओं को 'प्रियोद्भव' क्रिया के साथ पुत्रजन्म के बाद करना लिखा है।[२४] और साथ ही, सज्जनों में उत्कृष्ट प्रीति करने को 'प्रीति', पुत्र में प्रीति करने को 'सुप्रीति' और देवों में महान् उत्साह फैलाने को 'प्रियोद्भव' क्रिया बतलाया है। यथा–

पुत्रजन्मनि संजाते प्रीतिसुप्रीतिके क्रिये।
प्रियोद्भवश्च सोत्साहः कर्तव्यो जातकर्मणि॥९१॥
सज्जनेषु परा प्रीतिः पुत्रे सुप्रीतिरुच्यते।
प्रियोद्भवश्च देवेषूत्साहस्तु क्रियते महान्॥९२॥

यह सब कथन भी भगवज्जिनसेनाचार्य के विरुद्ध है–क्रमविरोध को भी लिये हुए है और इसमें 'प्रीति' आदि तीनों क्रियाओं का जो स्वरूप दिया है वह बड़ा ही विलक्षण जान पड़ता है। आदिपुराण के साथ उसका कुछ भी मेल नहीं खाता, जैसा कि आदिपुराण के निम्न वाक्यों से प्रकट है–

गर्भाधानात्परं मासे तृतीये संप्रवर्तते।
प्रीतिर्नाम क्रिया प्रीतैर्याऽनुष्ठेया द्विजन्मभिः॥७७॥
आधानात्पंचमे मासि क्रिया सुप्रीतिरिष्यते।
या सुप्रीतैर्प्रयोक्तव्या परमोपासकव्रतैः॥८०॥
प्रियोद्भवः प्रसूतायां जातकर्मविधिः स्मृतः।
जिनजातकमाध्याय प्रवर्त्यो यो यथाविधि ॥८५॥ -३८वाँ पर्व

पिछले श्लोक से यह भी प्रकट है कि आदिपुराण में जातकर्मविधि को ही 'प्रियोद्भव' क्रिया बतलाया है। परन्तु भट्टारकजी ने 'प्रियोद्भव को 'जातकर्म' से भिन्न एक दूसरी क्रिया प्रतिपादन किया है। यही वजह है जो उन्होंने अध्याय के अंत में, प्रतिपादित क्रियाओं की गणना करते हुए, दोनों की गणना अलग-अलग क्रियाओं के रूप में की है और इसलिये आपका यह विधान भी जिनसेनाचार्य के विरुद्ध है।

एक बात और भी बतला देने की है और वह यह कि, भट्टारकजी ने 'जातकर्म विधि' में 'जननाशौच' को भी शामिल किया है और उसका कथन छह पद्यों में दिया है। परन्तु 'जननाशौच' को आपने अलग क्रिया भी बतलाया है, तब दोनों में अंतर क्या रहा, यह सोचने की बात है। परन्तु अंतर कुछ रहो या न रहो, इससे ग्रन्थ की बेतरतीबी और उसके बेढंगेपन का हाल कुछ जरूर मालूम हो जाता है।

---

२४. 'धृति' क्रिया के कथन को आप यहाँ भी छोड़ गये हैं और उसका वर्णन ग्रन्थ भर में कहीं भी नहीं किया। इसी तरह 'तीर्थयात्रा' आदि और भी कुछ क्रियाओं के कथन को आप बिल्कुल ही छोड़ गये अथवा भुला गये हैं।

(ग) 'मोद' क्रिया के बाद, त्रिवर्णाचार में 'पुंसवनं' और 'सीमन्त' नाम की दो क्रियाओं का क्रमशः निर्देश किया गया है और उन्हें यथाक्रम गर्भ से पाँचवें तथा सातवें महीने करने का विधान किया है। यथा–

सद्गर्भस्याथ पुष्ट्यर्थं क्रियां पुंसवनाभिधाम्।
कुर्वन्तु पंचमे मासि पुमांसः क्षेमभिच्छवः॥६३॥
अथ सप्तमके मासे सीमन्तविधिरुच्यते।
केशमध्ये तु गर्भिण्याः सीमा सीमन्तमुच्यते॥७२॥

ये दोनों क्रियाएँ आदिपुराण में नहीं हैं और न भट्टारकजी की उक्त ३३ क्रियाओं की सूची में ही इनका कहीं नामोल्लेख है। फिर नहीं मालूम इन्हें यहाँ पर क्यों दिया गया है! क्या भट्टारकजी को अपनी प्रतिज्ञा, ग्रन्थ की तरतीब और उसके पूर्वापर सम्बन्ध आदि का कुछ भी ध्यान नहीं रहा, वैसे ही जहाँ जो जी में आया लिख मारा!! और क्या इसी को ग्रन्थरचना कहते हैं? वास्तव में ये दोनों क्रियाएँ हिन्दूधर्म की खास क्रियाएँ (संस्कार) है। हिन्दूओं के धर्मग्रन्थों में इनका विस्तार के साथ वर्णन पाया जाता है। गर्भिणी स्त्री के केशों में मांग पाड़ने को 'सीमन्त' क्रिया कहते हैं, जिसके द्वारा वे गर्भ का खास तौर से संस्कारित होना मानते हैं और 'पुंसवन' क्रिया का अभिप्राय उनके यहाँ यह माना जाता है कि इसके कारण गर्भिणी के गर्भ में लड़का पैदा होता है, जैसा कि मुहूर्तचिंतामणि की पीयूषधारा टीका के निम्न वाक्य से भी प्रकट है–

"पुमान् सूयतेऽनेन कर्मणेति व्युत्पत्या पुंसवनकर्मणा पुंस्त्वहेतुना।"

परंतु जैन सिद्धांत के अनुसार, इस प्रकार के संस्कार से, गर्भ में आई हुई लड़की का लड़का नहीं बन सकता। इसलिये जैनधर्म से इस संस्कार का कुछ सम्बन्ध नहीं है। भगवज्जिनसेन के वचनानुसार इन दोनों क्रियाओं को भी मिथ्या क्रियाएँ समझना चाहिए। मालूम होता है कुछ विद्वानों ने दूसरों की इन क्रियाओं को किसी तरह पर अपने ग्रन्थों में अपनाया है और भट्टारकजी ने उन्हीं में से किसी का यह अंधाऽनुकरण किया है। अन्यथा, आपकी तैंतीस क्रियाओं से इनका कोई सम्बन्ध नहीं था।

(घ) त्रिवर्णाचार में, निर्धन के लिये, गर्भाधान, प्रमोद, सीमंत और पुंसवन नाम की चार क्रियाओं को एक साथ ९वें महीने करने का भी विधान किया गया है। यथा–

गर्भाधानं प्रमोदश्च सीमन्तः पुंसवं तथा।
नवमे मासि चैकत्र कुर्यात्सर्वं तु निर्धनः॥८०॥

यह कथन भी भगवज्जिनसेनाचार्य के विरुद्ध है– आदिपुराण में गर्भाधान और प्रमोद नाम की क्रियाओं को एक साथ करने का विधान ही नहीं। यहाँ 'गर्भाधान' क्रिया का, जिसमें भट्टारकजी ने स्त्रीसंभोग का खासतौर से तफसीलवार विधान किया है, ९वें महीने किया जाना बड़ा ही विलक्षण जान पड़ता है और एक प्रकार का पाखण्ड मालूम होता है। उस समय भट्टारकजी के उस 'कामयज्ञ'

का रचाया जाना जिसका कुछ परिचय आगे चलकर दिया जायेगा, निःसंदेह एक बड़ा ही पाप कार्य है और किसी तरह भी युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। स्वयं भट्टारकजी ने 'मासात्तु पंचमादूर्ध्व तस्याः संगं विवर्जयेत्' इस वाक्य से भी उसका विरोध आता है, जिसमें लिखा है कि 'पाँचवे महीने के बाद गर्भिणी स्त्री का संग छोड़ देना चाहिए– उससे भोग नहीं करना चाहिए'। और वैसे भी गर्भ रह जाने के आठ नौ महीने बाद 'गर्भाधान' क्रिया का किया जाना महज एक ढोंग रह जाता है, जो सत्पुरुषों द्वारा आदर किये जाने के योग्य नहीं। भट्टारकजी निर्धनों के लिए ऐसे ढोंग का विधान करते हैं, यह आपकी बड़ी ही विचित्र लीला अथवा परोपकार बुद्धि है! आपकी राय में शायद ये गर्भाधान आदि की क्रियाएँ विपुलधन-साध्य हैं और उन्हें धनवान लोग ही कर सकते हैं। परन्तु आदिपुराण से ऐसा कुछ भी मालूम नहीं होता। वहाँ अनेक क्रियाओं का विधान करते हुए 'यथाविभवं' 'यथा विभवमत्रापि' आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है और उससे मालूम होता है कि इन क्रियाओं को सब लोग अपनी-अपनी शक्ति और सम्पत्ति के अनुसार कर सकते हैं– धनवानों का ही उनके लिये कोई ठेका नहीं है।

(ङ) भट्टारकजी ने, निम्न पद्य द्वारा, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों जातियों के लिये क्रमशः १२वें, १६वें, २०वें, और ३२वें दिन बालक का नाम रखने की व्यवस्था की है–

[२५]द्वादशे षोडशे विंशे द्वात्रिंशे दिवसेऽपि वा।
नामकर्म स्वजातीनां कर्त्तव्यं पूर्वमार्गतः॥१११॥

आपकी यह व्यवस्था भी भगवज्जिनसेन के विरुद्ध है। आदिपुराण में जन्मदिन से १२ दिन के बाद– १३वें, १४वें, आदि किसी भी अनुकूल दिवस में– नाम कर्म की सबके लिये समान व्यवस्था की गई है और उसमें जाति अथवा वर्णभेद को कोई स्थान नहीं दिया गया। यथा–

द्वादशाहात्परं नामकर्म जन्मदिनान्मतम्।
अनुकूले सुतस्यास्य पित्रोरपि सुखावहे॥३८-८७॥

(च) त्रिवर्णाचार में, 'नाम' क्रिया के अनन्तर, बालक के कान नाक बींधने और उसे पालने में बिठलाने के दो मंत्र दिये हैं और इस तरह पर 'कर्णवेधन' तथा 'आंदोलारोपण' नाम की दो नवीन क्रियाओं का विधान किया है, जिनका उक्त ३३ क्रियाओं में कहीं भी नामोल्लेख नहीं है। आदिपुराण में भी इन क्रियाओं का कोई कथन नहीं है। और इसलिये भट्टारकजी का यह विधान भी भगवज्जिनसेन के विरुद्ध है और उनकी इन क्रियाओं को भी 'मिथ्याक्रियाएँ' समझना चाहिए। ये क्रियाएँ भी हिन्दू

---

२५. सोनीजी ने इस पद्य के अनुवाद में कुछ गलती खाई है। इस पद्य में प्रयुक्त हुए 'स्वजातीनां' पद और 'अपि' तथा 'वा' शब्दों का अर्थ वे ठीक नहीं समझ सके। 'स्वजातीनां' पद यहाँ चारों जातियों अर्थात् वर्णों का वाचक है और 'अपि' समुच्चयार्थ में तथा 'वा' शब्द अवधारण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है– विकल्प अर्थ में नहीं। हिन्दुओं के यहाँ भी, जिनका इस ग्रन्थ में प्रायः अनुसरण किया गया है, वर्णक्रम से ही नाम-कर्म का विधान किया गया है, जैसा कि 'सारसंग्रह' के निम्न वाक्य से प्रकट है जो मुहूर्तचिन्तामणि की 'पीयूषधारा' टीका में दिया हुआ है।
एकादशेऽन्हि विप्राणां क्षत्रियाणां त्रयोदशे। वैश्यानां षोडशे नाम मासान्ते शूद्रजन्मनः॥

धर्म की खास क्रियाएँ हैं और उनके यहाँ दो अलग संस्कार माने जाते हैं। मालूम नहीं भट्टारकजी इन दोनों क्रियाओं के सिर्फ मंत्र देकर ही क्यों रह गये और इनका पूरा विधान क्यों नहीं दिया! शायद इसका यह कारण हो कि जिस ग्रन्थ से आप संग्रह कर रहे हों उसमें क्रियाओं का मंत्र भाग अलग दिया हो और उस पर से नाम क्रिया के मंत्र की नकल करते हुए उसके अनन्तर दिये हुए इन दोनों मंत्रों की भी आप नकल कर गये हों और आपको इस बात का ख्याल ही न रहा हो कि हमने इन क्रियाओं का अपनी तैंतीस क्रियाओं में विधान अथवा नामकरण ही नहीं किया है। परन्तु कुछ भी हो, इससे आपके ग्रन्थ की अव्यवस्था और बेतरतीबी जरूर पाई जाती है।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि मेरे पास ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार की जो हस्तलिखित प्रति पं० सीताराम शास्त्री की लिखी हुई है उसमें आन्दोलारोपण का मंत्र तो नहीं- शायद छूट गया हो- परन्तु कर्णवेधन का मंत्र जरूर दिया हुआ है और वह नामकर्म के मंत्र के अनन्तर ही दिया हुआ है। लेकिन वह मंत्र इस त्रिवर्णाचार के मंत्र से कुछ भिन्न है, जैसा कि दोनों के निम्न रूपों से प्रकट है-

ॐ ह्रीं ह्रः कर्णनासावेधनं करोमि ॐ स्वाहा। -ब्रह्मसूरि त्रिवर्णाचार।

ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं बालकस्य ह्रः कर्णनासावेधनं करोमि असिआउसा स्वाहा।

-सोमसेन त्रिवर्णाचार

इससे ब्रह्मसूरित्रिवर्णाचार के मंत्रों का आंशिक विरोध पाया जाता है और उसे यहाँ बदलकर रखा गया है, ऐसा जान पड़ता है। इसी तरह पर और भी कितने ही मंत्रों का ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार के साथ विरोध है और वह ऐसे मंत्रों के महत्त्व अथवा उनकी समीचीनता को और भी कम किये देता है।

(छ) भट्टारकजी ने 'अन्नप्राशन' के बाद और 'व्युष्टि' क्रिया से पहले 'गमन' नाम की भी एक क्रिया का विधान किया है, जिसके द्वारा बालक को पैर रखना सिखलाया जाता है। यथा-

अथास्य नवमे मासे गमनं कारयेत्पिता।
गमनोचितनक्षत्रे सुवारे शुभयोगके॥१४०॥

यह क्रिया भी आदिपुराण में नहीं है-आदिपुराण की दृष्टि से यह मिथ्या क्रिया है-और इसलिये इसका कथन भी भगवज्जिनसेन के विरुद्ध है। साथ ही, पूर्वापर-विरोध को भी लिये हुए है, क्योंकि भट्टारकजी की तैंतीस क्रियाओं में भी इसका नाम नहीं है। नहीं मालूम भट्टारकजी को बारबार अपने कथन के भी विरुद्ध कथन करने की यह क्या धुन समाई थी! जब आप यह बतला चुके कि गर्भाधानादिक क्रियाएँ तैंतीस है और उनके नाम भी दे चुके, तब उसके विरुद्ध बीच-बीच में दूसरी क्रियाओं का भी विधान करते जाना और इस तरह पर संख्या आदि के भी विरोध को उपस्थित करना चलचित्तता, असमीक्ष्यकारिता अथवा पागलपन नहीं तो और क्या है? इस तरह की प्रवृत्ति निःसंदेह आपकी ग्रन्थ रचना सम्बन्धी अयोग्यता को अच्छी तरह से ख्यापित करती है।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि 'लिपि संस्थान संग्रह' (अक्षराभ्यास)

नामक क्रिया के बाद भी एक क्रिया और बढ़ाई गई है और उसका नाम है 'पुस्तकग्रहण'। यह क्रिया भी आदिपुराण में नहीं है और न तैंतीस क्रियाओं की सूची में ही इसका नाम है। लिपिसंस्थान क्रिया का विधान करते हुए, ''मौजी बंधनतः पश्चाच्छास्त्रारंभो विधीयते'' इस वाक्य के द्वारा, यद्यपि, यह कहा गया था कि शास्त्राध्ययन का आरम्भ मौजीबंधन (उपनयन क्रिया) के पश्चात् होता है परन्तु यहाँ 'पुस्तकग्रहण' क्रिया को बढ़ाकर उसके द्वारा उपनयन संस्कार से पहले ही शास्त्र के पढ़ने का विधान कर दिया है और इस बात का कुछ भी ध्यान नहीं रखा कि पूर्व कथन के साथ इसका विरोध आता है। यथा–

उपाध्यायेन तं शिष्यं पुस्तकं दीयते मुदा।
शिष्योऽपि च पठेच्छास्त्रं नान्दीपठनपूर्वकम्॥१८१॥

(ज) भट्टारकजी ने 'लिपि-संस्थान-संग्रह' नामक क्रिया को देते हुए उसका मुहूर्त भी दिया है, जबकि दूसरी क्रियाओं में से गर्भाधान, उपनयन (यज्ञोपवीत) और विवाह संस्कार जैसी बड़ी क्रियाओं तक का आपने कोई मुहूर्त नहीं दिया। नहीं मालूम इस क्रिया के साथ में मुहूर्त देने की आपको क्या सूझी और आपका यह कैसा रचना-क्रम है जिसका कोई एक तरीका, नियम अथवा ढंग नहीं!! अस्तु, इस मुहूर्त के दो पद्य इस प्रकार हैं–

[२६]मृगादिपंचस्वपिते (भे) षु मूले, हस्तादिके च क्रियते (त्रितये)ऽश्विनीषु पु (पू) र्वात्रये च श्रवणत्रये च, विद्यासमारम्भमुशन्तिसिद्ध्यै॥१६५॥

उदग्गते भास्वति पंचमेऽब्दे, प्राप्तेऽक्षरस्वीकरणं शिशूनाम्।
सरस्वतीं क्षेत्रसुपालकं च, गुडौदनाद्यैरभिपूज्य कुर्यात्॥१६९॥

इनमें से पहला पद्य 'श्रीपति' का और दूसरा 'वशिष्ठ' ऋषि का वचन है। मुहूर्त चिन्तामणि की पीयूषधारा टीका में भी ये इन्हीं विद्वानों के नाम से उद्धृत पाये जाते हैं। दूसरे पद्य में 'विघ्नविनायकं' की जगह 'क्षेत्रसुपालकं' का परिवर्तन किया गया है और उसके द्वारा 'गणेशजी' के स्थान में 'क्षेत्रपाल' की गुड़ और चावल वगैरह से पूजा की व्यवस्था की गई है।

क्षेत्रपाल की यह पूजन-व्यवस्था आदिपुराण के विरुद्ध है। इसी तरह पर दूसरी क्रियाओं के वर्णन में जो यक्ष, यक्षी, दिक्पाल और जयादिदेवताओं के पूजन का विधान किया गया है, अथवा 'पूर्ववत्पूजयेत्' 'पूर्ववद् होमं पूजां च कृत्वा' आदि वाक्यों के द्वारा इसी प्रकार के दूसरे देवताओं की भी पूजा का- जिसका वर्णन चौथे-पाँचवें अध्यायों में है–जो इशारा किया गया है वह सब भी आदिपुराण के विरुद्ध है। आदिपुराण में भगवज्जिनसेन ने गर्भाधानादिक क्रियाओं के अवसर पर, इस प्रकार के देवी-देवताओं के पूजन की कोई व्यवस्था नहीं की। उन्होंने आमतौर पर सब क्रियाओं में

---

२६. इस पद्य में जो पाठभेद ब्रैकिटों में दिया गया है वही मूल का शुद्ध पाठ है, सोनीजी की अनुवाद पुस्तक में वह गलत रूप से दिया हुआ है। पद्य का अनुवाद भी कुछ गलत हुआ है। कम से कम 'चित्रा' के बाद 'स्वाती' का और 'पूर्वाषाढ' से पहले 'पूर्वाफाल्गुनी' नक्षत्र का नाम और दिया जाना चाहिए था।

'सिद्धों' का पूजन रखा है, जो 'पीठिका' मंत्रों द्वारा किया जाता है।[२७] बहुत-सी क्रियाओं में अर्हन्तों का, देवगुरु का और किसी में आचार्यों आदि का पूजन भी बतलाया है, जिसका विशेष हाल आदिपुराण के ३८वें और ४०वें पर्वों को देखने से मालूम हो सकता है।

यहाँ पर मैं त्रिवर्णाचार की एक दूसरी विलक्षण पूजा का भी उल्लेख कर देना उचित समझता हूँ, और वह है 'योनिस्थ देवता' की पूजा। भट्टारकजी ने, गर्भाधान क्रिया का विधान करते हुए, इस अपूर्व अथवा अश्रुतपूर्व देवता की पूजा का जो मंत्र दिया है वह इस प्रकार है-

ॐ ह्रीं क्लीं ब्लूँ योनिस्थदेवते मम सत्पुत्रं जनयस्व असिआउसा स्वाहा।

इस मंत्र में यह प्रार्थना की गई है कि 'हे योनिस्थान में बैठे हुए देवता! मेरे सत्पुत्र पैदा करो।' भट्टारकजी लिखते हैं कि 'यह मंत्र पढ़कर गोबर, गोमूत्र, दूध, दही, घी, कुश (दर्भ) और जल से योनि का अच्छी तरह से प्रक्षालन करे और फिर उसके ऊपर चंदन, केसर तथा कस्तूरी आदि का लेप कर देवे। यथा-''इति मंत्रेण गोमयगोमूत्रक्षीरदधिसर्पिःकुशोदकैर्योनिं सम्प्रक्षाल्य श्रीगंधकुंकुमकस्तूरिकाद्यनुलेपनं कुर्यात्।''

यही योनिस्थ देवता का सप्रक्षाल पूजन है। और इससे यह मालूम होता है कि भट्टारकजी ऐसा मानते थे कि स्त्री के योनिस्थान में किसी देवता का निवास है, जो प्रार्थना करने पर प्रार्थी से अपनी पूजा लेकर उसके लिये पुत्र पैदा कर देता है। परन्तु जैनधर्म की ऐसी शिक्षा नहीं है और न जैनमतानुसार ऐसे किसी देवता का अस्तित्त्व या व्यक्तित्व ही माना जाता है। ये सब वाममार्गियों अथवा शाक्तिकों जैसी बातें हैं। भट्टारकजी ने सम्भवतः उन्हीं का अनुकरण किया है, उन्हीं जैसी शिक्षा को समाज में प्रचारित करना चाहा है, और इसलिये 'गर्भाधान' क्रिया में आपका यह पूजन-विधान महज प्रतिज्ञा-विरोध को ही लिये हुए नहीं है बल्कि जैनधर्म और जैननीति के भी विरुद्ध है, और आपके इस क्रिया मंत्र को अधर्म्य मंत्र समझना चाहिए।

(झ) इस आठवें अध्याय में, और आगे भी, आदिपुराण-वर्णित क्रियाओं के जो भी मंत्र दिये हैं वे प्रायः सभी आदिपुराण के विरुद्ध हैं। आदिपुराण में गर्भाधानादिक क्रियाओं में मंत्रों को दो भागों में विभाजित किया है- एक 'सामान्यविषय मंत्र' और दूसरे 'विशेषविषय मंत्र'। 'सामान्यविषय मंत्र' वे हैं जो सब क्रियाओं के लिये सामान्य रूप से निर्दिष्ट हुए हैं और 'विशेषविषय' उन्हें कहते हैं जो खास-खास क्रियाओं में अतिरिक्त रूप से नियुक्त हुए हैं। सामान्यविषय मंत्र १. पीठिका, २. जाति, ३. निस्तारक, ४. ऋषि, ५. सुरेन्द्र, ६. परमराज और ७. परमेष्ठि मंत्र- भेद से सात प्रकार के हैं। इन सबों को एक नाम से 'पीठिका-मंत्र' कहते हैं, क्रिया-मंत्र, साधन-मंत्र तथा आहुति-मंत्र भी इनका नाम है और ये 'उत्सर्गिक-मंत्र' भी कहलाते हैं, जैसा कि आदिपुराण के निम्न वाक्यों से प्रकट है।

एते तु पीठिका मंत्राः सप्त ज्ञेया द्विजोत्तमैः।
एतैः सिद्धार्चनं कुर्यादाधानादिक्रियाविधौ॥७७॥

२७. यथा- एतैः (पीठिकामंत्रैः) सिद्धार्चनं कुर्यादाधानादि क्रियाविधौ।

क्रियामंत्रास्त एतेस्युराधनादिक्रियाविधौ।
सूत्रे गणधरोद्धार्ये यान्ति साधनमंत्रताम्॥७८॥
संध्यास्वग्नित्रये देवपूजने नित्यकर्मणि।
भवन्त्याहु तिमंत्राश्च त एते विधिसाधिता:॥७९॥
साधारणास्त्विमे मंत्रा: सर्वत्रैव क्रियाविधौ।
यथासंभवमुन्नेष्ये विशेषविषयांश्च तान्॥९१॥
क्रियामंत्रास्त्विह ज्ञेया ये पूर्वमनुवर्णिता:।
सामान्यविषया: सप्त पीठिकामंत्ररूढय:॥२१५॥
ते हि साधारणा: सर्वक्रियासु विनियोगिन:।
तत उत्सर्गिकानेतान्मंत्रान्मंत्रविदो विदु:॥२१६॥
विशेषविषया मंत्रा: क्रियासूक्तासु दार्शिता:।
इत: प्रभृति चाभ्यूह्यास्ते यथाम्नायमग्रजै:॥२१७॥
मंत्रानिमान्यथा योग्यं य: क्रियासु विनियोजयेत्।
स लोके सम्मतिं याति युक्ताचारो द्विजोत्तम:॥२१८॥ -४०वाँ पर्व।

इन वाक्यों से आदिपुराण-वर्णित मंत्रों का खास तौर से महत्त्व पाया जाता है और यह मालूम होता है कि वे जैन आम्नायानुसार ख़सूसियत के साथ इन क्रियाओं के मंत्र हैं। गणधर-रचित सूत्र (उपासकाध्ययन) अथवा परमागम में उन्हें 'साधनमंत्र' कहा है- क्रियाएँ उनके द्वारा सिद्ध होती हैं ऐसा प्रतिपादन किया है- और इसलिये सब क्रियाओं में उनका यथायोग्य विनियोग होना चाहिए। एक दूसरी जगह भी इस विनियोग की प्रेरणा करते हुए लिखा है कि 'जैनमत' में इन मंत्रों का सब क्रियाओं में विनियोग माना गया है, अत: श्रावकों को चाहिए कि वे व्यामोह अथवा भ्रम छोड़कर नि:संदेह रूप से इन मंत्रों का सर्वत्र प्रयोग करें। यथा-

विनियोगस्तु सर्वासु क्रियास्वेषां मतो जिनै:।
अव्यामोहादतस्तज्ज्ञै: प्रयोज्यास्त उपासकै:॥३८-७५॥

परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी, भट्टारकजी ने इन दोनों प्रकार के सनातन और यथाम्नाय[२८] मंत्रों में से किसी भी प्रकार के मंत्र का यहाँ[२९] प्रयोग नहीं किया, बल्कि दूसरे ही मंत्रों का व्यवहार किया है जो आदिपुराण से बिल्कुल ही विलक्षण अथवा भिन्न टाइप के मंत्र हैं।[३०] इससे अधिक भगवज्जिनसेन का और उनके वचनानुसार जैनागम का भी विरोध और क्या हो सकता है? मैं तो इसे

---

२८. आदिपुराण में 'तन्मंत्रास्तु यथाम्नायं' आदि पद्य के द्वारा इन मंत्रों को जैन आम्नाय के मंत्र बतलाया है।

२९. पाँचवें अध्याय में, नित्यपूजन के मंत्रों का विधान करते हुए सिर्फ एक प्रकार के पीठिका मंत्र दिये हैं परन्तु उन्हें भी उनके असली रूप में नहीं दिया, बदलकर रखा है, सब मंत्रों के शुरू में ॐ जोड़ा गया है और कितने ही मंत्रों में 'नम:' आदि शब्दों के द्वित्व प्रयोग की जगह एकत्व का प्रयोग किया गया है। इसी तरह और भी कुछ न्यूनाधिकता की गई है। आदिपुराण के मंत्र जँचे तुले श्लोकों में बद्ध हैं।

भगवज्जिनसेन की खासी अवहेलना और साथ ही जनसाधारण की अच्छी प्रतारणा (वंचना) समझता हूँ। अस्तु, भगवज्जिनसेन ने 'मंत्रास्त एव धर्म्याः स्युर्ये क्रियासु विनियोजिताः' इस ३९वें पर्व के वाक्य द्वारा उन्हीं मंत्रों को 'धर्म्यमंत्र' प्रतिपादन किया है जो उक्त प्रकार से क्रियाओं में नियोजित हुए हैं, और इसलिये भट्टारक जी के मंत्रों को 'अधर्म्य मंत्र' अथवा 'झूठे मंत्र' कहना चाहिए। जब उनके द्वारा प्रयुक्त हुए मंत्र वास्तव में उन क्रियाओं के मंत्र ही नहीं, तब उन क्रियाओं से लाभ भी क्या हो सकता है? बल्कि झूठे मंत्रों का प्रयोग साथ में होने की वजह से कुछ बिगाड़ हो जाये तो आश्चर्य नहीं।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि त्रिवर्णाचार में जो क्रिया-मंत्र दिये हैं वे आदिपुराण से पहले के बने हुए किसी भी ग्रन्थ में नहीं पाये जाते, और आदिपुराण से यह स्पष्ट मालूम हो रहा है कि उसमें जो क्रिया-मंत्र दिये हैं वे ही इन क्रियाओं के असली, आगमकथित, सनातन और जैनाम्नायी मंत्र हैं। ऐसी हालत में त्रिवर्णाचार वाले मंत्रों की बाबत यही नतीजा निकलता है कि वे आदिपुराण से बहुत पीछे के बने हुए हैं। उनकी अथवा उन जैसे मंत्रों की कल्पना भट्टारकी युग में-संभवतः १२वीं से १५वीं शताब्दी तक के मध्यवर्ती किसी समय में हुई है, ऐसा जान पड़ता है।

(ञ) अध्याय के अंत में, 'पुस्तकग्रहण' क्रिया के बाद, भट्टारकजी ने एक पद्य निम्न प्रकार से दिया है-

[31]गर्भाधानसुमोदपुंसवनकाः सीमन्तजन्माभिधा
बाह्येसुयानभोजने च गमनं चौलाक्षराभ्यासनम्।
सुप्रीतिः प्रियसूद्भवो गुरुमुखाच्छास्त्रस्यसंग्राहणं
एताः पंचदश क्रियाः समुदिता अस्मिन् जिनेन्द्रागमे॥१८२॥

इसमें अध्याय-वर्णित क्रियाओं की उनके नाम के साथ गणना करते हुए, कहा गया है कि 'ये पंद्रह क्रियाएँ इस जिनेन्द्रागम में भले प्रकार से कथन की गई हैं' परन्तु क्रियाओं के जो नाम यहाँ दिये हैं वे चौदह हैं-१. गर्भाधान, २. मोद, ३. पुंसवन, ४. सीमन्त, ५. जन्म, ६. अभिधा (नाम), ७. बहिर्यान ८. भोजन, ९. गमन, १०. चौल, ११. अक्षराभ्यास, १२. सुप्रीति, १३. प्रियोद्भव तथा १४. शास्त्रग्रहण और अध्याय में जिन क्रियाओं का वर्णन किया गया है उनकी संख्या उन्नीस है। प्रीति,

---

३०. उदाहरण के तौर पर 'निषद्या' क्रिया के मंत्र को लीजिये। आदिपुराण में 'सत्यजाताय नमः' आदि पीठिका मंत्रों के अतिरिक्त इस क्रिया का जो विशेष मंत्र दिया वह है-''दिव्यसिंहासनभागी भव, विजयसिंहासनभागी भव, परमसिंहासनभागी भव''। और त्रिवर्णाचार में जो मंत्र दिया है वह है-''ॐ ह्रीं अर्हं अ सि आ उ सा बालकमुपवेशयामि स्वाहा''। दोनों में कितना अंतर है इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। एक उत्तम आशीर्वादात्मक अथवा भावनात्मक है तो दूसरा महज सूचनात्मक है कि मैं बालक को बिठलाता हूँ। प्रायः ऐसी ही हालत दूसरे मंत्रों की समझनी चाहिए।

३१. इस पद्य के अनुवाद में सोनीजी ने जो व्यर्थ की खींचातानी की है वह सहृदय विद्वानों को अनुवाद के देखते ही मालूम पड़ जाती है। उस पर यहाँ कुछ टीका टिप्पणी करने की जरूरत नहीं है।

निषद्या (उपवेशन), व्युष्टि, कर्णवेधन और आन्दोलारोपण नाम की क्रियाओं का यहाँ तो वर्णन है, परन्तु यहाँ गणना के अवसर पर उन्हें बिल्कुल ही भुला दिया है। इससे आपका महज वचन विरोध ही नहीं पाया जाता, बल्कि यह भी आपकी ग्रन्थ रचना की विलक्षणता का एक अच्छा नमूना है और इस बात को जाहिर करता है कि आपको अच्छी तरह से ग्रन्थ रचना करना नहीं आता था। इतने पर भी खेद है कि, आप अपने इस ग्रन्थ को 'जिनेन्द्रागम' बतलाते हैं! जो ग्रन्थ प्रतिज्ञाविरोध, आगमविरोध, आम्नायविरोध, ऋषि-वाक्यविरोध, सिद्धान्तविरोध, पूर्वापरविरोध, युक्तिविरोध और क्रमविरोध आदि दोषों को लिये हुए है, साथ ही चोरी के कलंक से कलंकित है, उसे 'जिनेन्द्रागम' बतलाते हुए आपको जरा भी लज्जा तथा शर्म नहीं आई![३२] इससे अधिक धृष्टता और धूर्तता और क्या हो सकती है? यदि ऐसे हीन ग्रन्थ भी 'जिनेन्द्रागम' कहलाने लगें तब तो जिनेन्द्रागम की अच्छी खासी मिट्टी पलीद हो जाये और उसका कुछ भी महत्त्व न रहे। इसीलिए ऐसे छद्मवेषधारी ग्रन्थों के नग्न रूप को दिखलाकर उनसे सावधान करने का यह प्रयत्न किया जा रहा है।

(ट) त्रिवर्णाचार के ९वें अध्याय में, 'यज्ञोपवीतसत्कर्म वक्ष्ये नत्वा गुरुक्रमात्' इस वाक्य के द्वारा गुरु परम्परा के अनुसार यज्ञोपवीत (उपनीति) क्रिया के कथन की विशेष प्रतिज्ञा करते हुए, निम्न पद्य दिये हैं-

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥३॥
ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पंचमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येह्वार्थिनोऽष्टमे॥४॥
[३३]आषोडशाच्च (दा) द्वाविंशच्चतुर्विंशात्तु (च्च) वत्सरात्।
ब्रह्मक्षत्रविशां कालो ह्युपनयनजः (ल औपनायनिकः) परः॥५॥
अत ऊर्ध्वं पतन्त्येते सर्वधर्मबहिष्कृताः।
प्रतिष्ठादिषु कार्येषु न योज्या ब्राह्मणोत्तमैः॥६॥

इन पद्यों में से पहले पद्य में उपनयन के साधारण काल का, दूसरे में विशेष काल का, तीसरे में काल की उत्कृष्ट मर्यादा का और चौथे में उत्कृष्ट मर्यादा के भीतर भी यज्ञोपवीत संस्कार न होने के फल का उल्लेख किया गया है और इस तरह पर चारों पद्यों में यह बतलाया गया है कि- 'गर्भ से आठवें वर्ष ब्राह्मण का, ग्यारहवें वर्ष क्षत्रिय का और बारहवें वर्ष वैश्य का यज्ञोपवीत संस्कार होना चाहिए। परंतु जो ब्राह्मण (विद्याध्ययनादि द्वारा) ब्रह्मतेज का इच्छुक हो उसका गर्भ से पाँचवें वर्ष,

३२. हाँ, सोनीजी को अनुवाद के समय कुछ झिझक जरूर पैदा हुई है और इसलिये उन्होंने 'जिनेन्द्रागम' को 'अध्याय' में बदल दिया है।

३३. इस पद्य में ब्रैकिटों के भीतर जो पाठभेद दिया है वह पद्य का मूल पाठ है जो अनेक ग्रन्थों में उल्लेखित मिलता है और जिसे संभवतः यहाँ बदल कर रखा है।

राज्यबल के अर्थी क्षत्रिय का छठे वर्ष और व्यापारादि द्वारा अपना उत्कर्ष चाहने वाले वैश्य का आठवें वर्ष उक्त संस्कार किया जाना चाहिए। इस संस्कार की उत्कृष्ट मर्यादा ब्राह्मण के लिये १६ वर्ष तक, क्षत्रिय के लिये २२ वर्ष तक और वैश्य के लिये २४ वर्ष तक की है। इस मर्यादा तक भी जिन लोगों का उपनयन संस्कार न हो पावे, वे अपनी अपनी मर्यादा के बाद पतित हो जाते हैं, किसी भी धर्म कर्म के अधिकारी नहीं रहते, उन्हें सर्व धर्मकार्यों से बहिष्कृत समझना चाहिए और इसलिए ब्राह्मणों को चाहिए कि वे प्रतिष्ठादि धर्मकार्यों में उनकी योजना न करें'।

यह सब कथन भी भगवज्जिनसेन के विरुद्ध है। आदिपुराण में वर्णभेद से उपनयन काल में कोई भेद ही नहीं किया, सबके लिये गर्भ से आठवें वर्ष का एक ही उपनयन का साधारण काल रखा गया है। यथा–

क्रियोपनीतिर्नामाऽस्य वर्षे गर्भाष्टमे मता।
यत्रापनीतकेशस्य मौञ्जी सव्रतबन्धना॥३८-१०४॥

और यह बात जैन नीति के भी विरुद्ध है कि जिन लोगों का उक्त मर्यादा के भीतर उपनयन संस्कार न हुआ हो उन्हें सर्व धर्म-कृत्यों से बहिष्कृत और वंचित किया जाये अथवा धर्मसेवन के उनके सभी अधिकारों को छीन लिया जाये। जैनधर्म का ऐसा न्याय नहीं है और न उसमें उपनयन संस्कार को इतना महत्त्व ही दिया गया है कि उसके बिना किसी भी धर्म-कर्म के करने का कोई अधिकारी ही न रहे। उसमें धर्मसेवन के अनेक मार्ग बतलाये गये हैं, जिनमें उपनयन संस्कार भी एक मार्ग है अथवा एक मार्ग में दाखिल है। जैनी बिना यज्ञोपवीत संस्कार के भी पूजन, दान, स्वाध्याय, तप और संयम जैसे धर्म-कृत्यों का आचरण कर सकते हैं, करते हैं और करते आए हैं, श्रावक के बारह व्रतों का भी वे खण्डशः अथवा पूर्णरूप से पालन कर सकते हैं। और अंत में सल्लेखना व्रत का भी अनुष्ठान कर सकते हैं। प्रतिष्ठाकार्यों में भी बड़े-बड़े प्रतिष्ठाचार्यों द्वारा ऐसे लोगों की नियुक्ति देखी जाती है जिनका उक्त मर्यादा के भीतर यज्ञोपवीत संस्कार नहीं हुआ होता। यदि उक्त मर्यादा से ऊपर का कोई भी अजैन जैनधर्म की शरण में आए तो जैनधर्म उसका यह कहकर कभी त्याग नहीं कर सकता कि ''मर्यादा के भीतर तुम्हारा यज्ञोपवीत संस्कार नहीं हुआ इसलिये अब तुम इस धर्म को धारण तथा पालन करने के अधिकारी नहीं रहे''। ऐसा कहना और करना उसकी नीति तथा सिद्धान्त के विरुद्ध है। वह खुशी से उसे अपनाएगा, अपनी दीक्षा देगा और जरूरत समझेगा तो उसके लिये यज्ञोपवीत का भी विधान करेगा। इसी तरह पर एक जैनी, 'जो उक्त मर्यादा तक अव्रती अथवा धर्म-कर्म से पराङ्मुख रहा हो, अपनी भूल को मालूम करके श्रावकादि के व्रत लेना चाहे तो जैनधर्म उसके लिये भी यथायोग्य व्यवस्था करेगा। उसका मर्यादा के भीतर यज्ञोपवीत संस्कार से संस्कारित न होना, उसमें कुछ भी बाधक न होगा। और इन सब बातों को पुष्ट करने के लिये जैन शास्त्रों के सैकड़ों कथन, उपकथन और उदाहरण उद्धृत किये जा सकते हैं, जिनकी यहाँ पर कोई जरूरत मालूम नहीं होती। अतः भट्टारकजी का उक्त लिखना जैनधर्म की नीति और प्रकृति के विरुद्ध है। वह हिन्दूधर्म

की शिक्षा को लिये हुए है। भट्टारकजी के उक्त पद्य भी हिन्दू धर्म की चीज हैं– पहले दोनों पद्य 'मनु' के वचन हैं और वे 'मनुस्मृति' के दूसरे अध्याय में क्रमशः नं० ३६, ३७ पर ज्यों के त्यों दर्ज हैं, तीसरा पद्य और चौथे पद्य का पूर्वार्द्ध दोनों 'याज्ञवल्क्य' ऋषि के वचन हैं और 'याज्ञवल्क्यस्मृति' के पहले अध्याय में क्रमशः नं० ३७ तथा ३८ पर दर्ज हैं। रहा चौथे पद्य का उत्तरार्द्ध, वह भट्टारकजी की प्रायः अपनी रचना जान पड़ता है और याज्ञवल्क्यस्मृति के 'सावित्रीपतिता व्रात्या व्रात्यस्तोमादृते क्रतोः' इस उत्तरार्द्ध के स्थान में बनाया गया है।

यहाँ पर पाठकों की समझ में यह बात सहज ही आ जायेगी कि जब भट्टारकजी ने गुरुपरम्परा के अनुसार कथन करने की प्रतिज्ञा की तब उसके अनन्तर ही आपका 'मनु' और 'याज्ञवल्क्य' के वाक्यों को उद्धृत करना इस बात को साफ सूचित करता है कि आपकी गुरु परम्परा में मनु और याज्ञवल्क्य जैसे हिन्दू ऋषियों का खास स्थान था। आप बाहर अपने भट्टारकी वेष में भले ही, जैनी तथा जैन-गुरु बने हुए, अजैन गुरुओं की निन्दा करते हों और उनकी कृतियों तथा विधियों को अच्छा न बतलाते हों परन्तु आपका अन्तरंग उनके प्रति झुका हुआ जरूर था, इसमें संदेह नहीं, और यह आपका मानसिक दौर्बल्य था जो आपको उन अजैन गुरुओं या हिन्दू ऋषियों के वाक्यों अथवा विधि-विधानों का प्रकट रूप से अभिनन्दन करने का साहस नहीं होता था और इसीलिये आपको छल करना पड़ा। आपने जैनी होने के कारण, 'गुरुक्रमात्' पद के प्रयोग द्वारा अपने पाठकों को यह विश्वास दिलाया कि आप जैन गुरुओं की (जिनसेनादि की) कथन परम्परा के अनुसार यज्ञोपवीत क्रिया का कथन करते हैं परंतु कथन किया आपने 'मनु' और 'याज्ञवल्क्य' जैसे हिन्दू ऋषियों की परम्परा के अनुसार, उनके वचनों तक को उद्धृत करके। यही आपका छल है, यही धोखा है और इसे आपकी ठगविद्या का एक खासा नमूना समझना चाहिए।

इस क्रिया के वर्णन में नान्दीश्राद्ध और पिप्पलपूजनादिक की और भी कितनी ही विरुद्ध बातें ऐसी हैं जो हिन्दू धर्म से ली गई हैं और जिनमें से कुछ का विचार आगे किया जायेगा।

(ठ) 'व्रतचर्या' क्रिया का कथन यद्यपि, भट्टारकजी ने आदि पुराण के पद्यों में ही दिया है परन्तु इस कथन के 'यावद्विद्यासमाप्तिः' (७७) तथा 'सूत्रमौपासिकं' (७८) नाम के दो पद्यों को आपने 'व्रतावतरण' क्रिया का कथन करते हुए उसके मध्य में दे दिया है, जहाँ वे असंगत जान पड़ते हैं। और इन पद्यों के अनन्तर के निम्न दो पद्यों को बिल्कुल ही छोड़ दिया है–उसका आशय भी नहीं दिया–

शब्दविद्याऽर्थशास्त्रादि चाध्येयं नाऽस्य दूष्यते।
सुसंस्कारप्रबोधाय वैयात्यख्यातयेऽपि च॥३८-११९॥
ज्योतिर्ज्ञानमथ छन्दो ज्ञानं ज्ञानं च शाकुनम्।
संख्याज्ञानमितीदं च तेनाध्येयं विशेषतः॥१२०॥

इन पद्यों को छोड़ देने अथवा इनका आशय भी न देने से प्रकृत क्रिया के अभ्यासी के लिये उपासकसूत्र और अध्यात्मशास्त्र के पढ़ने का ही विधान रह जाता है। परंतु इन पद्यों द्वारा उसके लिये

व्याकरण शास्त्र, अर्थशास्त्रादिक, ज्योतिःशास्त्र, छन्दःशास्त्र, शकुनशास्त्र और गणित-शास्त्र के अध्ययन का भी सविशेष रूप से विधान पाया जाता है,[३४] जिसे भट्टारकजी ने शायद अनुपयोगी समझा हो। इसी तरह पर 'व्रतावतरण' क्रिया के कथन में, 'व्रतावतरणं चेदं' से पहले के निम्न दो पद्यों को भी आपने छोड़ दिया है, जिसमें से दूसरा पद्य जो 'सार्वकालिक व्रत' का उल्लेख करने वाला है, खासतौर से जरूरी था–

ततोऽस्याधीतविद्यस्य व्रतवृत्त्यवतारणम्।
विशेषविषयं तच्च स्थितस्यौत्सर्गिके व्रते॥१२२॥
मधुमांसपरित्यागः पंचोदुम्बरवर्जनम्।
हिंसादिविरतिश्चास्य व्रतं स्यात्सार्वकालिकम्॥१२३॥

इन पद्यों के न होने से 'व्रतावतरणं चेदं' नाम का पद्य असम्बद्ध जान पड़ता है–'यावद्विद्या समाप्तिः' आदि पूर्व पद्यों के साथ उसका कोई सम्बन्ध ही ठीक नहीं बैठता। और 'वस्त्राभरण' नाम का उत्तर पद्य भी, आदिपुराण के पद्य नं० १२५ और १२६ के उत्तरार्द्ध तथा पूर्वार्द्ध को मिलाकर बनाए जाने से कुछ बेढंगा हो गया है, जिसका उल्लेख ग्रन्थ के संग्रहत्व का दिग्दर्शन कराते हुए किया जा चुका है। इसके सिवाय, भट्टारकजी ने व्रतावतरण क्रिया का निम्न पद्य भी नहीं दिया और न उसके आशय का ही अपने शब्दों में उल्लेख किया है, जिसके अनुसार 'कामब्रह्मव्रत' का अवतार (त्याग) उस वक्त तक नहीं होता, वह बना रहता है, जब तक कि विवाह नाम की उत्तर क्रिया नहीं हो लेती–

भोगब्रह्मव्रतादेवमवतीर्णो भवेत्तदा।
कामब्रह्मव्रतं चास्य तावद्यावत्क्रियोत्तरा॥१२७॥

यही सब इस ग्रन्थ की दोनों (व्रतचर्या और व्रतावतरण) क्रियाओं का आदिपुराण के साथ विरोध है। मालूम नहीं जब इन क्रियाओं को प्रायः आदिपुराण के शब्दों में ही रखना था तो फिर यह व्यर्थ की गड़बड़ी क्यों की गई और क्यों दोनों क्रियाओं के कथन में यह असामंजस्य उत्पन्न किया गया!! भट्टारकी लीला के सिवाय इसे और क्या कहा जा सकता है? भट्टारकजी ने तो अध्याय के अंत में जाकर इन क्रियाओं के अस्तित्त्व तक को भुला दिया है और 'इत्थं मौंजीबंधनं पालनीयं' आदि पद्य के द्वारा इन क्रियाओं के कथन को भी मौंजीबंधन का, यज्ञोपवीत क्रिया का ही कथन बतला दिया है!! इसके सिवाय, एक बात और भी जान लेने की है और वह यह कि श्रावकाचार अथवा श्रावकीय व्रतों का जो उपदेश 'व्रतचर्या' क्रिया के अवसर पर होना चाहिए था[३५] उसे भट्टारकजी ने 'व्रतावतरण' क्रिया के भी बाद, दसवें अध्याय में दिया है और व्रतचर्या के कथन में वैसा करने की कोई सूचना

---

३४. पं० पन्नालाल जी सोनी ने भी इस विधान का अपने अनुवाद में उल्लेख किया है परन्तु आपसे यह सख्त गलती हुई जो आपने 'यावद्विद्या समाप्तिः' आदि चारों ही पद्यों को व्रतावतरण क्रिया के पद्य बतला दिया है। आपके ''इसी (व्रतावतरण) क्रिया में यह और भी बतलाया है'' शब्द बहुत खटकते हैं।

तक भी नहीं दी। ये सब बातें आपके रचना विरोध और उसके बेढंगेपन को सूचित करती हैं। आपको कम से कम 'व्रतावतरण' क्रिया को दसवें अध्याय के अंत में, अथवा ग्यारहवें के शुरू में विवाह से पहले देना चाहिए था। इस प्रकार का रचना सम्बन्धी विरोध अथवा बेढंगापन और भी बहुत से स्थानों पर पाया जाता है, और वह सब मिलकर भट्टारकजी की ग्रन्थरचना-सम्बन्धी योग्यता को चौपट किये देता है।

(ङ) त्रिवर्णाचार के ग्यारहवें अध्याय में, तैंतीस क्रियाओं में से सिर्फ 'विवाह' नाम की क्रिया का वर्णन है और उसका प्रारम्भ करते हुए एक पद्य निम्न प्रकार से दिया है-

जिनसेनमुनिं नत्वा वैवाहविधिमुत्सवम्।
वक्ष्ये पुराणमार्गेण लौकिकाचारसिद्धये॥२॥

इस पद्य में जिनसेन मुनि को नमस्कार करके पुराण के अनुसार विवाह विधि के कथन करने की प्रतिज्ञा की गई है और इस तरह पर पूर्वप्रतिज्ञाओं की मौजूदगी में आवश्यकता न होते हुए भी इस प्रतिज्ञा द्वारा सविशेष रूप से यह घोषणा की गई है अथवा विश्वास दिलाया गया है कि इस क्रिया का सब कथन भगवज्जिनसेन के आदिपुराणानुसार किया जाता है। परन्तु अध्याय के जब पत्र पलटते हैं तो नक्शा बिल्कुल ही बदला हुआ नजर आता है और यह मालूम होने लगता है कि अध्याय में वर्णित अधिकांश बातों का आदिपुराण के साथ प्रायः कोई सम्बन्ध विशेष नहीं है। बहुत सी बातें हिन्दूधर्म के आचार-विचार को लिये हुए हैं हिन्दुओं की रीतियाँ, विधियाँ अथवा क्रियाएँ हैं और कितनी ही लोक में इधर-उधर प्रचलित अनावश्यक रूढ़ियाँ हैं, जिन सबका एक बेढंगा संग्रह यहाँ पर किया गया है। इस संग्रह से भट्टारकजी का अभिप्राय उक्त प्रकार की सभी बातों को जैनियों के लिये शास्त्रसम्मत करार देने अथवा उन्हें जैनों की शास्त्राज्ञा प्राप्त करा देने का जान पड़ता है, और यह बात आपके 'लौकिकाचारसिद्धये' पद से भी ध्वनित होती है। आप 'लौकिकाचार' के बड़े ही अंधभक्त थे ऐसा जान पड़ता है, बूढ़ी स्त्रियाँ जो कुछ बतलाएँ उन सब क्रियाओं तक को बिना चूँ चरा करने की आपने परवानगी दी है और एक दूसरी जगह तो, जिसका विचार आगे किया जायेगा, आप यहाँ तक लिख गये हैं कि 'एवं कृते न मिथ्यात्वं लौकिकाचारवर्तनात्' अर्थात्, ऐसा करने से मिथ्यात्व का दोष नहीं लगता, क्योंकि यह तो लोकाचार का वर्तना है। आपकी इस अद्‌भुत तर्कणा और अंधभक्ति का ही यह परिणाम है जो आप बिना विवेक के कितने ही विरुद्ध आचरणों तथा मिथ्या क्रियाओं को अपने ग्रन्थ में स्थान दे गये हैं, और इसी तरह पर कितनी ही देश, काल, इच्छा तथा शक्ति आदि पर निर्भर रहने वाली वैकल्पिक या स्थानिकादि बातों को सबके लिये अवश्यकरणीयता का रूप प्रदान कर गये हैं। परन्तु इन बातों को छोड़िये, यहाँ पर मैं सिर्फ इतना ही बतलाना चाहता हूँ कि

---

३५. व्रतचर्या के अवसर पर उपासकाध्ययन के उपदेशों का संक्षेप में संग्रह होता है, यह बात आदिपुराण के निम्न वाक्य से भी प्रकट है-

अथातोऽस्य प्रवक्ष्यामि व्रतचर्यामनुक्रमात्। स्याद्यत्रोपासकाध्यायः समासेनानुसंहृतः॥४०-१६५॥

आदिपुराण में विवाह-क्रिया का कथन, यद्यपि सूत्ररूप से बहुत ही संक्षेप में दिया है परन्तु जो कुछ दिया है वह सार कथन है और त्रिवर्णाचार का कथन उससे बहुत कुछ विरोध को लिये हुए है। नीचे इस विरोध का ही कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है, जिसमें प्रसंगवश दो चार दूसरी बातें भी पाठकों के सामने आ जायेंगी–

१. भट्टारकजी, सामुद्रकशास्त्रादि के अनुसार विवाहयोग्य कन्या का वर्णन[३६] करते हुए, लिखते हैं–

इत्थं लक्षणसंयुक्तां षडष्टराशिवर्जिताम्।
वर्णविरुद्धसंत्यक्तां सुभगां कन्यकां वरेत्॥३५॥

इस पद्य में, अन्य बातों को छोड़कर, एक बात यह कही गई है कि जो कन्या विवाही जाये वह वर्ण-विरोध से रहित होनी चाहिए–अर्थात्, असवर्णा न हो किन्तु सवर्णा हो। परन्तु यह नियम आदिपुराण के विरुद्ध है। आदिपुराण में त्रैवर्णिक के लिये सवर्णा और असवर्णा दोनों ही प्रकार की कन्याएँ विवाह के योग्य बतलाई हैं। उसमें साफ लिखा है कि वैश्य अपने वर्ण की और शूद्र वर्ण की कन्या से, क्षत्रिय अपने वर्ण की और वैश्य तथा शूद्र वर्ण की कन्याओं से और ब्राह्मण चारों ही वर्ण की कन्याओं से विवाह कर सकता है। सिर्फ शूद्र के लिये ही यह विधान है कि वह शूद्रा अर्थात् सवर्णा से ही विवाह करे असवर्णा से नहीं। यथा–

शूद्रा शूद्रेण वोढव्या नान्या स्वां तां च नैगमः।
वहेत्स्वां ते च राजन्यः स्वां द्विजन्मा क्वचिच्च ताः॥१६-४७॥

इस पूर्वविधान को ध्यान में रखकर ही आदिपुराण में विवाह-क्रिया के अवसर पर यह वाक्य कहा गया है कि 'वैवाहिके कुले कन्यामुचितां परिणेष्यते' अर्थात् विवाह योग्य कुल में से उचित कन्या का परिणयन करे। यहाँ कन्या का 'उचिता' विशेषण बड़ा ही महत्वपूर्ण, गम्भीर तथा व्यापक है और उन सब त्रुटियों को दूर करने वाला है जो त्रिवर्णाचार में प्रयुक्त हुए सुभगा, सुलक्षणा, अन्यगोत्रभवा, अनातङ्का , आयुष्मती, गुणाढ्या, पितृदत्ता और रूपवती आदि विशेषणों में पाई जाती हैं। उदाहरण के लिये 'रूपवती' विशेषण को ही लीजिये। यदि रूपवती कन्याएँ ही विवाह के योग्य हों तब 'कुरूपा' सब ही विवाह के अयोग्य ठहरें। उनका तब क्या बनाया जाये? क्या उनसे जबरन ब्रह्मचर्य का पालन कराया जाये अथवा उन्हें वैसे ही व्यभिचार के लिये छोड़ दिया जाये? दोनों ही बातें अनिष्ट तथा अन्यायमूलक हैं। परन्तु एक कुरूपा का उसके अनुरूप कुरूप वर के साथ विवाह हो जाना अनुचित नहीं कहा जा सकता–उस कुरूप के लिये वह कुरूपा 'उचिता' ही है। अतः विवाहयोग्य कन्या 'रूपवती' ही हो ऐसा व्यापक नियम कदापि आदरणीय तथा व्यवहरणीय नहीं हो सकता, वह

---

३६. इस वर्णन में 'सामुद्रिक' के अनुसार कन्याओं अथवा स्त्रियों के जो लक्षण फलसहित दिये हैं वे फल दृष्टि से बहुत कुछ आपत्ति के योग्य हैं, कितने ही प्रत्यक्षविरुद्ध हैं और कितने ही दूसरे सामुद्रिक शास्त्रों के साथ विरोध को लिये हुए हैं, उन सब पर विचार करने का यहाँ अवसर नहीं है। इसलिये उनके विचार को छोड़ा जाता है।

व्यक्तिविशेष के लिये ही उपयोगी पड़ सकता है। इसी तरह पर 'पितृदत्ता' आदि दूसरे विशेषणों की त्रुटियों का भी हाल जानना चाहिए।

भट्टारकजी उक्त पद्य के बाद एक दूसरा पद्य निम्न प्रकार से देते हैं–

रूपवती स्वजातीया स्वतो लघ्वन्यगोत्रजा।
भोक्तुं भोजयितुं योग्या कन्या बहुकुटुम्बिनी॥३६॥

यहाँ विवाह योग्य कन्या का एक विशेषण दिया है 'स्वजातीया', अपनी जाति की और यह विशेषण 'सवर्णा' का ही पर्यायनाम जान पड़ता है, क्योंकि 'जाति' शब्द 'वर्ण' अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। आदिपुराण में भी वह बहुधा 'वर्ण' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, मूल जातियाँ भी वर्ण ही हैं। परन्तु कुछ विद्वानों का कहना है कि यह विशेषण पद अग्रवाल, खण्डेलवाल आदि उपजातियों के लिये प्रयुक्त हुआ है और इसके द्वारा अपनी-अपनी उपजाति की कन्या से ही विवाह करने को सीमित किया गया है। अपने इस कथन के समर्थन में उन लोगों के पास एक युक्ति भी है और वह यह कि यदि इस पद्य का आशय सवर्णा का ही होता तो उसे यहाँ देने की जरूरत ही न होती, क्योंकि भट्टारकजी पूर्व पद्य में इसी आशय को 'वर्ण विरुद्ध संत्यक्तां' पद के द्वारा व्यक्त कर चुके हैं, वे फिर दोबारा उसी बात को क्यों लिखते? परन्तु इस युक्ति में कुछ भी दम नहीं है। कहा जा सकता है कि एक पद्य में जो बात एक ढंग से कही गई है वही दूसरे पद्य में दूसरे ढंग से बतलाई गई है। इसके सिवाय, भट्टारकजी का सारा ग्रन्थ पुनरुक्तियों से भरा हुआ है, वे इतने सावधान नहीं थे जो ऐसी बारीकियों पर ध्यान देते, उन्होंने इधर-उधर से ग्रन्थ का संग्रह किया है और इसलिये उसमें बहुत-सी पुनरुक्तियाँ हो गई हैं। उदाहरण के लिये इसी अध्याय को लीजिये, इसके तीसरे पद्य में आप विवाह-योग्य कन्या का विशेषण 'अन्यगोत्रभवा' देते हैं और उक्त पद्य नं० ३६ में 'अन्यगोत्रजा' लिखते हैं, दोनों में कौनसा अर्थ-भेद है? फिर यह पुनरुक्ति क्यों की गई? इसी तरह पर १९०वें पद्य में 'ऊर्ध्वं विवाहात्तनयस्य नैव कार्यो विवाहो दुहितुः समार्धम्' इस वाक्य के द्वारा जो 'पुत्र-विवाह से छह महीने बाद तक पुत्री का विवाह न करने की' बात कही गई है वही १९२वें पद्य में 'न पुंविवाहोर्ध्वमृतुत्रयेऽपि विवाहकार्यं दुहितुश्च कुर्यात्' इन शब्दों में दोहराई गई है। ऐसी हालत में उक्त हेतु साध्य की सिद्धि करने में असमर्थ है। फिर भी यदि वैसे ही यह मान लिया जाये कि भट्टारकजी का आशय इस पद्य के प्रयोग से अपनी-अपनी उपजाति की कन्या से ही था तो कहना होगा कि आपका यह कथन भी आदिपुराण के विरुद्ध है, क्योंकि आदिपुराण में विद्याधर जाति की कन्याओं से ही नहीं किन्तु म्लेच्छ जाति जैसी विजातीय कन्याओं से भी विवाह करने का विधान है। स्वयं भरतजी महाराज ने, जो आदिपुराण वर्णित बहुत से विधिविधानों के उपदेष्टा हुए हैं और एक प्रकार से 'कुलकर' माने गये हैं, ऐसी बहुत-सी कन्याओं के साथ विवाह किया है, जैसा कि आदिपुराण के निम्न पद्यों से प्रकट है–

इत्युपायैरुपायज्ञः साधयन्म्लेच्छभूभुजः।
तेभ्यः कन्यादिरत्नानि प्रभोर्भोग्यान्युपाहरत्॥२१-१४१॥

कुलजात्यभिसम्पन्ना देव्यस्तावत्प्रमाः स्मृताः।
रूपलावण्यकान्तीनां याः शुद्धाकरभूमयः॥३७-३४॥
म्लेच्छराजादिभिर्दत्तास्तावन्त्यो नृपवल्लभाः।
अप्सरः संकथा क्षोणीं यकाभिरवतारिताः॥३७-३५॥

इन पद्यों से यह भी प्रकट है कि स्वजातीय कन्याएँ ही भोगयोग्य नहीं होतीं बल्कि म्लेच्छ जाति तक की विजातीय कन्याएँ भी भोगयोग्य होती हैं, और इसलिये भट्टारकजी का स्वजातीय कन्याओं को ही 'भोक्तुं भोजयितुं योग्या' लिखना ठीक नहीं है, वह आदिपुराण की नीति के विरुद्ध है।

२. एक स्थान पर भट्टारकजी, कन्या के स्वयंवराऽधिकार का नियंत्रण करते हुए लिखते हैं–

पित्रादिदात्रभावे तु कन्या कुर्यात्स्वयंवरम्।
इत्येवं केचिदाचार्याः प्राहुर्महति संकटे॥८३॥

इस पद्य में कन्या को 'स्वयंवर' का अधिकार सिर्फ उस हालत में दिया गया है जबकि उसका पिता, पितामह, भाई आदि कोई भी बांधव कन्यादान करने वाला मौजूद न हो। और साथ ही यह भी कहा गया है कि स्वयंवर की यह विधि कुछ आचार्यों ने महासंकट के समय बतलाई है। परन्तु कौनसे आचार्यों ने बतलाई है ऐसा कुछ लिखा नहीं, भगवज्जिनसेन ने तो बतलाई नहीं। आदिपुराण में स्वयंवर को सम्पूर्ण विवाह-विधियों में 'श्रेष्ठ' (वरिष्ठ) बतलाया है और उसे 'सनातनमार्ग' लिखा है। उसमें राजा अकम्पन की पुत्री 'सुलोचना' सती के जिस स्वयंवर का उल्लेख है वह सुलोचना के पिता आदि की मौजूदगी में ही बड़ी खुशी के साथ सम्पादित हुआ था। साथ ही, भरत चक्रवर्ती ने उसका बड़ा अभिनंदन किया था और उन लोगों को सत्पुरुषों द्वारा पूज्य ठहराया था जो ऐसे सनातन मार्गों का पुनरुद्धार करते हैं। यथा–

सनातनोऽस्ति मार्गोऽयं श्रुतिस्मृतिषु भाषितः।
विवाहविधिभेदेषु वरिष्ठो हि स्वयंवरः॥४४-३२॥
तथा स्वयंवरस्येमे नाभूवन्यद्यकम्पनाः।
कः प्रवर्तयिताऽन्योऽस्य मार्गस्यैष सनातनः॥४५-४५॥
मार्गांश्चिरंतनान्येऽत्र भोगभूमितिरोहितान्।
कुर्वन्ति नूतनान्संतः सद्भिः पूज्यास्त एव हि॥४५-५५॥

ऐसी हालत में भट्टारकजी की उक्त व्यवस्था आदिपुराण के विरुद्ध है और इस बात को सूचित करती है कि आपने आदिपुराण की रीति, नीति अथवा मर्यादा का प्रायः कोई ख्याल नहीं रखा।

३. एक दूसरे स्थान पर भट्टारकजी, विवाह के ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच, ऐसे आठ भेद करके, उनके स्वरूप का वर्णन निम्न प्रकार से देते हैं–

ब्राह्मो दैवस्तथा चा (थैवा) र्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥७०॥

आच्छाद्य चार्ह (चं) यित्वा च व्रतशीलवते स्वयम्।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः॥७१॥
यज्ञे तु वितते सम्यक् जिनार्चा (ऋत्विजे) कर्म कुर्वते।
अलंकृत्य सुतादानं दैवो धर्मः प्रचक्ष्यते॥७२॥
एकं वस्त्रयुगं (गोमिथुनं) द्वे वा वरादादाय धर्मतः।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते॥७३॥
सहोभौ चरतां धर्ममिति तं (वा) चानुभाष्य तु (च)।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः॥७४॥
ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्वा कन्यायै चैव शक्तितः।
कन्याऽऽदानं (प्रदानं) यत्क्रियते च (स्वाच्छन्द्यादा) सुरोधर्म उच्यते॥७५॥
स्वे (इ) च्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसंभवः॥७६॥
हत्वा भित्वा च छित्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात्।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते॥७७॥
सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचः कथितोऽष्टमः (चाष्टमोऽधमः)॥७८॥

विवाह भेदों का यह सब वर्णन आदिपुराण सम्मत नहीं है, उससे नहीं लिया गया, किन्तु हिन्दुओं के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मनुस्मृति' से उठाकर रखा गया है। मनुस्मृति के तीसरे अध्याय में ये सब श्लोक, ब्रैकिटों में दिये हुए पाठभेद के साथ, क्रमशः नं० २१ तथा नं० २७ से ३४ तक दर्ज हैं।[३७] और इसमें 'ऋत्विजे' की जगह 'जिनार्चा' तथा 'गोमिथुनं' की जगह 'वस्त्रयुगं' जैसे पाठभेद भट्टारकजी के किये हुए जान पड़ते हैं।

४. इस विवाह क्रिया में भट्टारकजी ने 'देवपूजन' का जो विधान किया है वह आदिपुराण से बड़ा ही विलक्षण जान पड़ता है। आदिपुराण में इस अवसर के लिये खास तौर पर सिद्धों का पूजन रखा है– जो प्रायः गार्हपत्यादि अग्निकुण्डों में सप्त पीठिका मंत्रों द्वारा किया जाता है और किसी पुण्याश्रम में सिद्ध प्रतिमा के सन्मुख वर और कन्या का पाणिग्रहणोत्सव करने की आज्ञा की है। यथा–

सिद्धार्चनविधिं सम्यग्निवर्त्य द्विजसत्तमः।
कृताग्नित्रयसंपूजाः कुर्युस्तत्साक्षि तां क्रियाम्॥३८-१२९॥

---

३७. देखो 'मनुस्मृति' निर्णय सागर प्रेस बम्बई द्वारा सन् १९०९ की छपी हुई। अन्यत्र भी इसी एडीशन का हवाला दिया गया है।

पुण्याश्रमे क्वचित्सिद्धप्रतिमाभिमुखं तयोः।
दम्पत्योः परया भूत्या कार्यः पाणिग्रहोत्सवः॥१३०॥

परंतु भट्टारकजी ने सिद्धपूजनादि की ऐसी कोई व्यवस्था नहीं की। आपने व्यवस्था की है जलदेवताओं की गंध, अक्षत, पुष्प तथा फलों से पूजा करने की, घर में वेदी बनाकर उसमें गृहदेवता[३८] की स्थापना करने तथा दीपक जलाने आदि रूप से उसकी पूजा करने की, पंचमंडल और नवग्रह देवताओं के पूजन की, अघोर मंत्र से होम करने की और नागदेवताओं को बलि देने आदि की, जैसा कि आपके निम्न वाक्यों से प्रकट है–

''**फलगन्धाक्षतैः पुष्पैः सम्पूज्य जलदेवताः।**'' (६१)
''**वेद्यां गृहाधिदेवं संस्थाप्य दीपं प्रज्वालयेत्।**'' (६३)
''**पुण्याहवाचनां पश्चात्पञ्चमण्डलपूजनम्।**
नवानां देवतानां च पूजनं च यथाविधि॥१३३॥
तथैवाऽघोरमंत्रेण होमश्च समिधाहुतिम्।
लाजाहुतिं वधूहस्तद्वयेन च वरेण च'' (१३४)
''**शुभे मंडपे दक्षिणीकृत्य तं वै प्रदायाशु नागस्य साक्षाद्बलिं च।**'' (१६४)

इससे साफ जाहिर है कि त्रिवर्णाचार का यह पूजन-विधान आदिपुराण-सम्मत नहीं किन्तु भगवज्जिनसेन के विरुद्ध है। रही मंत्रों की बात, उनका प्रायः वही हाल है जो पहले लिखा जा चुका है–आदिपुराण के अनुसार उनकी कोई व्यवस्था नहीं की गई। हाँ, पाठकों को यहाँ पर यह जानने की जरूर इच्छा होगी कि वह अघोरमंत्र कौनसा है, जिससे भट्टारकजी ने विवाह के अवसर पर होम करने का विधान किया है और जिसे 'कुर्याद् होमं सन्मंत्रपूर्वकम्' वाक्य के द्वारा 'सन्मंत्र' तक लिखा है। भट्टारकजी ने इस मंत्र को नहीं दिया परंतु वह जैन का कोई मंत्र न होकर वैदिक धर्म का एक प्रसिद्ध मंत्र जान पड़ता है जो हिन्दुओं की विवाह पुस्तकों में निम्न प्रकार से पाया जाता है और जिसे 'नवरत्न विवाह पद्धति' के छठे संस्करण में अथर्वन् वेद के १४वें काण्ड के ९वें अनु. का १८वाँ मंत्र लिखा है–

ॐ अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवचो
वीरसूर्देवकामास्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।

इस सब विधिविधान से पाठक सहज ही में समझ सकते हैं कि भट्टारकजी हिन्दू धर्म की तरफ कितने झुके हुए थे अथवा उनके संस्कार कितने अधिक हिन्दू धर्म के आचार-विचारों को लिये हुए

---

३८. सोनीजी ने 'गृहाधिदेव' को ''कुल देवता'' समझा है परन्तु यह उनकी भूल है, क्योंकि भट्टारकजी ने चौथे अध्याय में कुल देवता से गृहदेवता को अलग बतलाया है और उसके विश्वेश्वरी, धरणेन्द्र, श्री देवी तथा कुबेर ऐसे चार भेद किये हैं। यथा– विश्वेश्वरीधराधीशश्रीदेवीधनदास्तथा। गृहलक्ष्मीकरा ज्ञेयाश्चतुर्धा वेश्मदेवताः॥२०५॥

थे और वे किस ढंग से जैन समाज को भी उसी रास्ते पर अथवा एक तीसरे ही विलक्षण मार्ग पर चलाना चाहते थे। उन्होंने इस अध्याय में वर का मधुपर्क[३९] से पूजन, वर का ब्राह्मणों को दक्षिणा देकर अपने लिये कन्या वरण की प्रार्थना करना, वधू के गले में वर की दी हुई ताली बाँधना, सुवर्णदान और देवोत्थापन आदि की बहुत-सी बातें हिन्दू धर्म से लेकर अथवा इधर-उधर से उठाकर रखी हैं और उनमें से कितनी ही बातें प्रायः हिन्दू ग्रन्थों के शब्दों में उल्लेखित हुई हैं, जिसका एक उदाहरण 'देवोत्थापन विधि' का निम्न पद्य है-

समे च दिवसे कुर्याद्देवतोत्थापनं बुधः।
षष्ठे च विषमे नेष्टं त्यक्त्वा पंचमसप्तमौ॥१८०॥

यह 'नारद' ऋषि का वचन है। मुहूर्त चिन्तामणि की 'पीयूषधारा' टीका में भी इसे 'नारद' का वचन लिखा है। इसी प्रकरण में भट्टारकजी ने 'विवाहात्प्रथमे पौषे' नाम का एक पद्य और भी दिया है जो 'ज्योतिर्निबन्ध' ग्रन्थ का पद्य है। परंतु उसका इस 'देवोत्थापन' प्रकरण से कोई सम्बन्ध नहीं, उसे इससे पहले 'वधू गृह प्रवेश' प्रकरण में देना चाहिए था, जहाँ 'वधूप्रवेशनं कार्यं' नाम का एक दूसरा पद्य भी 'ज्योतिर्निबंध' ग्रन्थ से बिना नाम धाम के उद्‌धृत किया गया है। मालूम होता है भट्टारकजी को नकल करते हुए इसका कुछ भी ध्यान नहीं रहा! और न सोनी जी को ही अनुवाद के समय इस गड़बड़ी की कुछ खबर पड़ी है!!

५. आदिपुराण में लिखा है कि पाणिग्रहण दीक्षा के अवसर पर वर और वधू दोनों को सात दिन का ब्रह्मचर्य लेना चाहिए और पहले तीर्थ भूमियों आदि में विहार करके, तब अपने घर पर जाना चाहिए। घर पर पहुँचकर कङ्कण खोलना चाहिए और तत्पश्चात् अपने घर पर ही शयन करना चाहिए श्वशुर के घर पर नहीं। यथा-

पाणिग्रहणदीक्षायां नियुक्तं तद्वधूवरम्।
आसप्ताहं धरेद्ब्रह्मव्रतं देवाग्निसाक्षिकम्॥१३२॥
क्रान्त्वा स्वस्योचितां भूमिं तीर्थभूमीर्विहृत्य च।
स्वगृहं प्रविशेद्भूत्या परया तद्वधूवरम्॥१३३॥
विमुक्तकङ्कणं पश्चात्स्वगृहे शयनीयकम्।
अधिशय्य तथाकालं भोगाङ्गैरुपलालितम् ॥१३४॥ ३८ वाँ पर्व

३९. यह मधु (शहद) का एक मिक्सचर (सम्पर्क) होता है, जिसमें दही और घी भी मिला रहता है। हिन्दुओं के यहाँ दान-पूजनादि के अवसरों पर इसकी बड़ी महिमा है। भट्टारकजी ने मधुपर्क के लिये (मधुपर्कार्थ) एक जगह वर को महज दही चटाई है परन्तु सोनीजी को आपकी यह फीकी दही पसन्द नहीं आई और इसलिये उन्होंने पीछे से उसमें 'शक्कर' और मिला दी है और इस तरह पर मधु के स्थान की पूर्ति की है जिसका खाना जैनियों के लिये वर्जित है। यहाँ मधुपर्क के लिये दही का चटाया जाना हिन्दुओं की एक प्रकार की नकल को साफ जाहिर करता है।

परंतु भट्टारकजी ने उन दोनों के ब्रह्मचर्य की अवधि तीन रात की रखी है, गृहप्रवेश से पहले तीर्थयात्रा को जाने की कोई व्यवस्था नहीं की, बल्कि सीधा अपने घर को जाने की बात कही है और यहाँ तक बंध लगाया है कि एक वर्ष तक किसी भी अपूर्व तीर्थ अथवा देवता के दर्शन को न जाना चाहिए, कङ्कणा को प्रस्थान से पहले श्वशुर गृह पर ही खोल देना लिखा है और वहीं पर चौथे दिन दोनों के शयन करने अथवा एक शय्यासन होने की भी व्यवस्था की है। जैसा कि आपके निम्न वाक्यों से प्रकट है–

''तदनन्तरं कङ्कणामोचनं कृत्वा महाशोभया ग्रामं प्रदक्षिणीकृत्य पयःपाननिधुवनादिकं सुखेन कुर्यात्। स्वग्रामं गच्छेत्।[४०]

''विवाहे दम्पती स्यातां त्रिरात्रं ब्रह्मचारिणौ।
अलंकृता वधूश्चैव सहशय्यासनाशनौ॥१७२॥
वध्वा सहैव कुर्वीत निवासं श्र्वशुरालये।
चतुर्थदिनमत्रैव केचिदेवं वदन्ति हि॥१७३॥
''विवाहानंतरं गच्छेत्सभार्यः स्वस्य मन्दिरम्।
यदि ग्रामान्तरे तत्स्यात्तत्र यानेन गम्यते॥१७८॥
[४१]स्नानं सतैलं तिलमिश्रकर्म, प्रेतानुयानं करकप्रदानम्।
अपूर्वतीर्थामरदर्शनं च विवर्जयेन्मङ्गलतोऽब्दमेकम्॥१८९॥

इससे स्पष्ट है कि भट्टारकजी का यह सब कथन आदिपुराण के बिल्कुल विरुद्ध है और उनकी पूरी निरंकुशता को सूचित करता है। साथ ही इस सत्य को और भी उजागर देता है कि श्री जिनसेनाचार्य के वचनानुसार कथन करने की आपकी सब प्रतिज्ञाएँ ढोंग मात्र हैं। आपने उनके सहारे अथवा छल से लोगों को ठगना चाहा है और इस तरह पर धोखे से उन हिन्दू संस्कारों–क्रियाकाण्डों तथा आचार

---

४०. इस वाक्य में ग्राम की प्रदक्षिणा के अनन्तर सुखपूर्वक दुग्धपान तथा स्त्री संभोगादिक (निधुवनादिक) करने का साफ विधान है और उसके बाद स्वग्राम को जाना लिखा है। परन्तु सोनीजी ने अनुवाद में इसके विरुद्ध पहले अपने ग्राम को जाना और फिर वहाँ संभोगादिक करना बतलाया है, जो अगले पद्यों के कथन से भी विरुद्ध पड़ता है। कहीं आदिपुराण के साथ संगति मिलाने के लिये तो ऐसा नहीं किया गया? तब तो कङ्कण भी वहीं स्वग्राम को जाकर खुलवाना था।

४१. इस पद्य में विवाह के बाद अपूर्व तीर्थ तथा देवदर्शन के निषेध के साथ एक साल तक तेल मलकर स्नान करने, तिलों के उपयोग वाला कोई कर्म करने, मृतक के पीछे जाने और करक (कमण्डलु आदि) के दान करने का भी निषेध किया है। मालूम नहीं इन सबका क्या हेतु है? तेल मलकर नहा लेने आदि से कौन-सा पाप चढ़ता है। शरीर में कौन -सी विकृति आ जाती है? तीर्थयात्रा अथवा देवदर्शन से कौन-सी हानि पहुँचती है? आत्मा को उससे क्या अलाभ होता है? और अपने किसी निकट सम्बन्धी की मृत्यु हो जाने पर उसके शव के पीछे न जाना भी कौन सा शिष्टाचार है? जैनधर्म की शिक्षाओं से इन सब बातों का कोई सम्बन्ध मालूम नहीं होता। ये सब प्रायः हिन्दू धर्म की शिक्षाएँ जान पड़ती हैं।

विचारों को समाज में फैलाना चाहा है जिनसे आप स्वयं संस्कृत थे अथवा जिनको आप पसंद करते थे और जो जैन आचार विचारों आदि के बहुत कुछ विरुद्ध है। इससे अधिक धूर्तता, उत्सूत्रवादिता और ठग विद्या दूसरी और क्या हो सकती है? इतने पर भी जो लोग साम्प्रदायिक मोहवश, भट्टारकजी को ऊँचे चरित्र का व्यक्ति समझते हैं, संयम के कुछ उपदेशों का इधर उधर से संग्रह कर देने मात्र से उन्हे 'अद्वितीय संयमी' प्रतिपादन करते हैं, उनके इस त्रिवर्णाचार की दीवार को आदिपुराण के ऊपर-उसके आधार पर-खड़ी हुई बतलाते हैं और ''इसमें कोई भी बात ऐसी नहीं जो किसी आर्ष ग्रन्थ अथवा जैनागम के विरुद्ध हो'' ऐसा कहने तक का दुःसाहस करते हैं, उन लोगों की स्थिति निःसंदेह बड़ी ही शोचनीय तथा करुणाजनक है। मालूम होता है वे भोले हैं या दुराग्रही हैं, उनका अध्ययन स्वल्प तथा अनुभव अल्प है, पर साहित्य को उन्होंने नहीं देखा और न तुलनात्मक पद्धति से कभी इस ग्रन्थ का अध्ययन ही किया है। अस्तु।

इस ग्रन्थ में आदिपुराण के विरुद्ध और भी कितनी ही बातें हैं, जिन्हें लेख बढ़ जाने के भय से यहीं छोड़ा जाता है।

(२) आदिपुराण के विरुद्ध अथवा आदिपुराण से विरोध रखने वाले कथनों का दिग्दर्शन कराने के बाद, अब मैं एक दूसरे ग्रन्थ को और लेता हूँ जिसके सम्बन्ध में भी भट्टारकजी का प्रतिज्ञाविरोध पाया जाता है और वह ग्रन्थ है 'ज्ञानार्णव', जो श्री शुभचन्द्राचार्य का बनाया हुआ है। इसी ग्रन्थ के अनुसार ध्यान का कथन करने की एक प्रतिज्ञा भट्टारकजी ने, ग्रन्थ से पहले ही 'सामायिक' अध्याय में, निम्न प्रकार से दी है-

ध्यानं तावदहं वदामि विदुषां ज्ञानार्णवे यन्मत-
मार्त्तं रौद्रसधर्म्यशुक्ल चरमं दुःखादिसौख्यप्रदम्।
पिण्डस्थं च पदस्थरूपरहितं रूपस्थनामा परं।
तेषां भिन्न चतुश्चतुर्विषयजा भेदाः परे सन्ति वै॥२८॥

इस प्रतिज्ञावाक्य द्वारा यह विश्वास दिलाया गया है कि इस अध्याय में ध्यान का, उसके आर्त, रौद्र, धर्म, शुक्ल भेदों का, उपभेदों का और पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ तथा रूपातीत नाम के दूसरे भेदों का जो कुछ कथन किया गया है वह सब 'ज्ञानार्णव' के मतानुसार किया गया है, ज्ञानार्णव से भिन्न अथवा विरुद्ध इसमें कुछ भी नहीं है। परन्तु जाँचने से ऐसा मालूम नहीं होता-ग्रन्थ में कितनी ही बातें ऐसी देखने में आती हैं जो ज्ञानार्णव सम्मत नहीं हैं अथवा ज्ञानार्णव से नहीं ली गईं। उदाहरण के तौर पर यहाँ उनके कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं-

(अ) 'अपायविचय' धर्मध्यान का लक्षण बतलाते हुए भट्टारकजी लिखते हैं-

[४२]येन केन प्रकारेण जैनो धर्मो प्रवर्धते।
तदेव क्रियते पुम्भिरपायविचयं मतम्॥३५॥

अर्थात्– 'जिस तिस प्रकार से जैनधर्म बढ़े वही करना अपायविचय माना गया है।' परन्तु ज्ञानार्णव में तो ऐसा कहीं कुछ माना नहीं गया। उसमें तो साफ लिखा है कि 'जिस ध्यान में कर्मों के अपाय (नाश) का उपाय सहित चिन्तवन किया जाता है उसे अपायविचय कहते हैं। यथा–

अपायविचयं ध्यानं तद्वदन्ति मनीषिणः।
अपायः कर्मणां यत्र सोपायः स्मर्यते बुधैः॥३४-१॥

इस लक्षण के सामने भट्टारकजी का उक्त लक्षण कितना विलक्षण जान पड़ता है, उसे बतलाने की जरूरत नहीं। सहृदय पाठक सहज ही में उसका अनुभव कर सकते हैं। वास्तव में, वह बहुत कुछ सदोष तथा त्रुटिपूर्ण है और ज्ञानार्णव के साथ उसकी संगति ठीक नहीं बैठती।

(आ) इसी तरह पर पिण्डस्थ और रूपस्थ ध्यान के जो लक्षण भट्टारकजी ने दिये हैं उनकी संगति भी ज्ञानार्णव के साथ ठीक नहीं बैठती। भट्टारकजी लिखते हैं– 'लोक में जो कुछ विद्यमान है उस सबको देह के मध्यगत चिन्तवन करना पिण्डस्थ ध्यान कहलाता है' और 'जिस ध्यान में शरीर तथा जीव का भेद चिन्तवन किया जाता है उसे रूपस्थ ध्यान कहते हैं'। यथा–

''यत्किंचिद्विद्यते लोके तत्सर्वं देहमध्यगम्।
इति चिन्तयते यत्तु पिण्डस्थं ध्यानमुच्यते॥४६॥
''शरीरजीवयोर्भेदो यत्र रूपस्थमस्तु तत्॥४८॥

परन्तु ज्ञानार्णव में ऐसा कुछ भी नहीं लिखा। उसमें पिण्डस्थ ध्यान का जो पंचधारणात्मक स्वरूप दिया है उससे भट्टारकजी का यह लक्षण लाजिमी नहीं आता। इसी तरह पर समवसरण विभूति सहित देवाधिदेव श्री अर्हंतपरमेष्ठी के स्वरूप चिन्तवन को जो उसमें रूपस्थ ध्यान बतलाया है उससे यह 'शरीरजीवयोर्भेदः' नाम का लक्षण कोई मेल नहीं खाता।[४३]

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि भट्टारकजी ने रूपस्थ ध्यान के अनन्तर 'रूपातीत' ध्यान का लक्षण एक पद्य में देने के बाद 'प्रातश्चोत्थाय' से लेकर 'षडावश्यकसत्कर्म' तक १७ पद्य दिये हैं, जो ग्रन्थ में 'प्रातःकाल सम्बन्धी क्रियाएँ' और 'सामायिक' शीर्षकों के साथ नं० ५० से ६६ तक पाये जाते हैं। इन पद्यों में प्रातःकाल सम्बन्धी विचारों का कुछ उल्लेख करके सामायिक करने की प्रेरणा की गई है और सामायिक का स्वरूप आदि भी बतलाया गया है। सामायिक के लक्षण का प्रसिद्ध श्लोक 'समता सर्वभूतेषु' इनमें शामिल है, 'योग्य कालासन' तथा 'जीविते मरणे' नाम के दो पद्य अनगारधर्मामृत के भी उद्धृत हैं और 'पापिष्ठेन दुरात्मना' नाम का एक प्रसिद्ध

---

४२. इस पद्य पर से 'अपायविचय' का जब कुछ ठीक लक्षण निकलता हुआ नहीं देखा तब सोनीजी ने वैसे ही खींचखाँच कर भावार्थ आदि के द्वारा उसे अपनी तरफ से समझाने की कुछ चेष्टा की है, जिसका अनुभव विज्ञ पाठकों को अनुवाद पर से सहज में हो जाता है।

४३. शायद इसीलिये सोनीजी को भावार्थ द्वारा यह लिखना पड़ा हो कि ''विभूतियुक्त अर्हन्तदेव के गुणों का चिन्तवन करना रूपस्थ ध्यान है।'' परन्तु उक्त लक्षण का यह भावार्थ नहीं हो सकता।

पद्य प्रतिक्रमण पाठ का भी यहाँ शामिल किया गया है और इन सब पद्यों के बाद 'पदस्थ ध्यान' का कुछ विशेष कथन आरम्भ किया गया है। ग्रन्थ की इस स्थिति में उक्त १७ पद्य यहाँ पर बहुत कुछ असम्बद्ध तथा बेढंगे मालूम होते हैं –पूर्वापर पद्यों अथवा कथनों के साथ उनका सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता। इनमें से कितने ही पद्यों को इस सामायिक प्रकरण के शुरू में–'ध्यानं तावदहं वदामि' से भी पहले देना चाहिए था। परन्तु भट्टारकजी को इसकी कुछ भी सूझ नहीं पड़ी और इसलिये उनकी रचना क्रमभंगादि दोषों से दूषित हो गई, जो पढ़ते समय बहुत ही खटकती है और भी कितने ही स्थानों पर ऐसे रचनादोष पाये जाते हैं, जिनमें से कुछ का उल्लेख पहले भी किया जा चुका है।

(इ) पदस्थ ध्यान के वर्णन में, एक स्थान पर भट्टारकजी, 'ह्रीं' मंत्र के जप का विधान करते हुए, लिखते हैं–

हवर्णान्तः पार्श्वजिनोऽधोरेफस्तलगतः सधरेन्द्रः
तुर्यस्वरेः सविन्दुः स भवेत्पद्मावतीसंज्ञः॥७२॥
त्रिभुवनजनमोहकरी विधेयं प्रणवपूर्वमनान्ता।
एकाक्षरीति संज्ञा जपतः फलदायिनी नित्यम्॥७३॥

यहाँ 'ह्रीं' पद में हकार को पार्श्वनाथ भगवान् का, नीचे के रकार को तलगत धरणेन्द्र का और बिन्दुसहित ईकार को पद्मावती का वाचक बतलाया है–अर्थात्, यह प्रतिपादन किया है कि यह 'ह्रीं' मंत्र धरणेन्द्र पद्मावती सहित पार्श्वनाथ जिनेन्द्र का द्योतक है। साथ ही, इसके पूर्व में 'ॐ' और अंत में 'नमः' पद लगाकर 'ॐ ह्रीं नमः' ऐसा जाप करने की व्यवस्था की गई है, और उसे त्रिभुवन के लोगों को मोहित करने वाली 'एकाक्षरी विद्या' लिखा है। परन्तु ज्ञानार्णव में इस मंत्र का ऐसा कोई विधान नहीं है–उसमें कहीं भी नहीं लिखा कि 'ह्रीं' पद धरणेन्द्र पद्मावतीसहित पार्श्व जिन का वाचक है अथवा 'ॐ ह्रीं नमः' यह एकाक्षरी विद्या है और इसलिये भट्टारकजी का यह सब कथन ज्ञानार्णव सम्मत न होने से उनकी प्रतिज्ञा के विरुद्ध है।

(ई) इसी तरह पर भट्टारकजी ने एक दूसरे मंत्र का विधान भी निम्न प्रकार से किया है–

ॐ नमः सिद्धमित्येतन्मंत्रं सर्वसुखप्रदम्।
जपतां फलतीहेष्टं स्वयं स्वगुणजृंभितम्॥८२॥

इसमें 'ॐ नमः सिद्धं' मंत्र के जाप की व्यवस्था की गई है और उसे सर्व सुखों का देने वाला तथा इष्ट फल का दाता लिखा है। यह मंत्र भी ज्ञानार्णव में नहीं है। अतः इसके सम्बन्ध में भी भट्टारकजी का प्रतिज्ञा–विरोध पाया जाता है।

इस पद्य के बाद ग्रन्थ में, 'इत्थं मंत्रं स्मरति सुगुणं यो नरः सर्वकालं' (८३) नामक पद्य के द्वारा आमतौर पर मंत्र स्मरण के फल का उल्लेख करके, एक पद्य निम्न प्रकार से दिया है–

अयं मंत्रो महामंत्रः सर्वपापविनाशकः।
अष्टोत्तरशतं जप्तो धत्ते कार्याणि सर्वशः॥८४॥

इस पद्य में जिस मंत्र को सर्वपापविनाशक महामंत्र बतलाया है और जिसके १०८ बार जपने से सर्व प्रकार के कार्यों की सिद्धि होना लिखा है वह मंत्र कौन सा है उसका इस पद्य से अथवा इसके पूर्ववर्ती पद्य से कुछ भी पता नहीं चलता। 'ॐ नमः सिद्धं' नाम का वह मंत्र तो हो नहीं सकता, जो ८२वें पद्य में वर्णित है, क्योंकि उसके सम्बन्ध का ८३वें पद्य द्वारा विच्छेद हो गया है। यदि उससे अभिप्राय होता तो यह पद्य 'इत्थं मंत्रं' नामक ८३वें पद्य से पहले दिया जाता। अतः यह पद्य यहाँ पर असम्बद्ध है। सोनीजी कहते हैं इसमें 'अपराजित मंत्र' का उल्लेख है। पैंतीस अक्षरों का अपराजित मंत्र ('णमो अरहंताणं आदि) बेशक महामंत्र है और वह उन सब गुणों से विशिष्ट भी है जिनका इसमें उल्लेख किया गया है। परन्तु उससे यदि अभिप्राय था तो यह पद्य 'अपराजित मंत्रोऽयं' नामक ८०वें पद्य के ठीक बाद दिया जाना चाहिए था। उसके बाद 'षोडशाक्षरविद्या' तथा 'ॐ नमः सिद्धं' नामक दो मंत्रों का और विधान बीच में हो चुका है, जिससे इस पद्य में प्रयुक्त हुए 'अयं' (यह) पद का वाच्य अपराजित मंत्र नहीं रहा। और इसलिये अपराजित मंत्र की दृष्टि से यह पद्य यहाँ और भी असम्बद्ध है और वह भट्टारकजी की रचनाचातुरी का भण्डाफोड़ करता है।

इस पद्य के बाद पाँच पद्य और हैं जो इससे भी ज्यादा असम्बद्ध हैं और वे इस प्रकार हैं–

हिंसानृतान्यदारेच्छा चुरा चातिपरिग्रहः।
अमूनि पंच पापानि दुःखदायीनि संसृतौ॥८५॥
अष्टोत्तरशतं भेदास्तेषां पृथगुदाहृताः।
हिंसा तत्र कृता पूर्वं करोति च करिष्यति॥८६॥
मनोवचनकायैश्च ते तु त्रिगुणिता नव।
पुनः स्वयं कृतकारितानुमोदैर्गुणाहतिः॥८७॥
सप्तविंशतिस्ते भेदाः कषायैर्गुणयेच्च तान्।
अष्टोत्तरशतं ज्ञेयमसत्यादिषु तादृशम्॥८८॥
पृथ्वीपानीयतेजः पवनसुतरवः स्थावराः पंचकायाः।
नित्यानित्यौ निगोदौ युगलशिखिचतुः संज्ञ्यसंज्ञित्रसाः स्युः।
एते प्रोक्ता जिनैर्द्वादश परिगुणिता वाङ्मनः कायभेदै-
स्ते चान्यैः कारिताद्यैस्त्रिभिरपि गुणिताश्चाष्टशून्यैकसंख्याः॥८९॥

इन पद्यों में से पहले पद्य में हिंसादिक पंच पापों के नाम देकर लिखा है कि 'ये पाँचों पाप संसार में दुःखदायी हैं' और इसके बाद तीन पद्यों में यह बतलाया है कि इनमें से प्रत्येक पाप के १०८ भेद हैं। जैसे हिंसा पहले की, अब करता है, आगे करेगा ऐसे तीन भेद हुए, इनको मन, वचन, काय से गुणने पर ९ भेद, कृत, कारित, अनुमोदना से गुणने पर २७ भेद और फिर चार कषायों से गुणने पर १०८ भेद हिंसा के हो जाते हैं। इसी तरह पर असत्यादिक के भेद जानने। और पाँचवें पद्य में हिंसादिक का कोई विकल्प उठाए बिना ही दूसरे प्रकार से १०८ भेदों को सूचित किया है–लिखा है 'पृथ्वी, अप,

तेज, वायु, वृक्ष (वनस्पति) ऐसे पाँच स्थावर काय, नित्य निगोद, अनित्य निगोद, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञि पंचेन्द्रिय, और असंज्ञि पंचेन्द्रिय ऐसे बारह भेद[४४] जिनेन्द्र भगवान् ने कहे हैं। इनको मन, वचन, काय तथा कृत, कारित, अनुमोदना से गुणने पर १०८ भेद हो जाते हैं।

यही उक्त पद्यों का परिचय है। इस परिचय पर से सहृदय पाठक सहज ही में इस बात का अनुभव कर सकते हैं कि ये सब पद्य यहाँ पर पदस्थ ध्यान के वर्णन में, पूर्वापर सम्बन्ध अथवा कथनक्रम को देखते हुए, कितने असम्बद्ध तथा बेढंगे मालूम होते हैं और इनके यहाँ दिये जाने का उद्देश्य तथा आशय कितना अस्पष्ट है। एक सौ आठ भेदों की यह गणना भी कुछ विलक्षण जान पड़ती है। भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल के भेद से भी हिंसादिक में कोई प्रकार-भेद होता है यह बात इस ग्रन्थ से ही पहले पहल जानने को मिली। परन्तु यह बात चाहे ठीक हो या न हो किन्तु ज्ञानार्णव के विरुद्ध जरूर है, क्योंकि ज्ञानार्णव में हिंसा के भूत, भविष्यत् और वर्तमान, ऐसे कोई भेद न करके उनकी जगह पर संरम्भ, समारंभ, और आरंभ, नाम के उन भेदों का ही उल्लेख किया है जो दूसरे तत्त्वार्थ ग्रन्थों में पाये जाते हैं, जैसा कि उसके निम्न वाक्य से प्रकट है–

संरम्भादित्रिकं योगैः कषायैर्व्याहतं क्रमात्।
शतमष्टाधिकं ज्ञेयं हिंसा भेदैस्तु पिण्डितम्॥८-१०॥

यहाँ पर मैं अपने पाठकों को इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि सोनी जी ने अपनी अनुवाद पुस्तक में पद्य नं० ८८ और ८९ के मध्य में 'उक्तं च तत्त्वार्थे' वाक्य के साथ 'संरम्भ-समारंभारंभयोग' नाम के तत्त्वार्थ सूत्र का भी अनुवादसहित इस ढंग से उल्लेख किया है जिससे वह भट्टारकजी के द्वारा ही उद्धृत जान पड़ता है। परन्तु मराठी अनुवाद वाली प्रति में वैसा नहीं है। हो सकता है कि यह सोनी जी की ही अपनी कर्तूत हो। परन्तु यदि ऐसा नहीं है किन्तु भट्टारकजी ने ही इस सूत्र को अपने पूर्व कथन के समर्थन में उद्धृत किया है और वह ग्रन्थ की कुछ प्राचीन प्रतियों में इसी प्रकार से उद्धृत पाया जाता है तो कहना होगा कि भट्टारकजी ने इसे देकर अपनी रचना को और भी बेढंगा किया है–क्योंकि इससे पूर्व कथन का पूरी तरह पर समर्थन नहीं होता- अथवा यों कहिये कि सर्व साधारण पर यह प्रकट किया है कि उन्होंने संरंभ, समारंभ तथा आरंभ का अभिप्राय क्रमशः भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् काल समझा है। परन्तु ऐसा समझना भूल है क्योंकि पूज्यपाद जैसे आचार्यों ने सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रन्थों में प्रयत्नावेश को 'संरंभ' साधनसमभ्यासीकरण को 'समारंभ' और प्रक्रम या प्रथमप्रवृत्ति को 'आरंभ' बतलाया है।

(उ) उक्त पाँचों पद्यों के अनन्तर ग्रन्थ में वशीकरण, आकर्षण, स्तंभन, मारण, विद्वेषण, उच्चाटन, शांतिकरण और पौष्टिक कर्म नाम के आठ कर्मों के सम्बन्ध में जप की विधि बतलाई गई

---

४४. ये बारह भेद भगवान् ने किसके कहे हैं–जीवों के जीवहिंसा के या असत्वादिक के, ऐसा यहाँ पर कुछ भी नहीं लिखा। और न यही बतलाया कि ये पिछले भेद यदि जिनेन्द्र भगवान् के कहे हुए हैं तो पहले भेद किसके कहे हुए हैं अथवा दोनों का ही कथन विकल्प रूप से भगवान् का किया हुआ है।

है-अर्थात् यह प्रकट किया गया है कि किस कर्मविषयक मंत्र को किस समय, किस आसन तथा मुद्रा से, कौनसी दिशा की ओर मुख करके, कैसी माला लेकर और मंत्र में कौन सा पल्लव लगाकर जपना चाहिए। साथ ही, कुछ कर्मों के सम्बन्ध में जप के समय माला का दाना पकड़ने के लिये जो जो अंगुली अँगूठे के साथ काम में लाई जावे उसका भी विधान किया है। यह सब प्रकार का विधि-विधान भी ज्ञानार्णव से बाहर की चीज है-उससे नहीं लिया गया है। साथ ही, इस विधान में मालाओं का कथन दो बार किया गया है, जो दो जगहों से उठाकर रखा गया मालूम होता है और उससे कथन में कितना ही पूर्वापर विरोध आ गया है। यथा-

[45]स्तंभकर्मणि... माला स्वर्णमणिश्रिता॥९४॥
निषेधकर्मणि... पुत्रजीवकृतामाला॥९६॥
स्तंभने दुष्टसन्नाशे जपेत् प्रस्तर कर्कराम्॥१०८॥
× × ×
विद्वेषकर्मणि... पुत्रजीवकृता माला॥९८॥
विद्वेषेऽरिष्टबीजजा ॥१०८॥
× × ×
शांतिकर्मणि... मौक्तिकानां माला॥१०१॥
शान्तये... जपेदुत्पलमालिकाम्॥११०॥

मालूम होता है भट्टारकजी को इस विरोध की कुछ भी खबर नहीं पड़ी और वे वैसे ही बिना सोचे समझे इधर उधर से पद्यों का संग्रह कर गये हैं। ११०वें पद्य के उत्तरार्द्ध में आप लिखते हैं- 'षट्कर्माणि तु प्रोक्तानि पल्लवा अत उच्यते'-- अर्थात् छह कर्म तो कहे गये अब पल्लवों का कथन किया जाता है। परन्तु कथन तो आपने इससे पहले वशीकरण आदि आठ कर्मों का किया है फिर यह छह की संख्या कैसी? और पल्लवों का विधान भी आप प्रत्येक कर्म के साथ में कर चुके हैं फिर उनके कथन की यह नई प्रतिज्ञा कैसी? और उस प्रतिज्ञा का पालन भी क्या किया गया? पल्लवों की कोई खास व्यवस्था नहीं बतलाई, महज कुछ मंत्र दिये हैं जिनके साथ में पल्लव भी लगे हुए हैं और वे पल्लव भी कई स्थानों पर पूर्व कथन के विरुद्ध हैं। मालूम नहीं यह सब कुछ लिखते हुए भट्टारकजी क्या किसी नशे की हालत में थे, उन्मत्त थे अथवा उन्हें इतनी भी सूझ बूझ नहीं थी जो अपने सामने स्थित एक ही पत्र पर के पूर्वापर विरोधों को भी समझ सकें! और क्या इसी बिरते अथवा बूते पर

४५. अर्थात् एक जगह स्तंभ कर्म में स्वर्णमणि की माला का और निषेध (मारण) कर्म में जीयापूते की माला का (जिसे सोनीजी ने पुत्र जीव नामक किसी मणि की, रत्न की माला समझा है!) विधान किया है तब दूसरी जगह स्तंभन तथा दुष्टों के सन्नाशन दोनों कर्मों के लिये पत्थर के टुकडों की माला बतलाई गई है। विद्वेष कर्म में एक जगह जीयापूते की और दूसरी जगह रीठे के बीज की माला लिखी है और शांतिकर्म में एक जगह मोतियों की तो दूसरी जगह कमलगट्टों की माला की व्यवस्था की गई है। इस तरह पर यह कथन परस्पर विरोध को लिये हुए है।

आप ग्रन्थ रचना करने बैठ गये! संभव है भट्टारकजी को घर की ऐसी कुछ ज्यादा अकल न हो और उन्होंने किराये के साधारण आदमियों से रचना का काम लिया भी हो और उसी की वजह से यह सब गड़बड़ी फैली हो। परन्तु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि इस ग्रन्थ का निर्माण किसी अच्छे हाथ से नहीं हुआ और इसीलिये वह पद पद पर अनेक प्रकार के विरोधों से भरा हुआ है तथा बहुत ही बेढंगेपन को लिये हुए है।

यहाँ पर पाठकों को यह जानकर बड़ा ही आश्चर्य तथा कौतूहल होगा कि भट्टारकजी ने 'सामायिक' के इस अध्याय में विद्वेषण तथा मारण मंत्रों तक के जप का विधान किया है[४६] और ऐसे दुष्ट कार्यार्थी मंत्रों के जप का स्थान श्मशान भूमि[४७] बतलाया है!! खेद है जिस सामायिक की बाबत आपने स्वयं यह प्रतिपादन किया है कि 'उसमें सब जीवों पर समता भाव रखा जाता है, संयम में शुभ भावना रहती है तथा आर्त्त रौद्र नाम के अशुभ ध्यानों का त्याग होता है' और जिसके विषय में आप यहाँ तक शिक्षा दे आए हैं कि 'उसके अभ्यासी को जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, योग-वियोग, बन्धु-शत्रु तथा सुख-दुःख में सदा समता भाव रखना चाहिए- रागद्वेष नहीं करना चाहिए' उसी सामायिक के प्रकरण में आप विद्वेष फैलाने तथा किसी को मारने तक के मंत्रों का विधान करते हैं!! यह कितना भारी विरोध तथा अन्याय है। क्या ऐसे पाप मंत्रों का जपना भी 'सामायिक' हो सकता है? कदापि नहीं। ऐसे मारणादि विषयक मंत्रों का आराधन प्रायः हिंसानन्दी रौद्र ध्यान का विषय है और वह कभी 'सामायिक' नहीं कहला सकता। भगवज्जिनसेन ने भी ऐसे मंत्रों को 'दुर्मंत्र' बतलाया है जो प्राणियों के मारण में प्रयुक्त होते हैं[४८] भले ही उनके साथ में अर्हन्तादिक का नाम भी क्यों न लगा हो। और इसलिये यहाँ पर ऐसे मंत्रों का विधान करके सामायिक के प्रकरण का बहुत ही बड़ा दुरुपयोग किया गया है, इसमें जरा भी संदेह नहीं है। और इससे भट्टारकजी के विवेक का और भी अच्छा खासा पता चल जाता है अथवा यह मालूम हो जाता है कि उनमें हेयादेय के विचार अथवा समझ बूझ का माद्दा बहुत ही कम था। फिर वे बेचारे अपनी प्रतिज्ञाओं का पालन भी कहाँ तक कर सकते थे, कहाँ तक वैदिक तथा लौकिक व्यामोह को छोड़ सकते थे। और उनमें चारित्रबल भी कितना हो सकता था, जिससे वे अपनी अशुभ प्रवृत्तियों पर विजय पाते और मायाचार अथवा छलकपट न करते! अस्तु।

यह तो हुआ प्रतिज्ञादि के विरोधों का दिग्दर्शन। अब मैं दूसरे प्रकार के विरुद्ध कथनों की ओर अपने पाठकों का ध्यान आकृष्ट करता हूँ, जो इस विषय में और भी ज्यादा महत्त्व को लिये हुए हैं और ग्रन्थ को सविशेष रूप से अमान्य, अश्रद्धेय तथा त्याज्य ठहराने के लिये समर्थ हैं।

---

४६. यथा- ॐ ह्रां, अर्हद्भ्यो ह्रूं फट्, ॐ ह्रीं सिद्धेभ्यो ह्रूं फट्, इत्यादि-विद्वेषमंत्रः। ॐ ह्रां अर्हद्भ्यो घेघे इति (इत्यादि?) मारणमंत्रः।

४७. यथा- श्मशाने दुष्टकार्यार्थं शान्त्याद्यर्थीजिनालये॥१११॥

४८. यथा- दुर्मंत्रास्तेऽत्र विज्ञेया ये युक्ताः प्राणिमारणे॥३९-२६॥ -आदिपुराण।

दूसरे विरुद्ध कथन

लेख के इस विभाग में प्रायः उन कथनों का दिग्दर्शन कराया जाएगा जो जैन धर्म, जैन सिद्धान्त, जैन नीति, जैन आदर्श, जैन आचार-विचार अथवा जैन शिष्टाचार आदि के विरुद्ध हैं और जैन शासन के साथ जिनका प्रायः कोई मेल नहीं। इससे पाठकों पर ग्रन्थ की असलियत और भी अच्छी तरह से खुल जायेगी और उन्हें ग्रन्थकर्ता की मनोदशा का भी कितना ही विशेष अनुभव हो जायेगा अथवा यों कहिये कि भट्टारकजी की श्रद्धा आदि का उन्हें बहुत सा पता चल जायेगा-

देव, पितर और ऋषियों का घेरा

(१) 'शौच' नाम के दूसरे अध्याय में, कुल्ला करने का विधान करते हुए, भट्टारकजी ने लिखा है-

[४९]पुरतः सर्वदेवाश्च दक्षिणे व्यन्तराः (पितरः) स्थिताः (तथा)।
ऋषयः पृष्ठतः सर्वे वामे गण्डूषमुत्सृजेत् (माचरेत्)॥६०॥

अर्थात्- सामने सर्व देव, दाहिनी ओर व्यंतर (पितर) और पीठ पिछाड़ी सर्व ऋषि खड़े हैं अतः बाँई तरफ कुरला करना चाहिए। और इस तरह पर यह सूचित किया है कि मनुष्य को तीन तरफ देव, पितर तथा ऋषिगण घेरे रहते हैं, कुल्ला कहीं उनके ऊपर न पड़ जाये उसी के लिये यह अहतियात की गई है। परन्तु उन लोगों का वह घेरा कुल्ले के वक्त ही होता है या स्वाभाविक रूप से हर वक्त रहता है, ऐसा कुछ सूचित नहीं किया। यदि कुल्ले के वक्त ही होता है तो उसका कोई कारण विशेष होना चाहिए। क्या कुल्ले का तमाशा देखने के लिये ही ये सब लोग उसके इरादे की खबर पाकर जमा हो जाते हैं? यदि ऐसा है तब तो वे लोग आकाश में कुल्ला करने वाले के सिर पर खड़े होकर भी तमाशा देख सकते हैं और छींटों से बच सकते हैं। उनके लिये ऐसी व्यवस्था करने की जरूरत ही नहीं, वह निरर्थक जान पड़ती है। और यदि उनका घेरा बराबर में हर वक्त बना रहता है तब तो बड़ी मुश्किल का सामना है, इधर तो उन बेचारों को बड़ी ही कवाइद सी करनी पड़ती होगी, क्योंकि मनुष्य

---

४९. इस पद्य के अनुवाद में सोनीजी ने बड़ा तमाशा किया है। आपने 'पुरतः' का अर्थ 'पूर्व की तरफ', 'पृष्ठतः' का अर्थ 'पश्चिम की ओर' और 'वामे' पद के साथ में मौजूद होते हुए भी 'दक्षिणं' का अर्थ दाहिनी ओर न करके 'दक्षिण दिशा की तरफ' गलत किया है और इस सख्त गलती के कारण ही पूर्व, दक्षिण तथा पश्चिम दिशाओं में क्रमशः सर्व देवों, व्यन्तरों तथा सर्व ऋषियों का निवास बतला दिया है! परन्तु 'वामे' का अर्थ आप 'उत्तर दिशा' न कर सके और इसलिये आपको ''इन तीन दिशाओं में कुरला न फेंके'' के साथ साथ यह भी लिखना पड़ा- ''किन्तु अपनी बाँई ओर फेंके''। परन्तु बाँई और यदि पूर्व दिशा हो, दक्षिण दिशा हो, अथवा पश्चिम दिशा हो तब क्या बने और कैसे बाँई ओर कुरला करने का नियम कायम रहे? इसकी आपको कुछ भी खबर नहीं पड़ी! और न यही ख्याल आया कि जैनागम में कहाँ पर ये दिशाएँ इन देवादिकों के लिए मखसूस अथवा निर्धारित की गई हैं!! वैसे ही बिना सोचे समझे जो जी में आया लिख मारा!! यह भी नहीं सोचा कि यदि पूर्व की ओर सारे देव रहते हैं तो फिर इस ग्रन्थ में ही पूर्व की ओर मुँह करके मलत्याग करने को क्यों कहा गया है? क्या कुरला मूत्र की धार से भी गया बीता है?

जल्दी-जल्दी अपने मुख तथा आसन को इधर से उधर बदलता रहता है, उसके साथ में उन्हें भी जल्दी से पैंतरा बदलकर बिना इच्छा भी घूमना पड़ता होगा!! और उधर मनुष्यों का थूकना तथा नाक साफ करना भी तब इधर उधर नहीं बन सकेगा, जिसके लिये कोई व्यवस्था नहीं की गई! यह मल भी तो कुल्ले के जल से कुछ कम अपवित्र नहीं है। खैर, इसकी व्यवस्था भी हो सकेगी और यह मल भी बाँई और फेंका जा सकेगा, पर मूत्रोत्सर्ग के समय-जो उत्सर्ग के सामने की और ही होता है-देवताओं की क्या व्यवस्था बनेगी, यह कुछ समझ में नहीं आता!! परन्तु समझ में कुछ आओ या न आओ, कोई व्यवस्था बनो या न बनो, बड़ी मुश्किल का सामना करना पड़े या छोटी मुश्किल का और कुल्ले के वक्त पर उन देवादिकों के उपस्थित होने का भी कोई कारण हो या न हो, किन्तु इसमें संदेह नहीं कि जैनधर्म के साथ इस सब कथन का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है-उसकी कोई संगति ठीक नहीं बैठती। जैनधर्म में देवों, पितरों तथा ऋषियों का जो स्वरूप दिया है अथवा जीवों की गति स्थिति आदि का जो निरूपण किया है उसे देखते हुए भट्टारकजी का उक्त कथन उसके बिल्कुल विरुद्ध जान पड़ता है और उस अतत्त्व श्रद्धान को पुष्ट करता है जिसका नाम मिथ्यात्व है। मालूम नहीं उन्होंने एक जैनी के रूप में उसे किस तरह अपनाया है। वास्तव में यह सब कथन हिन्दू धर्म का कथन है। उक्त श्लोक भी हिन्दुओं के 'प्रयोगपारिजात' ग्रन्थ का श्लोक है, और वह 'आन्हिकसूत्रावली' में भी, ब्रैकिटों में दिये हुए पाठभेद के साथ, प्रयोगपारिजात से उद्धृत पाया जाता है। पाठभेद में 'पितरः' की जगह 'व्यन्तराः' पद का जो विशेष परिवर्तन नजर आता है वह अधिकांश में लेखकों की लीला का ही एक नमूना जान पड़ता है। अन्यथा, उसका कुछ भी महत्त्व नहीं है, और सर्व देवों में व्यन्तर भी शामिल हैं।

दन्तधावन करने वाला पापी

(२) त्रिवर्णाचार के दूसरे अध्याय में, दन्तधावन का वर्णन करते हुए, एक पद्य निम्न प्रकार से दिया है-

सहस्रांशावनुदिते यः कुर्याद्दन्तधावनम्।
स पापी मरणं याति सर्वजीवदयातिगः॥७१॥

इसमें लिखा है कि 'सूर्योदय से पहले जो मनुष्य दन्तधावन करता है वह पापी है, सर्व जीवों के प्रति निर्दयी है और (जल्दी) मर जाता है। परन्तु उसने पाप का कौन सा विशेष कार्य किया? कैसे सर्व जीवों के प्रति उसका निर्दयत्व प्रमाणित हुआ? और शरीर में कौन सा विकार उपस्थित हो जाने से वह जल्दी मर जायेगा! इन सब बातों का उक्त पद्य से कुछ भी बोध नहीं होता। आगे पीछे के पद्य भी इस विषय में मौन हैं और कुछ उत्तर नहीं देते। लोकव्यवहार भी ऐसा नहीं पाया जाता और न प्रत्यक्ष में ही किसी को उस तरह से जल्दी मरता हुआ देखा जाता है। मालूम नहीं भट्टारकजी ने कहाँ से ये निर्मूल आज्ञाएँ जारी की हैं, जिनका जैन नीति अथवा जैनागम से कोई समर्थन नहीं होता। प्राचीन जैन शास्त्रों में ऐसी कोई भी बात नहीं देखी जाती, जिससे बेचारे प्रातःकाल उठकर दन्तधावन करने

वाले एक साधारण गृहस्थ को पापी ही नहीं किन्तु सर्व जीवों के प्रति निर्दयी तक ठहराया जाये और न शरीर शास्त्र का ही ऐसा कोई विधान जान पड़ता है जिससे उस वक्त का दन्तधावन करना मरण का साधन हो सके। वाग्भट जैसे शरीरशास्त्र के आचार्यों ने ब्रह्ममुहूर्त में उठकर शौच के अनंतर प्रातःकाल ही दन्तधावन का साफ तौर से विधान किया है। वह स्वास्थ्य के लिये कोई हानिकर नहीं हो सकता। और इसलिये यह सब कथन भट्टारकजी की प्रायः अपनी कल्पना जान पड़ता है। जैनधर्म की शिक्षा से इसका कोई खास सम्बन्ध नहीं है। खेद है कि भट्टारकजी को इतनी भी खबर नहीं पड़ी कि क्या प्रातःसंध्या बिना दन्तधावन के ही हो जाती है[५०] जिसको आप स्वयं ही 'सूर्योदयाच्च प्रागेव प्रातःसंध्यां समापयेत् (३-१३५)' वाक्य के द्वारा सूर्योदय से पहले ही समाप्त कर देने को लिखते हैं!! यदि खबर पड़ती तो आप व्यर्थ ही ऐसे निःसार वाक्य द्वारा अपने कथन में विरोध उपस्थित न करते। अस्तुः इसी प्रकरण में भट्टारकजी ने दो पद्य निम्न प्रकार से भी दिये हैं–

गुवा (डा) कतालहिन्तातकेतक्य (का) श्च महा (वृहद्) वटः।
खर्जूरी नालिकेरश्च सप्तैते तृणाराजकाः॥६६॥
तृणराजसमोपेतो (तं) यः कुर्याद्दन्तधावनम्।
निर्दयः पापभागी स्यादनन्तकायिकं त्यजेत्॥६७॥

इनमें से पहले पद्य में सात वृक्षों के नाम दिये हैं, जिनकी 'तृणराज' संज्ञा है और जिनमें बड़ तथा खजूर भी शमिल हैं और दूसरे पद्य में यह बतलाते हुए कि 'तृणराज की जो दाँतुन करता है वह निर्दयी तथा पाप का भागी होता है,' परिणाम रूप से यह उपदेश भी दिया है कि '(अतः) अनन्तकायिक को छोड़ देना चाहिए'। इस तरह पर भट्टारकजी ने इन वृक्षों की दाँतुन को अनन्तकायिक बतलाया है और शायद इसीलिए ऐसी दाँतुन करने वाले को निर्दयी तथा पाप का भागी ठहराया हो! सोनी जी ने भी अनुवाद में लिख दिया है–''क्योंकि इनकी दतौन के भीतर अनन्त जीव रहते हैं।'' परन्तु जैन सिद्धान्त में 'अनंतकायिक' अथवा 'साधारण' वनस्पति का जो स्वरूप दिया है–जो पहचान बतलाई है–उससे उक्त बड़ तथा खजूर आदि की दाँतुन का अनन्तकायिक होना लाजिमी नहीं आता और न किसी माननीय जैनाचार्य ने इन सब वृक्षों की दाँतुन में अनन्त जीवों का होना ही बतलाया है। प्राचीन जैन शास्त्रों में तो 'सप्त तृणराज' का नाम भी सुनाई नहीं पड़ता। भट्टारकजी ने उनका यह कथन हिन्दू धर्म के ग्रन्थों से उठाकर रखा है। उक्त पद्यों में से पहला पद्य और दूसरे पद्य का पूर्वार्द्ध दोनों 'गोभिल' ऋषि के वचन हैं और वे ब्रैकिटों में दिये हुए पाठभेद के साथ 'स्मृतिरत्नाकर' में भी 'गोभिल' के नाम से उल्लेखित मिलते हैं। गोभिल ने दूसरे पद्य का उत्तरार्द्ध ''नरश्चाण्डालयोनिः स्याद्यावद् गंगां न पश्यति'' दिया था जिसको भट्टारकजी ने 'निर्दयः पापभागी स्यादनंतकायिकं त्यजेत्' के रूप में बदल दिया है! और इस तरह पर ऐसी दाँतुन करने वाले को पापी आदि सिद्ध करने

---

५०. नहीं होती। भट्टारकजी ने खुद संध्या समय के स्नान को जरूरी बतलाते हुए उसे दन्तधावनपूर्वक करना लिखा है। यथा– सन्ध्याकाले... कुर्यात्स्नानत्रयं जिह्वादंतधावनपूर्वकम्॥१०७-१११॥

के लिये उन दाँतुनों में ही अनंत जीवों की कल्पना कर डाली है!! जो मान्य किये जाने के योग्य नहीं। और न उसके आधार पर ऐसी दाँतुन करने वाले को पापी तथा निर्दयी ही ठहराया जा सकता है। खेद है कि भट्टारकजी ने स्वयं ही दो पद्य पहले–६३वें पद्य में–'वटस्तथा' पद के द्वारा, वाग्भट आदि की तरह, बड़ की दाँतुन का विधान किया और ६४वें पद्य में 'एताः प्रशस्ताः कथिता दन्तधावनकर्मणि' वाक्य के द्वारा उसे दन्तधावन कर्म में श्रेष्ठ भी बतलाया परन्तु बाद को गोभिल के वचन सामने आते ही आप, उनके कथन की दृष्टि और अपनी स्थिति का विचार भूलकर, एकदम बदल गये और आपको इस बात का मान भी न रहा कि जिस बड़ की दाँतुन का हम अभी विधान कर आए हैं उसी का अब निषेध करने जा रहे हैं!! इससे कथन की विरुद्धता ही नहीं किंतु भट्टारकजी की खासी असमीक्ष्यकारिता भी पाई जाती है।

तेल मलने की विलक्षण फलघोषणा

(३) दूसरे अध्याय में, तेलमर्दन का विधान करते हुए, भट्टारकजी ने उसके फल का जो बखान किया है वह बड़ा ही विलक्षण है। आप लिखते हैं–

सोमे कीर्तिः प्रसरति वरा रोहिणेये हिरण्यं
देवाचार्ये तरणितनये वर्धते नित्यमायुः।
तैलाभ्यङ्गात्तनुजमरणं दृश्यते सूर्यवारे
भौमे मृत्युर्भवति च नितरां भार्गवे वित्तनाशः॥८४॥

अर्थात्–सोमवार के दिन तेल मलने से उत्तम कीर्ति फैलती है, बुध के दिन तेल मलने से सुवर्ण की वृद्धि होती है, लक्ष्मी बढ़ती है, गुरुवार तथा शनिवार के दिन मलने से सदा आयु बढ़ती है, रविवार के दिन मलने से पुत्र का मरण होता है, मंगल के दिन की मालिश से अपना ही मरण हो जाता है और शुक्रवार के दिन की मालिश सदा धन का क्षय किया करती है।

तेल की मालिश का यह फल कितना प्रत्यक्ष विरुद्ध है इसे बतलाने की जरूरत नहीं। सहृदय पाठक अपने नित्य के अनुभव तथा व्यवहार से उसकी सहज ही में जाँच कर सकते हैं। इस विषय की और भी गहरी जाँच के लिये जैन सिद्धान्तों को बहुत कुछ टटोला गया और कर्म फिलॉसोफी का भी बहुतेरा मथन किया गया परन्तु कहीं से भी ऐसा कोई नियम उपलब्ध नहीं हुआ जिससे प्रत्येक दिन के तेल मर्दन का उसके उक्त फल के साथ अविनाभावी सम्बन्ध (व्याप्ति) स्थापित हो सके। वैद्यक शास्त्र के प्रधान ग्रन्थ भी इस विषय में मौन मालूम होते हैं। वाग्भट आचार्य अपने 'अष्टांगहृदय' में नित्य तेल मर्दन का विधान करते हैं और उसका फल बतलाते हैं–''जरा, श्रम तथा वात विकार की हानि, दृष्टि की प्रसन्नता, शरीर की पुष्टि, आयु की स्थिरता, सुनिद्रा की प्राप्ति और त्वचा की दृढ़ता।'' और यह फल बहुत कुछ समीचीन जान पड़ता है। यथा–

अभ्यंगमाचरेन्नित्यं स जराश्रमवातहा।
दृष्टिप्रसादपुष्ट्यायुः स्वप्नसुत्वक्त्वदार्ढ्यकृत्॥८॥

हाँ, इस ढूँढ खोज में, शब्दकल्पद्रुम कोश से, हिन्दू शास्त्रों के दो पद्य जरूर मिले हैं जिनका विषय भट्टारकजी के पद्य के साथ बहुत कुछ मिलता-जुलता है और वे इस प्रकार हैं-

१. अर्के नूनं दहति हृदयं कीर्तिलाभश्च सोमे
भौमे मृत्युर्भवति नियतं चन्द्रजे पुत्रलाभः।
अर्थग्लानिर्भवति च गुरौ भार्गवे शोकयुक्त-
स्तैलाभ्यंगात्तनयमरणं सूर्यजे दीर्घमायुः॥

२. सन्तापः कीर्तिरल्पायुर्धनं निधनमेव च।
आरोग्यं सर्वकामाप्तिरभ्यंगाद्भास्करादिषु॥

इनमें से पहला पद्य 'ज्योतिः सार संग्रह' का और दूसरा 'गारुड' के ११४वें अध्याय का पद्य है। दोनों में परस्पर कुछ अंतर भी है-पहले पद्य में बुध के दिन तेल मलने से पुत्र लाभ का होना बतलाया है तो दूसरे में धन का होना लिखा है और यह धन का होना भट्टारकजी के पद्य के साथ साम्य रखता है, दूसरे में शनिवार के दिन सर्वकामाप्ति (इच्छाओं की पूर्ति) का विधान किया है तो पहले में दीर्घायु होना लिखा है और यह दीर्घायु होना भी भट्टारकजी के पद्य के साथ साम्य रखता है। इसी तरह शुक्रवार के दिन तेलमर्दन का फल एक में 'आरोग्य' तो दूसरे में 'शोकयुक्त' बतलाया है और भट्टारकजी उसे 'वित्तनाश' लिखते हैं जो शोक का कारण हो सकता है, रविवार और गुरुवार का फल दोनों में समान है परन्तु भट्टारकजी के पद्य में वह कुछ भिन्न है और सोमवार तथा मंगल को तेल लगाने का फल तीनों में ही समान है। अस्तु, इन पद्यों के सामने आने से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि इस तेलमर्दन के फल का कोई एक नियम नहीं पाया जाता, वैसे ही जिसकी जो जी में आया उसने वह फल, अपनी रचना में कुछ विशेषता अथवा रंग लाने के लिये, एक दूसरे की देखा देखी घड़ डाला है। बहुत संभव है भट्टारकजी ने हिन्दू ग्रन्थों के किसी ऐसे ही पद्य का यह अनुसरण किया हो अथवा जरूरत बिना उसे कुछ बदलकर या ज्यों का त्यों ही उठाकर रख दिया हो। परन्तु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि उनका उक्त पद्य सैद्धांतिक दृष्टि से जैनधर्म के विरुद्ध है और जैनाचार विचार के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं रखता।

रविवार के दिन स्नानादिक का निषेध

(४) भट्टारकजी दूसरे अध्याय में यह भी लिखते हैं कि रविवार (इतवार) के दिन दन्तधावन नहीं करना चाहिए, तेल नहीं मलना चाहिए और न स्नान ही करना चाहिए। यथा-

अर्कवारे व्यतीपाते संक्रान्तौ जन्मवासरे।
वर्जयेद्दन्तकाष्ठं तु व्रतादीनां दिनेषु च॥६९॥
अष्टभ्यां च चतुर्दश्यां पंचम्यामर्कवासरे।
व्रतादीनां दिनेष्वेव न कुर्यात्तैलमर्दनम्॥८१॥
तस्मात्स्नानं प्रकर्तव्यं रविवारे तु वर्जयेत्॥९७॥

तेलमर्दन की बाबत तो खैर आपने लिख दिया कि उससे पुत्र का मरण हो जाता है, परन्तु दन्तधावन और स्नान की बाबत कुछ भी नहीं लिखा कि उन्हें क्यों नहीं करना चाहिए? क्या उनके करने से रवि महाराज (सूर्यदेवता) नाराज हो जाते हैं? यदि ऐसा है तब तो लोगों को बहुत कुछ विपत्ति में पड़ना पड़ेगा, क्योंकि अधिकांश जनता रविवार के दिन सविशेष रूप से स्नान करती है। छुट्टी का दिन होने से उस दिन बहुतों को अच्छी तरह से तेलादिक मलकर स्नान करने का अवसर मिलता है। इसके सिवाय, उस दिन भगवान् का पूजनादिक भी न हो सकेगा, जो भट्टारकजी के कथनानुसार दंतधावनपूर्वक स्नान की अपेक्षा रखता है, उन देवपितरों को भी उस दिन प्यासे रहना होगा जिनके लिये स्नान के अवसर पर भट्टारकजी ने तर्पण के जल की व्यवस्था की है और जिसका विचार आगे किया जायेगा, और भी लोक में कितनी ही अशुचिता छा जायेगी और बहुत से धर्मकार्यों को हानि पहुँचेगी, बल्कि त्रिवर्णाचार की स्नान विषयक आवश्यकताओं को देखते हुए तो यह कहना भी कुछ अत्युक्ति में दाखिल न होगा कि धर्मकार्यों में एक प्रकार का प्रलय-सा उपस्थित हो जायेगा। मालूम नहीं भट्टारकजी ने फिर क्या सोचकर रविवार के दिन स्नान का निषेध किया है!! जैनसिद्धान्तों से तो इसका कुछ सम्बन्ध है नहीं और न जैनियों के आचार विचार के ही यह अनुकूल पाया जाता है, प्रत्युत उसके विरुद्ध है। शायद भट्टारकजी को हिन्दू धर्म के किसी ग्रन्थ से रविवार के दिन स्नान के निषेध का भी कोई वाक्य मिल गया हो और उसी के भरोसे पर आप ने वैसी आज्ञा जारी कर दी हो। परन्तु मुझे तो मुहूर्तचिन्तामणि आदि ग्रन्थों से यह मालूम हुआ है कि 'रोगनिर्मुक्त स्नान' तक के लिये रविवार का दिन प्रशस्त माना गया है। इसी से श्रीपतिजी लिखते हैं- ''लग्ने चरे सूर्यकुजेज्यवारे... स्नानं हितं रोगविमुक्तकानाम्''। हाँ, दंतधावन का निषेध तो उनके यहाँ व्यासजी के निम्न वाक्य से पाया जाता है जिसमें कुछ तिथियों तथा रविवार के दिन दाँतों से काष्ठ के संयोग करने की बाबत लिखा है कि वह सातवें कुल तक को दहन करता है और जो आह्निकसूत्रावलि में इस प्रकार से उद्धृत है-

प्रतिपद्दर्शषष्ठीषु नवम्यां रविवासरे।
दंतानां काष्ठसंयोगो दहत्यासप्तमं कुलम्॥

परन्तु जैनशासन की ऐसी शिक्षाएँ नहीं हैं, और इसलिये भट्टारकजी का उक्त कथन भी जैन मत के विरुद्ध है।

घर पर ठंडे जल से स्नान न करने की आज्ञा

(५) भट्टारकजी ने एक खास आज्ञा और भी जारी की है और वह यह है कि ''घर पर कभी ठंडे जल से स्नान न करना चाहिए।'' आप लिखते हैं-

अभ्यङ्गे चैव मांगल्ये गृहे चैव तु सर्वदा।
शीतोदकेन न स्नायान्न धार्यं तिलकं तथा॥३-५५॥

अर्थात्–तेल मला हो या कोई मांगलिक कार्य करना हो उस वक्त, और घर पर हमेशा ही ठंडे जल से स्नान न करना चाहिए और न वैसे स्नान किये बिना तिलक ही धारण करना चाहिए।

यहाँ तेल की मालिश के अवसर पर गर्म जल से स्नान की बात तो किसी तरह पर समझ में आ सकती है, परन्तु घर पर सदा ही गर्म जल से स्नान करने की अथवा ठंडे जल से कभी भी स्नान न करने की बात कुछ समझ में नहीं आती। मालूम नहीं उसका क्या कारण है और वह किस आधार पर अवलम्बित है। क्या ठंडे जल से स्नान नदी सरोवरादिक तीर्थों पर ही होता है अन्यत्र नहीं? और घर पर उसके कर लेने से जलदेवता रुष्ट हो जाते हैं? यदि ऐसा कुछ नहीं तो फिर घर पर ठंडे जल से स्नान करने में कौन बाधक है? ठंडा जल स्वास्थ्य के लिए बहुत लाभदायक है और गर्म जल प्रायः रोगी तथा अशक्त गृहस्थों के लिये बतलाया गया है। ऐसी हालत में भट्टारकजी की उक्त आज्ञा समीचीन मालूम नहीं होती, वह जैनशासन के विरुद्ध जँचती है। लोक व्यवहार भी प्रायः उसके विरुद्ध है। लौकिक जन, ऋतु आदि के अनुकूल, घर पर स्नान के लिये ठंडे तथा गर्म दोनों प्रकार के जल का व्यवहार करते हैं।

हाँ, हिन्दुओं के धर्म शास्त्रों से एक बात का पता चलता है और वह यह कि उनके यहाँ नदी आदि तीर्थों पर ही स्नान करने का विशेष माहात्म्य है, उसी से स्नान का फल माना गया है, अन्यत्र के स्नान से महज शरीर की शुद्धि होती है, स्नान का जो पुण्यफल है वह नहीं मिलता और इसलिये उनके यहाँ तीर्थाभाव में अथवा तीर्थ से बाहर (घर पर) उष्ण जल से स्नान कर लेने की भी व्यवस्था की गई है। सम्भव है उसका एकान्त लेकर ही भट्टारकजी को यह आज्ञा जारी करने की सूझी हो, जो मान्य किये जाने के योग्य नहीं। अन्यथा, हिन्दुओं के यहाँ भी दोनों प्रकार के स्नान का विधान पाया जाता है। यथा–

नित्यं नैमित्तिकं स्नानं क्रियाङ्गं मलकर्षणम्।
तीर्थाभावे तु कर्तव्यमुष्णोदकपरोदकैः॥ यमः॥
कुर्यान्नैमित्तिकं स्नानं शीताद्भिः काम्यमेव च।
नित्यं यादृच्छिकं चैव यथारुचि समाचरेत्॥ चंद्रिका॥ –इति स्मृतिरत्नाकरे।

भट्टारकजी ने अपने उक्त पद्य से पहले 'आपः स्वभावतः शुद्धाः' नाम का जो पद्य गर्म जल से स्नान की प्रशंसा में दिया है वह भी हिन्दू ग्रन्थों से उठाकर रखा है। स्मृतिरत्नाकर में, वह साधारण से पाठ भेद[५१] के साथ, प्रायः ज्यों का त्यों पाया जाता है और उसे आतुरविषयक– रोगी तथा अशक्तों के स्नान सम्बन्धी–– सूचित किया है, जिसे भट्टारकजी ने शायद नहीं समझा और वैसे ही अगले पद्य में समूचे गृहस्नान के लिये सदा को ठंडे जल का निषेध कर दिया!!

शूद्रत्व का अद्भुत योग

५१. वह पाठ भेद 'शुद्धाः' की जगह 'मेध्याः' 'वन्हिता पिताः' की जगह 'वन्हिसंयुताः' और 'अतः' की जगह 'तेन' इतना ही है जो कुछ अर्थ भेद नहीं रखता।

(६) दूसरे अध्याय में, स्नान का विधान करते हुए, भट्टारकजी लिखते हैं कि 'जो गृहस्थ सात दिन तक जल से स्नान नहीं करता वह शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है–शूद्र बन जाता है'। यथा–

सप्ताहान्यम्भसाऽस्नायी गृही शूद्रत्वमाप्नुयात्॥९७॥

शूद्रत्व के इस अद्भुत योग अथवा नूतन विधान को देखकर बड़ा आश्चर्य होता है और समझ में नहीं आता कि एक ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य महज सात दिन के स्नान न करने से कैसे शूद्र बन जाता है। कहाँ से शूद्रत्व उसके भीतर घुस जाता है? क्या शूद्र का कर्म स्नान न करना है? अथवा शूद्र स्नान नहीं किया करते? शूद्रों को बराबर स्नान करते हुए देखा जाता है, और उनका कर्म स्नान न करना कहीं भी नहीं लिखा। स्वयं भट्टारकजी ने सातवें अध्याय में शूद्रों का कर्म त्रिवर्णों की सेवा तथा शिल्प कर्म बतलाया है और यहाँ तक लिखा है, कि ये चारों वर्ण अपने अपने नियत कर्म के विशेष से कहे गये हैं, जैनधर्म को पालन करने में इन चारों वर्णों के मनुष्य परम समर्थ हैं और उसे पालन करते हुए वे सब परस्पर में भाई-भाई के समान हैं। यथा–

विप्रक्षत्रियवैश्यानां शूद्रास्तु सेवका मता॥१४०॥
तेषु नानाविधं शिल्पं कर्म प्रोक्तं विशेषत:॥१४१॥
विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा: प्रोक्ता: क्रियाविशेषत:।
जैनधर्मे परा: शक्तास्ते सर्वे बान्धवोपमा:॥१४२॥

फिर आपका यह लिखना कि सात दिन तक स्नान न करने से कोई शूद्र हो जाता है, कितना असंगत है और शूद्रों के प्रति कितना तिरस्कार का द्योतक तथा अन्यायमय है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। हाँ, यदि कोई द्विज अर्से तक शिल्पादि कर्म करता रहे तो उसे भट्टारकजी अपने लक्षण के अनुसार शूद्र कह सकते थे परन्तु स्नान न करना कोई शूद्र कर्म नहीं है। उसके लिये रोगादिक के अनेक कारण सभी के लिये हो सकते हैं और इसलिये महज उसकी वजह से किसी में शूद्रत्व का योग नहीं किया जा सकता। मालूम नहीं सात दिन के बाद यदि वह गृहस्थ फिर नहाना शुरू कर देवे तो भट्टारकजी की दृष्टि में उसका वह शूद्रत्व दूर होता है या कि नहीं? ग्रन्थ में इसके बाबत कुछ लिखा नहीं!!

(७) तीसरे अध्याय में भट्टारकजी उस मनुष्य को जीवन भर के लिए शूद्र ठहराते हैं और मरने पर कुत्ते की योनि में जाना बतलाते हैं, जो संध्याकाल प्राप्त होने पर भी संध्या नहीं करता है!! यथा–

संध्याकाले तु सम्प्राप्ते सन्ध्यां नैवमुपासते।
जीवमानो भवेच्छूद्र: मृत: श्वा चैव जायेते॥१४१॥

यहाँ भी पूर्ववत् शूद्रत्व का अद्भुत योग किया गया है और इससे यह भी ध्वनित होता है कि शूद्र को संध्योपासन का अधिकारी नहीं समझा गया। परन्तु यह हिन्दूधर्म की शिक्षा है, जैनधर्म की शिक्षा नहीं। जैनधर्म के अनुसार शूद्र संध्योपासन के अधिकार से वंचित नहीं रखा जा सकता। जैनधर्म में उसे नित्य पूजन का अधिकार दिया गया है।[५२] वह त्रिसंध्या सेवा का अधिकारी है और ऊँचे दर्जे

का श्रावक हो सकता है। इसी से सोमदेव सूरि तथा पं० आशाधरजी ने भी आचारादि की शुद्धि को प्राप्त हुए शूद्र को ब्राह्मणादिक की तरह से धर्मक्रियाओं के करने का अधिकारी बतलाया है, जैसा कि उनके निम्न वाक्यों से प्रकट है–

"आचाराऽनवद्यत्वं शुचिरुपस्कारः शरीरशुद्धिश्च करोति शूद्रानपि देवद्विजातिपरिकर्मसु योग्यान्।" –नीतिवाक्यामृत।

"अथ शूद्रस्याप्याहारादिशुद्धिमतो ब्राह्मणादिवद्धर्मक्रियाकारित्वं यथोचितमनुमन्यमानः प्राह–

शूद्रोऽप्युपस्कराचारवपुःशुध्यास्तु तादृशः।
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्मास्ति धर्मभाक्॥"

–सागारधर्मामृत सटीक।

इसके सिवाय, भट्टारकजी ऊपर उद्धृत किये हुए पद्य नं० १४२ में जब स्वयं यह बतला चुके हैं कि शूद्र भी जैनधर्म का पालन करने में 'परम समर्थ' हैं तो फिर वे संध्योपासन कैसे नहीं कर सकते और कैसे यह कहा जा सकता है कि जो संध्यासमय संध्योपासन नहीं करता वह जीवित शूद्र होता है? मालूम होता है यह सब कुछ लिखते हुए भट्टारकजी जैनत्व को अथवा जैनधर्म के स्वरूप को बिल्कुल ही भूल गये हैं और उन्होंने बहुधा आँख मींचकर हिन्दूधर्म का अनुसरण किया है। हिन्दुओं के यहाँ शूद्रों को संध्योपासन का अधिकार नहीं वे बेचारे वेदमंत्रों का उच्चारण तक नहीं कर सकते– इसलिये उनके यहाँ ऐसे वाक्य बन सकते हैं। यह वाक्य भी उन्हीं के वाक्यों पर से बनाया गया अथवा उन्हीं के ग्रन्थों पर से उठाकर रखा गया है। इस वाक्य से मिलता जुलता 'मरीचि' ऋषि का एक वाक्य इस प्रकार है–

संध्या येन न विज्ञाता संध्या येनानुपासिता।
जीवमाना भवेच्छूद्रः मृतः श्वा चाभिजायेते॥ –आह्निकसूत्रावलि।

इस पद्य का उत्तरार्द्ध और भट्टारकजी के पद्य का उत्तरार्द्ध दोनों एक हैं और यही उत्तरार्द्ध जैनदृष्टि से आपत्ति के योग्य है। इसमें मरकर कुत्ता होने का जो विधान है वह भी जैनसिद्धान्तों के विरुद्ध है। संध्या के इस प्रकरण में और भी कितने ही पद्य ऐसे हैं जो हिन्दूधर्म के ग्रन्थों से ज्यों के त्यों उठाकर अथवा कुछ बदल कर रखे गये हैं, जैसे 'उत्तमा तारकोपेता', 'अन्होरात्रेश्च यः सन्धिः' और 'राष्ट्रभंगे नृपक्षोभे' आदि पद्य। और इस तरह पर बहुधा हिन्दू धर्म की ओंधी सीधी नकल की गई है।

(८) ग्याहरवें अध्याय में शूद्रत्व का एक और विचित्र योग किया गया है और वह यह कि 'जो कन्या विवाह संस्कार से पहले पिता के घर पर ही रजस्वला हो जाये' उसे 'शूद्रा (वृषली)' बतलाया गया है और जो विवाह करे उसे शूद्रापति (वृषलीपति) संज्ञा दी गई है। यथा–

---

५२. शूद्रों के इस सब अधिकार को अच्छी तरह से जानने के लिये लेखक की लिखी हुई 'जिनपूजाऽधिकार मीमांसा' नामक पुस्तक को देखना चाहिए।

पितुर्गृहे तु या कन्या रजः पश्येदसंस्कृता।
सा कन्या वृषली ज्ञेया तत्पतिर्वृषलीपतिः॥१९६॥

मालूम नहीं इसमें कन्या का क्या अपराध समझा गया और उसके स्त्रीधर्म की स्वाभाविक प्रवृति में शूद्र की वृत्ति का कौन-सा संयोग हो गया जिसकी वजह से वह बेचारी 'शूद्रा' करार दी गई!! इस प्रकार की व्यवस्था से जैनधर्म का कोई सम्बन्ध नहीं। यह भी उसके विरुद्ध हिन्दूधर्म की ही शिक्षा है और उक्त श्लोक भी हिन्दू धर्म की चीज है-हिन्दुओं की विष्णुसंहिता[५३] के २४वें अध्याय में वह नं० ४१ पर दर्ज है, सिर्फ उसका चौथा चरण यहाँ बदला हुआ है और 'पितृवेश्मनि' की जगह 'पितुर्गृहे तु' बनाया गया अथवा पाठान्तर जान पड़ता है। प्रायः इसी आशय के दो पद्य 'उद्वाहतत्त्व' में भी पाये जाते हैं, जिन्हें शब्दकल्पद्रुमकोश में निम्नप्रकार से उद्धृत किया है-

"पितुर्गेहे च या कन्या रजः पश्यत्यसंस्कृता।
भ्रूणहत्या पितुस्तस्याः सा कन्या वृषली स्मृता॥"
"यस्तु तां वरयेत्कन्यां ब्राह्मणो ज्ञानदुर्बलः।
अश्वाद्धेयमपांक्तेयं तं विद्याद् वृषलीपतिम्॥"

इसके सिवाय, ब्रह्मवैवर्तपुराण में भी 'यदि शूद्रां व्रजेद्विप्रो वृषलीपतिरेव सः' वाक्य के द्वारा शूद्रगामी ब्राह्मण को वृषलीपति ठहराया है। इस तरह पर यह सब हिन्दूधर्म की शिक्षा है जिसको भट्टारकजी ने जैनधर्म के विरुद्ध अपनाया है। जैनधर्म के अनुसार किसी व्यक्ति में इस तरह पर शूद्रत्व का योग नहीं किया जा सकता। यदि ऐसे भी शूद्रत्व का योग होने लगे तब तो शूद्र स्त्रियों की नहीं किन्तु पुरुषों की भी संख्या बहुत बढ़ जाये और लाखों कुटुम्बों को शूद्र सन्तति में परिगणित करना पड़े!!

नरकालय में वास

(९) शायद पाठक यह सोचते हों कि कन्या यदि विवाह से पहले रजस्वला हो जाती है तो उसमें कन्या का कोई अपराध नहीं। वह अपराध तो उस समय से पहले उसका विवाह न करने वालों का है जिन्हें कोई सजा नहीं दी गई और बेचारी कन्या को नाहक शूद्रा (वृषली) करार दे दिया गया! परन्तु इस चिंता की जरूरत नहीं। भट्टारकजी ने पहले ही उनके लिये कड़े दण्ड की व्यवस्था की है और पीछे कन्या को शूद्रा ठहराया है। आप उक्त पद्य से पूर्ववर्ती पद्य में ही लिखते हैं कि यदि कोई अविवाहिता कन्या रजस्वला हो जाये तो समझ लीजिये कि उसके माता-पिता और भाई सब नरकालय में पड़े-अर्थात्, उसके रजस्वला होते ही उन सब के नरकवास की रजिस्ट्री हो जाती है शायद नरकायु बँध जाती है और उन्हें नरक में जाना पड़ता है।[५४] यथा-

५३. देखो बंगवासी प्रेस कलकत्ता का सं० १९६४ का छपा हुआ संस्करण।

असंस्कृता तु या कन्या रजसा चेत्परिप्लुता।
भ्रातरः पितरस्तस्याः पतिता नरकालये॥१९५॥

पाठकगण! देखा, कितना विलक्षण, भयंकर और कठोर ऑर्डर है। क्या कोई शास्त्री पंडित जैनसिद्धान्तों से-जैनियों की कर्म फिलॉसाफी से इस आर्डर अथवा विधान की संगति ठीक बिठा सकता है? अथवा यह सिद्ध कर सकता है कि ऐसी कन्याओं के माता-पिता और भाई अवश्य नरक जाते हैं? कदापि नहीं। इसके विरुद्ध में असंख्य प्रमाण जैन शास्त्रों से ही उपस्थित किये जा सकते हैं। उदाहरण के लिये, यदि भट्टारकजी की इस व्यवस्था को ठीक माना जाये तो कहना होगा कि ब्राह्मी और सुन्दरी कन्याओं के पिता भगवान् ऋषभदेव, माताएँ यशस्वती (नंदा) तथा सुनंदा और भाई बाहुबलि तथा भरत चक्रवर्ती आदिक सब नरक गये, क्योंकि ये दोनों कन्याएँ युवावस्था में घर पर अविवाहिता रहीं और तब वे रजस्वला भी हुई, यह स्वाभाविक है। परन्तु ऐसा कोई भी जैनी नहीं कह सकता। सब जानते हैं कि भगवान् ऋषभदेव और उनके सब पुत्र निर्वाण को प्राप्त हुए और उक्त दोनों माताएँ भी ऊँची देवगति को प्राप्त हुईं। इसी तरह सुलोचना आदि हजारों ऐसी कन्याओं के उदाहरण भी सामने रखे जा सकते हैं जिनके विवाह युवावस्था में हुए जबकि वे रजोधर्म से युक्त हो चुकी थीं और उनके कारण उनके माता-पिता तथा भाइयों को कहीं भी नरक जाना नहीं पड़ा। अतः भट्टारकजी का यह सब कथन जैनधर्म के अत्यंत विरुद्ध है और हिन्दूधर्म की उसी शिक्षा से सम्बन्ध रखता है जो एक अविवाहिता कन्या को पिता के घर पर रजस्वला हो जाने पर शूद्रा ठहराता है। इस प्रकार के विधिवाक्यों तथा उपदेशों ने ही समाज में बाल विवाह का प्रचार किया है और उसके द्वारा समाज तथा धर्म को भारी, निःसीम, अनिवर्चनीय तथा कल्पनातीत हानि पहुँचाई है। ऐसे जहरीले उपदेश जब तक समाज में कायम रहेंगे और उन पर अमल होता रहेगा तब तक समाज का कभी उत्थान नहीं हो सकता, वह पनप नहीं सकता और न उसमें धार्मिक जीवन ही आ सकता है। ऐसी छोटी उम्र में कन्या का विवाह महज उसी के लिये घातक नहीं है बल्कि देश, धर्म और समाज तीनों के लिये घातक है। वास्तव में माता पिता का यह कोई खास फर्ज अथवा कर्तव्य नहीं है कि वे अपनी संतान का विवाह करें ही करें और वह भी छोटी उम्र में। उनका मुख्य कर्तव्य तथा धर्म है संतान को सुशिक्षित करना, अनेक प्रकार की उत्तम विद्याएँ तथा कलाएँ सिखलाना, खोटे संस्कारों से उसे अलग रखना, उसकी शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों को विकसित करके उनमें दृढ़ता लाना, उसे जीवन युद्ध में स्थिर रहने तथा विजयी होने के योग्य बनाना अथवा अपनी संसार यात्रा का सुखपूर्वक निर्वाह करने की क्षमता पैदा कराना और साथ ही उसमें सत्य, प्रेम, धैर्य, उदारता, सहनशीलता तथा परोपकारता आदि मनुष्योचित गुणों का संचार कराके उसे देश, धर्म तथा समाज के लिये उपयोगी बनाना। और यह सब तभी हो सकता है जबकि ब्रह्मचर्याश्रम के काल को गृहस्थाश्रम का काल न बनाया जावे

५४. यदि उनमें से पहले कोई स्वर्ग चले गये हों तो क्या उन्हें भी खींचकर पीछे से नरक में आना होगा? कुछ समझ में नहीं आता!

अथवा विवाह जैसे महत्त्व तथा जिम्मेदारी के कार्य को एक खेल या तमाशे का रूप न दिया जाये, जिसका दिया जाना नाबालिगों का विवाह रचाने की हालत में जरूर समझा जायेगा। खेद है कि भट्टारकजी ने इन सब बातों पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और वैसे ही दूसरों की देखादेखी ऊटपटाँग लिख मारा जो किसी तरह भी मान्य किये जाने के योग्य नहीं है।

नग्न की विचित्र परिभाषा

(१०) तीसरे अध्याय में, बिना किसी पूर्वापर सम्बन्ध अथवा जरूरत के, 'नग्न की परिभाषा बतलाने को ढाई श्लोक निम्न प्रकार से दिये हैं–

अपवित्रपटो नग्नो नग्नश्चार्धपटः स्मृतः।
नग्नश्च मलिनोद्वासी नग्नः कौपीनवानपि॥२१॥
कषायवाससा नग्नो नग्नश्चानुत्तरीयमान्।
अंतःकच्छो बहिःकच्छो मुक्तकच्छस्तथैव च॥२२॥
साक्षान्नग्नः स विज्ञेयो दश नग्नाः प्रकीर्तिताः।

इन श्लोकों में भट्टारकजी ने दस प्रकार के मनुष्यों को 'नग्न' बतलाया है–अर्थात्, जो लोग अपवित्र वस्त्र पहने हुए हों, आधा वस्त्र पहने हों, मैले कुचैले वस्त्र पहने हुए हों, लँगोटी लगाए हुए हों, भगवे वस्त्र पहने हुए हों, महज धोती पहने हुए हों, भीतर कच्छ लगाए हुए हों, बाहर कच्छ लगाए हुए हों, कच्छ बिल्कुल न लगाए हुए हों, और वस्त्र से बिल्कुल रहित हों, उन सब को 'नग्न' ठहराया है। मालूम नहीं भट्टारकजी ने नग्न की यह परिभाषा कहाँ से की है। प्राचीन जैनशास्त्रों में तो खोजने पर भी इसका कहीं कुछ पता चलता नहीं!! आम तौर पर जैनियों में 'जातरूपधरो नग्नः' की प्रसिद्धि है। भट्टाकलंकदेव ने भी राजवार्तिक में 'जातरूपधारणं नाग्न्यं' ऐसा लिखा है। और यह अवस्था सर्व प्रकार के वस्त्रों से रहित होती है। इसी से अमरकोश में भी 'नग्नोऽवासा दिगम्बरे' वाक्य के द्वारा वस्त्ररहित, दिगम्बर और नग्न तीनों को एकार्थवाचक बतलाया है। इससे भट्टारकजी की उक्त दशभेदात्मक परिभाषा बड़ी ही विचित्र जान पड़ती है। उनके दस भेदों में से अर्धवस्त्रधारी और कौपीनवान् आदि को तो किसी तरह पर 'एकदेशनग्न' कहा भी जा सकता है, परन्तु जो लोग बहुत से मैले कुचैले या अपवित्र वस्त्र पहने हुए हों अथवा इससे भी बढ़कर सर से पैर तक पवित्र भगवे वस्त्र धारण किये हुए हों उन्हें किस तरह पर 'नग्न' कहा जाये, यह कुछ समझ में नहीं आता!! जरूर, इसमें कुछ रहस्य है। भट्टारक लोग वस्त्र पहनते हैं, बहुधा भगवे (कषाय) वस्त्र धारण करते हैं और अपने को 'दिगम्बर मुनि' कहते हैं। संभव है, उन्हें नग्न दिगम्बर मुनियों की कोटि में लाने के लिये ही यह नग्न की परिभाषा गढ़ी गई हो। अन्यथा, भगवे वस्त्र वालों को तो हिन्दू ग्रन्थों में भी नग्न लिखा हुआ नहीं मिलता। हिन्दुओं के यहाँ पंच प्रकार के नग्न बतलाये गये हैं और वह पंच प्रकार की संख्या भी विभिन्न रूप से पाई जाती है। यथा–

''द्विकच्छः कच्छशेषश्च मुक्तकच्छस्तथैव च।
एकवासा अवासाश्च नग्नः पंचविधः स्मृतः॥–आह्निक तत्त्व।
''नग्नो मलिनवस्त्रः स्यान्नग्नो नीलपटस्तथा।
विकक्ष्योऽनुत्तरीयश्च नग्नश्चावस्त्र एव च॥
''अकच्छः पुच्छकच्छो वाऽद्विकच्छः कटिवेष्टितः।
कौपीनकधरश्चेव नग्नः पंचविधः स्मृतः॥ –स्मृतिरत्नाकर।

जान पड़ता है हिन्दूग्रन्थों के कुछ ऐसे श्लोकों पर से ही भट्टारकजी ने अपने श्लोकों की रचना की है और उनमें 'कषायवाससा नग्नः' जैसी कुछ बातें अपने मतलब के लिये शामिल कर ली हैं।

अधौत का अद्भुत लक्षण

(११) तीसरे अध्याय में ही भट्टारकजी, 'अधौत' का लक्षण बतलाते हुए, लिखते हैं–

ईषद्धौतं स्त्रिया धौतं शूद्रधौतं च चेटकैः।
बालकैर्धौतमज्ञानैरधौतमिति भाष्यते॥३२॥

अर्थात्–जो (वस्त्र) कम धुला हुआ हो, किसी स्त्री का धोया हुआ हो, शूद्रों का धोया हुआ हो, नौकरों का धोया हुआ हो या अज्ञानी बालकों का धोया हुआ हो उसे 'अधौत'–बिना धुला हुआ कहते हैं।

इस लक्षण में कम धुले हुए और अज्ञानी बालकों के धोये हुए वस्त्रों को अधौत कहना तो कुछ समझ में आता है परन्तु स्त्रियों, शूद्रों और नौकरों के धोये हुए वस्त्रों को भी जो अधौत बतलाया गया है वह किस आधार पर अवलम्बित है, यह कुछ समझ में नहीं आता। क्या ये लोग वस्त्र धोना नहीं जानते अथवा नहीं जान सकते? जरूर जानते हैं और थोड़े से ही अभ्यास से बहुत अच्छा कपड़ा धो सकते हैं। शूद्रों में धोबी (रजक) तो अपनी स्त्री सहित वस्त्र धोने का ही काम करता है और उसके धोये हुए वस्त्रों को सभी लोग पहनते हैं। इसके सिवाय, लाखों स्त्रियाँ तथा नौकर वस्त्र धोते हैं और उनके धोए हुए वस्त्र लोक में अधौत नहीं समझे जाते। फिर नहीं मालूम भट्टारकजी किस न्याय अथवा सिद्धान्त से ऐसे लोगों के द्वारा धुले हुए अच्छे से अच्छे वस्त्र को भी अधौत कहने का साहस करते हैं!! क्या आप त्रैवर्णिक स्त्रियों तथा नौकरों को मलिनता का पुंज समझते हैं जो उनके स्पर्श से धौत वस्त्र भी अधौत हो जाते हैं। यदि ऐसा है तब तो बड़ी गड़बड़ी मचेगी और घर का कोई भी सामान पवित्र नहीं रह सकेगा। सभी को उनके स्पर्श से अपवित्र होना पड़ेगा। और यदि वैसा नहीं है तो फिर दूसरी कोई भी ऐसी वजह नहीं हो सकती जिससे उनके द्वारा अच्छी तरह से धौत वस्त्र को भी अधौत करार दिया जाये। वास्तव में इस प्रकार का विधान स्त्री जाति आदि का स्पष्ट अपमान है, और वह जैननीति अथवा जैनशासन के भी विरुद्ध है। जैनशासन का स्त्रियों तथा शूद्रों के प्रति ऐसा घृणात्मक व्यवहार नहीं है, वह इस विषय में बहुत कुछ उदार है। हाँ, हिन्दूधर्म की ऐसी शिक्षा जरूर पाई जाती है। उसके 'दक्ष' ऋषि स्त्रियों तथा शूद्रों के धोए वस्त्र को सब कामों में गर्हित बतलाते हैं। यथा–

ईषद्धौतं स्त्रिया धौतं शूद्रधौतं तथैव च।
प्रतारितं यमदिशि गर्हितं सर्वकर्मसु॥ आन्हिक सूत्रावलि

इस श्लोक का पूर्वार्द्ध और भट्टारकजी के श्लोक का पूर्वार्द्ध दोनों प्राय: एक हैं, सिर्फ 'तथैव' को भट्टारकजी ने 'चेटकै:' में बदला है और इस परिवर्तन के द्वारा उन नौकरों के धोए हुए वस्त्रों को भी तिरस्कृत किया है जो शूद्रों से भिन्न 'त्रैवर्णिक' ही हो सकते हैं।

इसी तरह हिन्दूओं के 'कर्मलोचन' ग्रन्थ में स्त्री तथा धोबी के धोए हुए वस्त्र को 'अधौत' करार दिया गया है, जैसा कि 'शब्दकल्पद्रुम में उद्धृत उसके निम्न वाक्य से प्रकट है–

ईषद्धौतं स्त्रिया धौतं यद्धौतं रजकेन च।
अधौतं तद्विजानीयाद्दशा दक्षिणपश्चिमे॥

ऐसे ही हिन्दू वाक्यों पर से भट्टारकजी के उक्त वाक्य की सृष्टि हुई जान पड़ती है। परन्तु इस घृणा तथा वहम के व्यापार में भट्टारकजी हिन्दुओं से एक कदम और भी आगे बढ़े हुए मालूम होते हैं- उन्होंने त्रैवर्णिक सेवकों के धोए वस्त्रों को ही तिरस्कृत नहीं किया, बल्कि पहले दिन के खुद के धोए हुए वस्त्रों को भी तिरस्कृत किया है। आप लिखते हैं 'अधौत (बिना धोया हुआ), कारु धौत (शिल्पि शूद्रों का धोया हुआ) और पूर्वेद्युर्धौत (पहले दिन का धोया हुआ) ये तीनों प्रकार के वस्त्र सर्व कार्यों के अयोग्य हैं- किसी भी काम को करते हुए इनका व्यवहार नहीं करना चाहिए।' यथा–

अधौतं कारुधौतं वा पूर्वेद्युर्धौतमेव च।
त्रयमेतदसम्बन्धं सर्वकर्मसु वर्जयेत्॥३१॥

पाठकगण! देखा, इस वहम का भी कहीं कुछ ठिकाना है!! मालूम नहीं पहले दिन धोकर अहतियात से रखे हुए कपड़े भी अगले दिन कैसे बिगड़ जाते हैं। क्या हवा लगकर खराब हो जाते हैं या धरे-धरे बुस जाते हैं? और जब वह पहले दिन का धोया हुआ वस्त्र अगले दिन काम नहीं आ सकता तो फिर प्रात: संध्या भी कैसे हो सकेगी, जिसे भट्टारकजी ने इसी अध्याय में सूर्योदय से पहले समाप्त कर देना लिखा है। क्या प्रात:काल उठकर धोये हुए वस्त्र उसी वक्त सूख सकेंगे, या गीले वस्त्रों में ही संध्या करनी होगी? खेद है भट्टारकजी ने इन सब बातों को कुछ भी नहीं सोचा और न यही ख्याल किया कि ऐसे नियम से समय का कितना दुरुपयोग होगा। सच है वहम की गति बड़ी ही विचित्र है उसमें मनुष्य का विवेक बेकार-सा हो जाता है। उसी वहम का यह भी एक परिणाम है, जो भट्टारकजी ने अधौत के लक्षण में शूद्रधौत आदि को शामिल करते हुए भी यहाँ 'कारुधौत' का एक तीसरा भेद अलग वर्णन किया है। अन्यथा, शूद्रधौत और चेटकधौत से भिन्न 'कारुधौत' कुछ भी नहीं रहता। अधौत के लक्षण की मौजूदगी में उसका प्रयोग बिल्कुल व्यर्थ और खालिस वहम जान पड़ता है। इस प्रकार के वहमों से यह ग्रन्थ बहुत कुछ भरा पड़ा है।

पति के विलक्षण धर्म

(१२) आठवें अध्याय में, गर्भिणी स्त्री के पति-धर्मों का वर्णन करते हुए, भट्टारकजी लिखते

हैं–

पुंसो भार्या गर्भिणी यस्य चासौ सूनोश्चौलं क्षौरकर्मात्मनश्च।
गेहारंभं स्तंभसंस्थापनं च वृद्धिस्थानं दूरयात्रां न कुर्यात्॥८६॥
शवस्य वाहनं तस्य दहनं सिन्धुदर्शनम्।
पर्वतारोहणं चैव न कुर्याद्गर्भिणीपतिः॥८७॥

अर्थात्–जिस पुरुष की स्त्री गर्भवती हो उसे (उस स्त्री से उत्पन्न) पुत्र का चौलकर्म नहीं करना चाहिए, स्वयं हजामत नहीं बनवानी चाहिए, नये मकान की तामीर न करनी चाहिए, कोई खंभा खड़ा न करना चाहिए, न वृद्धिस्थान बनाना चाहिए और न कहीं दूर यात्रा को ही जाना चाहिए। इसके सिवाय, वह मुर्दे को न उठाए, न उसे जलाए, न समुद्र को देखे और न पर्वत पर चढ़े।

पाठकगण! देखा, कैसे विलक्षण धर्म हैं!! इनमें से दूर यात्रा को न जाने जैसी बात तो कुछ समझ में आ भी सकती है परन्तु गर्भावस्था पर्यन्त पति का हजामत न बनवाना, कहीं पर भी किसी नये मकान की रचना अथवा वृद्धिस्थान की स्थापना न करना, समुद्र को न देखना और पर्वत पर न चढ़ना जैसे धर्मों का गर्भ से क्या सम्बन्ध है और उनका पालन न करने से गर्भ, गर्भिणी अथवा गर्भिणी के पति को क्या हानि पहुँचती है, यह सब कुछ भी समझ में नहीं आता। इन धर्मों के अनुसार गर्भिणी के पति को आठ नौ महीने तक नख केश बढ़ाकर रहना होगा, किसी कुटुम्बी अथवा निकट सम्बन्धी के मर जाने पर आवश्यकता होते हुए भी उसकी अर्थी को कंधा तक न लगाना होगा, वह यदि बम्बई जैसे शहर में समुद्र के किनारे तट पर रहता है तो उसे वहाँ का अपना वासस्थान छोड़कर अन्यत्र जाना होगा अथवा आँखों पर पट्टी बाँधकर रहना होगा जिससे समुद्र दिखाई न पड़े, वह निकट की ऐसी तीर्थयात्रा भी नहीं कर सकेगा जिसका पर्वत कूटों से सम्बन्ध हो, और अगर वह मंसूरी–शिमला जैसे पार्वतीय प्रदेशों का रहने वाला है तो उसे उस वक्त उन पर्वतों से नीचे उतर आना होगा, क्योंकि वहाँ रहते तथा कारोबार करते वह पर्वतारोहण के दोष से बच नहीं सकता। परन्तु ऐसा करना कराना, अथवा इस रूप से प्रवर्तना कुछ भी इष्ट तथा युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। जैन सिद्धान्तों तथा जैनों के आचार–विचार से इन धर्मों की कोई संगति ठीक नहीं बैठती और न ये सब धर्म, जैन दृष्टि से, गर्भिणीपति के कर्तव्य का कोई आवश्यक अंग जान पड़ते हैं। इन्हें भी भट्टारकजी ने प्रायः हिन्दूधर्म से लिया है। हिन्दूओं के यहाँ इस प्रकार के कितने ही श्लोक पाये जाते हैं, जिनमें से दो श्लोक शब्दकल्पद्रुम कोश से नीचे उद्धृत किये जाते हैं–

''क्षौरं शवानुगमनं नखकृन्तनं च युद्धादिवास्तुकरणं त्वतिदूरयानं।
उद्वाहमौपनयनं जलधेश्च गाहमायुःक्षयार्थमिति गर्भिणिकापतीनाम्॥''

–मुहूर्त्तदीपिका।

''दहनं वपनं चैव चौलं वै गिरिरोहणम्।
नाव आरोहणं चैव वर्जयेद्गर्भिणीपतिः॥''–रत्नसंग्रहे, गालवः।

इनमें से पहले श्लोक में क्षौर (हजामत) आदि कर्मों को जो गर्भिणी के पति की आयु के क्षय का कारण बतलाया है वह जैनसिद्धांत के विरुद्ध है। और इसलिये हिन्दू धर्म के ऐसे कृत्यों का अनुकरण करना जैनियों के लिये श्रेयस्कर नहीं हो सकता। जिनका उद्देश्य तथा शिक्षा जैन तत्त्वज्ञान के विरुद्ध है। उसी उद्देश्य तथा शिक्षा को लेकर उनका अनुष्ठान करना, निःसंदेह, मिथ्यात्व का वर्धक है। खेद है भट्टारकजी ने इन सब बातों पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और वैसे ही बिना सोचे समझे अथवा हानि लाभ का विचार किये दूसरों की नकल कर बैठे!!

आसन की अनोखी फलकल्पना

(१३) तीसरे अध्याय में, संध्योपासन के समय चारों ही आश्रम वालों के लिये पंचपरमेष्ठी के जप का विधान करते हुए, भट्टारकजी ने कुछ आसनों का जो फल वर्णन किया है उसका एक श्लोक इस प्रकार है–

वंशासने दरिद्रः स्यात्पाषाणे व्याधिपीडितः।
धरण्यां दुःखसंभूतिर्दौर्भाग्यं दारुकासने॥१०७॥

इस श्लोक में यह बतलाया गया है कि ''(जप के समय) बाँस के आसन पर बैठने से मनुष्य दरिद्री, पाषाण के आसन पर बैठने से व्याधि से पीड़ित, पृथ्वी पर ही आसन लगाने से दुःखों का उत्पन्न-कर्ता और काष्ठ के आसन पर बैठने से दुर्भाग्य से युक्त होता है।''

आसन की यह फल कल्पना बड़ी ही अनोखी जान पड़ती है! मालूम नहीं, भट्टारकजी ने इसका कहाँ से अवतार किया है!! प्राचीन ऋषिप्रणीत किसी भी जैनागम में तो ऐसी फल व्यवस्था देखने में आती नहीं!! प्रत्युत इसके, 'ज्ञानार्णव' में योगिराज श्री शुभचंद्राचार्य ने यह स्पष्ट विधान किया है कि ''समाधि (उत्तम ध्यान) की सिद्धि के लिये काष्ठ के पट्ट पर, शिलापट्ट पर, भूमि पर अथवा रेत के स्थल पर सुदृढ़ आसन लगाना चाहिए।'' यथा–

दारुपट्टे शिलापट्टे भूमौ वा सिकतास्थले॥
समाधिसिद्धये धीरो विदध्यात्सुस्थिरासनम्॥२८-९॥

पाठकगण! देखा, जिन काष्ठ, पाषाण तथा भूमि के आसनों को योगीश्वर महोदय ने समाधि जैसे महान् कार्य के लिये अत्यंत उपयोगी-उसकी सिद्धि में खास तौर से सहायक बतलाया है-उन्हें ही भट्टारकजी क्रमशः दौर्भाग्य, व्याधि और दुःख के कारण ठहराते हैं! यह कितना विपर्यास अथवा आगम के विरुद्ध कथन है। उन्हें ऐसा प्रतिपादन करते हुए इतना भी स्मरण न हुआ कि इन आसनों पर बैठकर असंख्य योगीजन सद्गति अथवा कल्याण-परम्परा को प्राप्त हुए हैं। अस्तु, हिन्दूधर्म में भी इन आसनों को बुरा अथवा इस प्रकार के दुष्परिणामों का कारण नहीं बतलाया है बल्कि 'उत्तम' तथा 'प्रशस्त' आसन लिखा है। और इसलिये आसन की उक्त फलकल्पना अधिकांश में भट्टारकजी की प्रायः अपनी ही कल्पना जान पड़ती है, जो निराधार तथा निःसार होने से कदापि मान्य किये जाने

के योग्य नहीं। और भी कुछ आसनों का फल भट्टारकजी की निजी कल्पना द्वारा प्रसूत हुआ जान पड़ता है, जिसके विचार को यहाँ छोड़ा जाता है।

जूठन न छोड़ने का भयंकर परिणाम

(१४) बहुत से लोग, जिनमें त्यागी और ब्रह्मचारी भी शामिल हैं, यह समझे हुए हैं कि जूठन नहीं छोड़ना चाहिए-कुत्ते को भी अपना जूठा भोजन नहीं देना चाहिए, और इसलिये वे कभी जूठन नहीं छोड़ते। उन्हें यह जानकर आश्चर्य होगा कि भट्टारकजी ने ऐसे लोगों के लिये जो खा-पीकर बर्तन खाली छोड़ देते हैं- उनमें कुछ जूठा भोजन तथा पानी रहने नहीं देते-यह व्यवस्था दी है कि 'वे जन्म जन्म में भूख प्यास से पीड़ित होंगे, जैसा कि उनके निम्न व्यवस्था-पद्य से प्रकट है-

भुक्त्वा पीत्वा तु तत्पात्रं रिक्तं त्यजति यो नरः।
स नरः क्षुत्पिपासार्तो भवेज्जन्मनि जन्मनि॥६-२२५॥

मालूम नहीं भट्टारकजी ने जूठन न छोड़ने का यह भयंकर परिणाम कहाँ से निकाला है! अथवा किस आधार पर उसके लिये ऐसी दण्ड व्यवस्था की घोषणा की है!! जैन सिद्धान्तों से उनकी इस व्यवस्था का कोई समर्थन नहीं होता-कोई भी ऐसा व्यापक नियम नहीं पाया जाता जो ऐसे निरपराधियों को जन्म जन्म में भूख प्यास की वेदना से पीड़ित रखने के लिये समर्थ हो सके। हाँ, हिन्दूधर्म की ऐसी कुछ कल्पना जरूर है और उक्त पद्य भी प्रायः हिन्दूधर्म की ही सम्पत्ति जान पड़ता है। वह साधारण से पाठ भेद के साथ उनके स्मृतिरत्नाकर में उद्धृत मिलता है। वहाँ इस पद्य का पूर्वार्द्ध 'भुक्त्वा पीत्वा च यो मर्त्यः शून्यं पात्रं परित्यजेत्' ऐसा दिया है और उत्तरार्द्ध ज्यों का त्यों पाया जाता है-सिर्फ 'नर' के स्थान पर 'भूयः' पद का उसमें भेद है। और इस सब पाठभेद से कोई वास्तविक अर्थभेद उत्पन्न नहीं होता। मालूम होता है भट्टारकजी ने हिन्दूओं के प्रायः उक्त पद्य पर से ही अपना यह पद्य बनाया है अथवा किसी दूसरे ही हिंदू ग्रन्थ पर से उसे ज्यों का त्यों उठाकर रखा है। और इस तरह पर दूसरों द्वारा कल्पित हुई एक व्यवस्था का अंधाऽनुसरण किया है। भोजन प्रकरण का और भी बहुत-सा कथन अथवा क्रियाकांड इस अध्याय में हिन्दू ग्रन्थों से उठाकर रखा गया है और उसमें कितनी ही बातें निरर्थक तथा खाली वहम को लिये हुए हैं।

देवताओं की रोकथाम

(१५) हिन्दुओं का विश्वास है कि इधर उधर विचरते हुए राक्षसादिक देवता भोजन के सत्व अथवा अन्नबल को हर लेते हैं-खा जाते हैं-और इसलिये उनके इस उपद्रव की रोकथाम के वास्ते उन्होंने मंडल बनाकर भोजन करने की व्यवस्था की है।[५५] वे समझते हैं कि इस तरह गोल, त्रिकोण अथवा चतुष्कोणादि मंडलों के भीतर भोजन रखकर खाने से उन देवताओं की ग्रहण-शक्ति रुक जाती है और उससे भोजन की पूर्णशक्ति बनी रहती है। भट्टारकजी ने उनकी इस व्यवस्था को भी उन्हीं के

---

५५. गोमयं मंडलं कृत्वा भोक्तव्यमिति निश्चितम्। पिशाचा यातुधानाद्या अन्नादाः स्युरमंडले॥ -स्मृतिरत्नाकर।

विश्वास अथवा उद्देश्य के साथ अपनाया है। इसी से आप छठे अध्याय में लिखते हैं–

चतुरस्त्रं त्रिकोणं च वर्तुलं चार्धचन्द्रकम्।
कर्तव्यानुपूर्व्येण मंडलं ब्राह्मणादिषु॥१६४॥
यातुधानाः पिशाचाश्च त्वसुरा राक्षसास्तथा।
घ्नन्ति ते (वै) बलमन्नस्य मण्डलेन विवर्जितम्॥१६५॥

अर्थात्–ब्राह्मणादिक को क्रमशः चतुष्कोण, त्रिकोण, गोल और अर्धचन्द्राकार मंडल बनाने चाहिए। मंडल के बिना भोजन की शक्ति को यातुधान, पिशाच, असुर और राक्षस देवता नष्ट कर डालते हैं।

ये दोनों श्लोक भी हिन्दूधर्म से लिये गये हैं। पहले श्लोक को आन्हिकसूत्रावलि में 'ब्रह्मपुराण' का वाक्य लिखा है और दूसरे को 'स्मृतिरत्नाकर' में 'आत्रेय' ऋषि का वचन सूचित किया है और उसका दूसरा चरण 'ह्यसुराश्चाथ राक्षसाः' दिया है, जो बहुत ही साधारण पाठभेद को लिये हुए है।[५६]

इस तरह भट्टारकजी ने हिन्दूधर्म की एक व्यवस्था को उन्हीं के शब्दों में अपनाया है और उसे जैन व्यवस्था प्रकट किया है, यह बड़े ही खेद का विषय है! जैन सिद्धान्तों से उनकी इस व्यवस्था का भी कोई समर्थन नहीं होता। प्रत्युत इसके, जैनदृष्टि से, इस प्रकार के कथन देवताओं का अवर्णवाद करने वाले हैं–उन पर झूठा दोषारोपण करते हैं। जैन मतानुसार व्यन्तरादिक देवों का भोजन भी मानसिक है, वे इस तरह पर दूसरों के भोजन को चुराकर खाते नहीं फिरते और न उनकी शक्ति ही ऐसे निःसत्व काल्पनिक मंडलों के द्वारा रोकी जा सकती है। अतः ऐसे मिथ्यात्ववर्धक कथन दूर से ही त्याग किये जाने के योग्य हैं।

एक वस्त्र में भोजन भजनादिक पर आपत्ति

(१६) एक स्थान पर भट्टारकजी लिखते हैं कि ''एक वस्त्र पहनकर भोजन, देवपूजन, पितृकर्म, दान, होम, और जप आदिक (स्नान, स्वाध्यायादिक[५७]) कार्य नहीं करने चाहिए। खण्ड वस्त्र पहनकर तथा वस्त्रार्ध पहनकर भी ये सब काम न करने चाहिए।'' यथा–

एकवस्त्रो न भुंजीत न कुर्याद्देवपूज (तार्च) नम्॥३-३६॥
न कुर्यात्पितृकर्मा (कार्या) णि दानं होमं जपादिकम् (पं तथा)
खण्डवस्त्रावृतश्चैव वस्त्रार्धप्रावृतस्तथा॥३७॥

परन्तु क्यों नहीं करने चाहिए? करने से क्या हानि होती है? अथवा कौन सा अनिष्ट संघटित होता है? ऐसा कुछ भी नहीं लिखा! क्या एक वस्त्र में भोजन करने से वह भोजन पचता नहीं? पूजन

---

५६. दूसरे श्लोक का एक रूपान्तर भी 'मार्कण्डेयपुराण' में पाया जाता है और वह इस प्रकार है–यातुधानाः पिशाचाश्च कुराश्चैव तु राक्षसाः। हरन्ति रसमत्रं च मंडलने विवर्जितम्॥ –आन्हिकसूत्रावलि।

५७. आदिक शब्द का यह आशय ग्रन्थ के अगले 'स्नानं दानं जपं होमं' नाम के पद्य पर से ग्रहण किया गया है जो 'उक्तं च' रूप से दिया है और संभवतः किसी हिन्दू ग्रन्थ का ही पद्य मालूम होता है।

या भजन करने से वीतराग भगवान् भी रुष्ट हो जाते हैं अथवा भक्तिरस उत्पन्न नहीं हो सकता? आहारादिक का दान करने से पात्र की तृप्ति नहीं होती या उसकी क्षुधा आदि को शांति नहीं मिल सकती? स्वाध्याय करने से ज्ञान की संप्राप्ति नहीं होती? और परमात्मा का ध्यान करने से कुशल परिणामों का उद्भव तथा आत्मानुभवन का लाभ नहीं हो सकता। यदि ऐसा कुछ नहीं है तो फिर एक वस्त्र में इन भोजनभजनादिक पर आपत्ति कैसी? यह कुछ समझ में नहीं आता!! जैन मत में उत्कृष्ट श्रावक का रूप एक वस्त्रधारी माना गया है–इसी से 'चेलखण्डधरः' 'वस्त्रैकधरः', 'एकशाटकधरः', 'कौपीनमात्रतंत्रः' आदि नामों या पदों से उसका उल्लेख किया जाता है–और वह अपने उस एक वस्त्र में ही भोजन के अतिरिक्त देवपूजन, स्वाध्याय, दान और जप ध्यानादिक सम्पूर्ण धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान करता है। यदि एक वस्त्र में इन सब कृत्यों का किया जाना निषिद्ध हो तो श्रावक का उत्कृष्ट लिंग ही नहीं बन सकता, अथवा यों कहना होगा कि उसका जीवन धार्मिक नहीं हो सकता। इससे जैनशासन के साथ इस सब कथन का कोई सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता–वह जैनियों की सैद्धान्तिक दृष्टि से निरा सारहीन प्रतीत होता है। वास्तव में यह कथन भी हिन्दूधर्म से लिया गया है। इसके प्रतिपादक वे दोनों वाक्य भी जो ३६वें पद्य का उत्तरार्द्ध और ३७ वें पद्य का पूर्वार्द्ध बनाते हैं हिन्दूधर्म की चीज हैं–हिन्दुओं के 'चंद्रिका' ग्रन्थ का एक श्लोक हैं और स्मृतिरत्नाकर में भी, ब्रैकिटों में दिये हुए साधारण से पाठभेद के साथ, उद्धृत पाये जाते हैं।

सुपारी खाने की सजा

(१७) भोजनाध्याय[५८] में, ताम्बूलविधि का वर्णन करते हुए भट्टारकजी लिखते हैं–

अनिधाय मुखे पर्णं पूगं खादति यो नरः।
सप्तजन्मदरिद्रः स्यादंते नैव स्मरेज्जिनम्॥२३३॥

अर्थात्–जो मनुष्य मुख में पान न रखकर–बिना पान के ही–सुपारी खाता है वह सात जन्म तक दरिद्री होता है और अंत में–मरते समय–उसे जिनेन्द्र भगवान् का स्मरण नहीं होता।

पाठकगण! देखा, कैसी विचित्र व्यवस्था और कैसा अद्भुत न्याय है! कहाँ तो अपराध और कहाँ इतनी सख्त सजा!! इस धार्मिक दण्डविधान ने तो बड़े बड़े अन्यायी राजाओं के भी कान काट लिये!!! क्या जैनियों की कर्म फिलॉसॉफी और जैनधर्म से इसका कुछ सम्बन्ध हो सकता है? कदापि नहीं। सुपारी के साथ दरिद्र की इस विलक्षण व्याप्ति को मालूम करने के लिये जैनधर्म के बहुत से सिद्धांत ग्रन्थों को टटोला गया परन्तु कहीं से भी ऐसा कोई नियम उपलब्ध नहीं हुआ जिससे यह लाजिमी आता हो कि सुपारी पान की संगति में रहकर तो दरिद्र नहीं करेगी परन्तु अलग सेवन किये

५८. छठे अध्याय का नाम 'भोजन' अध्याय है परन्तु इसके शुरू के १४६ श्लोकों में जिनमंदिर के निर्माण तथा पूजनादि सम्बन्धी कितना ही कथन ऐसा दिया हुआ है जो अध्याय के नाम के साथ संगत मालूम नहीं होता। और भी कुछ अध्यायों में ऐसी गड़बड़ी पाई जाती है और इससे यह स्पष्ट है कि अध्यायों के विषय विभाग में भी विचार से ठीक काम नहीं लिया गया।

जाने पर वह सात जन्म तक दरिद्र को खींच लाने अथवा उत्पन्न करने में अनिवार्य रूप से प्रवृत्त होगी, और अंत को भगवान् का स्मरण नहीं होने देगी सो जुदा रहा। कितने ही जैनी, जिन्हें पान में साधारण वनस्पति का दोष मालूम होता है, पान नहीं खाते किन्तु सुपारी खाते हैं, अनेक पण्डितों और पण्डितों के गुरु माननीय पं० गोपालदास जी बरैया को भी पान से अलग सुपारी खाते हुए देखा परन्तु उनकी बाबत यह नहीं सुना गया कि उन्हें मरते समय भगवान् का स्मरण नहीं हुआ। इससे इस कथन का वह अंश जो प्रत्यक्ष से सम्बन्ध रखता है प्रत्यक्ष के विरुद्ध भी है। और यदि उसी जन्म में भी दरिद्र का विधान इस पद्य के द्वारा इष्ट है तो वह भी प्रत्यक्ष के विरुद्ध है, क्योंकि बहुत से सेठ साहूकार भी बिना पान के सुपारी खाते हैं और उनके पास दरिद्र नहीं फटकता।

मालूम होता है यह कथन भी हिन्दूधर्म के किसी ग्रन्थ से लिया गया है। हिन्दुओं के 'स्मृतिरत्नाकर' ग्रन्थ में यह श्लोक बिल्कुल ज्यों का त्यों पाया जाता है, सिर्फ अन्तिम चरण का भेद है। अंतिमचरण वहाँ 'नरकेषु निमज्जति' (नरकों में पड़ता है) दिया है। बहुत संभव है भट्टारकजी ने इसी अंतिम चरण को बदलकर उसके स्थान में 'अंते नैव स्मरेज्जिनम्' बनाया हो। यदि ऐसा है तब तो इस परिवर्तन से इतना जरूर हुआ है कि कुछ सजा कम हो गई है। नहीं तो बेचारे को, सात जन्म तक दरिद्री रहने के सिवाय, नरकों में और जाना पड़ता!! परन्तु इस पद्य का एक दूसरा रूप भी है जो मुहूर्त चिंतामणि की 'पीयूषधारा' टीका में पाया जाता है। उसमें और सब बातें तो ज्यों की त्यों हैं, सिर्फ 'अनिधाय मुखे' की जगह 'अशास्त्रविधिना' (शास्त्रविधि का उल्लंघन करके) पद का प्रयोग किया गया है और अंतिम चरण का रूप 'अंते विष्णुं न संस्मरेत्' (अंत में उसे विष्णु भगवान् का स्मरण नहीं होता) ऐसा दिया है। इस अंतिम चरण पर से भट्टाकरजी के उक्त चरण का रचा जाना और भी ज्यादा स्वाभाविक तथा संभावित है। हो सकता है भट्टारकजी के सामने हिन्दू ग्रन्थों के ये दोनों ही पद्य रहे हों और उन्होंने उन्हीं पर से अपने पद्य का रूप गढ़ा हो। परन्तु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि जैन सिद्धान्तों के विरुद्ध होने से उनका यह सब कथन जैनियों के द्वारा मान्य किये जाने के योग्य नहीं है।

जनेऊ की अजीब करामात

(१८) 'यज्ञोपवीत' नामक अध्याय में, भट्टारकजी ने जनेऊ की करामात का जो वर्णन दिया है उससे मालूम होता है कि "यदि किसी को अपनी आयु बढ़ाने की-अधिक जीने की-इच्छा हो तो उसे दो या तीन जनेऊ अपने गले में डाल लेने चाहिए-आयु बढ़ जायेगी (अकाल मृत्यु तो शायद पास भी न फटकेगी।) पुत्र प्राप्ति की इच्छा हो तो पाँच जनेऊ डाल लेने चाहिए-पुत्र की प्राप्ति हो जायेगी-और धर्मलाभ की इच्छा हो तो भी पाँच ही जनेऊ कण्ठ में धारण करने चाहिए, तभी धर्म का लाभ हो सकेगा अथवा उसका होना अनिवार्य होगा। एक जनेऊ पहनकर यदि कोई धर्मकार्य-जप, तप, होम, दान, पूजा, स्वाध्याय, स्तुति पाठादिक-किया जायेगा तो वह सब निष्फल होगा, एक जनेऊ में किसी भी धर्मकार्य की सिद्धि नहीं हो सकती।" यथा-

आयुःकामः सदा कुर्यात् द्वित्रियज्ञोपवीतकम्।
पंचभिः पुत्रकामः स्याद् धर्मकामस्तथैव च॥५७॥
यज्ञोपवीतेनैकेन जपहोमादिकं कृतम्।
तत्सर्वं विलयं याति धर्मकार्यं न सिद्ध्यति॥५८॥

पाठकजन! देखा, जनेऊ की कैसी अजीब करामात का उल्लेख किया गया है और उसकी संख्यावृद्धि के द्वारा आयु में वृद्धि आदि का कैसा सुगम तथा सस्ता उपाय बतलाया गया है!![५९] मुझे इस उपाय की विलक्षणता अथवा निःसारता आदि के विषय में कुछ विशेष कहने की जरूरत नहीं है, सहृदय पाठक सहज ही में अपने अनुभव से उसे जान सकते हैं अथवा उसकी जाँच कर सकते हैं। मैं यहाँ पर सिर्फ इतना ही बतला देना चाहता हूँ कि भट्टारकजी ने जो यह प्रतिपादन किया है कि 'एक जनेऊ पहनकर कोई भी धर्मकार्य सिद्ध नहीं हो सकता–उसका करना ही निष्फल होता है' वह जैनसिद्धान्त तथा जैननीति के बिल्कुल विरुद्ध है और किसी भी माननीय प्राचीन जैनाचार्य के वाक्य से उसका समर्थन नहीं होता। एक जनेऊ पहनकर तो क्या, यदि कोई बिना जनेऊ पहने भी सच्चे हृदय से भगवान् की पूजा भक्ति में लीन हो जाये, मन लगाकर स्वाध्याय करे, किसी के प्राण बचाकर उसे अभयदान देवे, सदुपदेश देकर दूसरों को सन्मार्ग में लगाए अथवा सत्संयम का अभ्यास करे तो यह नहीं हो सकता कि उसे सत्फल की प्राप्ति न हो, ऐसा न मानना जैनियों की कर्म फिलॉसॉफ़ी अथवा जैनधर्म से ही इंकार करना है। जैनधर्मानुसार मन, वचन, काय की शुभ प्रवृत्ति पुण्य का और अशुभ प्रवृत्ति पाप का कारण होती है–वह अपने उस फल के लिये यज्ञोपवीत के धागों की साथ में कुछ अपेक्षा नहीं रखती। किन्तु परिणामों से खास सम्बन्ध रखती है। सैकड़ों यज्ञोपवीत (जनेऊ) धारी

---

५९. और भी कुछ स्थानों पर ऐसे ही विलक्षण उपायों का–करामाती नुस्खों का–विधान किया गया है, जैसे (१) पूर्व की ओर मुँह करके भोजन करने से आयु के बढ़ने का, पश्चिम की तरफ मुँह करके खाने से धन की प्राप्ति होने का और (२) कांसे के बर्तन में भोजन करने से आयुर्बलादिक की वृद्धि का विधान! इसी तरह (३) दीपक का मुख पूर्व की ओर कर देने से आयु के बढ़ने का, उत्तर की ओर कर देने से धन की बढ़वारी का, पश्चिम की ओर कर देने से दुःखों की उत्पत्ति का तथा दक्षिण की ओर कर देने से हानि के पहुँचने का और सूर्यास्त से सूर्योदय पर्यन्त घर में दीपक के जलते रहने से दरिद्र के भाग जाने अथवा पास न फटकने का विधान! यथा– (१) आयुष्यं प्राङ्मुखो भुंक्ते... श्री कामः पश्चिमे (श्रियं प्रत्यङ्मुखो) भुंक्ते॥६-१६३॥ (२) एक एव त यो भुंक्ते विमले (गृहस्थः) कांस्यभाजने। चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुः प्रज्ञा यशोबलम्॥६-१६७॥ (३) आयुष्ये (र्दः) प्राङ्मुखो दीपो धनायोदङ्मुखोमतः (धनदः स्यादुदङ्मुखः)। प्रत्यङ्मुखोऽपि दुःखाय (दुःखदोऽसौ) हानये (निदो) दक्षिणामुखः॥ रवेरस्तं समारभ्य यावत्सूर्योदयो भवेत्। यस्य तिष्ठेद्गृहे दीपस्तस्य नास्ति दरिद्रता॥ और ये सब कथन हिन्दूधर्म के ग्रन्थों से लिये गये हैं– हिन्दूओं के (१) मनु (२) व्यास तथा (३) मरीचि नामक ऋषियों के क्रमशः वचन हैं, जो प्रायः ज्यों के त्यों अथवा कहीं कहीं साधारण से परिवर्तन के साथ उठाकर रखे गये हैं। आन्हिकसूत्रावली में भी ये वाक्य, ब्रैकिटों में दिये हुए पाठभेद के साथ इन्हीं ऋषियों के नाम से उल्लेखित मिलते हैं। जैनधर्म की शिक्षा अथवा उसके तत्त्वज्ञान से इन कथनों का कोई खास सम्बन्ध नहीं है।

महापातकी देखे जाते हैं और बिना यज्ञोपवीत के भी हजारों व्यक्ति उत्तर भारतादिक में धर्मकृत्यों का अच्छा अनुष्ठान करते हुए पाये जाते हैं–स्त्रियाँ तो बिना यज्ञोपवीत के ही बहुत कुछ धर्मसाधन करती हैं। अतः धर्म का यज्ञोपवीत के साथ अथवा उसकी पंच संख्या के साथ कोई अविनाभावी सम्बन्ध नहीं है। और इसलिये भट्टारकजी का उक्त कथन मान्य किये जाने के योग्य नहीं।

तिलक और दर्भ के बँधुए

(१९) चौथे अध्याय में, 'तिलक' का विस्तृत विधान और उसकी अपूर्व महिमा का गान करते हुए, भट्टारकजी लिखते हैं–

जपो होमस्तथा दानं स्वाध्यायः पितृतर्पणम्।
जिनपूजा श्रुताख्यानं न कुर्यात्तिलकं विना॥८५॥

अर्थात्–तिलक के बिना जप, होम, दान, स्वाध्याय, पितृतर्पण, जिनपूजा और शास्त्र का व्याख्यान नहीं करना चाहिए।

परन्तु क्यों नहीं करना चाहिए? करने से क्या खराबी पैदा हो जाती है अथवा कौन सा उपद्रव खड़ा हो जाता है? ऐसा कुछ भी नहीं लिखा। क्या तिलक छाप लगाए बिना इनको करने से ये कार्य अधूरे रह जाते हैं? इनका उद्देश्य सिद्ध नहीं होता? अथवा इनका करना ही निष्फल होता है? कुछ समझ में नहीं आता!! हाँ, इतना स्पष्ट है कि भट्टारकजी ने जप, तप, दान, स्वाध्याय, पूजा-भक्ति और शास्त्रोपदेश तक को तिलक के साथ बंधे हुए समझा है, तिलक के अनुचर माना है और उनकी दृष्टि में इनकी स्वतंत्र सत्ता नहीं, इनका स्वतंत्रतापूर्वक अनुष्ठान नहीं हो सकता अथवा वैसा करना हितकर नहीं हो सकता। और यह सब जैनशासन के विरुद्ध है। एक वस्त्र में तथा एक जनेऊ पहनकर इन कार्यों के किए जाने का विरोध जैसे युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता उसी तरह पर तिलक के बिना भी इन कार्यों का किया जाना, जैनसिद्धांतों की दृष्टि से कोई खास आपत्ति के योग्य नहीं जँचता। इस विषय में ऊपर (नं० १६ तथा १८ में) जो तर्कणा की गई है उसे यथायोग्य यहाँ भी समझ लेना चाहिए।

इसी तरह पर तीसरे अध्याय में दर्भ[६०] का माहात्म्य गाया गया है और उसके बिना भी पूजन, होम तथा जप आदिक के करने का निषेध किया है और लिखा है कि पूजन, जप तथा होम के अवसर पर दर्भ में ब्रह्मगाँठ लगानी होती है। साथ ही, यह भी बतलाया है कि नित्य कर्म करते हुए हमेशा दो दर्भों को दक्षिण हाथ में धारण करना चाहिए और स्नान, दान, जप, यज्ञ तथा स्वाध्याय करते हुए दोनों हाथों में या तो दर्भ के नाल रखने चाहिए और या पवित्रक (दर्भ के बने छल्ले) पहनने चाहिए। यथा–

द्वौ दर्भौ दक्षिणे हस्ते सर्वदा नित्यकर्मणि॥९२॥
स्नाने दाने जपे यज्ञे स्वाध्याये नित्यकर्मणि।

६०. कुश, काँस, दूब और मूँज वगैरह घास, जिसमें गेहूँ, जौ तथा धान्य की नालियाँ भी शामिल हैं और जिसके इन भेदों का प्रतिपादक श्लोक, "अजैन ग्रन्थों से संग्रह" नामक प्रकरण में उद्धृत किया जा चुका है।

सपवित्रौ सदर्भौ वा करौ कुर्वीत नान्यथा॥९५॥
दर्भं विना न कुर्वीत चा चमं जिनपूजनम्।
जिनयज्ञं जपे होमे ब्रह्मग्रन्थिर्विधीयते॥९७॥

इससे जाहिर है कि भट्टारकजी ने जिनपूजनादिक को तिलक के ही नहीं किन्तु दर्भ के भी बँधुए माना है! आपकी यह मान्यता भी, तिलक-सम्बन्धी उक्त मान्यता की तरह, जैनशासन के विरुद्ध है। जैनों का आचार विचार भी आम तौर पर इसके अनुकूल नहीं पाया जाता अथवा यों कहिये कि "दर्भ हाथ से लेकर ही पूजनादिक धर्मकृत्य किये जायें अन्यथा न किये जायें" ऐसी जैनाम्नाय नहीं है। लाखों जैनी बिना दर्भ के ही पूजनादिक धर्मकृत्य करते आए हैं और करते हैं। नित्य की 'देवपूजा' तथा यशोनन्दि आचार्य कृत 'पंचपरमेष्ठि पूजापाठ' आदिक ग्रन्थों में भी दर्भ की इस आवश्यकता का कोई उल्लेख नहीं है। हाँ, हिन्दुओं के यहाँ दर्भादिक के माहात्म्य का ऐसा वर्णन जरूर है-वे तिलक और दर्भ के बिना स्नान, पूजन तथा संध्योपासनादि धर्मकृत्यों का करना ही निष्फल समझते हैं, जैसा कि उनके पद्मपुराण (उत्तरखण्ड) के निम्न वाक्य से प्रकट है-

स्नानं संध्यां पंच यज्ञान् पैत्रं होमादिकर्म यः।
विना तिलकदर्भाभ्यां कुर्यात्तन्निष्फलं भवेत्॥ शब्दकल्पद्रुम।

इसी तरह उनके ब्रह्माण्डपुराण में तिलक को वैष्णव का रूप बतलाया है और उसके बिना दान, जप, होम तथा स्वाध्यायादिक का करना निरर्थक ठहराया है। यथा-

कर्मादौ तिलकं कुर्याद्रूपं तद्वैष्णवं परं॥
गो प्रदानं जपो होमः स्वाध्यायः पितृतर्पणम्।
भस्मीभवति तत्सर्वं मूर्ध्वपुण्ड्रं विना कृतम्॥ शब्दकल्पद्रुम।

हिन्दू ग्रन्थों के ऐसे वाक्यों पर से ही भट्टारकजी ने अपने कथन की सृष्टि की है जो जैनियों के लिये उपादेय नहीं है।

यहाँ पर मैं अपने पाठकों को इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि भट्टारकजी ने तिलक करने का जो विधान किया है वह उसी[६१] चंदन से किया है जो भगवान् के चरणों को लगाया जावे अर्थात्, भगवान् के चरणों पर लेप किये हुए चंदन को उतारकर उससे तिलक करने की व्यवस्था की है। साथ ही, यह भी लिखा है कि "अँगूठे से किया हुआ तिलक पुष्टि को देता है, मध्यमा अँगुली से किया हुआ यश को फैलाता है, अनामिका (कनिष्ठा के पास की अँगुली) से किया गया तिलक धन का देने वाला है और वहीं प्रदेशिनी (अँगूठे के पास की अँगुली) से किये जाने पर मुक्ति का दाता

---

६१. यथा- जिनांघ्रिचन्दनैः स्वस्य शरीरं लेपमाचरेत्।...॥६१॥
ललाटे तिलकं कार्यं तेनैव चन्दनेन च॥६३॥

है!!''[६२] यह सब व्यवस्था भी कैसी विलक्षण है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। इसमें और सब बातें तो हैं ही परन्तु 'मुक्ति' इसके द्वारा अच्छी सस्ती बना दी गई है! मुक्ति के इच्छुकों को चाहिए कि वे इसे अच्छी तरह से नोट कर लेवें!!

सूतक की विडम्बना

(२०) जन्म-मरण के समय अशुचिता का कुछ सम्बन्ध होने से लोक में जननाशौच तथा मरणाशौच (सूतक पातक) की कल्पना की गई है और इन दोनों को शास्त्रीय भाषा में एक नाम से 'सूतक' कहते हैं। स्त्रियों का रजस्वलाशौच भी इसी के अन्तर्गत है। इस सूतक के मूल में लोक व्यवहार की शुद्धि का जो तत्त्व अथवा जो उद्देश्य जिस हद तक सन्निहित था, भट्टारकजी के इस ग्रन्थ में उसकी बहुत कुछ मिट्टी पलीद पाई जाती है। वह कितने ही अंशों में लक्ष्यभ्रष्ट होकर अपनी सीमा से निकल गया है-कहीं ऊपर चढ़ा दिया गया तो कहीं नीचे गिरा दिया गया-उसकी कोई एक स्थिर तथा निर्दोष नीति नहीं और इससे सूतक को एक अच्छी खासी विडम्बना का रूप प्राप्त हो गया है। इसी विडम्बना का कुछ दिग्दर्शन कराने के लिये पाठकों के सामने उसके दो चार नमूने रखे जाते हैं-

(क) वर्णक्रम से सूतक (जननाशौच) की मर्यादा का विधान करते हुए, आठवें अध्याय में, ब्राह्मणों के लिये १०, क्षत्रियों के लिये १२, और वैश्यों के लिये १४ दिन की मर्यादा बतलाई गई है। परन्तु तेरहवें अध्याय में क्षत्रियों तथा शूद्रों को छोड़कर, जिनके लिये क्रमशः १२ तथा १५ दिन की मर्यादा दी है, औरों के लिए १० दिन की मर्यादा का उल्लेख किया है और इस तरह पर ब्राह्मण वैश्य दोनों ही के लिये १० दिन की मर्यादा बतलाई गई है। इसके सिवाय एक श्लोक में वर्णों की मर्यादा-विषयक पारस्परिक अपेक्षा (निस्बत) का नियम भी दिया है और उसमें बतलाया है कि जहाँ ब्राह्मणों के लिये तीन दिन का सूतक, वहाँ वैश्यों के लिये चार दिन का, क्षत्रियों के लिये पाँच दिन का और शूद्रों के लिये आठ दिन का समझना चाहिए। यथा-

प्रसूतेर्दशमे चान्हि द्वादशे वा चतुर्दशे।
सूतकाशौचशुद्धिः स्याद्विप्रादीनां यथाक्रमम् ॥८-१०५॥

प्रसूतौ चैव निर्दोषं दशाहं सूतकं भवेत्।
क्षत्रस्य द्वादशाहं सच्छूद्रस्य पक्षमात्रकम् ॥१३-४६॥

---

६२. यथा- अंगुष्ठः पुष्टिदः प्रोक्तो यशसे मध्यमा (मध्यमायुष्करी) भवेत्। अनामिका श्रियं (ऽर्थदा) दद्याात् (नित्यं) मुक्तिं दद्यात् (मुक्तिदा च) प्रदेशिनी॥८२॥ यह पद्य, ब्रैकिटों में दिये हुए पाठभेद के साथ, हिन्दुओं के ब्रह्मपुराण में पाया जाता है (श. क.) और सम्भवतः वहीं से लिया गया जान पड़ता है।

[६३]त्रिदिनं यत्र विप्राणां वैश्यानां स्याच्चतुर्दिनम्।
क्षत्रियाणां पंचदिनं शूद्राणां च दिनाष्टकम्॥४७॥

इन तीनों श्लोकों का कथन, एक विषय से सम्बन्ध रखते हुए भी, परस्पर में कितना विरुद्ध है इसे बतलाने की जरूरत नहीं, और यह तो स्पष्ट ही है कि तीसरे श्लोक में दिये हुए अपेक्षा नियम का पहले दो श्लोकों में कोई पालन नहीं किया गया। उसके अनुसार ब्राह्मणों के लिये यदि दस दिन का सूतक था तो वैश्यों के लिये प्राय: १३ दिन का, क्षत्रियों के लिये १६ दिन का और शूद्रों के लिये २६ दिन का सूतक विधान होना चाहिए था। परन्तु वैसा नहीं किया गया। इससे सूतक विषयक मर्यादा की अच्छी खासी विडम्बना पाई जाती है, और वह पूर्वाचार्यों के कथन के भी विरुद्ध है, क्योंकि प्रायश्चित्त समुच्चय और छेदशास्त्रादि ग्रन्थों में क्षत्रिय के लिए ५ दिन की, ब्राह्मणों के लिये १० दिन की, वैश्यों के लिये १२ दिन की और शूद्रों के लिये १५ दिन की सूतक व्यवस्था की गई है और उसमें जन्म तथा मरण के सूतक का कोई अलग भेद न होने से वह, आम तौर पर, दोनों के ही लिये समान जान पड़ती है। यथा–

क्षत्रब्राह्मणविट्शूद्रा दिनैः शुद्ध्यन्ति पंचभिः।
दशद्वादशभिः पक्षाद्यथासंख्यप्रयोगतः॥१५३॥ प्रायश्चित्तस.,चूलिका।
पण दस वारस णियमा पण्णरसेहिं तत्थ दिवसेहिं।
खत्तियवंभणवइसा सुद्दाइ कमेण सुज्झंति॥८७॥ छेदशास्त्र।

(ख) आठवें अध्याय में भट्टारकजी लिखते हैं कि ''पुत्र पैदा होने पर पिता को चाहिए कि वह पूजा की सामग्री तथा मंगल कलश को लेकर गाजे बाजे के साथ श्री जिनमंदिर में जावे और वहाँ बच्चे की नाल कटने तक प्रतिदिन पूजा के लिये ब्राह्मणों की योजना करे तथा दान से सम्पूर्ण भट्ट-भिक्षुकादिकों को तृप्त करे''। और फिर तेरहवें अध्याय में यह व्यवस्था करते हैं कि ''नाल कटने तक और सबको तो सूतक लगता है परन्तु पिता और भाई को नहीं लगता। इसी से दान देते हैं और उस दान को लेने वाले अपवित्र नहीं होते हैं। यदि उन्हें भी उसी वक्त से सूतकी मान लिया जाये तो दान ही नहीं बन सकता''। यथा–

''पुत्रे जाते पिता तस्य कुर्यादाचमनं मुदा।
प्राणायामं विधायोश्चैराचमं पुनराचरेत्॥९३॥

---

६३. इस श्लोक का अर्थ देने के बाद सोनीजी ने जो भावार्थ दिया है वह उनका निजी कल्पित जान पड़ता है, मूल से उसका कुछ सम्बन्ध नहीं है। मूल के अनुसार इस श्लोक का सम्बन्ध आगे पीछे दोनों ओर के कथनों से है। आगे भी ६२वें श्लोक में जननाशौच की मर्यादा का उल्लेख किया गया है। उस पर भी इस श्लोक की व्यवस्था लगाने से वही विडम्बना खड़ी हो जाती है। इसी तरह ४६वें श्लोक के अनुवाद में जो उन्होंने लिखा है कि 'राजा के लिये सूतक नहीं' वह भी मूल से बाहर की चीज है!

पूजावस्तुनि चादाय मंगलं कलशं तथा।
महावाद्यस्य निर्घोषं व्रजेद्धर्मजिनालये॥९४॥
ततः प्रारभ्य सद्विप्रान् जिनालये नियोजयेत्।
प्रतिदिनं स पूजार्थं यावन्नालं प्रच्छेदयेत्॥९५॥
दानेन तर्पयेत् सर्वान् भट्टान् भिक्षुजनान् पिता।''
''जननेऽप्येवमेवाऽघं मात्रादीनां तु सूतकम्॥
तदानाऽघं पितुर्भ्रातुर्नाभिकर्तनतः पुरा॥६२॥
पिता दद्यात्तदा स्वर्णताम्बूलवसनादिकम्।
अशुचिनस्तु नैव स्युर्जनास्तत्र परिग्रहे॥६३॥
तदात्व एव दानस्यानुत्पत्तिर्भवेद्यदि।''

पाठकजन! देखा, सूतक की यह कैसी विडम्बना है!! घर में मल, दुर्गन्धि तथा रुधिर का प्रवाह बह जाये और उसके प्रभाव से कई कई पीढ़ी तक के कुटुम्बी जन भी अपवित्र हो जाये–उन्हें सूतक का पाप लग जाये परन्तु पिता और भाई जैसे निकट सम्बन्धी दोनों उस पाप से अछूते ही रहें!!! वे खुशी से पूजन की सामग्री लेकर मंदिर जा सकें और पूजनादिक धर्मकृत्यों का अनुष्ठान कर सकें परन्तु दूसरे कुटुम्बी जन नहीं!! और दो एक दिन के बाद जब यथारुचि नाल काट दी जाये तो वह पाप फिर उन्हें भी आ पिलवे- वे भी अपवित्र हो जायें- और तब से पूजनदानादि जैसे किसी भी अच्छे काम को करने के वे योग्य न रहें!!! इससे अधिक और क्या विडम्बना हो सकती है!!! मालूम नहीं भट्टारकजी ने जैनधर्म के कौनसे गूढ़ तत्त्व के आधार पर यह सब व्यवस्था की है!! जैनसिद्धान्तों से तो ऐसी हास्यास्पद बातों का कोई समर्थन नहीं होता! इस व्यवस्था के अनुसार पिता भाई के लिये सूतक की वह कोई मर्यादा भी कायम नहीं रहती जो ऊपर बतलाई गई है। युक्ति-वाद भी भट्टारकजी का बड़ा ही विलक्षण जान पड़ता है! समझ में नहीं आता एक सूतकी मनुष्य दान क्यों नहीं कर सकता? उसमें क्या दोष है? और उसके द्वारा दान किये हुए द्रव्य तथा सूखे अन्नादिक से भी उनका लेने वाला कोई कैसे अपवित्र हो जाता है? यदि अपवित्र हो ही जाता है तो फिर इस कल्पनामात्र से उसका उद्धार अथवा रक्षा कैसे हो सकती है कि दातार दो दिन के लिये सूतकी नहीं रहा? तब तो सूतक के बाद ही दानादिक किया जाना चाहिए। और यदि जरूरत के वक्त ऐसी कल्पनाएँ कर लेना भी जायेज (विधेय) है तो फिर एक श्रावक के लिये, जिसे नित्य पूजन, दान तथा स्वाध्यायादिक का नियम है, यही कल्पना क्यों न कर ली जाये कि उसे अपनी उन नित्यावश्यक क्रियाओं के करने में कोई सूतक नहीं लगता? इस कल्पना का उस कल्पना के साथ मेल भी है जो व्रतियों, दीक्षितों तथा ब्रह्मचारियों आदि को पिता के मरण के सिवाय और किसी का सूतक न लगने की बाबत की गई है। [६४]अतः

६४. यथा– व्रतिनां दीक्षितानां च याज्ञिकत्रब्रह्मचारिणाम्। नैवाशौचं भवेत्तेषां पितुश्च मरणं बिना॥१२२॥

भट्टारकजी का उक्त हेतुवाद कुछ भी युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। वास्तव में उनका यह सब कथन प्रायः ब्राह्मणिक मन्तव्यों को लिये हुए है और कहीं कहीं हिन्दूधर्म से भी एक कदम आगे बढ़ा हुआ जान पड़ता है।[६५] जैनधर्म से उसका कोई खास सम्बन्ध नहीं है और न जैनियों में, आमतौर पर, नाल का काटना दो एक दिन के लिये रोका ही जाता है, बल्कि वह उसी दिन, जितना शीघ्र होता है काट दी जाती है और उसको काट देने के बाद ही दानादिक पुण्य कर्म किया जाता है।

(ग) तेरहवें अध्याय में भट्टारकजी एक व्यवस्था यह भी करते हैं कि यदि कोई पुत्र दूर देशान्तर में स्थित हो और उसे अपने पिता या माता के मरण का समाचार मिले तो उस समाचार को सुनने के दिन से ही उसे दस दिन का सूतक (पातक) लगेगा– चाहे वह समाचार उसने कई वर्ष बाद ही क्यों न सुना हो।[६६] यथा–

पितरौ चेत्मृतौ स्यातां दूरस्थोऽपि हि पुत्रकः।
श्रुत्वा तद्दिवमारभ्य पुत्राणां दशरात्रकं (दशाहं सूतकी भवेत्)॥७१॥

यह भी सूतक की कुछ कम विडम्बना नहीं है। उस पुत्र ने पिता का दाह कर्म किया नहीं, शव को स्पर्श नहीं, शव के पीछे श्मशान भूमि को वह गया नहीं और न पिता के मृत शरीर की दूषित वायु ही उस तक पहुँच सकी है परन्तु फिर भी इतने अर्से के बाद तथा हजारों मील की दूरी पर बैठा हुआ भी वह अपवित्र हो जाता है और दान पूजनादिक धर्मकृत्यों के योग्य नहीं रहता।!! यह कितनी हास्यास्पद व्यवस्था है इसे पाठक स्वयं सोच सकते हैं!!! क्या यह भी जैनधर्म की व्यवस्था है? छेदपिण्डादि शास्त्रों में तो जलाऽनल–प्रवेशादि द्वारा मरे हुओं की तरह परदेश में मरे हुओं का भी सूतक नहीं माना है। यथा–

वालत्तणसूरत्तणजलणदिपवेसदिक्खेहिं।
अणसणपरदेसेसु य मुदाण खलु सूतगं णत्थि॥३५३॥

छेदपिण्ड

लोइयसूरत्तविही जलाइपरदेसवालसण्णासे।
मरिदे खणो ण सोही वदसहिदे चेव सागारे॥८६॥

छेद शास्त्र

---

६५. हिन्दू धर्म में नाल कटने के बाद जन्म से पाँचवे छठे दिन भी पिता को दान देने तथा पूजन करने का अधिकारी बतलाया है और साथ ही यह प्रतिपादन किया है कि ब्राह्मणों को उस दान के लेने में कोई दोष नहीं। यथा– ''जातकर्मणि दाने च नालच्छेदनात्पूर्वे पितुरधिकारः एवं पंचम षष्ठदशमदिने जन्म दादिपूजनेषु दाने चाधिकारः तत्र विप्राणां प्रति ग्रहेषि दोषो न।'' आशौच निर्णय

६६. इसी तरह पर आपने पति पत्नी को भी एक दूसरे का मृत्यु समाचार सुनने पर दस दिन का सूतक बतलाया है। यथा– मातापित्रोर्यथाशौचं दशाहं क्रियते सुतैः। अनेकेऽब्देपि दम्पत्योस्तथैव स्यात्परस्परम्॥७४॥

इससे उक्त व्यवस्था को जैनधर्म की व्यवस्था बतलाना और भी आपत्ति के योग्य हो जाता है। भट्टारकजी ने इस व्यवस्था को हिन्दूधर्म से लिया है, और वह उसके 'मरीचि' ऋषि की व्यवस्था है।[६७] उक्त श्लोक भी मरीचि ऋषि का वाक्य है और उसका अन्तिम चरण है 'दशाहं सूतकी भवेत्'। भट्टारकजी ने इस चरण को बदलकर उसकी जगह 'पुत्राणां दशरात्रकं' बनाया है और उनका यह परिवर्तन बहुत कुछ बेढंगा जान पड़ता है, जैसा कि पहिले ('अजैन ग्रन्थों से संग्रह' प्रकरण में) बतलाया जा चुका है।

(घ) इसी तेरहवें अध्याय में भट्टारकजी एक और भी अनोखी व्यवस्था करते हैं। अर्थात् लिखते हैं कि "यदि कोई अपना कुटुम्बीजन दूर देशान्तर को गया हो, और उसका कोई समाचार पूर्वादि अवस्था क्रम से २८, १५ या १२ वर्ष तक सुनाई न पड़े तो इसके बाद उसका विधिपूर्वक प्रेतकर्म (मृतक संस्कार) करना चाहिए-सूतक (पातक) मनाना चाहिए और श्राद्ध करके छह वर्ष तक का प्रायश्चित्त लेना चाहिए। यदि प्रेतकार्य हो चुकने के बाद वह आ जाये तो उसे घी के घड़े तथा सर्व औषधियों के रस से नहलाना चाहिए, उसके सब संस्कार फिर से करके उसे यज्ञोपवीत देना चाहिए और यदि उसकी पूर्वपत्नी मौजूद हो तो उसके साथ उसका फिर से विवाह करना चाहिए।" यथा–

दूरदेशं गते वार्ता दूरतः श्रूयते न चेत्।
यदि पूर्ववयस्कस्य यावत्स्यादष्टविंशतिः॥८०॥
तथा मध्यवयस्कस्य ह्यब्दा पंचदशैव तत्।
तथाऽपूर्ववयस्कस्य स्याद् द्वादशवत्सरम्॥८१॥
अत ऊर्ध्वं प्रेतकर्म कार्यं तस्य विधानतः।
श्राद्धं कृत्वा षडब्दं तु प्रायश्चित्तं स्वशक्तितः॥८२॥
प्रेतकार्ये कृते तस्य यदि चेत्पुनरागतः।
घृतकुम्भेन संस्नाप्य सर्वौषधिभिरप्यथ॥८३॥
संस्कारान्सकलान् कृत्वा मौञ्जीबन्धनमाचरेत्।
पूर्वपत्न्या सहैवास्य विवाहः कार्य एवहि॥८४॥

पाठकगण! देखिये, इस विडम्बना का भी कुछ ठिकाना है! बिना मरे ही मरना मना लिया गया!! और उसके मनाने की भी जरूरत समझी गई!!! यह विडम्बना पूर्व की विडम्बनाओं से भी बढ़ गई। इस पर अधिक लिखने की जरूरत नहीं। जैनधर्म से ऐसी बिना सिर पैर की विडम्बनात्मक व्यवस्थाओं का कोई सम्बन्ध नहीं है।

(ङ) सूतक मनाने के इतने धुनी भट्टारकजी आगे चलकर लिखते हैं–

---

६७. मनु आदि ऋषियों की व्यवस्था इससे भिन्न है और उसको जानने के लिये 'मनुस्मृति' आदि को देखना चाहिए। यहाँ पर एक वाक्य पराशरस्मृति का उद्धृत किया जाता है, जिसमें ऐसे अवसर पर सद्यःशौच की-तुरंत शुद्धि कर लेने की व्यवस्था की गई है। यथा– देशान्तरमृतः कश्चित्सगोत्रः श्रूयते यदि। न त्रिरात्रमहोरात्रं सद्यः स्नात्वा शुचिर्भवेत्॥३-१२॥

व्याधितस्य कदर्थस्य ऋणग्रस्तस्य सर्वदा।
क्रियाहीनस्य मूर्खस्य स्त्रीजितस्य विशेषत:॥११९॥
व्यसनासक्तचित्तस्य पराधीनस्य नित्यश:।
श्राद्धत्यागविहीनस्य षण्ढपाषण्डपापिनाम्॥१२०॥
पतितस्य च दुष्टस्य भस्मांतं सूतकं भवेत्।
यदि दग्धं शरीरं चेत्सूतकं तु दिनत्रयम्॥१२१॥

अर्थात्–जो लोग व्याधि से पीड़ित हों, कृपण हों, हमेशा कर्जदार रहते हों, क्रियाहीन हों, मूर्ख हों, सविशेष रूप से स्त्री के वशवर्ती हों, व्यसनासक्तचित्त हों, सदा पराधीन रहने वाले हों, श्राद्ध न करते हों, दान न देते हों, नपुंसक हों, पाषण्डी हों, पापी हों, पतित हों अथवा दुष्ट हों, उन सब का सूतक भस्मान्त होता है–अर्थात्, शरीर के भस्म हो जाने पर फिर सूतक नहीं रहता। सिर्फ उस मनुष्य को तीन दिन का सूतक लगता है, जिसने दग्धक्रिया की हो।

इस कथन से सूतक का मामला कितना उलट पलट हो जाता है। उसे बतलाने की जरूरत नहीं, सहृदय पाठक सहज ही में उसका अनुभव कर सकते हैं। मालूम नहीं भट्टारकजी का इसमें क्या रहस्य था! उनके अनुयायी सोनीजी भी उसे खोल नहीं सके और वैसे ही दूसरों पर अश्रद्धा का आक्षेप करने बैठ गये!! हमारी राय में तो इस कथन से सूतक की विडम्बना और भी बढ़ जाती है और उसकी कोई एक निर्दिष्ट अथवा स्पष्ट नीति नहीं रहती। लोक व्यवहार भी इस व्यवस्था के अनुकूल नहीं है। वस्तुत: यह कथन भी प्राय: हिन्दूधर्म का कथन है। इसके पहले दो पद्य 'अत्रि' ऋषि के वचन हैं और वे 'अत्रिस्मृति' में क्रमश: नं० १०० तथा १०१ पद दर्ज हैं, सिर्फ इतना भेद है कि वहाँ दूसरे पद्य का अन्तिम चरण 'भस्मान्तं सूतकं भवेत्' दिया है, जिसे भट्टारकजी ने अपने तीसरे पद्य का दूसरा चरण बनाया है और उसकी जगह पर 'षण्ढपाषण्ढपापिनाम्' नाम का चरण रख दिया है!!

इसी तरह पर और भी कितने ही कथन अथवा विधि–विधान ऐसे पाये जाते हैं, जो सूतक मर्यादा की नि:सार विषमतादि विषयक विडम्बनाओं को लिये हुए हैं और जिनसे सूतक की नीति निरापद नहीं रहती, जैसे विवाहिता पुत्री के पिता के घर पर मर जाने अथवा उसके वहाँ बच्चा पैदा होने पर सिर्फ तीन दिन के सूतक की व्यवस्था का दिया जाना! इत्यादि। और ये सब कथन भी अधिकांश में हिन्दूधर्म से लिए गए अथवा उसकी नीति का अनुसरण करके लिखे गये हैं।

यहाँ पर मैं अपने पाठकों को सिर्फ इतना और बतला देना चाहता हूँ कि भट्टारकजी ने उस हालत में भी सूतक अथवा किसी प्रकार के अशौच को न मानने की व्यवस्था की है जबकि यज्ञ (पूजन हवनादिक) तथा महान्यासादि कार्यों का प्रारम्भ कर दिया गया हो और बीच में कोई सूतक आ पड़े अथवा सूतक मानने से अपने बहुत से द्रव्य की हानि का प्रसंग उपस्थित हो। ऐसे सब अवसरों पर फौरन शुद्धि कर ली जाती है अथवा मान ली जाती है, ऐसा भट्टारकजी का कहना है। यथा–

समारब्धेषु वा यज्ञमहान्यासादिकर्मसु।
बहुद्रव्यविनाशे तु सद्यः शौचं विधीयते॥१२४॥

परन्तु विवाह प्रकरण के अवसर पर आप अपने इस व्यवस्था नियम को भुला गये हैं। वहाँ विवाह यज्ञ का होम प्रारम्भ हो जाने पर जब यह मालूम होता है कि कन्या रजस्वला है तो आप तीन दिन के लिये विवाह को ही मुलतवी (स्थगित) कर देते हैं और चौथे दिन उसी अग्नि में फिर से होम करके कन्यादानादि शेष कार्यों को पूरा करने की व्यवस्था देते हैं![६८] आपको यह भी ख्याल नहीं रहा कि तीन दिन तक बारात के वहाँ और पड़े रहने पर बेटी वाले का कितना खर्च बढ़ जायेगा और साथ ही बारातियों को भी अपनी आर्थिक हानि के साथ साथ कितना कष्ट उठाना पड़ेगा!! यह भी तो बहु द्रव्यविनाश का ही प्रसंग था और साथ ही यज्ञ भी प्रारम्भ हो गया था जिसका कोई ख्याल नहीं रखा गया और न आप को यही ध्यान आया कि जिस ब्रह्मसूरि त्रिवर्णाचार से हम यह पद्य उठाकर रख रहे हैं उसमें इसके ठीक पूर्व ही ऐसे अवसरों के लिये भी सद्यःशौच की व्यवस्था की है–अर्थात् लिखा है कि उस वर तथा कन्या के लिये जिसका विवाहकार्य प्रारम्भ हो गया हो, उन लोगों के लिये जो होम श्राद्ध, महादान तथा तीर्थ यात्रा के कार्यों में प्रवर्त रहे हों और उन ब्रह्मचारियों के लिए जो प्रायश्चित्तादि नियमों का पालन कर रहे हों, अपने-अपने कार्यों को करते हुए किसी सूतक के उपस्थित हो जाने पर सद्यःशौच की व्यवस्था है।[६९] अस्तु, भट्टारकजी को इस विषय का ध्यान अथवा ख्याल रहा हो या न रहा हो वे भूल गये हों या भुला गये हों परन्तु इसमें संदेह नहीं कि ग्रंथ में उनके इस विधान से सूतक की नीति और भी ज्यादा अस्थिर हो जाती है और उससे सूतक की विडम्बना बढ़ जाती है अथवा यों कहिये कि उसकी मिट्टी खराब हो जाती है और कुछ मूल्य नहीं रहता। साथ ही, यह मालूम होने लगता है कि ''वह अपनी वर्तमान स्थिति में महज काल्पनिक है, उसका मानना न मानना समय की जरूरत, लोकस्थिति अथवा अपनी परिस्थिति पर अवलम्बित है–लोक का वातावरण बदल जाने अथवा अपनी किसी खास जरूरत के खड़े हो जाने पर उसमें यथेच्छ परिवर्तन ही नहीं किया जा सकता बल्कि उसे साफ धता भी बतलाया जा सकता है, वास्तविक धर्म अथवा धार्मिक तत्त्वों के साथ उसका कोई खास सम्बन्ध नहीं है–उसको उस रूप में न मानते हुए भी पूजा, दान, तथा स्वाध्यायादिक धर्मकृत्यों का अनुष्ठान किया जा सकता है और उससे किसी अनिष्ठ फल की सम्भावना नहीं हो सकती''। चुनाँचे भरत चक्रवर्ती ने, पुत्रोत्पत्ति के कारण घर में सूतक होते हुए भी, भगवान् ऋषभदेव को केवलज्ञान उत्पन्न होने का शुभ समाचार पाकर उनके समवसरण में जाकर उनका साक्षात् पूजन किया था और वह पूजन भी अकेले अथवा चुपचाप नहीं किन्तु बड़ी धूम-धाम

---

६८. यथा– विवाहहोमे प्रक्रान्ते कन्या यदि रजस्वला। त्रिरात्रं दम्पती स्यातां पृथक्शय्यासनाशनौ ॥१०६॥
चतुर्थेऽहनि संस्नाता तस्मिन्नग्नौ यथाविधि। विवाहहोमं कुर्यात्तु कन्यादानादिकं तथा ॥१०७॥

६९. यथा– उपक्रान्तविवाहस्य वरस्यापि स्त्रियस्तथा। होमश्राद्धमहादानतीर्थयात्राप्रवर्तिनाम् ॥८-७९॥
प्रायश्चित्तादिनियमवर्तिनां ब्रह्मचारिणाम्। इत्येषां स्वस्वकृत्येषु सद्यः शौचं निरूपितम् ॥ ८०॥

के साथ अपने भाइयों, स्त्रियों तथा पुरजनों को साथ लेकर किया था। उन्हें ऐसा करने से कोई पाप नहीं लगा और न उसके कारण कोई अनिष्ट ही संघटित हुआ। प्रत्युत इसके, शास्त्र में-भगविज्जनसेन प्रणीत आदिपुराण में उनके इस सद्विचार तथा पुण्योपार्जन के कार्य की प्रशंसा ही की गई है जो उन्होंने पुत्रोत्पत्ति के उत्सव को भी गौण करके पहले भगवान् का पूजन किया। भरतजी के मस्तक में उस वक्त इस प्रकार की किसी कल्पना का उदय तक भी नहीं हुआ कि ''पुत्रजन्म के योगमात्र से हम सब कुटुम्बीजन, सूतक गृह में प्रवेश न करते हुए भी, अपवित्र हो गये हैं, कुछ दिन तक बलात् अपवित्र ही रहेंगे और इसलिये हमें भगवान् का पूजन न करना चाहिए,'' बल्कि वे कुछ देर तक सिर्फ इतना ही सोचते रहे कि एक साथ उपस्थित हुए इन कार्यों में से पहले कौन-सा कार्य करना चाहिए और अंत को उन्होंने यही निश्चय किया कि यह सब पुत्रोत्पत्ति आदि शुभ फल धर्म का ही फल है, इसलिये सबसे पहिले देवपूजा रूप धर्मकार्य ही करना चाहिए जो श्रेयानुबंधी (कल्याणकारी) तथा महाफल का दाता है। और तदनुसार ही उन्होंने, सूतकावस्था में, पहले भगवान् का पूजन किया।[७०] भरतजी यह भी जानते थे कि उनके भगवान् वीतराग हैं, परम पवित्र और पतितपावन हैं, यदि कोई शरीर से अपवित्र मनुष्य उनकी उपासना करता है तो वे उससे नाखुश (अप्रसन्न) नहीं होते और न उसके शरीर की छाया पड़ जाने अथवा वायु लग जाने से अपवित्र ही हो जाते हैं, बल्कि वह मनुष्य ही उनके पवित्र गुणों की स्मृति के योग से स्वयं पवित्र हो जाता है।[७१] इससे भरतजी को अपनी सूतकावस्था की कुछ चिंता भी नहीं थी।

मालूम होता है ऐसे ही कुछ कारणों से जैनधर्म में सूतकाचरण को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया गया। उसका श्रावकों की उन ५३ क्रियाओं में नाम तक भी नहीं है जिनका आदिपुराण में विस्तार के साथ वर्णन किया गया है और जिन्हें 'सम्यक् क्रियाएँ' लिखा है, बल्कि भगवज्जिनसेन ने 'आधानादिश्मशानान्त' नाम से प्रसिद्ध होने वाली दूसरे लोगों की उन विभिन्न क्रियाओं को जिनमें 'सूतक' भी शामिल है 'मिथ्या क्रियाएँ' बतलाया है।[७२] इससे जैनियों के लिये सूतक का कितना महत्त्व है यह और भी स्पष्ट हो जाता है। इसके सिवाय, प्राचीन साहित्य का जहाँ तक भी अनुशीलन किया जाता है उससे यही पता चलता है कि बहुत प्राचीन समय अथवा जैनियों के अभ्युदय काल में सूतक को कभी इतनी महत्ता प्राप्त नहीं थी और न वह ऐसी विडम्बना को ही लिये हुए था जैसी कि भट्टारकजी के इस ग्रन्थ में पाई जाती है। भट्टारकजी ने किसी देश, काल अथवा सम्प्रदाय में प्रचलित सूतक के नियमों का जो यह बेढंगा संग्रह करके उसे शास्त्र का रूप दिया है और सब जैनियों

७०. देखो उक्त आदिपुराण का २४वाँ पर्व।

७१. नित्य की 'देवपूजा' में भी ऐसा ही भाव व्यक्त किया गया है और उस अपवित्र मनुष्य को तब बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकार से पवित्र माना है। यथा–

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा। यः स्मरेत्परमात्मानं स बाह्याभ्यन्तरे शुचिः॥

७२. देखो इसी परीक्षा लेख का 'प्रतिज्ञादिविरोध' नाम का प्रकरण।

पर उसके अनुकूल आचरण की जिम्मेदारी का भार लादा है वह किसी तरह पर भी समुचित प्रतीत नहीं होता। जैनियों को इस विषय में अपनी बुद्धि से काम लेना चाहिए और केवल प्रवाह में नहीं बहना चाहिए, उन्हें जैनदृष्टि से सूतक के तत्त्व को समझते हुए उसके किसी नियम उपनियम का पालन उस हद तक ही करना चाहिए जहाँ तक कि लोक-व्यवहार में ग्लानि मेटने अथवा शुचिता[७३] सम्पादन करने के साथ उसका सम्बन्ध है और अपने सिद्धान्तों तथा व्रताचरण में कोई बाधा नहीं आती। बहुधा परस्पर के खान-पान तथा बिरादरी के लेन देन तक ही उसे सीमित रखना चाहिए। धर्म पर उसका आतंक न जमना चाहिए, किंतु ऐसे अवसरों पर भरतजी की तरह अपने योग्य धर्माचरण को बराबर करते रहना चाहिए। और यदि कहीं का वातावरण, अज्ञान अथवा संसर्गदोष से या ऐसे ग्रन्थों के उपदेश से दूषित हो रहा हो, सूतक पातक की पद्धति बिगड़ी हुई हो, तो उसे युक्ति पूर्वक सुधारने का यत्न करना चाहिए।

तेरहवें अध्याय में मृतकसंस्कारादि विषयक और भी कितना ही कथन ऐसा है जो दूसरों से उधार लेकर रखा गया है और जैनदृष्टि से उचित प्रतीत नहीं होता। वह सब भी मान्य किये जाने के योग्य नहीं है। यहाँ पर विस्तारभय से उसके विचार को छोड़ा जाता है।

मैं समझता हूँ ग्रन्थ पर से सूतक की विडम्बना का दिग्दर्शन कराने के लिये उसका इतना ही परिचय तथा विवेचन काफी है। सहृदय पाठक इस पर से बहुत कुछ अनुभव कर सकते हैं।

पिप्पलादि-पूजन

(२१) नवमें अध्याय में, यज्ञोपवीत संस्कार का वर्णन करते हुए भट्टारकजी ने पीपल वृक्ष के पूजने का भी विधान किया है। आपके इस विधानानुसार "संस्कार से चौथे दिन पीपल पूजने के लिये जाना चाहिए। पीपल का वह वृक्ष पवित्र स्थान में खड़ा हो, ऊँचा हो, छेददाहादि से रहित हो तथा मनोज्ञ हो, और उसकी पूजा इस तरह की जाये कि उसके स्कन्ध देश को दर्भ तथा पुष्पादिक की मालाओं और हल्दी में रंगे हुए सूत के धागों से अलंकृत किया जाये-लपेटा अथवा सजाया जाये, मूल को जल से सींचा जाये और वृक्ष के पूर्व की ओर एक चबूतरे पर अग्निकुंड बनाकर उसमें नौ नौ समिधाओं तथा घृतादिक से होम किया जाये, इसके बाद उस वृक्ष से, जिसे सर्व मंगलों का हेतु बतलाया है यह प्रार्थना की जाये कि हे पिप्पल वृक्ष! मुझे आपकी तरह पवित्रता, यज्ञयोग्यता और बोधित्वादिगुणों की प्राप्ति होवे और आप मेरे जैसे चिन्हों के (मनुष्याकार के) धारक होवें, प्रार्थना के अनंतर उस वृक्ष तथा अग्नि की तीन प्रदक्षिणाएँ देकर खुशी-खुशी अपने घर को जाना चाहिए और वहीं भोजन के पश्चात् सबको संतुष्ट करके रहना चाहिए। साथ ही उस संस्कारित व्यक्ति को पीपल पूजने की यह क्रिया हर महीने इसी तरह होमादिक के साथ करते रहना चाहिए और खासकर श्रावण

---

७३. यह शुचिता प्रायः भोजनपान की शुचिता है अथवा भोजनपान की शुद्धि को सिद्ध करना ही सूतक पातक सम्बन्धी वर्जन का मुख्य उद्देश्य है, ऐसा लाटीसंहिता के निम्न वाक्य से ध्वनित होता है- सूतकं पातकं चापि यथोक्तं जैनशासने। एषणाशुद्धिसिद्ध्यर्थं वर्जयेच्छ्रावकाग्रणीः॥५-२५६॥

के महीने में तो उसका किया जाना बहुत ही आवश्यक है''। यथा–

चतुर्थवासरे चापि संस्नातः पितृसंनिधौ।
संक्षिप्तहोमपूजादि कर्म कुर्याद्यथोचितम्॥४५॥
शुचिस्थानस्थितं तुङ्गं छेददाहादिवर्जितम्।
मनोज्ञं पूजितुं गच्छेत्सुयुक्त्याऽश्वत्थभूरुहम्॥४६॥
दर्भपुष्पादिमालाभिर्हरिद्राक्तसुतन्तुभिः।
स्कन्धदेशमलंकृत्य मूलं जलैश्च सिंचयेत्॥४७॥
वृक्षस्य पूर्वदिग्भागे स्थण्डिलस्थाग्निमंडले।
नव नव समिद्भिश्च होमं कुर्याद् घृतादिकैः॥४८॥
पूतत्वयज्ञयोग्यत्वबोधित्वाद्या भवन्तु मे।
त्वद्वद्बोधिदुमत्वं च मद्वच्चिन्हधरो भव॥४९॥
तं वृक्षमिति संप्रार्थ्य सर्वमंगलहेतुकम्।
वृक्षं वन्हिं त्रिःपरीत्य ततो गच्छेद् गृहं मुदा॥५०॥
एवं कृते न मिथ्यात्वं लौकिकाचारवर्तनात्।
भोजनानन्तरं सर्वान्संतोष्य निवसेद गृहे॥५१॥
प्रतिमासं क्रियां कुर्याद्धोमपूजापुरस्सरम्।
श्रावणे तु विशेषेण सा क्रियाऽऽवश्यकी मता॥५२॥

पीपल की यह पूजा जैनमत-सम्मत नहीं है। जैनदृष्टि से पीपल न कोई देवता है, न कोई दूसरी पूज्य वस्तु, और न उसके पूजन से किसी पुण्य फल अथवा शुभफल की प्राप्ति ही होती है। उसमें पवित्रता, पूजन-पात्रता (यज्ञयोग्यता) और विज्ञता (बोधित्व) आदि के वे विशिष्ट गुण भी नहीं है जिनकी उससे प्रार्थना की गई है। इसके सिवाय जगह-जगह जैन शास्त्रों में पिप्पलादि वृक्षों के पूजन का निषेध किया गया है और उसे देवमूढ़ता अथवा लोकमूढ़ता बतलाया है, जैसा कि नीचे के कुछ अवतरणों से प्रकट है–

मुसलं देहली चुल्ली पिप्पलश्चम्पकोजलम्।
देवायैरभिधीयन्ते वर्ज्यन्ते तैः परेऽत्र के॥४-९८॥ अमितगति उपासकाचार।
पृथ्वी ज्वलनं तोयं देहलीं पिप्पलादिकान्।
देवतात्वेन मन्यन्ते ये ते चिन्त्या विपश्चितः॥१-४४॥ सिद्धान्तसार।
क्षेत्रपालः शिवो नागो वृक्षाश्च पिप्पलादयः।...
यत्रार्च्यन्ते शठैरेते देवमूढः स उच्यते ॥ सारचतुर्विंशतिका।
...तरुस्तूपाग्र भक्तानां वन्दनं भृगुसंश्रयः।...
...एवमादिविमूढानां ज्ञेयं मूढमनेकधा ॥ यशस्तिलक।

...वृक्षपूजादीनि पुण्यकारणानि भवन्तीति यद्वदन्ति
तल्लोकमूढत्वं विज्ञेयं।
-द्रव्यसंग्रहटीका ब्रह्मदेवकृता।
...वटवृक्षादिपूजनम्।...लोकमूढं प्रचक्ष्यते॥

-धर्मोपदेश पीयूषवर्ष श्रावकाचार।

इससे भट्टारकजी की उक्त पिप्पलपूजा देवमूढ़ता या लोकमूढ़ता में परिगणित होती है। उन्होंने हिन्दुओं के विश्वासानुसार पीपल को यदि देवता समझकर उसकी पूजा की यह व्यवस्था की है तो वह देवमूढ़ता है और यदि लोगों की देखा देखी पुण्यफल समझकर या उससे किसी दूसरे अनोखे फल की आशा रखकर ऐसा किया है तो वह लोकमूढ़ता है अथवा इसे दोनों ही समझना चाहिए। परन्तु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि उनकी यह पूजन व्यवस्था मिथ्यात्व को लिये हुए है और अच्छी खासी मिथ्यात्व की पोषक है। भट्टारकजी को भी अपनी इस पूजा पर प्रकट मिथ्यात्व के आक्षेप का ख्याल आया है। परन्तु चूँकि उन्हें अपने ग्रन्थ में इसका विधान करना था इसलिये उन्होंने लिख दिया- ''एवं कृते न मिथ्यात्वं''- ऐसा करने से कोई मिथ्यात्व नहीं होता। क्यों नहीं होता? ''लौकिकाचार-वर्तनात्''-इसलिये कि यह तो लोकाचार की वर्तना है अर्थात् लोगों की देखा देखी जो काम किया जाये उसमें मिथ्यात्व का दोष नहीं लगता। भट्टारकजी का यह हेतु भी बड़ा ही विलक्षण तथा उनके अद्‌भुत पाण्डित्य का द्योतक है!! उनके इस हेतु के अनुसार लोगों की देखा देखी यदि कुदेवों का पूजन किया जाये, उन्हें पशुओं की बलि चढ़ाई जाये, सांझी होई तथा पीरों की कब्रें पूजी जायें, नदी समुद्रादिक की वंदना भक्ति के साथ उनमें स्नान से धर्म माना जाये, ग्रहण के समय स्नान का विशेष माहात्म्य समझा जाये और हिंसा के आचरण तथा मद्यमांसादि के सेवन में कोई दोष न माना जाये अथवा यों कहिये कि अतत्त्व को तत्त्व समझकर प्रवर्ता जाये तो इसमें भी कोई मिथ्यात्व नहीं होगा!! तब मिथ्यात्व अथवा मिथ्याचार रहेगा क्या, यह कुछ समझ में नहीं आता!!! सोमदेवसूरि तो, 'यशस्तिलक' में मूढ़ताओं का वर्णन करते हुए, साफ लिखते हैं कि ''इन वृक्षादिकों का पूजन चाहे वर के लिये किया जाये, चाहे लोकाचार की दृष्टि से किया जाये और चाहे किसी के अनुरोध से किया जाये, वह सब सम्यग्दर्शन की हानि करने वाला है-- अथवा यों कहिये कि मिथ्यात्व को बढ़ाने वाला है''। यथा-

वरार्थं लोकवार्तार्थमुपरोधार्थमेव वा।
उपासनममीषां स्यात्सम्यग्दर्शनहानये॥

पंचाध्यायी में भी लौकिक सुख संपत्ति के लिये कुदेवाराधन को 'लोकमूढ़ता' बतलाते हुए, उसे 'मिथ्या लोकाचार' बतलाया है और इसीलिये त्याज्य ठहराया है-यह नहीं कहा कि लौकिकाचार होने की वजह से वह मिथ्यात्व ही नहीं रहा। यथा-

कुदेवाराधनं कुर्यादैहिकश्रेयसे कुधीः।
मृषालोकोपचारत्वादश्रेया लोकमूढ़ता॥

इससे यह स्पष्ट है कि कोई मिथ्याक्रिया महज लोक में प्रचलित अथवा लोकाचार होने की वजह से मिथ्यात्व की कोटि से नहीं निकल जाती और न सम्यक्क्रिया ही कहला सकती है। जैनियों के द्वारा, वास्तव में, लौकिक विधि अथवा लोकाचार वहीं तक मान्य किये जाने के योग्य हो सकता है जहाँ तक कि उससे उनके सम्यक्त्व में बाधा न आती हो और न व्रतों में ही कोई दूषण लगता हो, जैसा कि सोमदेवसूरि के निम्न वाक्य से भी प्रकट है–

सर्व एवं हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥ यशस्तिलक

ऐसी हालत में भट्टारकजी का उक्त हेतुवाद किसी तरह भी युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता, न सम्पूर्ण लोकाचार ही, बिना किसी विशेषता के, महज लोकाचार होने की वजह से मान्य किये जाने के योग्य ठहरता है। श्री पद्मनन्दि आचार्य ने भी अपने श्रावकाचार में उन सब कर्मों से दूर रहने का अथवा उनके त्याग का उपदेश दिया है जिनसे सम्यग्दर्शन मैला तथा व्रत खंडित होता हो। यथा–

तं देशं तं नरं तत्स्वं तत्कर्माणि च नाश्रयेत्।
मलिनं दर्शनं येन येन च व्रतखण्डनम्॥२६॥

लोक में हिन्दूधर्म के अनुसार पीपल को विष्णु भगवान् का रूप माना जाता है। विष्णु भगवान् ने किसी तरह पर पीपल की मूर्ति धारण की है, वे पीपल के रूप में भूतल पर अवतरित हुए हैं, और उनके आश्रय में सब देव आकर रहे हैं, इसलिये जो पीपल की पूजा करता है वह विष्णु भगवान् की पूजा करता है, इतना ही नहीं, किंतु सर्व देवों की पूजा करता है ऐसा हिन्दूओं के पाद्मोत्तरखण्डादि कितने ही ग्रन्थों में विस्तार के साथ विधान पाया जाता है। इसी से उनके यहाँ पीपल के पूजने का बड़ा माहात्म्य है और सर्व पापों का नाश करने आदि रूप से बहुत कुछ फल वर्णन किया गया है।[७४] और यही वजह है जो वे पीपल में पवित्रता, यज्ञयोग्यता और बोधित्वादि गुणों की कल्पना किये हुए हैं। पीपल में पूतत्त्व गुण अथवा पवित्रता के हेतु का उल्लेख करने वाला उनका एक वाक्य नमूने के तौर पर इस प्रकार है–

---

७४. इस विषय के कुछ थोड़े से वाक्य नमूने के तौर पर इस प्रकार हैं–

''अश्वत्थरूपो भगवान् विष्णुरेव न संशयः।''

''अश्वत्थपूजको यस्तु स एव हरिपूजकः। अश्वत्थमूर्तिर्भगवान्स्वयमेव यतो द्विज॥''

''वदाम्यश्वत्थमाहात्म्यं सर्वपापप्रणाशनम्। साक्षादेव स्वयं विष्णुरश्वत्थोऽखिलविश्वराट्॥''

''अश्वत्थपूजितो येन पूजिताः सर्वदेवताः। अश्वत्थच्छेदितो येन छेदिताः सर्व देवताः॥''

''अश्वत्थं सेचयेद्विद्वान्संप्रदक्षिणमादिशेत्। पापोपहतमर्त्यानां पापनाशो भवेद् ध्रुवम।'' –शब्दकल्पद्रुम।

अश्वत्थ! यस्मात्त्वयि वृक्षराज! नारायणस्तिष्ठति सर्वकारणम्।
अतः शुचिस्त्वं सततं तरूणाम् विशेषतोऽरिष्टविनाशनोऽसि॥

इस वाक्य में पीपल को संबोधन करके कहा गया है कि "हे वृक्षराज! चूँकि सब का कारण नारायण (विष्णु भगवान्) तुम्हारे में तिष्ठता है, इसलिये तुम सविशेष रूप से पवित्र हो और अरिष्ट का नाश करने वाले हो"।

ऐसी हालत में, अपने सिद्धान्तों के विरुद्ध, दूसरे लोगों की देखादेखी पीपल पूजने अथवा इस रूप में लोकानुवर्तन करने से सम्यग्दर्शन मैला होता है सम्यक्त्व में बाधा आती है–यह बहुत कुछ स्पष्ट है। खेद है भट्टारकजी, जैनदृष्टि से यह नहीं बतला सके कि पीपल में किस सम्बन्ध से पूज्यपना है अथवा किस आधार पर उसमें बोधित्व तथा पूतत्त्वादि गुणों की कल्पना बन सकती है![७५] प्रत्यक्ष

७५. भट्टारकजी के कथन को ब्रह्मवाक्य समझने वाले सोनीजी भी, अपने अनुवाद में डेढ़ पेज का लम्बा भावार्थ लगाने पर भी, इस विषय को स्पष्ट नहीं कर सके और न भट्टारकजी के हेतु को ही निर्दोष सिद्ध कर सके हैं! उन्होंने यह तो स्वीकार किया है कि आगम में वृक्षपूजा को बुरा तथा लोकमूढ़ता बतलाया है और उसके अनुसार इस पीपलपूजा का लोकमूढ़ता में अन्तर्भाव होना चाहिए। परन्तु ग्रन्थकार भट्टारकजी ने चूँकि यह लिख दिया है कि "ऐसा करने में मिथ्यात्व को दोष नहीं लगता" इससे आपकी बुद्धि चकरा गई है और आप उसमें किसी रहस्य की कल्पना करने में प्रवृत्त हुए हैं–यह कहने लगे हैं कि "इसमें कुछ थोड़ा-सा रहस्य है"। लेकिन वह रहस्य क्या है, उसे बहुत कुछ प्रयत्न करने अथवा इधर-उधर की बहुत-सी निरर्थक बातें बनाने पर भी आप खोल नहीं सके और अंत में आपको अनिश्चित रूप से यही लिखना पड़ा– "संभव है कि जिस तरह क्षेत्र को निमित्त लेकर ज्ञान का क्षयोपशम हो जाता है वैसे ही ऐसा करने से भी ज्ञान का क्षयोपशम हो जाये"–– "संभव है कि उस वृक्ष के निमित्त से भी आत्मा पर ऐसा असर पड़ जाये जिससे उसकी आत्मा में विलक्षणता आ जाये।" इससे सोनीजी की जैनधर्म विषयक श्रद्धा का भी कितना ही पता चल जाता है। अस्तु, आपकी सबसे बड़ी युक्ति इस विषय में यह मालूम होती है कि जिस तरह वर की इच्छा से गंगादिक नदियों में स्नान करना लोकमूढ़ता होते हुए भी वैसे ही बिना उस इच्छा के महज शरीर की मलशुद्धि के लिये उनमें स्नान करना लोकमूढ़ता नहीं है, उसी तरह यज्ञोपवीत की विशेष विधि में बोधि (ज्ञान) की इच्छा से बोधि (पीपल) वृक्ष की पूजा करने में भी लोकमूढ़ता अथवा मिथ्यात्व का दोष न होना चाहिए। यद्यपि आपके इस युक्ति विधान में वर की इच्छा दोनों जगह समान है और इसलिये उस बोधि वर की इच्छा से पीपल का पूजना लोकमूढ़ता की कोटि से नहीं निकल सकता, फिर मैं यहाँ इतना और बतला देना चाहता हूँ कि गंगादिक नदियों के जिस स्नान की यहाँ तुलना की गई है वह संगत मालूम नहीं होता, क्योंकि महज शारीरिक मल शुद्धि के लिये जो गंगादिक में स्नान करना है वह उन नदियों का पूजन करना नहीं है और यहाँ स्पष्ट रूप से 'पूजितुं गच्छेत्' आदि पदों के द्वारा पीपल की पूजा का विधान किया गया है और उसकी तीन प्रदक्षिणा देना तथा उससे प्रार्थना करना तक लिखा है। यह नहीं लिखा कि पीपल की छाया में बैठना अच्छा है, अथवा उसके नीचे बैठकर अमुक कार्य करना चाहिए इत्यादि। और इसलिये नदियों की पूजा वन्दनादि करना जिस तरह मिथ्यात्व है उसी तरह पूज्य बुद्धि को लेकर पीपल की यह उपासना करना भी मिथ्यात्व है। हाँ, एक दूसरी जगह (१०वें अध्याय में), लोकमूढ़ता का वर्णन करते हुए सोनीजी लिखते हैं– "सर्वसाधारण अग्नि, वृक्ष, पर्वत आदि पूज्य क्यों नहीं और विशेष विशेष कोई कोई पूज्य क्यों हैं? इसका उत्तर यह है कि जिनसे जिन भगवान् का सम्बन्ध है वे पूज्य हैं, अन्य नहीं।" परन्तु पीपल की बाबत आपने यह भी नहीं बतलाया कि उससे जिन भगवान् का क्या खास सम्बन्ध है, जिससे हिन्दुओं की तरह

में वह जड भाव को लिये हुए है और उसके फलों तथा लाख में असंख्याते त्रस जीवों के मृत कलेवर शामिल रहने से अच्छी खासी अपवित्रता से भी घिरा हुआ है। साथ ही, जैनागम में उसे वैसी कोई प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं है। अतः उसमें पूतत्त्व आदि गुणों की कल्पना करना, उससे उन गुणों की प्रार्थना करना और हिन्दुओं की तरह से उसकी पूजा करना यह सब हिन्दूधर्म का अनुकरण है, जिसे भट्टारकजी ने लोकानुवर्तन के निःसत्व पर्दे के नीचे छिपाना चाहा है। महज लोकानुवर्तन के आधार पर ऐसे प्रकट मिथ्यात्व को अमिथ्यात्व कह देना, निःसंदेह, बड़े ही दुःसाहस का कार्य है!! और वह इन भट्टारक जैसे व्यक्तियों से ही बन सकता है जिन्हें धर्म के मर्म की कुछ भी खबर नहीं अथवा धर्म की आड़ में जो कुछ दूसरा ही प्रयोजन सिद्ध करना चाहते हैं।

इसी तरह पर भट्टारकजी ने, एक दूसरे स्थान पर, 'आक' वृक्ष के पूजने का भी विधान किया है, जिसके विधि वाक्य का उल्लेख अभी आगे 'अर्क विवाह' की आलोचना करते हुए किया जायेगा।

वैधव्य-योग और अर्क-विवाह

(२२) ग्याहरवें अध्याय में, पुरुषों के तीसरे विवाह का विधान करते हुए, भट्टारकजी लिखते हैं कि "अर्क (आक) वृक्ष के साथ विवाह न करके यदि तीसरा विवाह किया जाता है तो वह तृतीय विवाहिता स्त्री विधवा हो जाती है। अतः विचक्षण पुरुषों को चाहिए कि वे तीसरे विवाह से पहले अर्क-विवाह किया करें। उसके लिये उन्हें अर्क वृक्ष के पास जाना चाहिए, वहाँ जाकर स्वस्ति-वाचनादि कृत्य करना चाहिए, अर्क वृक्ष की पूजा करनी चाहिए, उससे[७६]प्रार्थना करनी चाहिए, और फिर उसके साथ विवाह करना चाहिए"। यथा–

[७७]अकृत्वाऽर्कविवाहं तु तृतीयां यदि चोद्वहेत्।
विधवा सा भवेत्कन्या तस्मात्कार्यं विचक्षणा (णैः)॥२०४॥
अर्कसन्निधिमागत्य कुर्यात्स्वस्त्यादिवाचनाम्।
अर्कस्याराधनां कृत्वा सूर्यं सम्प्रार्थ्य चोद्वहेत्॥२०५॥

उसकी कुछ पूजा बन सकती, बल्कि वहाँ 'बोधि' का अर्थ 'बड़' करके आपने अपने पूर्व कथन के विरुद्ध यज्ञोपवीत संस्कार के समय पीपल की जगह बड़ वृक्ष की पूजा का विधान कर दिया है! और यह आपके अनुवाद की और भी विलक्षणता है!!

७६. 'सूर्यं सम्प्रार्थ्य' वाक्य में 'सूर्य' शब्द अर्क वृक्ष का वाचक और उसका पर्याय नाम है, उसी वृक्ष से पूजा के अनन्तर प्रार्थना का उल्लेख है। सोनीजी ने अपने अनुवाद में सूर्य से प्रार्थना करने की जो बात लिखी है वह उनकी कथन शैली से सूर्य देवता से प्रार्थना को सूचित करती है और इसलिये ठीक नहीं है।

७७. इस पद्य के अनुवाद में सोनीजी ने पहली स्त्री को 'धर्म पत्नी' और दूसरी को 'भोगपत्नी' बतलाकर जो यह लिखा है कि "इन दो स्त्रियों के होते हुए तीसरा विवाह न करे" वह सब उनकी निजी कल्पना जान पड़ता है। मूल पद्य के आशय के साथ उसका कुछ सम्बन्ध नहीं है। मूल से यह लाजिमी नहीं आता कि वह दो स्त्रियों के मौजूद होते हुए ही तीसरे विवाह की व्यवस्था बतलाता है। बल्कि अधिकांश में, अपने पूर्वपद्य-सम्बन्ध से, दो स्त्रियों के मर जाने पर तीसरी स्त्री को विवाहने की व्यवस्था करता हुआ मालूम होता है।

भट्टारकजी का यह सब कथन भी जैनशासन के विरुद्ध है। और उनका उक्त वैधव्ययोग जैन तत्त्वज्ञान के विरुद्ध ही नहीं किन्तु प्रत्यक्ष के भी विरुद्ध है, प्रत्यक्ष में सैकड़ों उदाहरण ऐसे उपस्थित किये जा सकते हैं जिनमें तीसरे विवाह से पहले अर्कविवाह नहीं किया गया, और फिर भी वैधव्य-योग संघटित नहीं हुआ। साथ ही, ऐसे उदाहरणों की भी कमी नहीं है जिनमें अर्कविवाह किये जाने पर भी स्त्री विधवा हो गई है और वह अर्कविवाह उसके वैधव्ययोग को टाल नहीं सका। ऐसी हालत में यह कोई लाजिमी नियम नहीं ठहरता कि अर्कविवाह न किये जाने पर कोई स्त्री ख्वाहमख्वाह भी विधवा हो जाती है और किये जाने पर उसका वैधव्ययोग भी टल जाता है। तब भट्टारकजी का उक्त विधान कोरा वहम, भ्रम और लोकमूढ़ता की शिक्षा के सिवाय और कुछ भी मालूम नहीं होता।[७८]

हिन्दुओं के यहाँ अर्कविवाह का विस्तार के साथ विधान पाया जाता है, उनके कितने ही ऋषियों की यह धारणा है कि मनुष्य की तीसरी स्त्री मानुषी न होनी चाहिए, यदि मानुषी होगी तो वह विधवा हो जायेगी, इससे तीसरे विवाह से पहले उन्होंने अर्कविवाह की योजना की है—अर्क वृक्ष के पास जाकर स्वस्तिवाचनादि कृत्य करने, अर्क की पूजा करने, अर्क से प्रार्थना करने और फिर अर्क-कन्या के साथ विवाह करने आदि की सम्पूर्ण व्यवस्था बतलाई है। इस विषय का कथन हिन्दुओं के कितने ही ग्रन्थों में पाया जाता है। 'नवरत्न विवाहपद्धति' में भी आठ पृष्ठों में उसका कुछ संग्रह किया गया है। उसी पर से यहाँ कुछ वाक्य नमूने के तौर पर उद्धृत किये जाते हैं—

''उद्वहेद्रतिसिद्ध्यर्थं तृतीयां न कदाचन।
मोहादज्ञानतो वापि यदि गच्छेत्तु मानुषीम्॥
नश्यत्येव न संदेहो गर्गस्य वचनं यथा।
''तृतीयां यदि चोद्वाहेत्तर्हि सा विधवा भवेत्॥
चतुर्थ्यादि विवाहार्थं तृतीयेऽर्कं समुद्वहेत्।''
''तृतीये स्त्रीविवाहे तु संप्राप्ते पुरुषस्य तु॥
आर्कं विवाहं वक्ष्यामि शौनकोऽहं विधानतः।
अर्कसन्निधिमागत्य तत्र स्वस्त्यादि वाचयेत्॥
नान्दीश्राद्धं प्रकुर्वीत स्थण्डिलं च प्रकल्पयेत्।
अर्कमभ्यर्च्य सौर्या च गंधपुष्पाक्षतादिभिः॥''

---

७८. इसी तरह का हाल भट्टारकजी के उस दूसरे वैधव्य-योग का भी है जिसका विधान उन्होंने इसी अध्याय के निम्न पद्य में किया है—

कृते वाग्भिश्च सम्बन्धे पश्चान्मृत्युश्च गोत्रिणाम्। तदा न मंगलं कार्यं नारीवैधव्यदं ध्रुवम्॥१८५॥

इस पद्य में यह बतलाया गया है कि वाक्सम्बन्ध (सगाई) के पश्चात् यदि अपना कोई सगोत्री (कुटम्बी) मर जाये तो फिर वह विवाह सम्बन्ध नहीं करना चाहिए। यदि किया जायेगा तो वह स्त्री निश्चय से विधवा हो जायेगी!!

(प्रार्थना) ''नमस्ते मंगले देवि नमः सवितुरात्मजे।
त्राहि मां कृपया देवि पत्नी त्वं मे इहागता॥
अर्क त्वं ब्रह्मणा सृष्टः सर्वप्राणिहिताय च।
वृक्षाणां आदिभूतस्त्वं देवानां प्रीतिवर्धनः॥
तृतीयोद्वाहजं पापं मृत्युं चाशु विनाशयेत्।
ततश्च कन्यावरणं त्रिपुरुषं कुलमुद्धरेत्॥''

हिन्दू ग्रन्थों के ऐसे वाक्यों पर से ही भट्टारकजी ने वैधव्य-योग और अर्कविवाह की उक्त व्यवस्था अपने ग्रन्थों में की है। परन्तु खेद है कि आपने उसे भी श्रावक धर्म की व्यवस्था लिखा है और इस तरह पर अपने पाठकों को धोखा दिया है!!

संकीर्ण हृदयोद्‌गार

(२३) यह त्रिवर्णाचार, यद्यपि, हृदय के संकीर्ण उद्‌गारों से बहुत कुछ भरा हुआ है और मेरी इच्छा भी थी कि मैं इस शीर्षक के नीचे उनका कुछ विशेष दिग्दर्शन कराता परन्तु लेख बहुत बढ़ गया है, इससे सिर्फ दो नमूनों पर ही यहाँ संतोष किया जाता है। इन्हीं पर से पाठकों को यह मालूम हो सकेगा कि भट्टारकजी की हृदयसंकीर्णता किस हद तक बढ़ी हुई थी और वे जैन समाज को जैन धर्म की उदार नीति के विरुद्ध किस ओर ले जाना चाहते थे-

(क) अन्त्यजैः खनिताः कूपा वापी पुष्करिणी सरः।
तेषां जलं न तु ग्राह्यं स्नानपानाय च क्वचित्॥३-५९॥

इस पद्य में कहा गया है कि 'जो कुएँ, बावड़ी, पुष्करिणी और तालाब अन्त्यजों के- शूद्रों अथवा चमारों आदि के खोदे हुए हों उनका जल न तो कभी पीना चाहिए और न स्नान के लिये ही ग्रहण करना चाहिए।'

भट्टारकजी का यह उद्‌गार बड़ा ही विलक्षण तथा हद दर्जे का संकीर्ण है और इससे शूद्रों के प्रति असीम घृणा तथा द्वेष का भाव व्यक्त होता है। इसमें यह नहीं कहा गया कि जिन कूप बावड़ी आदि के जल को अन्त्यजों ने किसी तरह पर छुआ हो उन्हीं का जल स्नान-पान के अयोग्य हो जाता है बल्कि यह स्पष्ट घोषणा की गई है कि जिन कूप बावड़ी आदि को अन्त्यजों ने खोदा हो-भले ही उनके वर्तमान जल को उन्होंने कभी स्पर्श भी न किया हो-इन सब का जल हमेशा के लिये स्नान-पान के अयोग्य होता है! और इसलिये यदि यह कहा जाये तो वह नाकाफी होगा कि ''भट्टारकजी ने अपने इस वाक्य के द्वारा अन्त्यज मनुष्यों को जलचर जीवों तथा जल को छूने पीने वाले दूसरे तिर्यंचो से ही नहीं किन्तु उस मल, गंदगी तथा कूड़े कर्कट से भी बुरा और गया बीता समझा है जो कुओं, बावड़ियों तथा तालाबों में बहकर या उड़कर चला जाता है अथवा अनेक त्रस जीवों के मरने, जीने, गलने, सड़ने आदि के कारण भीतर ही भीतर पैदा होता रहता है और जिसकी वजह से उनका जल स्नान पान के अयोग्य नहीं माना जाता''। भट्टारकजी की घृणा का मान इससे भी कहीं बढ़ा चढ़ा

था, और इसीलिये मैं उसे हद दर्जे की या असीम घृणा कहता हूँ। मालूम होता है भट्टारकजी अन्त्यजों के संसर्ग को ही नहीं किन्तु उनकी छायामात्र को अपवित्र, अपशकुन और अनिष्टकारक समझते थे। इसीलिए उन्होंने, एक दूसरे स्थान पर, अन्त्यज का दर्शन हो जाने अथवा उसका शब्द सुनाई पड़ने पर जप को ही छोड़ देने का या यों कहिये कि सामायिक जैसे सदनुष्ठान का त्याग कर उठ जाने का विधान किया है[७९] यह कितने खेद का विषय है!!

यदि भट्टारकजी की समझ के अनुसार अन्त्यजों का संसर्ग दोष यहाँ तक बढ़ा हुआ है–इतना अधिक प्रभावशाली और बलवान है कि उनका किसी कूप बावड़ी आदि की भूमि को प्रारम्भ में स्पर्श करना भी उस भूमि के संसर्ग में आने वाले जल को हमेशा के लिये दूषित तथा अपवित्र कर देता है तब तो यह कहना होगा कि जिस जिस भूमि को अन्त्यज लोगों ने कभी किसी तरह पर स्पर्श किया है अथवा वे स्पर्श करते हैं वह सब भूमि और उसके संसर्ग में आने वाले सम्पूर्ण अन्नादिक पदार्थ हमेशा के लिये दूषित तथा अपवित्र हो जाते हैं और इसलिये त्रैवर्णिकों को चाहिए कि वे उस भूमि पर कभी न चलें और न जल की तरह उन संसर्गी पदार्थों का कभी व्यवहार ही करें। इसके सिवाय, जिन कूप बावड़ी आदि की बाबत सुनिश्चित रूप से यह मालूम न हो सके कि वे किन लोगों के खोदे हुए हैं उनका जल भी संदिग्धावस्था के कारण कभी काम में नहीं लाना चाहिए। ऐसी हालत में कैसी विकट स्थिति उत्पन्न होगी और लोकव्यवहार कितना बंद तथा संकटापन्न हो जायेगा उसकी कल्पना तक भी भट्टारकजी के दिमाग में आई मालूम नहीं होती। मालूम नहीं भट्टारकजी उन खेतों की पैदावार अन्न, फल तथा शाकादिक को भी ग्राह्य समझते थे या कि नहीं जिनमें मलमूत्रादिक महादुर्गन्धमय अपवित्र पदार्थों से भरे हुए खाद का संयोग होता है! अथवा अन्त्यजों का वह भूमि स्पर्श ही, उनकी दृष्टि में खाद के उस संयोग से गया बीता था!! परन्तु कुछ भी हो भट्टारकजी ऐसा वैसा कुछ समझते हों या न समझते हों और उन्होंने वैसी कोई कल्पना की हो या न की हो, इसमें संदेह नहीं कि उनका उक्त कथन जैनशासन के अत्यन्त विरुद्ध है।

जो जैनशासन सार्वजनिक प्रेम तथा वात्सल्य भाव की शिक्षा देता है, घृणा तथा द्वेष के भाव को हटाकर मैत्रीभाव सिखलाता है और अन्त्यजों को भी धर्म का अधिकारी बतलाकर उन्हें श्रावकों की कोटि में रखता है उसका अथवा उन तीर्थंकरों का कदापि ऐसा अनुदार शासन नहीं हो सकता जिनकी 'समवसरण' नाम की समुदार सभा में ऊँच-नीच के भेदभाव को भुलाकर मनुष्य ही नहीं किन्तु पशु पक्षी तक भी शामिल होते थे और वहाँ पहुँचते ही आपस में ऐसे हिलमिल जाते थे कि अपने अपने जाति-विरोध तक को भुला देते थे। सर्प निर्भय होकर नकुल के पास खेलता था और बिल्ली प्रेम से चूहे का आलिंगन करती थी। कितना ऊँचा आदर्श और कितना विश्वप्रेममय भाव है! कहाँ यह आदर्श? और कहाँ भट्टारकजी का उक्त प्रकार का घृणात्मक विधान? इससे स्पष्ट है कि

---

७९. यथा– व्रतच्युतान्त्यजादीनां दर्शने भाषणे श्रुतौ। क्षुतेऽधोवातगमने जृम्भने जपमुत्सृजेत्॥३-१२५॥

भट्टारकजी का यह सब कथन जैनधर्म की शिक्षा न होकर उससे बाहर की चीज है। और वह हिन्दू धर्म से उधार लेकर रखा गया मालूम होता है। हिन्दुओं के यहाँ उक्त वाक्य से मिलता जुलता 'यम' ऋषि का एक वाक्य[८०] निम्न प्रकार से पाया जाता है–

अन्त्यजैः खानिताः कूपास्तडागानि तथैव च।
एषु स्नात्वा च पीत्वा च पंचगव्येन शुद्धयति॥

इसमें यह बतलाया गया है कि 'अन्त्यजों के खोदे हुए कुओं तथा तालाबों में स्नान करने वाला तथा उनका पानी पीने वाला मनुष्य अपवित्र हो जाता है और उसकी शुद्धि पंचगव्य से होती है–जिसमें गोबर और गोमूत्र भी शामिल होते हैं। सम्भवतः इसी वाक्य पर से भट्टारकजी ने अपने वाक्य की रचना की है। परन्तु यह मालूम नहीं होता कि पंचगव्य से शुद्धि की बात को हटाकर उन्होंने अपने पद्य के उत्तरार्द्ध को एक दूसरा ही रूप क्यों दिया है? पंचगव्य से शुद्धि की इस हिन्दू व्यवस्था को तो आपने कई जगह पर अपने ग्रन्थ में अपनाया है।[८१] शायद आपको इस प्रसंग पर वह इष्ट न रही हो और यह भी हो सकता है कि हिन्दूधर्म के किसी दूसरे वाक्य पर से ही आपने अपने वाक्य की रचना की हो अथवा उसे ही ज्यों का त्यों उठाकर रख दिया हो। परन्तु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि यह व्यवस्था हिन्दुओं से ली गई है–जैनियों के किसी भी माननीय प्राचीन ग्रन्थ में वह नहीं पाई जाती–हिन्दुओं की ऐसी व्यवस्थाओं के कारण ही दक्षिण भारत में, जहाँ ऐसी व्यवस्थाओं का खास प्रचार हुआ है, अन्त्यज लोगों पर घोर अत्याचार होता है, वे कितनी ही सड़कों पर चल नहीं सकते अथवा मंदिरों के पास से गुजर नहीं सकते, उनकी छाया पड़ जाने पर सचेल स्नान की जरूरत होती है और इसलिये अब उस अत्याचार के विरुद्ध सहृदय तथा विवेकशील उदार पब्लिक की आवाज उठी हुई है।

(ख) अजाघ्नगोघ्नमत्स्यघ्नाः कल्लालाश्चर्मकारकाः।
पापर्धिकः सुरापायी एतैर्वक्तुं न युज्यते॥१३०॥
एतान्किमपि नो देयं स्पर्शनीयं कदापि न।
न तेषां वस्तुकं ग्राह्यं जनापवाददायकम्॥१३१॥ ७ वाँ अध्याय।

इन पद्यों में कहा गया है कि "जो लोग बकरा-बकरी का घात करने वाले (कसाई आदिक) हों, गोकुशी करने वाले (मुसलमान आदि म्लेच्छ) हों, मच्छी मारने वाले (ईसाई या धीवरादिक) हों, शराब का व्यापार करने वाले (कलाल) हों, चमड़े का काम करने वाले (चमार) हों, कोई विशेष पाप का काम करने वाले पातिकी (पापर्धिक) हों, अथवा शराब पीने वाले हों, उनमें से किसी के भी साथ बोलना नहीं चाहिए। और इन लोगों को न तो कभी कुछ देना चाहिए, न इनकी कोई चीज लेनी चाहिए और न इनको कभी छूना ही चाहिए, क्योंकि ऐसा करना लोकापवाद का–बदनामी का कारण है"।

८०. देखो नारायण विट्ठल-संगृहीत 'आन्हिक सूत्रावलि'

८१. जैसे रजस्वला स्त्री की चौथे दिन पंचगव्य से–गोबर गोमूत्रादिक से स्नान करने पर शुद्धि मानी है। यथा–
चतुर्थे वासरे पंचगव्यैः संस्नापयेच्च ताम्॥८-१०॥

पाठकजन! देखा, कैसे संकीर्ण, क्षुद्र और मनुष्यत्व से गिरे हुए उद्‌गार हैं! व्यक्तिगत घृणा तथा द्वेष के भावों से कितने लबालब भरे हुए हैं!! और जगत् का उद्धार अथवा उसका शासन, रक्षण तथा पालन करने के लिये कितने अनुपयोगी, प्रतिकूल और विरोधी हैं!! क्या ऐसे उद्‌गार भी धार्मिक उपदेश कहे जा सकते हैं? अथवा यह कहा जा सकता है कि वे जैनधर्म की उस उदारनीति से कुछ सम्बन्ध रखते हैं जिसका चित्र, जैन ग्रन्थों में, जैन तीर्थंकरों की 'समवसरण' सभा का नक्शा खींचकर दिखलाया जाता है? कदापि नहीं। ऐसे उपदेश विश्वप्रेम के विघातक और संसारी जीवों की उन्नति तथा प्रगति के बाधक हैं। जैनधर्म की शिक्षा से इनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। जरा गहरा उतरने पर ही यह मालूम हो जाता है कि वे कितने थोथे और निःसार हैं। भला जब उन मनुष्यों के साथ जिन्हें हम समझते हों कि वे बुरे हैं-बुरा आचरण करते हैं-संभाषण भी न किया जाये, उन्हें सदुपदेश न दिया जाये अथवा उनकी भूल न बतलाई जाये तो उनका सुधार कैसे हो सकता है? और कैसे वे सन्मार्ग पर लगाए जा सकते हैं? क्या ऐसे लोगों की ओर से सर्वथा उपेक्षा धारण करना, उनके हित तथा उत्थान की चिन्ता न रखना, और उन्हें सदुपदेश देकर सन्मार्ग पर न लगाना जैनधर्म की कोई नीति अथवा जैन समाज के लिये कुछ इष्ट कहा जा सकता है? और क्या सच्चे जैनियों की दया-परिणति के साथ उसका कुछ सम्बन्ध हो सकता है? कदापि नहीं। जैनधर्म के तो बड़े-बड़े नेता आचार्यों तथा महान् पुरुषों ने अगणित पापियों, भीलों, चाण्डालों तथा म्लेच्छों तक को धर्म का उपदेश दिया है, उनके दुःख-सुख को सुना है, उनका हर तरह से समाधान किया है और उन्हें जैनधर्म में दीक्षित करके सन्मार्ग पर लगाया है। अतः 'ऐसे लोगों से बोलना योग्य नहीं' यह सिद्धान्त बिल्कुल जैनधर्म की शिक्षा के विरुद्ध है।

इसी तरह पर ''उन लोगों को कभी कुछ देना नहीं और न कभी उनकी कोई चीज लेना'' यह सिद्धान्त भी दूषित तथा बाधित है और जैनधर्म की शिक्षा से बहिर्भूत है। क्या ऐसे लोगों के भूख प्यास की वेदना से व्याकुल होते हुए भी उन्हें अन्न, जल न देना और रोग से पीड़ित होने पर औषध न देना जैनधर्म की दया का कोई अंग हो सकता है? कदापि नहीं। जैनधर्म तो कुपात्र और अपात्र कहे जाने वालों को भी दया का पात्र मानता है और उन सब के लिये करुणा बुद्धि से यथोचित दान की व्यवस्था करता है। जैसा कि पंचाध्यायी के निम्न वाक्यों से भी प्रकट है-

कुपात्रायाऽप्यपात्राय दानं देयं यथोचितम्।
पात्रबुद्ध्या निषिद्धं स्यान्निषिद्धं न कृपाधिया॥
शेषेभ्यः क्षुत्पिपासादिपीडितेभ्योऽशुभोदयात्।
दीनेभ्योऽभय[८२] दानादि दातव्यं करुणार्णवैः॥

वह असमर्थ भूखे प्यासों के लिये आहार दान की, व्याधि-पीड़ितों के लिये औषधि-वितरण की, अज्ञानियों के लिये विद्या तथा ज्ञानोपकरण-प्रदान की और भयग्रस्तों के लिये अभयदान की

८२. पंचाध्यायी की छपी हुई प्रतियों में 'ऽभय' की जगह 'ऽदया' तथा 'दया' पाठ गलत दिये हैं।

व्यवस्था करता है। उसकी दृष्टि में पात्र, कुपात्र और अपात्र अपनी योग्यतानुसार इन चारों प्रकार के दान के अधिकारी हैं। इससे भट्टारकजी का उन लोगों को कुछ भी न देने का उद्गार निकलना कोरी अपनी हृदय-संकीर्णता व्यक्त करना है और पाखण्ड का उपदेश देना है। ऐसी ही हालत उन लोगों से कभी कोई चीज न लेने के उद्गार की है। उनसे अच्छी, उपयोगी तथा उत्तम चीजों का न्यायमार्ग से लेना कभी दूषित नहीं कहा जा सकता। ऐसे लोगों में से कितने ही व्यक्ति जंगलों, पहाड़ों, समुद्रों तथा भूगर्भ में से अच्छी उत्तम उत्तम चीजें निकालते हैं, क्या उनसे वे चीजें लेकर लाभ न उठाना चाहिए? क्या ऐसे लोगों द्वारा वन-पर्वतों से लाई हुई उत्तम औषधियों का भी व्यवहार न करना चाहिए। और क्या चमारों से उनके बनाये हुए मृत चर्म के जूते भी लेने चाहिए? इसके सिवाय एक मुसलमान, ईसाई अथवा वैसा (उपर्युक्त प्रकार का) कोई हीनाचरण करने वाला हिन्दू भाई यदि किसी औषधालय, विद्यालय अथवा दूसरी लोकोपकारिणी सेवा संस्था को द्रव्यादि की कोई अच्छी सहायता प्रदान करे तो क्या उसकी वह सहायता संस्था के अनुरूप होते हुए भी स्वीकार न करनी चाहिए? और क्या इस प्रकार का सब व्यवहार कोई बुद्धिमानी कहला सकता है? कदापि नहीं। ऐसा करना अनुभवशून्यता का द्योतक और अपना ही नाशक है। संसार का सब काम परस्पर के लेन देन और एक दूसरे की सहायता से चलता है। एक मच्छीमार सीप में से मोती निकाल कर देता है और बदले में कुछ द्रव्य पाता है अथवा एक चमार से जूता या चमड़ा लिया जाता है तो मूल्यादि के तौर पर उसे कुछ दिया जाता है। इसी तरह पर लोक व्यवहार प्रवर्तता है। क्या वह मोती जो मांस में ही पैदा होता तथा वृद्धि पाता है उस मच्छीमार का हाथ लगने से अपवित्र या विकृत हो जाता है? अथवा वह चमड़ा चमार के कर स्पर्श से विगुणित और दूषित बन जाता है? यदि ऐसा कुछ नहीं है तो फिर उन लोगों से कोई भी चीज न लेने के लिये कहना क्या अर्थ रखता है? वह निरी संकीर्णता और हिमाकत नहीं तो और क्या है? भरत चक्रवर्ती जैसे धार्मिक नेता पुरुषों ने तो ऐसे लोगों से भेंट में चमरी और कस्तूरी (मुश्क नाफे) जैसी चीजें ही नहीं किन्तु कन्याएँ तक भी ली थीं, जिनका उल्लेख आदिपुराण आदि ग्रन्थों में पाया जाता है। राजा लोग ऐसे व्यक्तियों से कर और जमींदार लोग अपनी जमीन का महसूल तथा मकान का किराया भी लेते हैं। उनके खेतों की पैदावार भी ली जाती है। अतः भट्टारकजी का उक्त उद्गार किसी तरह भी युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता।

अब रही उन लोगों को कभी न छूने की बात, यह उद्गार भी युक्तिसंगत मालूम नहीं होता। जब हम लोग उन लोगों के उपकार तथा उद्धार में प्रवृत्त होंगे, जो जैन मत का खास उद्देश्य है, तब उन्हें कभी अथवा सर्वथा छुएँ नहीं यह बात तो बन ही नहीं सकती। फिर भट्टारकजी अपने इस उद्गार के द्वारा हमें क्या सिखलाना चाहते हैं वह कुछ समझ में नहीं आता! क्या एक शराबी को शराब के नशे में कूपादिक में गिरता हुआ देख कर हमें चुप बैठे रहना चाहिए और छू जाने के भय से उसका हाथ पकड़कर निवारण न करना चाहिए? अथवा एक चमार को डूबता हुआ देखकर छू जाने के डर से उसका उद्धार न करना चाहिए? क्या एक गोघाती मुसलमान, मच्छीमार, ईसाई या शराब बेचने वाले

हिन्दू के घर में आग लग जाने पर, स्पर्शभय से, हमें उसको तथा उसके बालबच्चों को पकड़ पकड़कर बाहर न निकालना चाहिए? और क्या हमारा कोई पातिकी भाई यदि अचानक चोट खाकर लहूलुहान हुआ बेहोश पड़ा हो तो हमें उसको उठाकर और उसके घावों को धो पोंछकर उसकी मर्हम पट्टी न करना चाहिए इसीलिए कि वह पातिकी है और हमें उनको छूना नहीं चाहिए अथवा एक वैद्य या डाक्टर को अपने कर्तव्य से च्युत होकर ऐसे लोगों की चिकित्सा ही नहीं करनी चाहिए? यदि ऐसी ही शिक्षा है तब तो कहना होगा कि भट्टारकजी हमें मनुष्यत्व से गिरा कर पशुओं से भी गया बीता बनाना चाहते थे और उन्होंने हमारे उदार दयाधर्म को कलंकित तथा विडम्बित करने में कोई कसर नहीं रखी। और यदि ऐसा नहीं है तो उनके उक्त उद्गार का फिर कुछ भी मूल्य नहीं रहता–वह निरर्थक और निःसार जान पड़ता है। मालूम होता है भट्टारकजी ने स्पृश्याऽस्पृश्य की समीचीन नीति को ही नहीं समझा और इसीलिये उन्होंने बिना सोचे समझे ऐसा ऊटपटाँग लिख मारा कि 'इन लोगों को कभी भी न छूना चाहिए'! मानों ये मनुष्य स्थायी अछूत हों और उस मल से भी गये बीते हों जिसे हम प्रतिदिन छूते हैं!!! मनुष्यों से और इतनी घृणा!!! धन्य है ऐसी समझ तथा धार्मिक बुद्धि को!!!

अन्त में, भट्टारकजी ने जिस लोकापवाद का भय प्रदर्शित किया है वह इस सम्पूर्ण विवेचन पर से मूर्खों की मूर्खता के सिवाय और कुछ भी नहीं रह जाता, इसी से उस पर कुछ लिखना व्यर्थ है। निःसंदेह जब से इन भट्टारकजी जैसे महात्माओं की कृपा से जैनधर्म के साहित्य में इस प्रकार के अनुदार विचारों का प्रवेश होकर विकार प्रारम्भ हुआ है तब से जैनधर्म को बहुत बड़ा धक्का पहुँचा है और उसकी सारी प्रगति रुक गई। वास्तव में ऐसे संकीर्ण तथा अनुदार विचारों के अनुकूल चलने वाले संसार में कभी कोई उन्नति नहीं कर सकते और न उच्च तथा महान् बन सकते हैं।

ऋतुकाल में भोग न करने वालों की गति

(२४) आठवें अध्याय में भट्टारकजी ने यह तो लिखा ही है कि ''ऋतुकाल में भोग करने वाला मनुष्य परमगति (मोक्ष) को प्राप्त होता है और उसके ऐसा सत्कुलीन पुत्र पैदा होता है जो पितरों को स्वर्ग प्राप्त करा देता है''![८३] परन्तु ऋतुकाल में भोग न करने वाले स्त्री पुरुषों की जिस गति का उल्लेख किया है वह और भी विचित्र है। आप लिखते हैं–

[८४]ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपय (ग) च्छति।
घोरायां भ्रूणहत्यायां पितृभिः सह मज्जति॥४९॥

---

८३. ऋतुकालोप (लाभि) गामी तु प्राप्नोति परमां गतिम्। सत्कुलः प्रभवेत्पुत्रः पितृणां स्वर्गदो मतः॥४८॥
इस पद्य का पूर्वार्द्ध 'संवर्तस्मृति' के पद्य नं० १०० का उत्तरार्द्ध है।

८४. इस पद्य का अर्थ देने के बाद सोनीजी ने एक बड़ा ही विलक्षण 'भावार्थ' दिया है जो इस प्रकार है–
भावार्थ–''कितने ही लोग ऐसी बातों में आपत्ति करते हैं। इसका कारण यही है कि वे आजकल स्वराज्य के नशे में चूर हो रहे हैं। अतः हर एक को समानता देने के आवेश में आकर उस क्रिया के चाहने वाले लोगों को भड़काकर अपनी ख्याति, पूजा आदि चाहते हैं। उन्होंने धार्मिक विषयों पर आघात करना ही अपना मुख्य कर्त्तव्य समझ लिया है।''

ऋतुस्नाता तु या नारी पतिं नैवोपविन्दति।
शुनी वृकी श्रृगाली स्याच्छूकरी गर्दभी च सा॥५०॥

अर्थात्–जो पुरुष अपनी ऋतुस्नाता– ऋतुकाल में स्नान की हुई स्त्री के पास नहीं जाता है, उससे भोग नहीं करता है, वह अपने पितरों सहित भ्रूणहत्या के घोर पाप में डूबता है। स्वयं दुर्गति को प्राप्त होता है और साथ में अपने पितरों (माता पितादिक) को भी ले मरता है। और जो ऋतुस्नाता स्त्री अपने पति के साथ भोग नहीं करती है वह मरकर कुत्ती, भेड़िनी, गीदड़ी, सूअरी और गधी होती है।

पाठकजन! देखा, कैसी विचित्र व्यवस्था है!! भले ही वे दिन पर्व के दिन हों, स्त्री पुरुषों में से कोई एक अथवा दोनों ही व्रती हों, बीमार हों, अनिच्छुक हों, तीर्थयात्रादि धर्म कार्यों में लगे हों या परदेश में स्थित हों परन्तु उन्हें उस वक्त भोग करना ही चाहिए!! यदि नहीं करते हैं तो वे उक्त प्रकार से घोर पाप के भागी अथवा दुर्गति के पात्र होते हैं!!! इस अन्यायमूलक व्यवस्था का भी कहीं कुछ ठिकाना है!! स्वरुचि की प्रतिष्ठा, सत्संयम के अनुष्ठान, ब्रह्मचर्य के पालन और योगाभ्यासादि के द्वारा अपने अभ्युदय के यत्न का तो इसके आगे कुछ मूल्य ही नहीं रहता!!! समझ में नहीं आता भ्रूण (गर्भस्थ बालक) के विद्यमान न होते हुए भी उसकी हत्या का पाप कैसे लग जाता है? यदि भोग किया जाता तो गर्भ का रहना संभव था, इस संभावना के आधार पर ही यदि भोग न करने से भ्रूणहत्या का पाप लग जाता है तब तो कोई भी त्यागी, जो अपनी स्त्री को छोड़कर ब्रह्मचारी या मुनि हुआ हो, इस पाप से नहीं बच सकता। और जैन समाज के बहुत से पूज्य पुरुषों अथवा महान् आत्माओं को घोर पातिकी तथा दुर्गति का पात्र करार देना होगा। परन्तु ऐसा नहीं है। जैनधर्म में ब्रह्मचर्य की बड़ी प्रतिष्ठा है और उसके प्रताप से असंख्य व्यक्ति ऋतुकाल में भोग न करते हुए भी पाप से अलिप्त रहे हैं, और सद्गति को प्राप्त हुए हैं। जैनदृष्टि से यह कोई लाजिमी नहीं कि ऋतुकाल में भोग किया ही जाये। हाँ, भोग जो किया जाये तो वह संतान के लिये किया जाये और इस उद्देश्य से ऋतुकाल में ही किया जाना चाहिए, ऐसी उसकी व्यवस्था है। और उसके साथ शक्ति तथा कालादिक की विशेषापेक्षा भी लगी हुई है अर्थात् वे स्त्री पुरुष यदि उस समय रोगादिक के कारण या और तौर पर वैसा करने के लिये असमर्थ न हों, और वह समय भी कोई पर्वादि वर्ज्य काल न हो तो वे परस्पर काम सेवन कर सकते हैं। दूसरी अवस्था के लिये ऐसा नियम अथवा क्रम नहीं है। और यह बात भगवज्जिनसेन–प्रणीत आदिपुराण के निम्न वाक्य से भी ध्वनित होती है–

संतानार्थमृतावेव कामसेवां मिथ्यो भजेत्।
शक्तिकालव्यपेक्षोऽयं क्रमोऽशक्तेष्वतोऽन्यथा॥३८-१३५॥

इस भावार्थ का मूल पद्य अथवा उसके अर्थ से जरा भी सम्बन्ध नहीं है। ऐसा मालूम होता है कि इसे लिखते हुए सोनीजी खुद ही किसी गहरे नशे में चूर थे। अन्यथा, ऐसा बिना सिर पैर का महाहास्यजनक 'भावार्थ' कभी भी नहीं लिखा जा सकता था।

इससे भट्टारकजी का उक्त सब कथन जैनधर्म के बिल्कुल विरुद्ध है और उसने जैनियों की सारी कर्म फिलॉसॉफी को ही उठाकर ताक में रख दिया है। भला यह कहाँ का न्याय और सिद्धान्त है जो पुत्र के भोग न करने पर बेचारे मरे जीते पितर भी भ्रूण हत्या के पाप में घसीटे जाते हैं! मालूम होता है यह भट्टारकजी के अपने ही मस्तिष्क की उपज है, क्योंकि उन्होंने पहले पद्य में, जो 'पराशर' ऋषि का वचन है और 'पराशरस्मृति' के चौथे अध्याय में नं० १५ पर दर्ज है तथा 'मिताक्षरा' में भी उद्धृत मिलता है, इतना ही फेरफार किया है-अर्थात्, उसके अन्तिम चरण 'युज्यते नात्र संशयः' को 'पितृभिः सह मज्जति' में बदला है!! दूसरे शब्दों में यों कहिये कि पराशरजी ने पितरों को उस हत्या के पाप में नहीं डुबोया था, परन्तु भट्टारकजी ने उन्हें भी डुबोना उचित समझा है[८५]!!! ऐसा निराधार कथन कदापि किसी माननीय जैनाचार्य का वचन नहीं हो सकता दूसरा पद्य भी, जिसमें ऋतुकाल में भोग न करने वाली स्त्री की गति का उल्लेख है, हिन्दूधर्म के किसी ग्रन्थ से लिया गया अथवा कुछ परिवर्तन करके रखा गया मालूम होता है, क्योंकि हिन्दू ग्रन्थों में ही इस प्रकार की आज्ञाएँ प्रचुरता के साथ पाई जाती हैं। पराशरजी ने तो ऐसी स्त्री को सीधा नरक में भेजा है और फिर मनुष्ययोनि में लाकर उसे बार-बार विधवा होने का भी फतवा (धर्मादेश) दिया है। यथा-

ऋतुस्नाता तु या नारी भर्तारं नोपसर्पति।

सा मृता नरकं याति विधवा च पुनः पुनः॥४-१४॥ पराशर स्मृति

इस पद्य का पूर्वार्द्ध और भट्टारकजी के दूसरे पद्य का पूर्वार्द्ध दोनों एकार्थवाचक हैं। संभव है इस पद्य पर से ही भट्टारकजी ने अपने पद्य की रचना की हो। उन्हें उस स्त्री को क्रमशः नरक तथा मनुष्य गति में न भेजकर खालिस तिर्यञ्च गति में ही घुमाना उचित जँचा हो और इसलिये उन्होंने इस पद्य के उत्तरार्द्ध को अपनी इच्छानुसार बदला हो। परन्तु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि भट्टारकजी ने कुछ दूसरों की नकल करके और कुछ अपनी अकल को बीच में दखल देकर जो ये बेढंगी व्यवस्थाएँ प्रस्तुत की हैं उनका जैनशासन से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। ऐसी नामाकूल व्यवस्थाएँ कदापि जैनियों के द्वारा मान्य किये जाने के योग्य नहीं।

अश्लीलता और अशिष्टाचार

(२५) व्रत, नियम, पर्व, स्वास्थ्य, अनिच्छा और असमर्थता आदि की कुछ परवाह न करते हुए, ऋतुकाल में अवश्य भोग करने की व्यवस्था देने वाले अथवा भोग न करने पर दुर्गति का फर्मान

८५. एक बात और भी नोट किये जाने के योग्य है और वह यह कि हिन्दू ग्रन्थों में इस विषय से सम्बन्ध रखने वाले 'देवल' आदि ऋषियों के कितने ही वचन ऐसे पाये जाते हैं जिनमें 'स्वस्था सन्नोपगच्छति' आदि पदों के द्वारा उस पुरुष को ही भ्रूण हत्या के पाप का भागी ठहराया है जो स्वस्थ होते हुए भी ऋतुकाल में भोग नहीं करता है। और 'पर्ववर्ज्य' तथा' पर्वाणि वर्जयेत्'' आदि पदों के द्वारा ऋतुकाल में भी भोग के लिये पर्व दिनों की छुट्टी की गई है। परन्तु भट्टारकजी ने उन पद्यों को यहाँ संग्रह नहीं किया और न उनका आशय ही अपने शब्दों में प्रकट किया। इससे यह और भी साफ हो जाता है कि उन्होंने ऋतुकाल में भोग न करने वालों को हर हालत में भ्रूण हत्या का अपराधी ठहराया है!!

जारी करने वाले भट्टारकजी ने, उसी अध्याय में, भोग की कुछ विधि भी बतलाई है। उसमें, अन्य बातों को छोड़कर, आप लिखते हैं 'प्रदीपे मैथुनं चरेत्'- दीपप्रकाश में मैथुन करना चाहिए और उसकी बाबत यहाँ तक जोर देते हैं कि–

दीपे नष्टे तु यः सङ्गं करोति मनुजो यदि।
यावज्जन्मदरिद्रत्वं लभते नात्र संशयः॥३७॥

अर्थात्–दीप प्रकाश के न होते हुए, अंधेरे में, यदि कोई मनुष्य स्त्रीप्रसंग करता है तो वह जन्म भर के लिये दरिद्री हो जाता है इसमें संदेह नहीं है।[८६] इसके सिवाय, आप भोग के समय परस्पर क्रोध, रोष, भर्त्सना और ताडना करने तथा एक दूसरे की उच्छिष्ट (जूठन) खाने में कोई दोष नहीं बतलाते।[८७] साथ ही, पान चबाने को भोग का आवश्यक अंग ठहराते हैं, भोग के समय दोनों का मुख ताम्बूल से पूर्ण होना चाहिए ऐसी व्यवस्था देते हैं। और यहाँ तक लिखते हैं कि वह स्त्री भोग के लिये त्याज्य है जिसके मुख में पान नहीं।[८८] और इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भट्टारकजी ने उन स्त्री पुरुषों अथवा श्रावक श्राविकाओं को परस्पर काम सेवन का अधिकारी ही नहीं समझा जो रात्रि को भोजन पान न करते हों अथवा जिन्होंने संयमादिक की किसी दृष्टि से पान का खाना ही छोड़ रखा हो!! परन्तु इन सब बातों को भी छोड़िये, इस विधि में चार श्लोक खासतौर से उल्लेखनीय हैं–भट्टारकजी ने उन्हें देने की खास जरूरत समझी हैं और वे इस प्रकार हैं–

भुक्तवानुपविष्टस्तु शय्यायामभिसन्मुखः।
संस्मृत्य परमात्मानं पत्न्या जंघे प्रसारयेत्॥४१॥
अलोमशां च सद्वृत्तामनार्द्रां सुमनोहराम्।
योनिं स्पृष्ट्वा जपेन्मंत्रं पवित्रं पुत्रदायकम्॥४२॥
ओष्टावाकर्षयेदोष्टैरन्योन्यमविलोकयेत् ।
स्तनौ धृत्वा तु पाणिभ्यामन्योन्यं चुम्बयेन्मुखम्॥४४॥
बलं देहीति मंत्रेण योन्यां शिश्नं प्रवेशयेत्।
योनेस्तु किंचिदधिकं भवेलिङ्गं बलान्वितम्॥४५॥

इन श्लोकों के बिना भट्टारकजी की भोग–विधि शायद अधूरी ही रह जाती! और लोग समझ ही न पाते कि भोग कैसे किया करते हैं!! अस्तु; इन सब श्लोकों में क्या लिखा है उसे बतलाने की हिन्दी और मराठी के दोनों अनुवादकर्ताओं में से किसी ने भी कृपा नहीं की– सिर्फ पहले दो पद्यों में

८६. संदेह की बात तो दूर रही, यह तो प्रत्यक्ष के भी विरुद्ध मालूम होता है, क्योंकि कितने ही व्यक्ति लज्जा के वश होकर या वैसे ही सोते से जागकर अंधेरे में काम सेवन करते हैं परन्तु वे दरिद्री नहीं देखे जाते। कितनों ही की धन सम्पन्नता तो उसके बाद प्रारम्भ होती है।

८७. पादलग्नं तनुश्चैव ह्युच्छिष्टं ताडनं तथा। कोपो रोषश्च निर्भर्त्सः संयोगे न च दोष भाक्॥३८॥

८८. ताम्बूलेन मुखं पूर्णं... कृत्वा योगं समाचरेत्॥३९॥ बिना ताम्बूलवदनां... संयोगे च परित्यजेत्॥४०॥

प्रयुक्त हुए 'भुक्तवान्', 'उपविष्टस्तु शय्यायां', 'संस्मृत्य परमात्मानं', 'जपेन्मंत्रं पुत्रदायकं' पदों में से सबका अथवा कुछ का अर्थ दे दिया है और बाकी सब छोड़कर लिख दिया है कि इन श्लोकों में बतलाई हुई विधि अथवा क्रिया का अनुष्ठान किया जाना चाहिए। पं० पन्नालाल जी सोनी की अनुवाद पुस्तक में एक नोट भी लगा हुआ है, जिसमें लिखा है कि–

''अश्लीलता और अशिष्टाचार का दोष आने के सबब ४२वें[८९] श्लोक में कही गई क्रियाओं का भाषानुवाद नहीं किया गया है। इसी प्रकार ४४वें और ४५वें श्लोक का अर्थ भी नहीं लिखा गया है।''

मराठी अनुवादकर्ता पं० कल्लाप्पा भरमाप्पा निटवे ने भी ऐसा ही आशय व्यक्त किया है। आप इन श्लोकों का अर्थ देना मराठी शिष्टाचार की दृष्टि से अयोग्य बतलाते हैं और किसी संस्कृतज्ञ विद्वान् से उनका अर्थ मालूम कर लेने की जिज्ञासुओं को प्रेरणा करते हैं। इस तरह पर दोनों ही अनुवादकों ने अपने अपने पाठकों को उस धार्मिक (!) विधि के ज्ञान से कोरा रखा है जिसकी भट्टारकजी ने शायद बड़ी ही कृपा करके अपने ग्रन्थ में योजना की थी! और अपने इस व्यवहार से यह स्पष्ट घोषणा की है कि भट्टारकजी को ये श्लोक अपने इस ग्रन्थ में नहीं देने चाहिए थे।

यद्यपि अनुवादकों ने ऐसा लिखकर अपना पिण्ड छुड़ा लिया है परन्तु एक समालोचक का पिंड वैसा लिखकर नहीं छूट सकता-- उसका कर्तव्य भिन्न है–इच्छा न होते हुए भी कर्त्तव्यानुरोध से उसे अपने पाठकों को थोड़ा बहुत कुछ परिचय देना ही होगा, जिससे उन्हें यह मालूम हो सके कि इन श्लोकों का कथन क्या कुछ अश्लीलता और अशिष्टता को लिये हुए है। साथ ही, उस पर भट्टारकजी की रुचि तथा परिणति आदि का भी वे कुछ बोध प्राप्त कर सकें। अतः नीचे उसी का यत्न किया जाता है।

पहले श्लोक में भट्टारकजी ने यह बतलाया है कि ''भोग करने वाला मनुष्य भोजन किये हुए हो, वह शय्या पर स्त्री के सामने बैठे और परमात्मा का स्मरण करके स्त्री की दोनों जाँघें पसारे''। फिर दूसरे श्लोक में यह व्यवस्था दी है कि ''वह मनुष्य उस स्त्री की योनि को छूए और वह योनि बालों से रहित हो, अच्छी देदीप्यमान हो, गीली न हो तथा भले प्रकार से मन को हरने वाली हो और उसे छूकर पुत्र के देने वाले पवित्र मंत्र का जाप करे।'' इसके आगे ग्रन्थ में योनिस्थ देवता की अभिषेक-पुरस्सर पूजा वाला वह मंत्र दिया है जो 'प्रतिज्ञादि विरोध' नामक प्रकरण के (ज) भाग में उद्धृत किया जा चुका है, और लिखा है कि ''इस मंत्र को पढ़कर गोबर, गोमूत्र, दूध, दही, घी, कुश और जल से योनि का अच्छी तरह प्रक्षालन करना चाहिए और फिर उसके ऊपर चंदन, केसर तथा कस्तूरी आदि का लेप कर देना चाहिए''।[९०] इसके बाद 'योनिं पश्यन् जपेन्मंत्रान्' नाम का ४३वाँ पद्य

---

८९. ४१ वें श्लोक में कही गई 'पत्न्या जंघे प्रसारयेत्' जैसी क्रिया का भी तो भाषानुवाद नहीं किया गया?

९०. यथा– ''इति मंत्रेण गोमय गोमूत्र क्षीर दधि सर्पिः–कुशौदकैर्योनिं सम्प्रक्षाल्य श्रीगन्धकुंकुमकस्तुरिकाद्यनुलेपनं कुर्यात्''।

दिया है, जिसमें उस चंदनादि से चर्चित योनि को देखते हुए[९१] पंच परमेष्ठिवाचक कुछ मंत्रों के जपने का विधान किया है और फिर उन मंत्रों तथा एक आलिंगन मंत्र को देकर उक्त दोनों श्लोक नं० ४४, ४५ दिये हैं। इन श्लोकों द्वारा भट्टारकजी ने यह आज्ञा की है कि "स्त्री पुरुष दोनों परस्पर मुँह मिलाकर एक दूसरे के होठों को अपने होठों से खींचे, एक दूसरे को देखें और हाथों से छातियाँ पकड़कर एक दूसरे का मुखचुम्बन करें। फिर 'बलं देहि' इत्यादि मंत्र को पढ़कर योनि में लिंग को दाखिल किया जाये और वह लिंग योनि से कुछ बड़ा तथा बलवान् होना चाहिए।"[९२]

पाठकजन! देखा, कितनी सभ्यता और शिष्टता को लिये हुए कथन हैं! एक 'धर्मरसिक' नाम धराने वाले ग्रन्थ के लिये कितना उपयुक्त है!! और अपने को 'मुनि' 'गणी' तथा 'मुनीन्द्र' तक लिखने वाले भट्टारकजी को कहाँ तक शोभा देता है!!! खेद है भट्टारकजी को विषय सेवन का इस तरह खुला उपदेश देते और स्त्रीसंभोग की स्पष्ट विधि बतलाते हुए जरा भी लज्जा तथा शरम नहीं आई!! जिन बातों की चर्चा करने अथवा कहने-सुनने में गृहस्थों तक को संकोच होता है उन्हें वैराग्य तथा ब्रह्मचर्य की मूर्ति बने हुए मुनि महाराजजी बड़े चाव से लिखते हैं, यह सब शायद कलियुग का ही माहात्म्य है!!! मुझे तो भट्टारकजी की इस रचनामय लीला को देखकर कविवर भूधरदास जी का यह वाक्य याद आ जाता है-

राग उदै जग अंध भयो, सहजैं सब लोगन लाज गँवाई।
सीख बिना नर सीखत हैं, विषयादिक सेवन की सुघराई॥
ता पर और रचै रसकाव्य, कहा कहिये तिनकी निठुराई।
अंध असूझन की अँखियान में, झांकत हैं रज रामदुहाई!!

सचमुच ही ऐसे कुकवियों, धर्माचार्यों अथवा गोमुखव्याघ्रों से राम बचावे!! वे स्वयं तो पतित होते ही हैं किंतु दूसरों को भी पतन की ओर ले जाते हैं!!! उनकी निष्ठुरता, निःसंदेह अनिर्वचनीय है। भट्टारकजी के इन उद्गारों से उनके हृदय का भाव झलकता है-कुरुचि तथा लम्पटता पाई जाती है और उनके ब्रह्मचर्य की थाह का कितना ही पता चल जाता है। जो लोग विवाह विषय पर सम्मति दे देने से ही ब्रह्मचर्य में दोष या अतिचार का लगना बतलाते हैं, वे मालूम नहीं ऐसी भोग प्रेरणा को लिये हुए अश्लील उद्गार निकालने वाले इन भट्टारकजी के ब्रह्मचर्य-विषय में क्या कहेंगे? और उन्हें

---

९१. 'योनिं पश्यन्' पदों का यह अर्थ भी अनुवादकों ने नहीं दिया।

९२. इसके बाद दोनों की संतुष्टि तथा इच्छापूर्ति पर योनि में वीर्य के सींचने की बात कही गई है, और यह कथन दो पद्यों में है, जिनमें पहला 'संतुष्टो भार्यया भर्ता' नाम का पद्य मनुस्मृति का वाक्य है और दूसरा पद्य निम्न प्रकार है-

इच्छापूर्णं भवेद्यावदुभयोः कामयुक्तयोः। रतः सिंचेत्ततो योन्यां तेन गर्भं बिभर्ति सा॥४७॥

४१वें पद्य का उत्तरार्द्ध और इस पद्य का उत्तरार्द्ध दोनों मिलकर हिन्दुओं के 'आचारार्क' ग्रन्थ का एक पद्य होता है, जिसे संभवतः यहाँ विभक्त करके रखा गया है।

श्रावकों की दूसरी प्रतिमा में भी स्थान प्रदान करेंगे या कि नहीं? अस्तु; वे लोग कुछ ही कहें अथवा करें, किंतु इसमें संदेह नहीं कि भट्टारकजी का यह सब विधि विधान, जिसे वे 'कामयज्ञ' बतलाते हैं और जिसके अनुष्ठान से 'संसार समुद्र से पार तारने वाला पुत्र पैदा होगा' ऐसा लालच दिखलाते हैं[९३], जैन शिष्टाचार के बिल्कुल विरुद्ध है और जैन साहित्य को कलंकित करने वाला है। जान पड़ता है, भट्टारकजी ने उसे देने में प्रायः वाममार्गियों अथवा शक्तिकों का अनुकरण किया है और उनकी 'योनिपूजा' जैसी घृणित शिक्षाओं को जैनसमाज में फैलाना चाहा है। अतः आपका वह सब प्रयत्न किसी तरह भी प्रशसंनीय नहीं कहा जा सकता।

यहाँ पर एक बात और भी बतला देने की है और वह यह कि ४५वें पद्य में जो ''बलं देहीति मंत्रेण'' पाठ दिया है उससे यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि उसमें जिस मंत्र का उल्लेख किया गया है वह ''बलं देहि'' शब्दों से प्रारम्भ होता है। परन्तु भट्टारकजी ने उक्त पद्य के अनन्तर जो मंत्र दिया है वह ''बलं देहि'' अथवा ''ॐ बलं देहि'' जैसे शब्दों से प्रारम्भ नहीं होता, किन्तु ''ॐ ह्रीं शरीरस्थायिनो देवता मां बलं ददतु स्वाहा'' इस रूप को लिये हुए है और इससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि भट्टारकजी ने उस मंत्र को बदल कर रखा है जिसकी बाबत यह बहुत कुछ संभव है कि वह वाममार्गियों अथवा शाक्तिकों का मंत्र हो और खोज करने पर उनके किसी ग्रन्थ में मिल जाये। ऐसी हालत में–उक्त पद्य भी अकेला अथवा दूसरे पद्य के साथ में उसी ग्रन्थ से लिया गया होना चाहिए। मालूम होता है, उसे देते हुए, भट्टारकजी को यह ख्याल नहीं रहा कि जब हम पद्य में उल्लेखित मंत्र को नहीं दे रहे हैं तब हमें इसके ''बलं देहीति'' शब्दों को भी बदल देना चाहिए। परन्तु भट्टारकजी को इतनी सूझ बूझ कहाँ थी? और इसलिये उन्होंने पद्य के उस पाठ को न बदल कर मंत्र को ही बदल दिया है!!!

त्याग या तलाक

(२६) ग्यारहवें अध्याय में, विवाहविधि को समाप्त करते हुए, भट्टारकजी लिखते हैं–

[९४]अप्रजां दशमे वर्षे स्त्रीप्रजां द्वादशे त्यजेत्।
मृतप्रजां पंचदशे सद्यस्त्वप्रियवादिनीम्॥१९७॥

अर्थात्–जिस स्त्री के लगातार कोई संतान न हुई हो उसे दसवें वर्ष, जिसके कन्याएँ उत्पन्न होती रही हों उसे बारहवें वर्ष, जिसके बच्चे मर जाते हों उसे पंद्रहवें वर्ष और जो अप्रियवादिनी (कटु भाषण

---

९३. यथा–काम यज्ञमिति प्राहुर्गृहिणां सर्वदैव च। अनेन लभते पुत्रं संसारार्णवतारकम्॥५१॥

९४. यह पद्य किसी हिन्दू ग्रन्थ का जान पड़ता है। हिन्दुओं की 'नवरत्न विवाह पद्धति' में भी वह संगृहीत मिलता है। अस्तु, इस पद्य के अनुवाद में सोनीजी ने 'त्यजेत्' पद का अर्थ दिया है–'दूसरा विवाह करे' और 'अप्रियवादिनी' के पहले एक विशेषण अपनी तरफ से जोड़ा है 'अपुत्रवती!' साथ ही अप्रियवादिनी का अर्थ 'व्यभिचारिणी' बतलाया है!! और ये सब बातें आपके अनुवाद की विलक्षणता को सूचित करती हैं। इसके सिवाय अपने त्यागावधि के वर्षों की गणना प्रथम रजोदर्शन के समय से की है! यह भी कुछ कम विलक्षणता नहीं है।

करने वाली) हो उसे फौरन (तत्काल ही) त्याग देना चाहिए।

भट्टारकजी के इस 'त्याग' के दो अर्थ किये जा सकते हैं, एक 'संभोग त्याग' और दूसरा 'वैवाहिक सम्बन्ध त्याग'। संभोगत्याग अर्थ भट्टारकजी के पूर्व कथन की दृष्टि से कुछ संगल मालूम नहीं होता, क्योंकि ऐसी स्त्रियाँ ऋतुमती तथा ऋतुस्नाता तो होती ही हैं और ऋतुकाल में ऋतुस्नाताओं से भोग न करने पर भट्टारकजी ने पुरुषों को भ्रूण हत्या के घोर पाप का अपराधी ठहराया है और साथ में उनके पितरों को भी घसीटा है, ऐसी हालत में उनके इस वाक्य से 'संभोगत्याग' का आशय नहीं लिया जा सकता, वह आपत्ति के योग्य ठहरता है, तब दूसरा 'वैवाहिक सम्बन्ध त्याग' का अर्थ ही यहाँ ठीक बैठता है, जिसे 'तलाक' कहते हैं और जो उक्त पाप से मुक्ति दिला सकता अथवा सुरक्षित रख सकता है। इस दूसरे अर्थ की पुष्टि इसमें भी होती है कि भट्टारकजी ने संभोग त्याग की बात को मतान्तर[९५] रूप से दूसरों के मत के तौर पर (अपने मत के तौर पर नहीं) अगले पद्य में दिया है। और वह पद्य इस प्रकार है–

व्याधिना स्त्रीप्रजा वन्ध्या उन्मत्ता विगतार्तवा।
अदुष्टा लभते त्यागं तीर्थतो न तु धर्मतः॥१९८॥

इस पद्य में बतलाया है कि ''जो स्त्री (चिरकाल से) रोग पीड़ित हो, जिसके केवल कन्याएँ ही पैदा होती रही हों, जो बन्ध्या हो, उन्मत्त हो अथवा रजोधर्म से रहित हो (रजस्वला न होती हो) ऐसी स्त्री यदि दुष्ट स्वभाव वाली न हो तो उसका महज कामतीर्थ से त्याग होता है, वह संभोग के लिये त्याज्य ठहरती है, परन्तु धर्म से नहीं धर्म से उसका पत्नी सम्बन्ध बना रहता है।''

इस पद्य से यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि इसमें ऐसी स्त्री को धर्म से न त्यागने की अथवा उसके साथ इतनी रिआयत करने की जो बात कही गई है उसका मूल कारण उस स्त्री का दुष्टा न होना है और इसलिये यदि वह दुष्टा हो, अप्रियवादिनी हो अथवा भट्टारकजी के एक दूसरे[९६] पद्यानुसार अति

---

९५. मराठी अनुवाद पुस्तक में पद्य के ऊपर 'मतान्तरं' का अनुवाद ''दूसरे मत'' दिया है परन्तु सोनीजी अपनी अनुवाद पुस्तक में उसे बिल्कुल ही उड़ा गये हैं!

९६. वह पद्य इस प्रकार है–

अतिप्रचण्डां प्रबलां कपालिनीं, विवादकर्त्रीं स्वयमर्थचोरिणीम्।
आक्रन्दिनीं सप्तगृहप्रवेशिनीं, त्यजेच्च भार्यां दशपुत्रपुत्रिणीम्॥३३॥

इस पद्य में यह कहा गया है कि ''जो विवाहिता स्त्री अति प्रचण्ड हो, अधिक बलवती हो, कपालिनी (दुर्गा) हो, विवाद करने वाली हो, धनादिक वस्तुएँ चुराने वाली हो, जोर-जोर से चिल्लाने अथवा रोने वाली हो, और सात घरों में अर्थात् घर-घर में डोलने वाली हो वह यदि दस पुत्रों की माता भी हो तो भी उसे त्याग देना चाहिए।'' इस पद्य के अनुवाद में सोनीजी ने 'भार्या' का अर्थ 'कन्या' गलत किया है और इसलिये फिर आपको 'दशपुत्रपुत्रिणीम्' का अर्थ 'आगे चलकर दस पुत्र-पुत्री वाली भी क्यों न हो ऐसा करना पड़ा जो ठीक नहीं है। 'भार्या' विवाहिता स्त्री को कहते हैं। वास्तव में यह पद्य ही वहाँ असंगत जान पड़ता है। इसे त्याग विषयक उक्त दोनों पद्यों के साथ में देना चाहिए था। परन्तु ''कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा भानमती ने कुनबा जोड़ा'' वाली कहावत को चरितार्थ करने वाले

प्रचण्डा, प्रबला, कपालिनी, विवादकर्त्री, अर्थचोरिणी, आक्रन्दिनी और सप्तगृहप्रवेशिनी जैसी कोई हो, जिसे भी आपने त्याग देने को लिखा है, तो वह धर्म से भी त्याग किये जाने की अथवा यों कहिये कि तलाक की अधिकारिणी है, इतनी बात इस पद्य से भी साफ सूचित होती है। चाहे वह किसी का भी मत क्यों न हो।

इस तरह पर भट्टारकजी ने स्त्रियों को त्याग या तलाक देने की यह व्यवस्था की है। दक्षिण देश की कितनी ही हिन्दू जातियों में तलाक की प्रथा प्रचलित है और कुछ पुनर्विवाह वाली जैन जातियों में भी उसका रिवाज है, जैसा कि १ फरवरी सन् १९२८ के 'जैन जगत्' अंक नं० ११ से प्रकट है। मालूम होता है कि भट्टारकजी ने उसी को यहाँ अपनाया है और अपनी इस योजना द्वारा सम्पूर्ण जैन समाज में उसे प्रचारित करना चाहा है। भट्टारकजी का यह प्रयत्न कितना निन्दित है और उनकी उक्त व्यवस्था कितनी दोषपूर्ण, एकांगी तथा न्याय नियमों के विरुद्ध है उसे बतलाने की जरूरत नहीं। सहृदय पाठक सहज ही में उसका अनुभव कर सकते हैं। हाँ, इतना जरूर बतलाना होगा कि जिस स्त्री को त्याग या तलाक दिया जाता है, वह वैवाहिक सम्बन्ध के विच्छेद होने से अपना पुनर्विवाह करने के लिये स्वतंत्र होती है। और इसलिये यह भी कहना चाहिए कि भट्टारकजी ने अपनी इस व्यवस्था के द्वारा ऐसी 'त्यक्ता' स्त्रियों को अपने पति की जीवितावस्था में पुनर्विवाह करने की भी स्वतंत्रता या परवानगी दी है!! अस्तु; पुनर्विवाह के सम्बन्ध में भट्टारकजी ने और भी कुछ आज्ञाएँ जारी की हैं जिनका प्रदर्शन अभी आगे 'स्त्री पुनर्विवाह' नाम के एक स्वतंत्र शीर्षक के नीचे किया जायेगा।

स्त्री-पुनर्विवाह

(२७) 'तलाक' की व्यवस्था देकर उसके फलस्वरूप परित्यक्ता स्त्रियों को पुनर्विवाह की स्वतंत्रता देने वाले भट्टारकजी ने कुछ हालतों में अपरित्यक्ता स्त्रियों के लिये भी पुनर्विवाह की व्यवस्था की है, जिसका खुलासा[९७] इस प्रकार है–

ग्यारहवें अध्याय में भट्टारकजी ने, वाग्दान, प्रदान, वरण, पाणिग्रहण और सप्तपदी को विवाह के पाँच अंग बतलाकर, उनकी क्रमशः सामान्यविधि बतलाई है और फिर 'विशेषविधि' दी है, जो अंकुरारोपण से प्रारम्भ होकर 'मनोरथाः सन्तु' नामक उस आशीर्वाद पर समाप्त होती है जो सप्तपदी के बाद पूर्णाहुति आदि के भी अनन्तर दिया हुआ है। इसके पश्चात् उन्होंने हिन्दुओं के 'चतुर्थी कर्म'

भट्टारकजी इधर उधर से उठाकर रखे हुए पद्यों की तरतीब देने में इतने कुशल, सावधान अथवा विवेकी नहीं थे। इसी से उनके ग्रन्थ में जगह-जगह ऐसी त्रुटियाँ पाई जाती हैं और यह बात पहिले भी जाहिर की जा चुकी है।

९७. यद्यपि इस विषय में भट्टारकजी के व्यवस्था वाक्य बहुत कुछ स्पष्ट है फिर भी चूँकि इस त्रिवर्णाचार के भक्त कुछ पंडितों ने, उन्हें अपनी मनोवृत्ति के अनुकूल न पाकर अथवा ग्रन्थ के प्रचार में विशेष बाधक समझकर उन पर पर्दा डालने की जघन्य चेष्टा की है–अतः यहाँ पर उनका कुछ विशेष खुलासा अथवा स्पष्टीकरण कर देना ही उचित तथा जरूरी मालूम हुआ है। इसी से यह उसका प्रयत्न किया जाता है।

को अपनाने का उपक्रम किया है और उसे कुछ जैन का रूप दिया है। चतुर्थी-कर्म विवाह की चतुर्थ रात्रि के कृत्य को कहते हैं।[९८] हिन्दुओं के यहाँ वह विवाह का एक देश अथवा अंग माना जाता है। चतुर्थी कर्म से पहले वे स्त्री को 'भार्या' संज्ञा ही नहीं देते। उनके मतानुसार दान के समय तक 'कन्या', दान के अनन्तर 'वधू', पाणिग्रहण हो जाने पर 'पत्नी और चतुर्थी-कर्म के पश्चात् 'भार्या' संज्ञा की प्रवृत्ति होती है। इसी से वे भार्या को 'चातुर्थकर्मणी' कहते हैं जैसा कि मिश्र निबाहूराम विरचित उनके विवाहपद्धति के निम्न वाक्यों से प्रकट है-

चतुर्थीकर्मणः प्राक् तस्या भार्यत्वमेव न संप्रवृत्तम्। विवाहैकदेशत्वाच्चतुर्थीकर्मणः। इतिसूत्रार्थः। तस्माद्भार्या चातुर्थकर्मणीति मुनिवचनात्। ''आप्रदानात् भवेत्कन्या प्रदानानन्तरं वधूः॥ पाणिग्रहे तु पत्नी स्याद्भार्या-चातुर्थकर्मणीति॥''

और इसलिये उनकी विवाहपुस्तकों में 'चतुर्थीकर्म' का पाठ लगा रहता है जो 'ततश्चतुर्थ्यामपररात्रे चतुर्थीकर्म' इस प्रकार के वाक्य के साथ प्रारम्भ होता है। भट्टारकजी ने विवाह रात्रि के बाद से-उस रात्रि के बाद से जिस रात्रि को पंचाङ्गविवाह की सम्पूर्ण विधि समाप्त हो जाती है, चतुर्थीकर्म का उपक्रम करते हुए, प्रतिदिन सुबह के वक्त पौष्टिक कर्म और रात्रि के समय शांतिहोम करने की व्यवस्था की है, और फिर चौथे दिन के प्रभातादि समयों का कृत्य बतलाया है, जिसमें विवाहमंडप के भीतर पूजनादि सामग्री से युक्त तथा अनेक चित्रादिकों से चित्रित एक महामंडल की नवीन रचना, वधू का नूतन कलश स्थापन, संध्या के समय वधू वर का वहाँ गीत वादित्र के साथ स्नान और उन्हें गंधाक्षत-प्रदान भी शामिल है।[९९] इसके बाद संक्षेप में चतुर्थरात्रि का कृत्य दिया है और उसमें मुख्यतया नीचे लिखी क्रियाओं का उल्लेख किया है-

(१) ध्रुवतारा निरीक्षण के अनन्तर सभा की पूजा (२) भगवान् का अभिषेक-पुरस्सर पूजन तथा होम (३) होम के बाद पत्नी के गले में वर की दी हुई सोने की ताली का मंत्रपूर्वक बाँधा जाना (४) मंत्र पढ़कर दोनों के गले में सम्बन्धमाला का डाला जाना (५) नागों का तर्पण अथवा उन्हें बलि का

---

९८. वामन शिवराम ऐप्टे के कोश में भी ऐसा ही लिखा है। यथा- "The Ceremonies to be performed on the fourth night of the marriage" और इससे चतुर्थी का अर्थ होता है The fourth night of the marriage विवाह की चतुर्थ रात्रि।

९९. इस कथन के कुछ वाक्य नीचे दिये जाते हैं-

''ततः प्रभृति नित्यं च प्रभाते पौष्टिकं मतम्। निशीथे शान्ति होमेऽह्नि चतुर्थे नागतर्पणाम्''॥१४८॥

तदग्रे (हि) च प्रभाते च गृहमण्डपयोः पृथक्। सम्मार्जनं०..॥१४९॥

''नवीनं घटं... संस्थापयेच्चारु पत्नी''॥१५३॥ ''सदित्येवमेतन्महामण्डलं वंशपूजार्चनायोग्य सद्रव्यपूर्णम्''॥१५८॥

''सरागेऽपि संध्याभिधाने हशीह वरस्यापि वध्वाः शुभस्नानकं वा...।

दृढं चासनं युज्यते चादरेण सुमांगल्य वादित्रगीतादिपूर्वम्''॥१६०॥

''ॐ साद्विव्यगात्रस्य गंधधारादिक्चक्रं सुगधं वो भवीति... संधारिता अक्षता अप्येवं भवन्तु''।

दिया जाना (६) अग्नि पूजनादि के अनंतर वर का पान बीड़ा लेकर वधूसहित नगर को देखने जाना (७) तत्पश्चात् होम के शेष कार्य को पूरा करके पूर्णाहुति का दिया जाना (८) होम की भस्म का वर वधू को वितरण (९) सुवर्णदान (१०) तदनन्तर कंकण खोलकर ग्राम की प्रदक्षिणा करना (११) प्रदक्षिणा से निवृत्त होकर सुखपूर्वक दुग्धपान तथा संभोगादिक करना और फिर अपने ग्राम को चले जाना।

चतुर्थ रात्रि की इन क्रियाओं से सम्बन्ध रखने वाले कुछ पदवाक्य इस प्रकार हैं–

''रात्रौ ध्रुवतारादर्शनानन्तरे विद्वद्विशिष्ट बन्धुजनैश्च सभापूजा। चतुर्थ (र्थी) दिनेवधूवरयोरपि महास्नानानि च स्नपनार्चा होमादिकं कृत्वा तालीबंधनं कुर्यात्। तद्यथा– 'वरेण दत्ता सौवर्णी... ताली...–॥१६१॥

''ॐ एतस्याः पाणिगृहीत्यास्तालीं बध्नामि इयंनित्यमवतंसलक्ष्मीं विदध्यात्।

''ॐ भार्यापत्योरेतयोः परिणीतिं प्राप्तयोस्तुरीये घस्त्रे नक्तं वेलायां त्रैतासपर्यायाश्च तौ संबध्येते सम्बन्धमाला अतोलब्धिर्बह्वपत्यानां द्राधीयं आयुश्चापि भूयात्।

''सुहोमावलोकः पुन्मंगलीयं ससूत्रं क्रमाद् बंधयेत्कण्ठदेशे।
स्वसम्बन्धमालापरिवेष्टनं च, सुकर्पूरगोशार्षयोर्लेपनं च॥१६३॥
वधूभिर्ह्युपात्तार्धपात्राभिराभिः, प्रवेशो वरस्यैव तद्वच्च वध्वाः।
शुभे मण्डपे दक्षिणीकृत्य तं वै, प्रदायाशु नागस्य साक्षाद्वलिं च॥१६४॥
''समित्समारोपणं पूर्वकं तथा, हुताशपूजावसरार्चनं मुदा।
गृहीतवीटी च वरोवधू युतो, विलोकनार्थं स्व (च) पुरं व्रजेत्प्रभोः॥१६७॥
ततः शेषहोमं कृत्वा पूर्णाहुतिं कुर्यात्।
''ॐ रत्नत्रयार्चनमयोत्तम होम भूतिः...॥१६८॥ इति भस्मप्रदानमंत्रः।
''हिरण्यगर्भस्य...॥१६९–१७१॥ इति स्वर्णदानमंत्रः॥

''तदनन्तरं कं कणमोचनं कृत्वा महाशोभया ग्रामं प्रदक्षिणीकृत्य पयः पावन निधुवनादिकं सुखेन कुर्यात्। स्वग्रामं गच्छेत्।

'तदनंतरं' नाम के अंतिम वाक्य के साथ ही चतुर्थी (चतुर्थरात्रि) का विवक्षित सामान्य वृत्य समाप्त हो जाता है। इसके बाद भट्टारकजी के हृदय में इस चतुर्थीकृत्य के सम्बन्ध में कुछ विशेष सूचनाएँ कर देने की भी इच्छा पैदा हुई और इसलिये उन्होंने 'स्वग्रामं गच्छेत्' के अंतर ही 'अथ विशेषः' लिखकर उसे पाँच[१००] पद्यों में व्यक्त किया है, जो इस प्रकार है–

---

१००. एक छठा पद्य और भी है जिसका चतुर्थीक्रिया के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है और जो प्रायः असंगत-सा जान पड़ता है। उसके बाद ''विवाहानन्तरं गच्छेत्सभार्यः स्वस्य मंदिरम्'' नामक पद्य से और फिर घर में वधू प्रवेश के कथन से 'स्वग्रामं गच्छेत्' कथन का सिलसिला ठीक बैठ जाता है और यह मालूम होने लगता है कि ये मध्य के पद्य ही विशेष कथन के पद्य हैं और वे अपने पूर्वकथन चतुर्थीकृत्य वर्णन के साथ सम्बन्ध रखते हैं।

विवाहे दम्पतीस्यातां त्रिरात्रं ब्रह्मचारिणौ।
अलंकृता वधूश्चैव सहशय्यासनाशिनौ॥१७२॥
वध्वासहैव कुर्वीत निवासं श्वसुरालये॥
चतुर्थ दिनमत्रैव केचिदेवं वदन्ति हि॥१७३॥
चतुर्थीमध्ये ज्ञायन्ते दोषा यदि वरस्य चेत्।
दत्तामपि पुनर्दद्यात्पिताऽन्यस्मै विदुर्बुधाः॥१७४॥
प्रवरैक्यादिदोषाः स्युः पतिसंगादधो यदि।
दत्तामपि हरेद्द्यादन्यस्मा इति केचन॥१७५॥
कलौ तु पुनरुद्वाहं वर्जयेदिति गालवः।
कस्मिंश्चिद्देश इच्छन्ति न तु सर्वत्र केचन॥१७६॥

इन पद्यों द्वारा भट्टारकजी ने यह प्रतिपादन किया है कि– ''विवाह हो जाने पर दम्पती को वर-वधू दोनों को–तीन रात तक (विवाह रात्रि को शामिल करके) ब्रह्मचारी रहना चाहिए, परस्पर संभोग अथवा काम क्रीड़ादिक न करना चाहिए, इसके बाद वधू को अलंकृत किया जाये और फिर दोनों का शयन, आसन तथा भोजन एक साथ होवे॥१७२॥ वर को वधू के साथ ससुराल में ही निवास करना चाहिए[१०१] परन्तु कुछ विद्वानों का यह कहना है (जिस पर भट्टारकजी को कोई आपत्ति नहीं) कि ससुराल में चौथे दिन तक ही रहना चाहिए॥१७३॥ चौथी रात को चतुर्थीकर्मादिक के समय यदि वर के दोष (पतितत्त्व नपुसंकत्वादिक) मालूम हो जायें तो पिता को चाहिए कि वर को दी हुई, विवाही हुई, अपनी पुत्री को फिर से किसी दूसरे निर्दोष वर को देवे, उसका पुनर्विवाह कर देवे ऐसा बुद्धिमानों ने कहा है॥१७४॥ कुछ विद्वानों का ऐसा भी मत है (जिस पर भी भट्टाकरजी को कोई आपत्ति नहीं) कि पुत्री का पति के साथ संगम–संभोग हो जाने के पश्चात् यदि यह मालूम पड़े कि इस सम्बन्ध द्वारा प्रवरों की–गोत्र शाखाओं अथवा मुनि वंशादिकों की–एकतादि जैसे दोष संघटित हुए हैं तो (आगे को उन दोषों की जान बूझकर पुनरावृत्ति न होने देने आदि के लिये) पिता को चाहिए कि वह अपनी उस दान की हुई (विवाहिता और पुनः क्षतयोनि) पुत्री का हरण करे और उसे किसी दूसरे के साथ विवाह देवे॥१७५॥ ''कलियुग में स्त्रियों का पुनर्विवाह न किया जाये'' यह गालव ऋषि का मत है (जिससे

---

१०१. कुछ स्थानों पर अथवा जातियों में ऐसा रिवाज पाया जाता है कि वधू के पतिगृह पर आने की जगह पति ही वधू के घर पर जाकर रहता है और प्रायः वहीं का हो जाता है। संभव है उसी रिवाज को इस उल्लेख द्वारा इष्ट किया गया हो और यह भी संभव है कि चार दिन से अधिक का निवास ही पद्य के पूर्वार्द्ध का अभीष्ट हो। परन्तु कुछ भी हो इसमें संदेह नहीं कि सोनीजी ने इस पद्य का, जो निम्न अनुवाद दिया है वह यथोचित नहीं है। उसे देते हुए उन्हें इस बात का ध्यान ही नहीं रहा कि पद्य के पूर्वार्द्ध में एक बात कही गई है तब उत्तरार्द्ध में दूसरी बात का उल्लेख किया गया है–

''कोई कोई आचार्य ऐसा कहते हैं कि वर, वधू के साथ चौथे दिन भी ससुराल में ही निवास करे।''

भट्टारकजी प्रायः सहमत मालूम नहीं होते) परन्तु दूसरे कुछ आचार्यों का मत इससे भिन्न है। उनकी दृष्टि में वैसा निषेध सर्व स्थानों के लिये इष्ट नहीं है, वे किसी-किसी देश के लिये ही उसे अच्छा समझते हैं, बाकी देशों के लिये पुनर्विवाह की उनकी अनुमति है।

इससे साफ जाहिर है और पूर्व कथन सम्बन्ध से वह और भी स्पष्ट हो जाता है कि भट्टारकजी ने यह विवाहिता स्त्रियों के लिये पुनः विवाह की व्यवस्था की है। तीसरे और चौथे पद्य में उन हालातों का उल्लेख है जिनमें पिता को अपनी पुत्री के पुनर्विवाह का अधिकार दिया गया है और वे क्रमशः वर के दोष तथा सम्बन्ध दोष को लिये हुए हैं। पाँचवें पद्य से किसी हालत विशेष का उल्लेख नहीं है, वह पुनर्विवाह पर एक साधारण वाक्य है और इसी से कुछ विद्वान् उस पर से विधवा के पुनर्विवाह का भी आशय निकालते हैं। परन्तु यह बात अधिकतर 'गालव' नामक हिन्दू ऋषि के उस मूल वाक्य पर अवलम्बित है जिसका इस पद्य में उल्लेख किया गया है। वह वाक्य यदि खाली विधवा विवाह का निषेधक है तब तो भट्टारकजी के इस वाक्य से विधवा विवाह को प्रायः पोषण जरूर मिलता है और उससे विधवा विवाह का आशय निकाला जा सकता है, क्योंकि वे गालव से भिन्न मत रखने वाले दूसरे आचार्यों के मत की ओर झुके हुए हैं। और यदि वह विधवा विवाह का निषेधक नहीं किन्तु जीवितभर्तृका एवं अपरित्यक्ता स्त्रियों के पुनर्विवाह का ही निषेधक है, तब भट्टारकजी के इस वाक्य से वैसा आशय नहीं निकाला जा सकता और न इस वाक्य का पूर्वार्द्ध विधवा विवाह के विरोध में ही पेश किया जा सकता है। तलाश करने पर भी अभी तक मुझे गालव ऋषि का कोई ग्रन्थ नहीं मिला और न दूसरा कोई ऐसा संग्रह ग्रन्थ ही उपलब्ध हुआ है जिसमें गालव के प्रकृत विषय से सम्बन्ध रखने वाले वाक्यों का भी संग्रह हो। यदि इस परीक्षालेख की समाप्ति तक भी वैसा कोई ग्रन्थ मिल गया-जिसके लिये खोज जारी है तो उसका एक परिशिष्ट में जरूर उल्लेख कर दिया जायेगा। फिर भी इस बात की संभावना बहुत ही कम जान पड़ती है कि गालव ऋषि ने ऐसी सद्योविवाहिता (तुरंत की ब्याही हुई) और सदोषभर्तृका अथवा सम्बन्धदूषिता स्त्रियों के पुनर्विवाह का तो निषेध किया हो, जिनका पद्य नं० १७४, १७५ में उल्लेख है, और विधवाओं के पुनर्विवाह का निषेध न किया हो। मैं समझता हूँ गालवजी ने दोनों ही प्रकार के पुनर्विवाहों का निषेध किया है और इसी से उनके मत का ऐसे सामान्य वचन द्वारा उल्लेख किया गया है। हिन्दुओं में, जिनके यहाँ 'नियोग' भी विधिविहित माना गया है, 'पराशर' जैसे कुछ ऋषि ऐसे भी हो गये हैं जिन्होंने विधवा और सधवा दोनों के लिये पुनर्विवाह की व्यवस्था की है।[१०२] गालव ऋषि उन से भिन्न दोनों प्रकार के पुनर्विवाहों के निषेधक

---

१०२. जैसा कि पाराशर स्मृति के जिसे 'कलौ पाराशराः स्मृताः' वाक्य के द्वारा कलियुग के लिये खास तौर से उपयोगी बतलाया गया है-निम्न वाक्य से प्रकट है-

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ। पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥४-३०॥

इसमें लिखा है कि 'पति के खो जाने-देशान्तरादिक में जाकर लापता हो जाने- मर जाने, संन्यासी बन जाने, नपुंसक तथा पतित हो जाने रूप पाँच आपत्तियों के अवसर पर स्त्रियों के लिये दूसरा पति कर लेने की व्यवस्था है-

रहे होंगे। और इसलिये जब तक गालव ऋषि के किसी वाक्य से यह सिद्ध न कर दिया जाये कि वे विधवा विवाह के निषेधक नहीं थे तब तक भट्टारकजी के उक्त सामान्य व्यवस्था वाक्य नं० १७६

वे अपना दूसरा विवाह कर सकती हैं।

इसी बात को 'अमितगति' नाम के जैनाचार्य ने अपनी 'धर्मपरीक्षा' में निम्न वाक्य द्वारा उल्लेखित किया है–

पत्यौ प्रव्रजिते क्लीबे प्रनष्टे पतिते मृते। पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥११-१२॥

'धर्म परीक्षा' के इस वाक्य पर से उन लोगों का कितना ही समाधान हो जायेगा जो भ्रमवश पाराशरस्मृति के उक्त वाक्य का गलत अर्थ करने के लिये कोरा व्याकरण छोंकते हैं, कहते हैं 'पति' शब्द का सप्तमी में 'पत्यौ' रूप होता है, 'पतौ'- नहीं। इसलिये यहाँ समासांत 'अपति' शब्द का सपतम्यन्त पद 'अपतौ' पड़ा हुआ है जिसके अकार का 'पतिते' के बाद लोप हो गया है, और वह उस पतिभिन्न पतिसदृश का बोधक है जिसके साथ महज सगाई (मँगनी) हुई हो किन्तु विवाह न हुआ हो। ऐसे लोगों को मालूम होना चाहिए कि श्लोक के उत्तरार्द्ध में जो 'पतिरन्यो' (दूसरा पति) पाठ पड़ा हुआ है वह पूर्वार्द्ध में 'पतौ' की ही स्थिति को चाहता है, 'अपतौ' की नहीं अर्थात् जिसके मरने वगैरह पर दूसरे पति की व्यवस्था की गई है वह 'पति' ही होना चाहिए 'अपति' नहीं। और 'पति' संज्ञा उसी को दी जाती है जो विधिपूर्वक पाणिग्रहण संस्कार से संस्कारित होकर सप्तपदी को प्राप्त हुआ हो– महज वाग्दान वगैरह की वजह से किसी को 'पतित्त्व' की प्राप्ति नहीं होती, जैसा कि 'उद्वाहतत्त्व' में दिये हुए 'यम' ऋषि के निम्न वाक्य से प्रकट है–

नोदकेन न वा वाचा कन्यायाः पतिरिष्यते। पाणिग्रहणसंस्कारात् पतित्त्वं सप्तमे पदे॥ (शब्दकल्पद्रुम)

इसके सिवाय, इतना और भी जान लेना चाहिए कि प्रथम तो आर्ष प्रयोग है, और आर्ष प्रयोग कभी कभी व्याकरण से भिन्न भी होते हैं। दूसरे, छन्द की दृष्टि से कवि लोग अनेक बार व्याकरण के नियमों का उल्लंघन कर जाते हैं, जिसके प्राचीन साहित्य में भी कितने ही उदाहरण मिलते हैं। बहुत संभव है 'पत्यौ' की जगह 'पतौ' पद का यह प्रयोग छन्द की दृष्टि से ही किया गया हो, अन्यथा पराशर जी इस शब्द के 'पत्यौ' रूप से भी अभिज्ञ थे और उन्होंने अपनी स्मृति में 'पत्यौ' पद का भी प्रयोग किया है, जिसका एक उदाहरण 'पत्यौ जीवति कुण्डस्तु मृते भर्तरि गोलकः' (४-२३) है। तीसरे 'पतौ' पद का प्रयोग उक्त स्मृति में अन्यत्र भी पाया जाता है, जिसका 'अपतौ' वहाँ बन ही नहीं सकता। और उस प्रयोगवाक्य से यह साफ जाहिर है कि जो स्त्री पति के मरने, खो जाने अथवा उसके त्याग देने पर पुनर्विवाह न करके जार से गर्भ धारण करती है उसे पराशरजी ने 'पतिता' और 'पापकारिणी' लिखा है– उनकी दृष्टि में 'जार' दूसरा पति (पतिरन्यः) नहीं हो सकता। वे दूसरा पति ग्रहण करने रूप पुनर्विवाह को विधिविहित और जार से रमण को निन्द्य तथा दण्डनीय ठहराते हैं। यथा–

जारेण जनयेद्गर्भं मृते त्यक्ते गते पतौ। तां त्यजेदपरे राष्ट्रे पतितां पापकारिणीम्॥१०-३१॥

और चौथे यह बात भी नहीं कि व्याकरण से इस 'पतौ' रूप की सर्वथा सिद्धि ही न होती हो, सिद्धि भी होती है, जैसा कि अष्टाध्यायी के 'पतिः समास एव' सूत्र पर की 'तत्त्वबोधिनी' टीका के निम्न अंश से प्रकट है, जिसमें उदाहरण भी दैवयोग से पराशर जी का उक्त श्लोक दिया है–

...अथ कथं "सीतायाः पतये नमः" इति 'नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ। पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते" इति पराशरश्च।। अत्राहुः।। पतिरित्याख्यातः पतिः– 'तत्करोति तदा चष्टे' इति णिचि टिलोपे 'अच इः' इत्यौणादिक प्रत्यये 'णेरनिटि' इति णिलोपे च निष्पन्नोऽयं पति 'पतिः समास एव' इत्यत्र न गृह्यते लाक्षणिकत्वादिति।

अतः 'पतौ' का अर्थ 'पत्यौ' ही है। और इसलिये जो लोग उसके समीचीन अर्थ को बदलने का निःसार प्रयत्न करते हैं वह उनकी भूल है।

पर से जो लोग विधवा विवाह का आशय निकालते हैं उस पर कोई खास आपत्ति नहीं की जा सकती।

इसके सिवाय जो भट्टारकजी पति के दोष मालूम हो जाने पर पूर्व विवाह को ही रद्द कर देते हैं, संभोग हो जाने पर भी स्त्री के लिये दूसरे विवाह की योजना करते हैं, तलाक की विधि बतलाकर परित्यक्ता स्त्रियों के लिये पुनर्विवाह का मार्ग खोलते अथवा उन्हें उसकी स्वतंत्रता देते हैं, कामयज्ञ रचाने के बड़े ही पक्षपाती जान पड़ते हैं, योनिपूजा तक का उपदेश देते हैं, ऋतुकाल में भोग करने को बहुत ही आवश्यक समझते हैं और ऋतुकाल में भोग न करने वाली स्त्रियों को तिर्यंच गति का पात्र ठहराते हैं, इतना अधिक जिनके सामने उस भोग का महत्त्व है—उनसे ऐसी आशा भी नहीं की जा सकती कि उन्होंने विधवाओं के पुनर्विवाह का, उन नन्हीं-नन्हीं बालविधवाओं के पुनर्विवाह का भी जो महज फेरों की गुनहगार हों और यह भी न जानती हों कि विवाह किस चिड़िया का नाम है—सर्वथा निषेध किया हो। एक स्थान पर तो भट्टारकजी, कुछ नियम विधान करते हुए लिखते हैं—

यस्यास्त्वनामिका ह्रस्वा तां विदुः कलहप्रियाम्।
भूमिं न स्पृशते यस्याः खादते सा पतिद्वयम्॥११-२४॥

अर्थात्—जिस स्त्री की अनामिका अँगुली छोटी हो, वह कलहकारिणी होती है, और जिसकी वह अँगुली भूमि पर न टिकती हो वह अपने[१०३] दो पतियों को खाती है—उसके कम से कम दो विवाह जरूर होते हैं और वे दोनों ही विवाहित पति मर जाते हैं।

भट्टारकजी के इस नियम विधान से यह साफ जाहिर है कि जैन समाज में ऐसी भी कन्याएँ पैदा होती हैं जो अपने शारीरिक लक्षणों के कारण एक पति के मरने पर दूसरा विवाह करने के लिये मजबूर होती हैं, तभी वे दो पतियों को खाकर इस नियम को सार्थक कर सकती हैं—और एक पति के मरने पर स्त्री का जो दूसरा विवाह किया जाता है वही विधवा विवाह कहलाता है। इसलिये समाज में नहीं नहीं समाज की प्रत्येक जाति में-विधवा विवाह का होना अनिवार्य ठहरता है, क्योंकि शारीरिक लक्षणों पर किसी का वश नहीं और यह नियम समाज में पुनर्विवाह की व्यवस्था को माँगता है। अन्यथा भट्टारकजी का यह नियम ही चरितार्थ नहीं हो सकता, वह निरर्थक हो जाता है और दूसरे स्थान पर भट्टारकजी ने 'शूद्रा पुनर्विवाहमण्डने' आदि वाक्य के द्वारा यह स्पष्ट घोषणा की है कि ''शूद्रा के-शूद्र जाति की जैन स्त्री के-पुनर्विवाह के समय स्त्री को पति के दाहिनी ओर बिठलाना चाहिए'' जिससे यह भी ध्वनि निकलती है कि अशूद्रा अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जाति की जैन स्त्रियों के पुनर्विवाह के समय वैसा नहीं होना चाहिए। वे बायीं और बिठाई जानी चाहिए। अस्तु आपका वह पूरा वाक्य इस प्रकार है—

१०३.भट्टारकजी का यह 'दो पतियों को खाती है' वाक्य प्रयोग कितना अशिष्ट और असंयत भाषा को लिये हुए है उसे बतलाने की जरूरत नहीं। जब 'मुनीन्द्र' कहलाने वाले ही ऐसी मर्मविदारक निन्द्य भाषा का प्रयोग करते हैं तब किसी लड़की के विधवा होने पर उसकी सास यदि यह कहती है कि 'तूने मेरा लाल खा लिया' तो इसमें आश्चर्य ही क्या है यह सब विधवाओं के प्रति अशिष्ट व्यवहार है।

''गर्भाधाने पुंसवने सीमन्तोन्नयने तथा।
वधू प्रवेशने शूद्रा पुनर्विवाहमण्डने॥
पूजने कुलदेव्याश्च कन्यादाने तथैव च।
कर्मस्वेतेषु वै भार्यां दक्षिणे तूपवेशयेत्॥ ८वाँ अध्याय ॥११६-११७॥

इस वाक्य के 'शूद्रा पुनर्विवाहमण्डने' पद को देखकर सोनीजी कुछ बहुत ही चकित तथा विचलित हुए मालूम होते हैं, उन्हें इसमें मूर्तिमान विधवाविवाह अपना मुँह बाए हुए नजर आया है और इसलिये उन्होंने उसके निषेध में अपनी सारी शक्ति खर्च कर डाली है। वे चाहते तो इतना कहकर छुट्टी पा सकते थे कि इसमें विधवा के पुनर्विवाह का उल्लेख नहीं किन्तु महज शूद्रा के पुनर्विवाह का उल्लेख है, जो सधवा हो सकती है। परन्तु किसी तरह का सधवापुनर्विवाह भी आपको इष्ट नहीं था, आप दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं देखते थे और शायद यह भी समझते हों कि सधवा विवाह के स्वीकार कर लेने पर विधवा विवाह के निषेध में फिर कुछ बल ही नहीं रह जाता और विधवा विवाह का निषेध करना आपको खास तौर से इष्ट था, इसलिये उक्त पद में प्रयुक्त हुए 'पुनर्विवाह' को 'विधवाविवाह' मान कर ही आपने प्रकारान्तर से उसके निषेध की चेष्टा की है। इस चेष्टा में आपको शूद्रों के सत्, असत् भेदादि रूप से कितनी ही इधर उधर की कल्पनाएँ करनी और निरर्थक बातें लिखनी पड़ीं–मूल ग्रन्थ से बाहर का आश्रय लेना पड़ा, परन्तु फिर भी आप यह सिद्ध नहीं कर सके कि भट्टारकजी ने विधवा विवाह का सर्वथा निषेध किया है। आपको अपनी कल्पना के अनुसार इतना तो स्वीकार करना ही पड़ा कि इस पद में असत् शूद्रा की विधवा विवाह विधि का उल्लेख है हालाँकि मूल में 'शूद्रा' शब्द के साथ 'असत्' विशेषण लगा हुआ नहीं है, वह शूद्रा मात्र का वाचक है। अस्तु आपने 'सोमदेवनीति' (नीतिवाक्यामृत) के जिस वाक्य के आधार पर अपनी कल्पना गढ़ी है वह इस प्रकार है–

सकृत्परिणयनव्यवहाराः सच्छूद्राः।

इस वाक्य पर संस्कृत की जो टीका मिलती है और उसमें समर्थन के तौर पर जो वाक्य उद्‌धृत किया गया है उससे तो इस वाक्य का आशय यह मालूम होता है कि ''जो भले शूद्र होते हैं वे एक बार विवाह करते हैं- विवाह के ऊपर या, पश्चात् दूसरा विवाह नहीं करते'' और इससे यह जान पड़ता है कि इस वाक्य द्वारा शूद्रों के बहुविवाह का नियंत्रण किया गया है। अथवा यों कहिये कि त्रैवर्णिक पुरुषों को बहुविवाह का जो स्वयंभू अधिकार प्राप्त है उससे बेचारे शूद्र पुरुषों को वंचित रखा गया है। यथा–

''**टीका–** ये सच्छूद्राः शोभन शूद्रा भवन्ति ते सकृत्परिणयना एकवारं कृतविवाहाः, द्वितीयं न कुर्वन्तीत्यर्थः। तथा च हारीतः– 'द्विभार्यो योऽत्र शूद्रः स्याद् वृषलः स हि विश्रुतः। महत्त्वं तस्य नो भावि शूद्रजातिसमुद्भवः॥''

इसके सिवाय, सोनीजी ने खुद पद्य नं० १७६ में, प्रयुक्त हुए 'पुनरुद्वाहं' का अर्थ स्त्री का

पुनर्विवाह न करके पुरुष का पुनर्विवाह सूचित किया है, जहाँ कि यह बनता ही नहीं। ऐसी हालत में मालूम नहीं फिर किस आधार पर आपने सोमदेवनीति के उक्त वाक्य का आशय स्त्री के एक बार विवाह से निकाला है? अथवा बिना किसी आधार के जहाँ जैसा मतलब निकालना हुआ वहाँ वैसा अर्थ कर देना ही आपको इष्ट रहा है? यदि सोमदेवजी की नीति का ही प्रमाण देखना था तो उसमें तो साफ लिखा है–

विकृतपत्यूढाऽपि पुनर्विवाहमर्हतीति स्मृतिकाराः।

अर्थात्–जिस विवाहिता स्त्री का पति विकारी हो– या जो सदोष पति के साथ विवाही गई हो– वह भी पुनर्विवाह करने की अधिकारिणी है, अपने उस विकृत पति को छोड़कर या तलाक देकर दूसरा विवाह कर सकती है–ऐसा स्मृतिकारों का–धर्मशास्त्र के रचयिताओं का–मत है (जिससे सोमदेवजी भी सहमत हैं–तभी उसका निषेध नहीं किया)।

यहाँ 'अपि' (भी) शब्द के प्रयोग से यह भी साफ ध्वनित हो रहा है कि यह वाक्य महज सधवा के पुनर्विवाह की ही नहीं किन्तु विधवा के पुनर्विवाह की भी विधि को लिये हुए है। स्मृतिकारों ने दोनों का ही विधान किया है।

इस सूत्र की मौजूदगी में 'सकृत्परिणयनव्यवहाराः सच्छूद्राः' सूत्र पर से यह नतीजा नहीं निकाला जा सकता कि ''शूद्रों के सत् शूद्र होने का हेतु उनके यहाँ स्त्रियों के पुनर्विवाह का न होना है और इसलिये त्रैवर्णिकों के लिये पुनर्विवाह की विधि नहीं बनती, जो करते हैं वे सच्छूद्रों से भी गये बीते हैं। इतने पर भी सोनीजी वैसा नतीजा निकालने की चेष्टा करते हैं यह आश्चर्य है! फिर यहाँ तक लिखते हैं कि 'जैनागम में ही नहीं, बल्कि ब्राह्मण सम्प्रदाय के आगम में भी विधवाविवाह की विधि नहीं कही गई है।'' इससे सोनीजी का ब्राह्मणग्रन्थों से ही नहीं किंतु जैन ग्रन्थों से भी खासा अज्ञान पाया जाता है–उन्हें ब्राह्मण सम्प्रदाय के ग्रन्थों का ठीक पता नहीं, नाना मुनियों के नाना मत मालूम नहीं और न अपने घर की ही पूरी खबर है। उन्होंने विधवा विवाह के निषेध में मनु का जो 'न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः' उद्‌धृत किया है वह उनकी नासमझी का द्योतक है। पद्य के इस उत्तरार्द्ध में, जिसका पूर्वार्द्ध है 'नोद्वाहिकेषु मंत्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्' 'विधवावेदनं' पद अपने पूर्वापरसम्बन्ध से 'नियोग' का वाचक है–संतानोत्पत्ति के लिये विधवा के अस्थायी ग्रहण कर सूचक है और इसलिये उक्त वाक्य का आशय सिर्फ इतना ही है कि ''विवाह विधि में नियोग नहीं होता, नियोग विधि में नियोग होता है'', दोनों की नीति और पद्धति भिन्न-भिन्न हैं। अन्यथा, मनुजी ने उसी अध्याय में परित्यक्ता (तलाक दी हुई) और विधवा दोनों के लिये पुनर्विवाह संस्कार की व्यवस्था की है, जैसा कि मनुस्मृति के निम्न वाक्यों से प्रकट है–

या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वेच्छया।
उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते॥१७५॥
सा चेदक्षतयोनिः स्याद्‌गतप्रत्यागतापि वा।

पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति॥१७६॥

'वशिष्ठस्मृति' में भी लिखा है कि जो स्त्री अपने नपुंसक, पतित या उन्मत्त भर्तार को छोड़कर अथवा पति के मर जाने पर दूसरे पति के साथ विवाह करती है वह 'पुनर्भू' कहलाती है। साथ ही, यह भी बतलाया है कि पाणिग्रहण संस्कार हो जाने के बाद पति के मर जाने पर यदि वह मंत्रसंस्कृता स्त्री अक्षतयोनि हो—पति के साथ उसका संभोग न हुआ हो तो उसका फिर से विवाह होना योग्य है। यथा—

''या क्लीवं पतितमुन्मत्तं वा भर्तारमुत्सृज्यान्यं
पतिं विन्दते मृते वा सा पुनर्भूर्भवति॥
''पाणिग्रहे मृते बाला केवलं मंत्रसंस्कृता।
सा चेदक्षतयोनिः स्यात्पुनः संस्कारमर्हति॥

—१७ वाँ अध्याय

इसी तरह पर 'नारद स्मृति' आदि के और कौटिल्य अर्थशास्त्र के भी कितने ही प्रमाण उद्‌धृत किये जा सकते हैं। 'पराशर स्मृति' का वाक्य पहले उद्‌धृत किया ही जा चुका है। सोनीजी को यदि अपने घर की ही खबर होती तो वे 'सोमदेव नीति' से नहीं तो आचार्य अमितगति की 'धर्म परीक्षा' पर से ब्राह्मण ग्रन्थों का हाल मालूम कर सकते थे और यह जान सकते थे कि उनके आगम में विधवा-विवाह का विधान है। धर्मपरीक्षा का वह 'पत्यौ प्रव्रजिते' वाक्य ब्राह्मणों की विधवाविवाह-विधि को प्रदर्शित करने के लिये ही लिखा गया है, जैसा कि उससे पूर्व के निम्न वाक्य से प्रकट है—

तैराक्तं विधवां क्वापि त्वं संगृह्य सुखी भव।
नोभयोर्विद्यते दोष इत्युक्तस्तापसागमे॥११-११॥

धर्मपरीक्षा के चौदहवें परिच्छेद में भी हिंदुओं के स्त्री पुनर्विवाह का उल्लेख है और उसे स्पष्ट रूप से 'व्यासादीनामिदं वचः' के साथ उल्लेखित किया गया है, जिसमें से विधवा विवाह का पोषक एक वाक्य इस प्रकार है—

एकदा परिणीताऽपि विपन्ने दैवयोगतः।
भर्तर्यक्षतयोनिः स्त्री पुनः संस्कारमर्हति॥३८॥

अतः सोनीजी का उक्त लिखना उनकी कोरी नासमझी तथा अज्ञता को प्रकट करता है। और इसी तरह उनका यह लिखना भी मिथ्या ठहरता है कि ''विवाह-विधि में सर्वत्र कन्या विवाह ही बतलाया गया है''। बल्कि यह भट्टारकजी के 'शूद्रापुनर्विवाहमण्डने' वाक्य के भी विरुद्ध पड़ता है, क्योंकि इस वाक्य से जिस शूद्रा के पुनर्विवाह का उल्लेख है उसे सोनीजी ने 'विधवा' स्वीकृत किया है, भले ही उनकी दृष्टि में वह असत् शूद्रा ही क्यों न हों, विधवा और विवाह का योग तो हुआ।

यहाँ पर मुझे विधवा विवाह के औचित्य या अनौचित्य पर विचार करना नहीं है और न उस

दृष्टि को लेकर मेरा यह विवेचन[१०४] है। मेरा उद्देश्य इसमें प्रायः इतना ही है कि भट्टारकजी के पुनर्विवाह विषयक कथन को अपने अनुकूल न पाकर अथवा कुछ लोकविरुद्ध समझकर उस पर पर्दा डालने और भ्रम फैलाने की जो जघन्य चेष्टा की गई है उसका नग्न दृश्य सबके सामने उपस्थित कर दिया जाये, जिससे वह पर्दा उठ जाये और भोले भाइयों को भी भट्टारकजी का कथन अपने असली रूप में दृष्टिगोचर होने लगे, फिर भले ही वह उनके अनुकूल हो या प्रतिकूल। और इसलिये मुझे इतना और भी बतला देना चाहिए कि सोनीजी ने जो यह प्रतिपादन किया है कि ''ग्रन्थकार ने विधवा के लिये तेरहवें अध्याय में दो मार्ग बतलाये हैं– एक जिनदीक्षाग्रहण करना और दूसरा वैधव्यदीक्षा लेना, तीसरा विधवा-विवाह नाम का मार्ग नहीं बतलाया'' और उस पर ये यह नतीजा निकाला है कि ''ग्रन्थकार का आशय विधवाविवाह के अनुकूल नहीं है, होता तो वे वहीं पर विधवाविवाह नाम का एक तीसरा मार्ग और बतला देते'', उसमें भी कुछ सार नहीं है, वह भी असलियत पर पर्दा डालने की ही एक चेष्टा है। तेरहवें अध्याय में जिस पद्य द्वारा जिनदीक्षा अथवा वैधव्यदीक्षा के विकल्प रूप से ग्रहण करने की व्यवस्था की गई है उसमें उत, स्वित् और वा अव्ययों के साथ 'श्रेयान्' पद पड़ा हुआ है[१०५] और वह इस बात को स्पष्ट बतला रहा है कि दोनों प्रकार की दीक्षा में से किसी एक का ग्रहण उसके लिये श्रेष्ठ है, अतिउत्तम है। यह नहीं कहा गया कि इनमें से किसी एक का ग्रहण उसके लिये लाजिमी है अथवा इस प्रकार के दीक्षा ग्रहण से भिन्न दूसरा या तीसरा कोई मध्यम मार्ग उसके लिये है ही नहीं। मध्यम मार्ग जरूर है और उसे भट्टारकजी ने आठवें तथा ग्यारहवें अध्याय में 'पुनर्विवाह' के रूप में सूचित किया है। और इसलिये उसे दुबारा यहाँ लिखने की जरूरत नहीं थी। यहाँ पर जो उत्कृष्ट मार्ग रह गया था उसी का समुच्चय किया गया है और इसलिये यदि कोई विधवा जिनदीक्षा धारण न कर सके और वैधव्यदीक्षा के योग्य देशव्रत का ग्रहण, कण्ठसूत्र और कर्णभूषण आदि सम्पूर्ण आभूषणों का त्याग, शरीर पर सिर्फ दो वस्त्रों का धारण, खाट पर शयन तथा अंजन और लेप का त्याग, शोक तथा रुदन और विकथाश्रवण की निवृत्ति, प्रातःस्नान, आचमन, प्राणायाम और तर्पणा की नित्य प्रवृत्ति, तीनों समय देवता का स्तोत्रपाठ, द्वादशानुप्रेक्षा का चिन्तन, ताम्बूलवर्जन और लोलुपतारहित एक बार भोजन, ऐसे उन सब नियमों का पालन करने के लिये समर्थ न होवे जिन्हें भट्टारकजी ने, 'सर्वमेतद्विधीयते' जैसे वाक्य के साथ, वैधव्यदीक्षा प्राप्त स्त्री के लिये आवश्यक बतलाया है, तो वह विधवा भट्टारकजी के उस पुनर्विवाह मार्ग का अवलम्बन लेकर यथाशक्ति श्रावकधर्म का पालन कर सकती है, ऐसा भट्टारकजी के इस उत्कृष्ट कथन का पूर्व कथन के साथ आशय और सम्बन्ध जान पड़ता है। 'पाराशरस्मृति' में भी विधवा के लिये पुनर्विवाह की उस व्यवस्था के बाद, उसके ब्रह्मचारिणी रहने आदि को सराहा है, लिखा है कि ''जो स्त्री पति के मर

१०४.औचित्यानौचित्य विचार की उस दृष्टि से एक जुदा ही वृहत् निबन्ध लिखा जाने की जरूरत है, जिसके लिये मेरे पास अभी समय नहीं है।

१०५. यथा– विधवायास्ततो नार्या जिनदीक्षासमाश्रयः। श्रेयानुतस्विद्वैधव्यदीक्षा वा गृह्यते तदा॥१९८॥

जाने पर ब्रह्मचर्यव्रत में स्थिर रहती है, वैधव्यदीक्षा को धारण करके दृढ़ता के साथ उसका पालन करती है, वह मरकर ब्रह्मचारियों की तरह स्वर्ग में जाती है। और जो पति के साथ ही सती हो जाती है वह मनुष्य के शरीर में जो साढ़े तीन करोड़ बाल हैं उतने वर्ष तक स्वर्ग में वास करती है।'' यथा–

मृते भर्तरि या नारी ब्रह्मचर्यव्रते स्थिता।
सा मृता लभते स्वर्गं यथा ते ब्रह्मचारिणः॥३१॥
तिस्रः कोट्योर्धकोटी च यानि लोमानि मानवे।
तावत्कालं वसेत्स्वर्गे भर्तारं याऽनुगच्छति॥३२॥

पाराशरस्मृति के इन वाक्यों को पूर्ववाक्यों के साथ पढ़ने वाला कोई भी सहृदय विद्वान् जैसे इन वाक्यों पर से यह नतीजा नहीं निकाल सकता कि पाराशर जी ने विधवा विवाह का निषेध किया है उसी तरह पर भट्टारकजी के उक्त वाक्य पर से भी कोई समझदार यह नतीजा नहीं निकाल सकता कि भट्टारकजी ने विधवा-विवाह का सर्वथा निषेध किया है। उस वाक्य का पूर्वकथन सम्बन्ध से इतना ही आशय जान पड़ता है कि जो विधवा जिनदीक्षा अथवा वैधव्यदीक्षा धारण कर सके तो वह बहुत अच्छा है, अभिनन्दनीय है, अन्यथा विधुरों की तरह साधारण गृहस्थ का मार्ग उसके लिये भी खुला हुआ है ही।

अब मैं उस आवरण को भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ जो पुनर्विवाह विषयक पद्य नं० १७४, १७५ और १७६ पर डाला गया है और जिसके नीचे उस सत्य को छिपाने की चेष्टा की गई है जिसका उल्लेख ऊपर उन पद्यों के साथ किया जा चुका है, भले ही लेखक कितने ही अंशों में भट्टारकजी के उस कथन से सहमत न हो अथवा अनेक दृष्टियों से उसे आपत्ति के योग्य समझता हो।

इस विषय में सबसे पहले मैं यह बतला देना चाहता हूँ कि इन पद्यों को, आगे पीछे के तीन और पद्यों सहित, 'अन्यमत' के श्लोक बतलाया गया है और उसकी एक पहचान इन पद्यों के शुरु में 'अथ विशेषः' शब्दों का होना बतलाई गई है, जैसा कि पण्डित पन्नालाल जी सोनी के एक दूसरे लेख के निम्न वाक्य से प्रकट है, जो 'सत्यवादी' के छठे भाग के अंक नंबर २-३ में प्रकाशित हुआ है–

''भट्टारक महाराज अपने ग्रन्थ में जैनमत का वर्णन करते हुए अन्य मतों का भी वर्णन करते गये हैं, जिसकी पहचान के लिये अथ विशेष, अन्यमतं, परमतं, स्मृतिवचनं और इति परमत स्मृतिवचनं इत्यादि शब्दों का उल्लेख किया है।''

यद्यपि मूल ग्रन्थ को पढ़ने से ऐसा मालूम नहीं होता उसके 'अन्यमतं' 'परमंत' जैसे शब्द दूसरे जैनाचार्यों के मत की ओर इशारा करते हुए जान पड़ते हैं और न अब इस परीक्षा को पढ़ जाने के बाद कोई यह कहने की हिम्मत कर सकता है कि इस ग्रन्थ में जिन वाक्यों के साथ 'अथ विशेषः' 'अन्यमतं' अथवा 'परमतं' जैसे शब्द लगे हुए हैं वे ही जैनमत से बाहर के श्लोक हैं, बाकी और सब जैनमत के ही श्लोकों का इसमें संग्रह है, क्योंकि ऐसे चिह्नों से रहित दूसरे पचासों श्लोकों को

अजैनमत के सिद्ध किया जा चुका है और सैकड़ों को और भी सिद्ध किया जा सकता है। फिर भी यदि यह मान लिया जाये कि ये श्लोक अजैनमत के ही हैं तो उससे नतीजा? दूसरे मत के श्लोकों का उद्धरण प्रायः दो दृष्टियों से किया जाता है, अपने मत को पुष्ट करने अथवा दूसरों के मत का खण्डन करने के लिये। यहाँ पर उक्त श्लोक दोनों में से एक भी दृष्टि को लिये हुए नहीं है–वे वैसे ही (स्वयं रचकर या अपनाकर) ग्रन्थ का अंग बनाये गये हैं। और इसलिये उनके अजैन होने पर भी भट्टारकजी की जिम्मेदारी तथा उनके प्रतिपाद्य विषय का मूल्य कुछ कम नहीं हो जाता। अतः उन पर अन्य मत का आवरण डालने की चेष्टा करना निरर्थक है। इसके सिवाय सोनीजी ने अपने उस लेख में कई जगह बड़े दर्प के साथ इन सब श्लोकों को 'मनुस्मृति' का बतलाया है और यह उनका सरासर झूठ है। सारी मनुस्मृति को टटोल जाने पर भी उसमें इनका कहीं पता नहीं चलता। जो लोग अपनी बात को ऊपर रखने और दूसरों की आँखों में धूल डालने की धुन में इतना मोटा और साक्षात् झूठ लिख जाने तक की धृष्टता करते हैं वे अपने विरुद्ध सत्य पर पर्दा डालने के लिये जो भी चेष्टा न करें सो थोड़ा है। ऐसे अटकलपच्चू और गैर जिम्मेदाराना तरीके से लिखने वालों के वचन का मूल्य भी क्या हो सकता है? इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

इन्हीं सोनीजी ने चतुर्थी कर्म-विषयक सारे पूर्व कथन पर पानी फेरकर १७४वें पद्य में प्रयुक्त हुए 'चतुर्थीमध्ये' पद का अर्थ अपने उस लेख में, 'चौथी पदी' किया है और उस पर यहाँ तक जोर दिया है कि इसका अर्थ ''चौथी पदी ही करना पड़ेगा'', ''चौथी पदी ही होना चाहिए'', ''मराठी टीकाकार ने भी भूल की है''।[१०६] परन्तु अपनी अनुवाद पुस्तक में जो अर्थ दिया है वह इससे भिन्न है। मालूम होता है बाद में आपको पंचांगविवाह के चौथे अंग (पाणिग्रहण) का कुछ ख्याल आया और वहाँ चतुर्थी के सत्यार्थ पर पर्दा डालने के लिये अधिक उपयोगी जँचा है! इसलिये आपने अपने उक्त वाक्यों और उनमें प्रयुक्त हुए 'ही' शब्द के महत्त्व को भुलाकर, उसे ही चतुर्थी का वाक्य बना डाला!! बाकी 'दत्ताम्, पद का वही गलत अर्थ 'वाग्दान में दी हुई' कायम रखा है, जैसा कि पूरे पद्य के आपके निम्न अनुवाद से प्रकट है–

''पाणिपीडन नाम की चौथी क्रिया में अथवा सप्तपदी से पहले वर में जातिच्युतरूप, हीनजातिरूप या दुराचरणरूप दोष मालूम हो जायें तो वाग्दान में दी हुई कन्या को उसका पिता किसी दूसरे श्रेष्ठ जाति आदि गुणयुक्त वर को देवे, ऐसा बुद्धिमानों का मत है।''

पूर्वकथन सम्बन्ध को सामने रखते हुए, जो ऊपर दिया गया है, इस अनुवाद पर से यह मालूम नहीं होता कि सोनीजी को 'चतुर्थीकर्म' का परिचय नहीं था और इसलिये 'चतुर्थीमध्ये' तथा 'दत्ताम्' पदों का अर्थ उनके द्वारा भूल से गलत प्रस्तुत किया गया है, बल्कि यह साफ जाना जाता है कि उन्होंने जानबूझकर, विवाहिता स्त्रियों के पुनर्विवाह पर पर्दा डालने के लिये, उक्त पदों के प्रकृत और प्रकरणसंगत अर्थ को बदलने की चेष्टा की है। अन्यथा, 'दत्ताम्' का 'वाग्दान में दी हुई' अर्थ तो किसी

१०६.मराठी टीकाकार पं० कल्लाप्पा भरमाप्पा निटवे ने ''चवथ्या दिवशीचें कृत्य होण्याच्या पूर्वींच'' अर्थ दिया है।

तरह भी नहीं बन सकता था, क्योंकि चतुर्थी के सोनीजी द्वारा आविष्कृत अर्थानुसार भी जब विवाह कार्य पाणिग्रहण की अवस्था तक पहुँच जाता है तब कन्यादान तो 'प्रदान' नाम की दूसरी क्रिया में ही हो जाता है और उस वक्त वह कन्या 'कन्या' न रहकर 'वधू' तथा पाणिग्रहण के अवसर पर 'पत्नी' बन जाती है।[१०७] फिर भी सोनीजी को उसे ''वाग्दान में दी हुई कन्या'' लिखना और अन्यत्र यह प्रतिपादन करना कि ''विवाह कन्या का ही होता है'' छल नहीं तो और क्या है? आपका यह छल याज्ञवल्क्यस्मृति के एक टीका वाक्य के अनुवाद में भी जारी रहा है और उसमें भी अपने 'वाग्दान में दी हुई कन्या' जैसे अर्थों को अपनी तरफ से लाकर घुसेड़ा है। इसके सिवाय उक्त स्मृति के ''दत्वा कन्या हरन् दण्ड्यो व्ययं दधाच्च सोदयं'' को उसी (विवाह) प्रकरण का बतलाया है, जिसका कि 'दत्तामपि हरेत्पूर्वाच्छ्रेयांश्चेद्वर आव्रजेत्' वाक्य है, हालांकि वह वाक्य भिन्न अध्याय के भिन्न प्रकरण (दाय भाग) का है तथा वाग्दत्ताविषयक स्त्रीधन के प्रसंग को लिये हुए है और इसलिये उसे उद्धृत करना ही निरर्थक था। दूसरा वाक्य जो उद्धृत किया गया है उससे भी कोई समर्थन नहीं होता, न उसमें 'चतुर्थी मध्ये' पद पड़ा हुआ है और न 'दत्ताम्' का अर्थ टीका में ही 'वाग्दत्ता' किया गया है। बाकी टीका के अंत में जो 'एतच्च सप्तमपदात्प्राग्द्रष्टव्यम्' वाक्य दिया है वह मूल से बाहर की चीज है, मूल के किसी शब्द से सम्बन्ध नहीं रखती, उसे टीका की अपनी राय अथवा टीकाकार की खींचातानी कहना चाहिए। अन्यथा, याज्ञवल्क्यस्मृति में खुद उसके बाद ''अक्षता च क्षता चैव पुनर्भूः संस्कृता पुनः'' आदि वाक्य के द्वारा अन्यपूर्वा स्त्री के भेदों में 'पुनर्भू' स्त्री का उल्लेख किया है और उसे 'पुनः संस्कृता' लिखकर पुनर्विवाह की अधिकारिणी प्रतिपादन किया है। साथ ही, उसके क्षतयोनि (पूर्व पति के साथ संगम को प्राप्त हुई) और अक्षतयोनि (संस्कार मात्र को प्राप्त हुई) ऐसे दो भेद किये हैं। पुनर्भू का विशेष स्वरूप 'मनुस्मृति' और 'वशिष्ठ स्मृति' के उन वाक्यों से भी जाना जा सकता है जो ऊपर उद्धृत किये जा चुके हैं। ऐसी हालत में सोनीजी का अपने अर्थ को (ब्राह्मण) सम्प्रदाय के अविरुद्ध बतलाना और दूसरों के अर्थ को विरुद्ध ठहराना कुछ भी मूल्य नहीं रखता, वह प्रलापमात्र जान पड़ता है।[१०८]

१०७.जैसा कि 'आप्रदानात् भवेत्कन्या' नाम के उस वाक्य से प्रकट है जो इस प्रकरण के शुरू में उद्धृत किया जा चुका है। हाँ, सोनीजी ने अपने उस लेख में लिखा है कि ''तीनपदी तक कन्या संज्ञा रहती है पश्चात् चौथीपदी में उसकी कन्या संज्ञा दूर हो जाती है''। यह लिखना भी आपका शायद वैसा ही अटकलपच्चू और बिना सिर पैर का जान पड़ता है जैसा कि उन श्लोकों को मनुस्मृति के बतलाना।

१०८. ब्राह्मण सम्प्रदाय के वशिष्ठ ऋषि तो साफ लिखते हैं कि कन्या यदि किसी ऐसे पुरुष को दान कर दी गई है जो कुल शील से विहीन हो, नपुंसक हो, पतित हो, रोगी हो, विधर्मी हो या वेशधारी हो, अथवा सगोत्री के साथ विवाह दी गई हो तो उसका हरण करना चाहिए– और इस तरह पर उस पूर्व विवाह को रद्द करना चाहिए। यथा–''कुलशील विहीनस्य षण्डादि पतितस्य च। अपस्मारि विधर्मस्य रोगिणां वेशधारिणाम्॥ दत्तामपि हरेत्कन्यां सगोत्रोढां तथैव च॥'' (शब्दकल्पद्रुम)

इस वाक्य में प्रयुक्त 'सगोत्रोढां (समान गोत्री से विवाही हुई) पद 'दत्तां' पद पर अच्छा प्रकाश डालता है और उसे 'विवाहिता' सूचित करता है। सोमदेव ने भी अपने उस 'विकृतपत्यूढा' नामक वाक्य में स्मृतिकारों का जो मत उद्धृत किया है उसमें उस पुनर्विवाहयोग्य स्त्री को 'ऊढा' ही बतलाया है जिसका अर्थ होता है 'विवाहिता'।

इसी तरह पर १७५वें पद्य में प्रयुक्त हुए 'दत्तां' पद का अर्थ भी 'वाग्दत्ता कन्या' गलत किया गया है, जो पूर्वोक्त हेतु से किसी तरह भी वहाँ नहीं बनता। इसके सिवाय, 'पतिसंगादधः' का अर्थ आपने ''पति के साथ संगम संभोग हो जाने के पश्चात्'' न करके, ''पाणिपीडन से पहले'' किया है, 'पतिसंग' को 'पाणिग्रहण' बतलाया है और 'अधः' का अर्थ 'पहले' किया है। साथ ही, 'प्रवरैक्यादिदोषाः' के अर्थ में 'दोषाः' का अर्थ छोड़ दिया है और आदि को 'ऐक्य' के बाद न रखकर उसके पहले रखा है, जिससे कितना ही अर्थ-दोष उत्पन्न हो गया है। इस तरह से सोनीजी ने इन पदों के उस समुचित अर्थ को बदलकर, जो शुरू में दिया गया है, एक क्षतयोनि स्त्री के पुनर्विवाह पर पर्दा डालने की चेष्टा की है। परन्तु इस चेष्टा से उस पर पर्दा नहीं पड़ सकता। 'पतिसंग' का अर्थ यहाँ 'पाणिपीडन' करना विडम्बना मात्र है और उसका कहीं से भी समर्थन नहीं हो सकता। 'संग' और 'संगम' दोनों एकार्थवाचक शब्द हैं और वे स्त्री पुरुष के मिथुनीभाव को सूचित करते हैं (संगमः, संगः स्त्रीपुंसोर्मिथुनी भावः) जिसे संभोग भी कहते हैं। शब्दकल्पद्रुम में इसी आशय को पुष्ट करने वाला प्रयोग का एक अच्छा उदाहरण दिया है जो इस प्रकार है–

अम्बिका च यदा स्नाता नारी ऋतुमती तदा।
संगं प्राप्य मुनेः पुत्रमसुतान्धं महाबलम्॥

'अधः' शब्द 'पूर्व' या 'पहले' अर्थ में कभी व्यवहृत नहीं होता परन्तु 'पश्चात्' अर्थ में वह व्यवहृत जरूर होता है, जैसा 'अधोभक्तं' पद से जाना जाता है जिसका अर्थ है ''भोजनान्तं पीयमानं जलादिकं'' भोजन के पश्चात् पीये जाने वाले जलादिक और इसलिये सोनीजी ने 'पतिसंगादधः' का जो अर्थ 'पाणिपीड़न से पहले' किया है वह किसी तरह भी नहीं बन सकता। पाणिपीड़न नामक संस्कार से पहले तो 'पति' संज्ञा की प्राप्ति भी नहीं होती, वह सप्तपदी के सातवें पद में जाकर होती है। जैसा कि पूर्व में उद्धृत 'नोदकेन' पद्य के 'पतित्त्वं सप्तमे पदे' वाक्य से प्रकट है। जब 'पति' ही नहीं तो फिर 'पतिसंग' कैसा? परन्तु यहाँ 'पतिसंगात्' पद साफ पड़ा हुआ है। इसलिये वह सप्तपदी के बाद की संभोगावस्था को ही सूचित करता है। उस पर पर्दा नहीं डाला जा सकता।

अब रहा गालव के उल्लेख वाला १७६वाँ पद्य, इसके अनुवाद में सोनीजी ने और भी गजब ढाया है और सत्य का बिल्कुल ही निर्दयता के साथ गला मरोड़ डाला है!! आप जानते थे कि स्त्री के पुनर्विवाह का प्रसंग चल रहा है और पहले दोनों पद्यों में उसी का उल्लेख है। साथ ही, यह समझते थे कि इन पद्यों में प्रयुक्त हुए 'दत्तां' 'पुनर्दद्यात्' जैसे सामान्य पदों का अर्थ तो जैसे तैसे 'वाग्दान में दी हुई' आदि करके, उनके प्रकृत अर्थ पर कुछ पर्दा डाला जा सकता है और उसके नीचे पुनर्विवाह को किसी तरह छिपाया जा सकता है परन्तु इस पद्य में तो साफ तौर पर 'पुनरुद्वाहं' पद पड़ा हुआ है, जिसका अर्थ 'पुनर्विवाह' के सिवाय और कुछ होता ही नहीं है और वह कथन क्रम से स्त्रियों के पुनर्विवाह का ही वाचक है, इसलिये उस पर पर्दा नहीं डाला जा सकता। चुनाँचे आपने अपने उसी लेख में जो 'जातिप्रबोधक' में प्रकाशित बाबू सूरजभानजी के लेख की समीक्षारूप से लिखा गया था,

बाबू सूरजभान जी प्रतिपादित इस पद्य के अनुवाद पर और उसके इस निष्कर्ष पर कि यह श्लोक स्त्रियों के पुनर्विवाह विषय को लिये हुए है कोई आपत्ति नहीं की थी। प्रत्युत इसके लिख दिया था–

''आगे चलकर गालव महाशय के विषय में जो आपने लिखा है वह भी ठीक नहीं है क्योंकि वे महाशय जैन नहीं हैं। किसी दिगम्बर जैन ऋषि का प्रमाण देकर पुनर्विवाह सिद्ध करते तो अच्छा होता। ... यह कहा जा चुका है कि १७१ से १७६ तक के श्लोक दिगम्बर जैन ऋषि प्रणीत नहीं हैं, मनुस्मृति के हैं।''

इससे जाहिर है कि सोनीजी इस श्लोक पर से स्त्रियों के पुनर्विवाह की सिद्धि जरूर मानते थे परन्तु उन्होंने उसे अजैन श्लोक बतलाकर उसका तिरस्कार कर दिया था। अब इस अनुवाद के समय आपको अपने उस तिरस्कार की निःसारता मालूम पड़ी और यह जान पड़ा कि वह कुछ भी कार्यकारी नहीं है। इसलिये आपने और भी अधिक निष्ठुरता धारण करके, एक दूसरी नई तथा विलक्षण चाल चली और उसके द्वारा बिल्कुल ही अकल्पित अर्थ कर डाला! अर्थात् इस पद्य को स्त्रियों के पुनर्विवाह की जगह पुरुषों के पुनर्विवाह का बना डाला!! इस कपटकला, कूटलेखकता और अनर्थ का भी कहीं कुछ ठिकाना है!!! भला कोई सोनीजी से पूछे कि 'कलौ तु पुनरुद्वाहं वर्जयेत्' का अर्थ जो आपने ''कलियुग में एक धर्मपत्नी के होते हुए दूसरा विवाह न करे'' दिया है उसमें 'एक धर्मपत्नी के होते हुए' यह अर्थ मूल के कौन से शब्दों का है अथवा पूर्व पद्यों के किन शब्दों पर से निकाला गया है तो इसका आप क्या उत्तर देंगे? क्या 'हमारी इच्छा' अथवा यह कहना समुचित होगा कि पुरुषों के अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिये स्त्री के मर जाने पर भी वे कहीं इस मतानुसार पुनर्विवाह के अधिकार से वंचित न हो जायें इसलिये हमने अपनी ओर से ऐसा कर दिया है? कदापि नहीं। वास्तव में, आपका यह अर्थ किसी तरह भी नहीं बनता और न कहीं से उसका समर्थन ही होता है। आपने एक 'भावार्थ' लगाकर उसे कुछ गले उतारने की चेष्टा की है और उसमें ब्राह्मणधर्म के अनुसार धर्मपत्नी, भोगपत्नी, प्रथम विवाह धर्म्य विवाह, दूसरा विवाह काम्य विवाह, सवर्णा स्त्री के होते हुए असवर्णा स्त्री से धर्म कृत्य न कराये जावें, आदि कितनी ही बातें लिखीं और कितने ही निरर्थक तथा अपने विरुद्ध वाक्य भी उद्धृत किये परन्तु बहुत कुछ सर पटकने पर भी आप गालव ऋषि का तो क्या दूसरे भी किसी हिन्दू ऋषि का कोई ऐसा वाक्य उद्धृत नहीं कर सके जिससे पुरुषों के पुनर्विवाह-विषयक स्वंयभू अधिकार का विरोध पाया जाये। और इसलिये आपको यह कल्पना करते ही बना कि ''कोई ब्राह्मण ऋषि दो विवाहों को भी धर्म्य विवाह स्वीकार करते हैं और तृतीय विवाह का निषेध करते हैं। तब संभव है कि गालव ऋषि दूसरे विवाह का भी निषेध करते हों।'' इतने पर भी आप अंत में लिखते हैं– ''जो लोग इस श्लोक से स्त्रियों का पुनर्विवाह अर्थ निकालते हैं वह बिल्कुल अयुक्त है। क्योंकि यह अर्थ स्वयं ब्राह्मणसम्प्रदाय के विरुद्ध पड़ता है।'' यह धृष्टता की पराकाष्ठा नहीं तो और क्या है? वह अर्थ ब्राह्मणसम्प्रदाय के क्या विरुद्ध पड़ता है उसे आप दिखला नहीं सके और न दिखला सकते हैं। आपका इस विषय में ब्राह्मणसम्प्रदाय की दुहाई देना उसके साहित्य की कोरी

अनभिज्ञता को प्रकट करना अथवा भोले भाइयों को फसाने के लिये व्यर्थ का जाल रचना है। अस्तु।

इस सब विवेचन पर से सहृदय पाठक सहज ही में इस बात का अनुभव कर सकते हैं कि भट्टारकजी ने अपरित्यक्ता स्त्रियों के लिये भी जिनमें विधवाएँ भी शामिल जान पड़ती हैं, पुनर्विवाह की साफ व्यवस्था की है और सोनीजी जैसे पंडितों ने उसे अपनी चित्तवृत्ति के अनुकूल न पाकर अथवा कुछ लोकविरुद्ध समझकर जो उस पर पर्दा डालने की चेष्टा की है वह कितनी नीच, निःसार तथा जघन्य है और साथ ही विद्वत्ता को कलंकित करने वाली है।

जो लोग इस त्रिवर्णाचार पर अपनी 'अटल श्रद्धा' का ढिंढोरा पीटते हुए उसको प्रामाणिक ग्रन्थ बतलाते हैं[१०९] और फिर स्त्रियों के पुनर्विवाह का निषेध करते हैं उनकी स्थिति निःसंदेह बड़ी ही विचित्र और करुणाजनक है! वे खुद अपने को ठगते हैं और दूसरों को ठगते फिरते हैं!! उन्हें यदि सचमुच ही इस ग्रन्थ को प्रमाण मानना था तो स्त्रियों के पुनर्विवाह निषेध का साहस नहीं करना था, क्योंकि स्त्रियों के पुनर्विवाह का विधान तो इस ग्रन्थ में है ही, वह किसी का मिटाया मिट नहीं सकता।

तर्पण, श्राद्ध और पिण्डदान

(२८) हिन्दुओं के यहाँ, स्नान का अंग स्वरूप, तर्पण नाम का एक नित्य कर्म वर्णन किया है। पितरादिकों को पानी या तिलोदक (तिलों के साथ पानी) आदि देकर उनकी तृप्ति की जाती है, इसी का नाम तर्पण है। तर्पण के जल की देव और पितरगण इच्छा करते हैं, उसको ग्रहण करते हैं और उससे तृप्त होते हैं, ऐसा उनका सिद्धान्त है। यदि कोई मनुष्य नास्तिक्य भाव से अर्थात्, यह समझकर कि 'देव पितरों को जलादिक नहीं पहुँच सकता, तर्पण नहीं करता है तो जल के इच्छुक पितर उसके देह का रुधिर पीते हैं, ऐसा उनके यहाँ योगि याज्ञवल्क्य का वचन है। यथा–

नास्तिक्यभावाद् यश्चापि न तर्पयति वै सुतः।
पिबन्ति देहरुधिरं पितरो वै जलार्थिनः॥

भट्टारकजी ने भी, इस त्रिवर्णाचार में, तर्पण को स्नान का एक अंग बतलाया है। इतना ही नहीं, बल्कि हिन्दुओं के यहाँ स्नान के जो पाँच अंग संकल्प, सूक्तपठन मार्जन, अघमर्षण[११०] और तर्पण

१०९. पं० धन्नालाल जी कासलीवाल ने भी १० वर्ष हुए 'सत्यवादी' में प्रकाशित अपने लेख द्वारा यह घोषणा की थी कि "मेरा सोमसेनकृत त्रिवर्णाचार ग्रन्थ पर अटल श्रद्धान है और मैं उसे प्रमाणीक मानता हूँ"।

११०.'अघमर्षण' पापनाशन को कहते हैं। हिन्दुओं के यहाँ स्नानांगकर्म पापनाशन क्रिया का एक विशेष अंग माना जाता है। वेद में 'ऋतु च सत्यं' नाम का एक प्रसिद्ध सूक्त है, जिसे 'अघमर्षण सूक्त' कहते हैं और जिसका ऋषि भी 'अघमर्षण' है। इस सूक्त को पानी में निमग्न होकर तीन बार पढ़ने से सब पापों का नाश हो जाता है और यह उनके यहाँ अश्वमेघ यज्ञ की तरह सब पापों का नाश करने वाला माना गया है, जैसा कि 'शंखस्मृति' के निम्नवाक्यों से प्रकट है–

ततोऽम्भसि निमग्नस्तु त्रिः पठेदघमर्षणम्॥९-१२॥

यथाऽश्वमेधः ऋतुराट् सर्वथा पापनोदनः। तथाऽघमर्षणं सूक्तं सर्वपापप्रणाशनम्॥९-१३॥

वामन शिवराम आपटे ने भी अपने कोश में इस सूक्त की उक्त मान्यता का उल्लेख किया है, और लिखा है कि

माने जाते हैं उन सबको ही अपनाया है। यथा–

संकल्पं (ल्पः) सूत्र (क्त) पठनं मार्जनं चाघमर्षणम्।
देवादि (वर्षि) तर्पणं चैव पंचांगं स्नानमाचरेत् (स्नानं पंचांगमिष्यते)॥२-१०५॥

यह श्लोक भी किसी हिन्दू ग्रन्थ से लिया गया है। हिन्दुओं के 'स्मृतिरत्नाकर' में यह ब्रैकिटों में दिये हुए साधारण पाठभेद के साथ पाया जाता है और इसे 'अत्रि' ऋषि का वाक्य लिखा है। हिन्दुओं ने देव, ऋषि, पितर भेद से तीन प्रकार का तर्पण माना है (तर्पणं च शुचिः कुर्यात्प्रत्यहं स्नातको द्विजः। देवेभ्यश्च ऋषिभ्यश्च पितृभ्यश्च यथाक्रमम्॥ इति शातातपः)। भट्टारकजी ने भी तीसरे अध्याय के पद्य नं० ७, ८, ९ में इन तीनों भेदों का इसी क्रम से विधान किया है। साथ ही, हिन्दुओं की उस विधि को भी प्रायः अपनाया है जो प्रत्येक प्रकार के तर्पण को किस दिशा की ओर मुँह करके करने तथा अक्षतादिक किस-किस द्रव्य द्वारा उसे कैसे सम्पादन करने से सम्बन्ध रखती है। परन्तु अध्याय के अंत में जो तर्पणमंत्र आपने दिये हैं उनमें पहले ऋषियों का, फिर पितरों का और अंत में देवताओं का तर्पण लिखा है। देवताओं के तर्पण में अर्हन्तादिक देवों को स्थान नहीं दिया गया किन्तु उन्हें

'गुरुपत्नी, माता, तथा भगिनी आदि के साथ सम्भोग जैसे घोरतम पाप भी इस सूक्त को तीन बार पानी में पढ़ने से नाश को प्राप्त हो जाते हैं ऐसा कहा जाता है' यथा

The most heinous crimes such as illicit intercourse with preceptor's wife, one's own mother, sister, daughter-in-law etc. are said to be expiated by repeating this सूक्त thrice in water

भट्टारकजी ने इस अघमर्षण को स्नान का अंग बतलाकर हिन्दुओं के एक ऐसे सिद्धान्त को अपनाया है जिसका जैन सिद्धान्तों के साथ कोई मेल नहीं। जैन सिद्धान्तों की दृष्टि से पापों को इस तरह पर स्नान के द्वारा नहीं धोया जा सकता। स्नान से शरीर का सिर्फ बाह्यमल दूर होता है, शरीर तक की शुद्धि नहीं हो सकती, फिर पापों का दूर होना तो बहुत ही दूर की बात है–वह कोई खेल नहीं है। पाप जिन मिथ्यात्व, असंयमादि कारणों से उत्पन्न होते हैं उनके विपरीत कारणों को मिलाने से ही दूर किये जा सकते हैं, जलादिक से नहीं। जैसा कि श्री अमितगति आचार्य के निम्न वाक्यों से भी प्रकट है–

मलो विशोध्यते बाह्यो जलेनेति निगद्यताम्। पापं निहन्यते तेन कस्येदं हृदि वर्तते॥३६॥

मिथ्यात्वाऽसंयमाऽज्ञानैः कल्मषं प्राणिनार्जितम्। सम्यक्त्वसंयमज्ञानैर्हन्यते नान्यथा स्फुटम्॥३७॥

कषायैरर्जितं पापं सलिलेन निवार्यते। एतज्जडात्मनो ब्रूते नान्ये मीमांसका ध्रुवम्॥३८॥

यदि शोधयितुं शक्तं शरीरमपि नो जलम्। अंतःस्थितं मनो दुष्टं कथं तेन विशोध्यते॥३९॥ –धर्मपरीक्षा, १७वाँ परिच्छेद।

भट्टारकजी के इस विधान से यह मालूम होता है कि वे स्नान से पापों का धुलना मानते थे। और शायद यही वजह हो जो उन्होंने अपने ग्रन्थ में स्नान की इतनी भरमार की है कि उससे एक अच्छे भले आदमी का नाक में दम आ सकता है और वह उसी में उलझा रहकर अपने जीवन के समुचित ध्येय से वंचित रह सकता है और अपना कुछ भी उत्कर्ष साधन नहीं कर सकता। मेरी इच्छा थी कि मैं स्नान की उस भरमार का और उसकी निःसारता तथा जैन सिद्धान्तों के साथ उसके विरोध का एक स्वतन्त्र शीर्षक के नीचे पाठकों को दिग्दर्शन कराऊँ परन्तु लेख बहुत बढ़ गया है इसलिये मजबूरन अपनी उस इच्छा को दबाना ही पड़ा।

ऋषियों की श्रेणी में रखा गया है। हालाँकि पद्य नं० ८ में 'गौतमादिमहर्षीणां (न्वै) तर्पयेद् ऋषितीर्थतः' ऐसा व्यवस्थावाक्य था और यह आपका लेखन कौशल अथवा रचनावैचित्र्य है!! परन्तु इन सब बातों को भी छोड़िये, सबसे बड़ी बात यह है कि भट्टारकजी ने तर्पण का सब आशय और अभिप्राय प्रायः वही रखा है जो हिंदुओं का सिद्धांत है। अर्थात्, यह प्रकट किया है कि पितरादिक को पानी या तिलोदकादि देकर उनकी तृप्ति करना चाहिए, तर्पण के जल की देव पितरगण इच्छा रखते हैं, उसको ग्रहण करते हैं और उससे तृप्त होते हैं। जैसा कि नीचे लिखे वाक्यों से प्रकट है–

असंस्काराश्च ये केचिज्जलाशाः पितरः सुराः।
तेषां सन्तोषतृप्त्यर्थं दीयते सलिलं मया॥११॥

अर्थात्–जो कोई पितर संस्कारविहीन मरे हों, जल की इच्छा रखते हों, और जो कोई देव जल की इच्छा रखते हों, उन सब के संतोष तथा तृप्ति के लिये मैं पानी देता हूँ, जल से तर्पण करता हूँ।

केचिदस्मत्कुले जाता[१११] अपुत्रा व्यन्तराः सुराः।
ते गृह्णन्तु मया दत्तं वस्त्रनिष्पीडनोदकम्॥१३॥

अर्थात्–हमारे कुल में जो कोई पुत्रहीन मनुष्य मरकर व्यन्तर जाति के देव हुए हों, उन्हें मैं धोती आदि वस्त्र से निचोड़ा हुआ पानी देता हूँ, उसे वे ग्रहण करें।

यह तर्पण के बाद धोती निचोड़ने का मंत्र[११२] है। इसके बाद शरीर के अंगों पर से हाथ या वस्त्र से पानी नहीं पोंछना चाहिए, नहीं तो शरीर कुत्ता चाटे की समान अपवित्र हो जायेगा और पुनः स्नान करने से शुद्धि होगी'[११३] ऐसा अद्भुत विधान करके उसके कारणों का बतलाते हुए लिखा है–

तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यावद्रोमाणि मानुषे।
वसन्ति तावत्तीर्थानि तस्मान्न परिमार्जयेत्॥१७॥

१११.यहाँ छपी पुस्तकों में जो 'अपूर्व' पाठ दिया है वह गलत है, सही पाठ 'अपुत्रा' है और वही जिनसेन त्रिवर्णाचार में भी पाया जाता है, जहाँ वह इसी ग्रन्थ पर से उद्धृत है।

११२. यह मंत्र हिन्दुओं के निम्न मंत्र पर से, जिसे 'मंत्रश्च' 'इति मंत्रेण' शब्दों द्वारा खास तौर पर मंत्र रूप से उल्लेखित किया है, जरा सा फेर बदल करके बनाया गया मालूम होता है–ये के चास्मत्कुले जाता अपुत्रा गोत्रजा मृताः। ते गृह्णन्तु मया दत्तं वस्त्रनिष्पीडनोदकम्॥ –स्मृतिरत्नाकर।

११३. यथा– तस्मात्कायं न मृजीत ह्यम्बरेण करेण वा। श्वानलेह्येन साम्यं च पुनः स्नानेन शुध्यति॥१६॥

हिन्दुओं के यहाँ इस पद्य के आशय से मिलता जुलता एक वाक्य इस प्रकार है–

तस्मात्स्नातो नावमृज्यात्स्नानशाट्या न पाणिना। स्नानवस्त्रेण हस्तेन यो द्विजोऽङ्गं प्रमार्जति॥ वृथा भवति तस्नानं पुनः स्नानेन शुध्यति।

'स्मृतिरत्नाकर' में यह वाक्य ''शिरोवारि शरीराम्बु वस्त्रतोयं यथाक्रमम्। पिबन्ति देवा मुनयः पितरो ब्राह्मणस्य तु॥'' के अनन्तर दिया है और इससे 'तस्मात्' पद का सम्बन्ध बहुत स्पष्ट हो जाता है। इस दृष्टि से भट्टारकजी का उक्त १६वाँ पद्य 'पिबंति शिरसो' नामक १८वें पद्य के बाद होना चाहिए था।

पिबन्ति शिरसो देवा: पिबन्ति पितरो मुखात्।
मध्याश्च यक्षगन्धर्वा अधस्तात्सर्वजन्तव:॥१८॥

अर्थात्–मनुष्य के शरीर में जो साढ़े तीन करोड़ रोम हैं, उतने ही उसमें तीर्थ हैं। दूसरे, शरीर पर जो स्नान जल रहता है उसे मस्तक पर से देव, मुख पर से पितर, शरीर के मध्यभाग पर से यक्ष गंधर्व और नीचे के भाग पर से अन्य सब जन्तु पीते हैं। इसलिये शरीर के अंगों को पोंछना नहीं चाहिए। (पोंछने से उन तीर्थों का शायद अपमान या उत्थापन हो जायेगा, और देवादिकों के जल ग्रहण कार्य में विघ्न उपस्थित होगा!!)।

जैनसिद्धान्त से जिन पाठकों का कुछ भी परिचय है वे ऊपर के इस कथन से भले प्रकार समझ सकते हैं कि भट्टारकजी का यह तर्पण–विषयक कथन कितना जैनधर्म के विरुद्ध है। जैनसिद्धांत के अनुसार न तो देवपितरगण पानी के लिये भटकते या मारे मारे फिरते हैं और न तर्पण के जल की इच्छा रखते या उसको पाकर तृप्त और संतुष्ट होते हैं। इसी प्रकार न वे किसी की धोती आदि का निचोड़ा हुआ पानी ग्रहण करते हैं और न किसी के शरीर पर से स्नान जल को पीते हैं। ये सब हिन्दू धर्म की क्रियाएँ और कल्पनाएँ हैं। हिन्दुओं के यहाँ साफ लिखा है कि ''जब कोई मनुष्य स्नान के लिये जाता है तब प्यास से विह्वल हुए देव और पितरगण, पानी की इच्छा से वायु का रूप धारण करके उसके पीछे जाते हैं। और यदि वह मनुष्य यों ही स्नान करके वस्त्र (धोती आदि) निचोड़ देता है तो वे देवपितर निराश होकर लौट आते हैं। इसलिये तर्पण के पश्चात् वस्त्र निचोड़ना चाहिए पहले नहीं''। जैसा कि उनके निम्नलिखित वचन से प्रकट है–

स्नानार्थमभिगच्छन्तं देवा: पितृगणै: सह।
वायुभूतास्तु गच्छन्ति तृषार्ता: सलिलार्थिन:॥
निराशास्ते निवर्तन्ते वस्त्रनिष्पीडने कृते।
अतस्तर्पणानन्तरमेव वस्त्रं निष्पीडयेत्॥ स्मृतिरत्नाकरे, वृद्धवसिष्ठ:

परन्तु जैनियों का ऐसा सिद्धान्त नहीं है। जैनियों के यहाँ मरने के पश्चात् समस्त संसारी जीव अपने अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार देव, मनुष्य, नरक, और तिर्यंच, इन चार गतियों में से किसी न किसी गति में अवश्य चले जाते हैं। और अधिक से अधिक तीन समय तक निराहार रहकर तुरंत दूसरा शरीर धारण कर लेते हैं। इन चारों गतियों से अलग पितरों की कोई निराली गति नहीं होती, जहाँ वे बिल्कुल ही परावलम्बी हुए असंख्यात या अनन्तकाल तक पड़े रहते हों। मनुष्यगति में जिस तरह पर वर्तमान मनुष्य जो अपने पूर्वजन्मों की अपेक्षा बहुतों के पितर हैं, किसी के तर्पण जल को पीते नहीं फिरते उसी तरह पर कोई भी पितर किसी भी गति में जाकर तर्पण के जल की इच्छा से विह्वल उसके पीछे पीछे मारा मारा नहीं फिरता। प्रत्येक गति में जीवों का आहार विहार उनकी उस गति, स्थिति तथा देशकाल के अनुसार होता है और उसका वह रूप नहीं है जो ऊपर बतलाया गया है। इस तरह पर भट्टारकजी का यह सब कथन जैनधर्म के विरुद्ध है, जीवों की गतिस्थित्यादि विषयक

अजानकारी तथा अश्रद्धा को लिये हुए है और कदापि जैनियों के द्वारा मान्य किये जाने के योग्य नहीं हो सकता।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि हिन्दुओं के कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थों में भी इस बात का उल्लेख मिलता है कि जैनधर्म में इस तर्पण को स्थान नहीं है जैसा कि उनके पद्मपुराण[११४] के निम्न वाक्यों से प्रकट है जो कि ३६वें अध्याय में एक दिगम्बर साधु द्वारा राजा 'वेन' को जैनधर्म का कुछ स्वरूप बतलाते हुए कहे गये हैं–

पितृणां तर्पणं नास्ति नातिथिर्वैश्वदेविकम्।
कृष्णास्य न तथा पूजा ह्यर्हन्तध्यानमुत्तमम्॥१९॥
एवं धर्मसमाचारो जैनमार्गे प्रदृश्यते॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं जैनधर्मस्य लक्षणम्॥२०॥

और जैनियों के 'यशस्तिलक' ग्रन्थ से भी इस विषय का समर्थन होता है, जैसा कि उसके चौथे आश्वस के निम्न वाक्य से प्रकट है, जो कि राजा यशोधर की जैनधर्म-विषयक श्रद्धा को हटाने के लिये उनकी माता द्वारा, एक वैदिकधर्मावलम्बी की दृष्टि से जैनधर्म की त्रुटियों को बतलाते हुए कहा गया है–

न तर्पणं देवपितृद्विजानां स्नानस्य होमस्य न चास्ति वार्ता।
श्रुतेः स्मृतेर्बाह्यतरे च धीस्ते धर्मे कथं पुत्र! दिगम्बराणाम्॥

अर्थात्–जिस धर्म मे देवों, पितरों तथा द्विजों (ऋषियों) का तर्पण नहीं, (श्रुतिस्मृतिविहित) स्नान की उसी पंचाग स्नान की-और होम की वार्ता नहीं, और जो श्रुति, स्मृति से अत्यन्त बाह्य है उस दिगम्बर जैनधर्म पर हे पुत्र! तेरी बुद्धि कैसे ठहरती है?, तुझे कैसे उस पर श्रद्धा होती है?

इतने पर भी सोनीजी, अपने अनुवाद में भट्टारकजी के इस तर्पण-विषयक कथन को जैनधर्म का कथन बतलाने का दु:साहस करते हैं, लिखते हैं– ''यह तर्पण आदि का विधान जैनधर्म से बाहर का नहीं है किन्तु जैनधर्म का ही है''!! आपने कुछ अनुवादों के साथ में लम्बे-लम्बे भावार्थ जोड़कर भट्टारकजी के कथन को जिस तिस प्रकार से जैनधर्म का कथन सिद्ध करने की बहुतेरी चेष्टा की, परन्तु आप उसमें कृतकार्य नहीं हो सके। और उस चेष्टा में आप कितनी ही ऊटपटाँग बातें लिख गये हैं जिनसे आपकी श्रद्धा, योग्यता और गुणज्ञता का खासा दृश्य सामने उपस्थित हो जाता है और उसे देखकर आपकी हालत पर बड़ा ही तरस आता है। आप लिखते हैं– ''व्यन्तरों का अनेक प्रकार का स्वभाव होता है। अतः किसी किसी का स्वभाव जल ग्रहण करने का है। किसी किसी का वस्त्र निचोड़ा हुआ जल लेने का है। ये सब उनकी स्वाभाविकी क्रियायें हैं!'' परन्तु कौन से जैन-शास्त्रों में व्यन्तरों के इस स्वभावविशेष का उल्लेख है या इन क्रियाओं को उनकी स्वाभाविकी क्रियाएँ लिखा है, इसे आप बतला नहीं सके। आप यहाँ तक तो लिख गये कि ''जैन शास्त्रों में साफ लिखा है कि

११४. देखो 'आनन्दाश्रम सिरीज पूना' की छपी हुई आवृत्ति।

व्यन्तरों का ऐसा स्वभाव है और वे क्रीड़ा निमित्त ऐसा करते हैं, ऐसी क्रियायें कराकर वे शांत होते हैं'' परन्तु फिर भी किसी माननीय जैन शास्त्र का एक भी वाक्य प्रमाण में उद्धृत करते हुए आपसे बन नहीं पड़ा तब आपका यह सब कथन थोथा वाग्जाल ही रह जाता है। मालूम होता है अनेक प्रकार के स्वभाव पर से आप सब प्रकार से स्वभाव का नतीजा निकालते हैं, और यह आपका विलक्षण तर्क है!! व्यन्तरों का सब प्रकार का स्वभाव मानकर और उनकी सब इच्छाओं को पूरा करना अपना कर्त्तव्य समझकर तो सोनीजी बहुत ही आपत्ति में पड़ जायेंगे और उन्हें व्यन्तरों के पीछे नाचते नाचते दम लेने की भी फुर्सत नहीं मिलेगी। खेद है सोनीजी ने यह नहीं सोचा कि प्रथम तो व्यन्तर देव क्रीड़ा के निमित्त जिन-जिन चीजों की इच्छाएँ करें उनको पूरा करना श्रावकों का कोई कर्तव्य नहीं है, श्रावकाचार में ऐसी कोई विधि नहीं है, व्यन्तरदेव यदि मांसभक्षण की क्रीड़ा करने लगे तो कोई भी श्रावक पशुओं को मारकर उन्हें बलि नहीं चढ़ाएगा और न स्त्री सेवन की क्रीड़ा करने पर अपनी स्त्री या पुत्री ही उन्हें संभोग के लिये देगा। दूसरे, यदि किसी तरह पर उनकी इच्छा को पूरा भी किया जाये तो वह तभी तो किया जा सकता है जब वैसी कोई इच्छा व्यक्त हो- कोई व्यन्तर क्रीड़ा करता हुआ किसी तरह पर प्रकट करे कि मुझे इस वक्त धोती निचोड़े का पानी चाहिए तो वह उसे दिया जा सकता है, परन्तु जब वैसी इच्छा या क्रीड़ा व्यक्त ही न हो अथवा उसका अस्तित्व ही न हो तब भी उसकी पूर्ति की चेष्टा करना-बिना इच्छा भी किसी को जल पीने के लिये मजबूर करना अथवा पीने वाले के मौजूद न होते हुए भी पिलाने का ढोंग करना- क्या अर्थ रखता है? वह निरा पागलपन नहीं तो और क्या है? क्या व्यन्तरदेवों को ऐसा असहाय या महाव्रती समझ लिया है जो वे बिना दूसरों के दिये स्वयं जल भी कहीं से ग्रहण न कर सकें? वस्तु स्थिति ऐसी नहीं है। भट्टारकजी का आशय यदि इस तर्पण से व्यन्तरों के क्रीड़ा उद्देश्य की सिद्धिमात्र होता तो वे वैसी क्रीड़ा के समय ही अथवा उस प्रकार की सूचना मिलने पर ही तर्पण का विधान करते, क्योंकि कोई क्रीड़ा या इच्छा सार्वकालिक और स्थायी नहीं होती। परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया, बल्कि प्रतिदिन और प्रत्येक स्नान के साथ में तर्पण का विधान किया है और उनकी व्यवस्थानुसार एक दिन में बीसियों बार स्नान की नौबत आ सकती है। अतः भट्टारकजी का यह तर्पणविधान व्यन्तरों के क्रीड़ा उद्देश्य को लेकर नहीं है किन्तु सीधा और साफ तोर पर हिन्दुओं के सिद्धान्त का अनुसरण मात्र है और इसलिए यह सोनीजी की अपनी ही कल्पना और अपनी ही ईजाद है जो वे इस तर्पण को व्यन्तरों की क्रीड़ा के साथ बाँधते हैं और उसे किसी तरह पर खींच खाँचकर जैनधर्म की कोटि में लाने का निष्फल प्रयत्न करते हैं। ११वें श्लोक के भावार्थ में तो सोनीजी यह भी लिख गये हैं कि ''व्यन्तरों को जल किसी उद्देश्य से नहीं दिया जाता है'' हेतु? ''क्योंकि यह बात श्लोक ही साफ कह रहा है कि कोई बिना संस्कार किये हुए मर गये हों, मरकर व्यंतर[११५] हुए हों और मेरे हाथ से जल लेने की वांछा रखते हों तो उनको मैं सहज (यह

११५. 'व्यन्तर' का यह नाम निर्देश मूल श्लोक में नहीं है।

जल) देता हूँ। इसमें कहीं भी किसी विषय का उद्देश्य नहीं है।'' परन्तु श्लोक में तो जलदान का उद्देश्य साफ लिखा है 'तेषां संतोषतृप्त्यर्थं' उनके संतोष और तृप्ति के लिये और आपने भी अनुवाद के समय इसका अर्थ ''इनके संतोष के लिये'' दिया है। यह उद्देश्य नहीं तो और क्या है? इसके सिवाय पूर्ववर्ती श्लोक नं० १० में एक दूसरा उद्देश्य और भी दिया है और वह है ''उस पाप की विशुद्धि जो शारीरिक मल के द्वारा जल को मैला अथवा दूषित करने से उत्पन्न होता है''। यथा–

[११६]यन्मया दुष्कृतं पापं (दूषितं तोयं) शारीरमलसंभवनम्(वात्)
तत्पापस्य विशुद्ध्यर्थं देवानां तर्पयाम्यहम्॥१०॥

ऐसी हालत में सोनीजी का यह तर्पण के उद्देश्य से इनका करना, उसे आगे चलकर श्लोक के दूसरे अधूरे अर्थ के नीचे छिपाना और इस तरह स्वपरप्रयोजन के बिना ही[११७] तर्पण करने की बात कहना कितना हास्यास्पद जान पड़ता है, उसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। क्या यही गुरुमुख से शास्त्रों का सुनना, उनका मनन करना और भाषा की ठीक योग्यता का रखना कहलाता है, जिसके लिये आप अपना अहंकार प्रकट करते और दूसरों पर आक्षेप करते हैं? मालूम होता है सोनीजी उस समय कुछ बहुत ही विचलित और अस्थिरचित्त थे। उन्हें इस तर्पण को जैनधर्म का सिद्धान्त सिद्ध करने के लिये कोई ठीक युक्ति सूझ नहीं पड़ती थी, इसी से वे वैसे ही यद्वा तद्वा कुछ बहकी-बहकी बातें लिखकर ग्रन्थ के कई पेजों को रंग गये हैं। और शायद यही वजह है जो वे दूसरों पर मूर्खतापूर्ण अनुचित कटाक्ष करने का भी दु:साहस कर बैठे हैं, जिसकी चर्चा करना यहाँ निरर्थक जान पड़ता है।

१८वें श्लोक के भावार्थ में, कितनी ही विचलित बातों के अतिरिक्त, सोनीजी लिखते हैं– ''यद्यपि देवों में मानसिक आहार है, पितृगण कितने ही मुक्ति स्थान को पहुँच गये हैं इसलिये इनका पानी पीना असंभव जान पड़ता है। इसी तरह यक्ष, गंधर्वों और सारे जीवों का भी शरीर के जल का पानी (पीना) असम्भव है, पर फिर भी ऐसा जो लिखा गया है उसमें कुछ न कुछ तात्पर्य अवश्य छुपा हुआ है (जो सोनीजी की समझ के बाहर है और जिसके जानने का उनके कथनानुसार इस समय कोई साधन भी नहीं है!)।''

''यद्यपि इस श्लोक का विषय असम्भव सा जान पड़ता है परन्तु फिर भी वह पाया जाता है। अत: इसका कुछ न कुछ तात्पर्य अवश्य है। व्यर्थ बातें भी कुछ न कुछ अपना तात्पर्य ज्ञापन कराकर सार्थक हो जाती हैं (परन्तु इस श्लोक की व्यर्थ बातें तो सोनीजी को अपना कुछ भी तात्पर्य न बतला सकीं!)।''

---

११६. यह हिन्दुओं का यक्ष्मतर्पण का श्लोक है और उनके यहाँ इसका चौथा चरण 'यक्ष्मैतत्ते तिलोदकम्' दिया है। (देखो 'आन्हिकसूत्रावलि')

११७. 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मंदोऽपि प्रवर्तते'–बिना प्रयोजन उद्देश्य के तो मूर्ख की भी प्रवृत्ति नहीं होती। फिर सोनीजी ने क्या समझकर यह बिना उद्देश्य की बात कही है!!

इन उद्‌गारों के समय सोनीजी के मस्तिष्क की हालत उस मनुष्य जैसी मालूम होती है जो घर से यह खबर आने पर रो रहा था कि 'तुम्हारी स्त्री विधवा हो गई है' और जब लोगों ने उसे समझाया कि तुम्हारे जीते तुम्हारी स्त्री विधवा कैसे हो सकती है तब उसने सिसकियाँ लेते हुए कहा था कि 'यह तो मैं भी जानता हूँ कि मेरे जीते मेरी स्त्री विधवा कैसे हो सकती है परन्तु घर से जो आदमी खबर लाया है यह बड़ा ही विश्वासपात्र है, उसकी बात को झूठ कैसे कहा जा सकता है? वह जरूर विधवा हो गई है,' और यह कहकर और भी ज्यादा फूट-फूटकर रोने लगा था, और तब लोगों ने उसकी बहुत ही हँसी उड़ाई थी। सोनीजी की दृष्टि में भट्टारकजी का यह ग्रन्थ घर के उस विश्वासपात्र आदमी की कोटि में स्थित है। इसी से साक्षात् असम्भव जान पड़ने वाली बातों को भी, इसमें लिखी होने के कारण, आप सत्य समझने और जैनधर्मसम्मत प्रतिपादन करने की मूर्खता कर बैठे हैं। यह है आपकी श्रद्धा और गुणज्ञता का एक नमूना!! अथवा गुरुमुख से शास्त्रों के अध्ययन और मनन की एक बानगी!!!

सोनीजी को इस बात की बड़ी ही चिन्ता ने घेरा मालूम होता है कि ''कहीं ऐसी असंभव बातों को भी यदि झूठ मान लिया गया तो शास्त्र की कोई मर्यादा ही न रहेगी, फिर हर कोई मनुष्य चाहे जिस शास्त्र की बात को, जो उसे अनिष्ट होगी, फौरन अलीक (झूठ) कह देगा, तब सर्वत्र अविश्वास फैल जायेगा और कोई भी क्रिया ठीक ठीक न बन सकेगी।' इस बिना सिर पैर की निःसार चिंता के कारण ही आपने शास्त्र की-नहीं-नहीं शास्त्र नाम की मर्यादा का उल्लंघन न करने का जो परामर्श दिया है उसका यही आशय जान पड़ता है कि शास्त्र में लिखी उल्टी सीधी, भली बुरी, विरुद्ध अविरुद्ध और संभव असंभव सभी बातों को बिना चूँ चरा किये और कान हिलाए मान लेना चाहिए। नहीं तो शास्त्र की मर्यादा बिगड़ जायेगी!! वाह! क्या ही अच्छा सत्परामर्श है!! अंधश्रद्धा का उपदेश इससे भिन्न और क्या होगा वह कुछ समझ में नहीं आता!!! मालूम होता है सोनीजी को सत्य शास्त्र के स्वरूप का ही ज्ञान नहीं। सच्चे शास्त्र तो आप्त पुरुषों के कहे होते हैं- उनमें कही उल्टी, बुरी, विरुद्ध और असंभव बातें भी हुआ करती हैं? वे तो वादी प्रतिवादी के द्वारा अनुल्लंघ्य, युक्ति तथा आगम से विरोधरहित, यथावत् वस्तुस्वरूप के उपदेशक, सर्व के हितकारी और कुमार्ग का मथन करने वाले होते हैं।[११८] ऐसे शास्त्रों के विषय में उक्त प्रकार की चिंता करने के लिये कोई स्थान ही नहीं होता, वे तो खुले मैदान परीक्षा के लिये छोड़ दिये जाते हैं, उनके विषय में भी उक्त प्रकार की चिंता व्यक्त करना अपनी श्रद्धा की कचाई और मानसिक दुर्बलता को प्रकट करना है। इसके सिवाय सोनीजी को शायद यह भी मालूम नहीं कि ''कितने ही भ्रष्टचारित्र पंडितों और वठरसाधुओं (मूर्ख तथा धूर्त मुनियों) ने जिनेन्द्रदेव के निर्मल शास्त्र को मलिन कर दिया है-कितनी ही असत् बातों को, इधर उधर से अपनी रचनादिकों के द्वारा, शासन में शामिल करके उसके स्वरूप को विकृत कर दिया

११८.जैसा कि स्वामी समन्तभद्र के निम्न वाक्य से प्रकट है-

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्। तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्॥ (रत्नकरण्डक श्रावकाचार)

है'' (इससे परीक्षा की और भी खास जरूरत खड़ी हो गई है[११९]), जैसा कि अनगारधर्मामृत की टीका में पं० आशाधरजी के द्वारा उद्धृत किसी विद्वान् के निम्न वाक्य से प्रकट है–

पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैवठरैश्च तपोधनैः।
शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम्॥

सोमसेन भी उन्हीं वठर अथवा धूर्त साधुओं से एक थे, और यह बात ऊपर की आलोचना पर से बहुत कुछ स्पष्ट है। उनकी इस महा आपत्तिजनक रचना (त्रिवर्णाचार) को सत्यशास्त्र का नाम देना वास्तव में सत्य शास्त्रों का अपमान करना है। अतः सोनीजी की चिंता, इस विषय में, बिल्कुल ही निर्मूल जान पड़ती है और उनकी अस्थिरचित्तता तथा ढुलमुल-यकीनी को और अधिकता के साथ साबित करती है।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि सोनीजी की यह अस्थिरचित्तता बहुत दिनों तक उनका पिण्ड पकड़े रही है, सम्भवतः ग्रन्थ के छप जाने तक भी आपका चित्त डाँवाडोल रहा है और तब कहीं जाकर आपको इन पद्यों पर कुछ संदेह होने लगा है। इसी से शुद्धि पत्र द्वारा १३वें और १७वें श्लोक के अनुवाद के पीछे एक नया भावार्थ जोड़ने की सूचना देते हुए, आपने उन भावार्थों में ११ से १३ और १७ से १९ नम्बर तक के छह श्लोकों पर 'क्षेपक' होने का संदेह प्रकट किया है, निश्चय उसका भी नहीं और वह संदेह भी निर्मूल जान पड़ता है। इन पद्यों को क्षेपक मानने पर १०वें नम्बर का पद्य निरर्थक हो जाता है। जिसमें उद्देश्य विशेष से देवों के तर्पण की प्रतिज्ञा की गई है और उस प्रतिज्ञा के अनुसार ही अगले श्लोकों में तर्पण का विधान किया गया है। १३वां श्लोक खुद वस्त्र निचोड़ने का मंत्र है और हिन्दुओं के यहाँ भी उसे मंत्र लिखा है जैसा कि पहले जाहिर किया जा चुका है। सोनीजी ने उसे मंत्र ही नहीं समझा और वस्त्र निचोड़ने का मंत्र न होने के आधार पर इन श्लोकों के क्षेपक होने की कल्पना कर डाली!! अतः ये श्लोक क्षेपक नहीं, ग्रन्थ में वैसे ही पीछे से शामिल हो गये अथवा शामिल कर लिये गये नहीं, किंतु भट्टारकजी की रचना के अंगविशेष हैं। जिनसेन-त्रिवर्णाचार में सोमसेन-त्रिवर्णाचार की जो नकल की गई है उसमें भी वे उद्धृत पाये जाते हैं।

यहाँ तक के इस सब कथन से यह स्पष्ट है कि भट्टारकजी ने हिंदुओं के तर्पणसिद्धांत को अपनाया है और वह जैनधर्म के विरुद्ध है। सोनीजी ने उसे जैनधर्म-सम्मत प्रतिपादन करने और इस तरह सत्य पर पर्दा डालने की जो अनुचित चेष्टा की है उसमें वे जरा भी सफल नहीं हो सके और अंत में उन्हें कुछ पद्यों पर थोथा संदेह करते ही बना। साथ में आपकी श्रद्धा और गुणज्ञता आदि का जो प्रदर्शन हुआ सो जुदा रहा।

११९.इसी बात को लक्ष्य करके किसी कवि ने यह वाक्य कहा है– जिनमत महल मनोज्ञ अति कलियुग छादित पंथ। समझ बूझ के परखियो, चर्चा निर्णय ग्रन्थ॥ और बड़े बड़े आचार्यो ने तो पहले से ही परीक्षाप्रधानी होने का उपदेश दिया है–अंधश्रद्धालु बनने का नहीं है।

अब रही श्राद्ध और पिण्डदान की बात। ये विषय भी जैनधर्म से बाहर की चीज हैं और हिंदुधर्म से खास सम्बन्ध रखते हैं। भट्टारकजी ने इन्हें भी अपनाया है और अनेक स्थानों पर इनके करने की प्रेरणा तथा व्यवस्था की है।[१२०] पितरों का उद्देश्य करके दिया हुआ अन्नादिक पितरों के पास पहुँच

---

१२०. जिसके कुछ नमूने इस प्रकार हैं–

तीर्थतटे प्रकर्तव्यं प्राणायामं तथाचमम्। संध्या श्राद्धं च पिण्डस्य दानं गेहेऽथवा शुचौ॥३-७७॥

इसमें श्राद्ध तथा पिण्डदान को तीर्थतट पर या घर में किसी पवित्र स्थान पर करने की व्यवस्था की है।

नान्दीश्राद्धं च पूजां च...। सर्वं कुर्याच्च तस्याग्रे...॥९-१९॥

इसमें 'नान्दीश्राद्ध' के करने की प्रेरणा की गई है, जो हिन्दुओं के श्राद्ध का एक विशेष है।

एकमेव पितुश्चाद्यं कुर्याद्देशे दशाहनि। ततो वै मातृके श्राद्धं कुर्यादाद्यादि षोडश॥१३-७८॥

इसमें अवस्थाविशेष को लेकर माता और पिता के श्राद्धों का विधान किया गया है।

तद्देहप्रतिबिम्बार्थं मण्डपे तद्विनापि वा। स्थापयेदेकमश्मानं तीरे पिण्डादिदत्तये॥१६९॥

पिण्डं तिलोदकं चापि कर्ता दद्याच्छिलाग्रतः। सर्वेपि बंधवो दद्युः स्नातास्तत्र तिलोदकं॥१७०॥

एवं दशाहपर्यन्तमेतत्कर्म विधीयते। पिण्डं तिलोदकं चापि कर्ता दद्यात्तदान्वहं॥१७६॥

पिण्डप्रदानतः पूर्वमन्ते च स्नानमिष्यते। पिण्डः कपित्थमात्रश्च स च शाल्यन्धसा कृतः॥१७७॥

तत्पाकश्च बहिः कार्यस्तत्पात्रं च शिलापि च। कर्तुः संव्यानकं चापि बहिः स्थाप्यानि गोपिते॥१७८॥ -१३वाँ अध्याय।

इन पद्यों में मृतक संस्कार के अनन्तर वाले पिण्डदान का विधान है और उसके विषय में लिखा है कि "पिण्डादिक देने के लिये जलाशय के किनारे पर उस मृतक की देह के प्रतिनिधिरूप से एक पत्थर की स्थापना करनी चाहिए, संस्कारकर्ता को उस पत्थर के आगे पिण्ड और तिलोदक देना चाहिए और स्नान किये हुए बंन्धुओं को भी वहाँ पर तिलोदक चढ़ाना चाहिए। संस्कारकर्ता को बराबर दस दिन तक इसी तरह पर पिण्ड और तिलोदक देते रहना चाहिए, पिण्डदान से पहले और पीछे भी स्नान करना चाहिए और वह पिण्ड पके चावलों का कपित्थ (कैथ या बेल) के आकार जितना होना चाहिए। चावल भी घर से बाहर पकाये जायें और पकाने का पात्र, वह पत्थर, तथा पिण्डदान के समय पहनने के वस्त्र ये सब चीजें बाहर ही किसी गुप्त स्थान में रखनी चाहिए।"

श्रद्धयान्नप्रदानं तु सद्भ्यः श्राद्धमितीष्यते। मासे मासे भवेच्छ्राद्धं तद्दिने वत्सरावधि॥१९३॥

अत ऊर्ध्वं भवेदब्दश्राद्धं तु प्रतिवत्सरं। आद्वादशाब्दमेवैतत्क्रियते प्रेतगोचरम्॥१९४॥

इन पद्यों में प्रेत के उद्देश्य से किये गये श्राद्ध का स्वरूप और उसके भेदों का उल्लेख किया गया है। लिखा है कि श्रद्धा से, श्रद्धा विशेष से, किये गये अन्नदान को श्राद्ध कहते हैं और उसके दो भेद हैं–१. मासिक और २. वार्षिक। जो मृतक तिथि के दिन हर महीने साल भर तक किया जाये वह मासिक श्राद्ध है और जो उसके बाद प्रतिवर्ष बारह वर्ष तक किया जाये उसे वार्षिक श्राद्ध जानना चाहिए। यहाँ श्राद्ध का जो व्युत्पत्यात्मक स्वरूप दिया है वह प्रायः वही है जो हिन्दुओं के यहाँ पाया जाता है। और जिसे उनके 'श्राद्ध तत्त्व' में 'वैदिकप्रयोगाधीनयौगिक' लिखा है, जैसा कि अगले फुट नोट से प्रकट है। और इसमें जिस श्रद्धा का उल्लेख है वह भी वही 'पित्रुद्देश्यक श्रद्धा' अथवा 'प्रेतोद्देश्यक श्रद्धा' है जिसे हिन्दुओं के पद्मपुराण में भी जैनियों की ओर से 'निरर्थिका' बतलाया है और जो जैनदृष्टि से बहुत कुछ आपत्ति के योग्य है। श्रद्धा के इस सामान्य प्रयोग की वजह से कुछ लोगों को जो भ्रम होता था वह अब दूर हो सकेगा।

जाता है और उनकी तृप्ति आदि सम्पादन करता है, ऐसी श्रद्धा से शास्त्रोक्तविधि के साथ जो अन्नादिक दिया जाता है उसका नाम श्राद्ध[१२१] है। हिन्दुओं के यहाँ तर्पण और श्राद्ध ये दोनों विषय करीब करीब एक ही सिद्धांत पर अवस्थित हैं। दोनों को 'पितृयज्ञ' कहते हैं। भेद सिर्फ इतना है कि तर्पण में अंजलि से जल छोड़ा जाता है, किसी ब्राह्मणादिक को पिलाया नहीं जाता। देव पितरगण उसे सीधा ग्रहण कर लेते हैं और तृप्त हो जाते हैं। परन्तु श्राद्ध में प्रायः ब्राह्मणों को भोजन खिलाया जाता है अथवा सूखा अन्नादिक दिया जाता है। और जिस प्रकार लैटर बॉक्स में डाली हुई चिट्ठी दूर देशांतरों में पहुँच जाती है उसी प्रकार मानों ब्राह्मणों के पेट में से वह भोजन देव पितरों के पास पहुँचकर उनकी तृप्ति कर देता है। इसके सिवाय कुछ क्रियाकाण्ड का भी भेद है। पिण्डदान भी श्राद्ध का ही एक रूप विशेष है, उसका भी उद्देश्य पितरों को तृप्त करना है और वह भी 'पितृयज्ञ' कहलाता है। इसमें पिण्ड को पृथ्वी आदिक पर डाला जाता है, किसी ब्राह्मणदिक के पेट में नहीं और उसे प्रकट रूप से कौए आदिक खा जाते हैं। इस तरह पर श्राद्ध और पिण्डदान ये दोनों कर्म प्रक्रियादि के भेद से, पितृतर्पण के ही भेद विशेष हैं, इन्हें प्रकारांतर से 'पितृतर्पण' कहा भी जाता है और इसलिये इनके विषय में अब मुझे अधिक कुछ भी लिखने की जरूरत नहीं है। सिर्फ इतना और बतला देना चाहता हूँ कि हिंदू ग्रन्थों में 'श्राद्ध' नाम से भी इस विषय का स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि वह जैनधर्म सम्मत नहीं है जैसा कि उनके 'पद्मपुराण' के निम्न वाक्यों से प्रकट है, जो कि ३६वें अध्याय में उसी दिगम्बर साधु द्वारा, श्राद्ध के निषेध में, राजा 'वेन' के प्रति कहे गये हैं–

श्राद्धं कुर्वन्ति मोहेन क्षयाहे पितृतर्पणम्।
क्वाऽऽस्ते मृतः समश्नाति कीदृशोऽसौ नरोत्तम॥२९॥
किं ज्ञानं कीदृशं कार्यं केन दृष्टं वदस्व नः।
मिष्टमन्नं प्रभुक्त्वा तु तृप्तिं यान्ति च ब्राह्मणाः॥३०॥
कस्य श्राद्धं प्रदीयेत सा तु श्रद्धा निरर्थिका।
अन्यदेवं प्रवक्ष्यामि वेदानां कर्मदाहणम्॥३१॥

इन वाक्यों में श्राद्ध को साफ तौर पर 'पितृतर्पण' लिखा है, और उससे श्राद्ध का उद्देश्य भी कितना ही स्पष्ट हो जाता है। साथ ही यह बतलाया है कि जिस (पितृतृप्ति उद्देश्य की) श्रद्धा से उसका विधान किया जाता है यह श्रद्धा ही निरर्थक है–उसमें कुछ सार ही नहीं–इस श्राद्ध से पितरों की कोई तृप्ति नहीं होती किन्तु ब्राह्मणों की तृप्ति होती है। इसी तरह पर उक्त पुराण के १३वें अध्याय में भी दिगम्बर जैनों की ओर से श्राद्ध के निषेध का उल्लेख मिलता है।

---

१२१. श्राद्धं– शास्त्रोक्तविधानेन पितृकर्म इत्यमरः। पित्रुद्देश्यकश्रद्धयाऽन्नादि दानम्।... ''श्रद्धया दीयते यम्मात् श्राद्धं तेन निगद्यते'' इति पुलस्त्यवचनात्। ''श्रद्धया अन्नादेर्दानं श्राद्धं इति वैदिकप्रयोगाधीनयौगिकम्'' इति श्राद्धतत्त्वम्। अपि च, सम्बोधनपदोपनीतान् पित्रादीन् चतुर्थ्यन्तपदेनोद्दिश्य हविस्त्यागः श्राद्धम्। –शब्दकल्पद्रुम।

ऐसी हालत में जैन ग्रन्थों से श्राद्धादि के निषेध-विषयक अवतरणों के देने की-जो बहुत कुछ दिये जा सकते हैं-यहाँ कोई जरूरत मालूम नहीं होती। जैन सिद्धांतों से वास्तव में इन विषयों का कोई मेल ही नहीं है। और अब तो बहुत से हिन्दू भाइयों की भी श्रद्धा श्राद्ध पर से उठती जाती है और वे उसमें कुछ तत्त्व नहीं देखते। हाल में स्वर्गीय मगनलाल गाँधीजी के विवेकी वीर पुत्र केशवभाई ने अपने पिता की मृत्यु के १०वें दिन जो मार्मिक उद्‌गार महात्मा गाँधीजी पर प्रकट किये हैं और जिन्हें महात्माजी ने बहुत पसंद किया तथा कुटुम्बीजनों ने भी अपनाया वे इस विषय में बड़ा ही महत्त्व रखते हैं और उनसे कितनी ही उपयोगी शिक्षा मिलती है। वे उद्‌गार इस प्रकार हैं-

''श्राद्ध करने में मुझे श्रद्धा नहीं है। और असत्य तथा मिथ्या का आचरण कर मैं अपने पिता का तर्पण कैसे करूँ? इसकी अपेक्षा तो जो वस्तु पिताजी को प्रिय थी वही करूंगा। गीता का पारायण तीन दिन करूँगा और तीनों दिन १२ घण्टे रोज चरखा चलाऊँगा'' -हि. नव.

परन्तु हमारे सोनीजी, जैन पंडित होकर भी, अभी तक लकीर के फकीर बने हुए हैं, 'बाबा वाक्यं प्रमाणं' की नीति का अनुसरण करना ही अपना कर्तव्य समझते हैं और लोगों को 'अंधश्रद्धालु' बनने तथा बने रहने का उपदेश देते हैं, यह बड़ा ही आश्चर्य है!! उन्हें कम से कम केशव भाई के इस उदाहरण से ही कुछ शिक्षा लेनी चाहिए।

मेरा विचार था कि मैं और भी कुछ विरुद्ध कथनों को दिखलाऊँ, विरुद्ध कथनों के कितने ही शीर्षक नोट किये हुए पड़े हैं, खासकर 'त्रिवर्णाचार के पूज्य देवता' शीर्षक के नीचे मैं कुदेवों की पूजा को दिखलाकर उसकी विस्तृत आलोचना करना चाहता था परन्तु उसके लिये लम्बा लिखने की जरूरत थी और लेख बहुत बढ़ गया है इसलिये उस विचार को भी छोड़ना ही पड़ा। मैं समझता हूँ विरुद्ध कथनों का यह सब दिग्दर्शन काफी से भी ज्यादा हो गया है और इसलिये इतने पर ही संतोष किया जाता है।

इन सब विरुद्ध कथनों के मौजूद होते हुए और अजैन विषयों तथा वाक्यों के इतने भारी संग्रह की उपस्थिति में अथवा ग्रन्थ की स्थिति के इस दिग्दर्शन के सामने सोनीजी के निम्न वाक्यों का कुछ भी मूल्य नहीं रहता, जो उन्होंने ग्रन्थ के अनुवाद की भूमिका में दिये हैं-

(१) ''हमें तो ग्रन्थ परिशीलन से यही मालूम हुआ कि ग्रन्थकर्ता की जैन धर्म पर असीम भक्ति थी, अजैन विषयों से वे परहेज करते थे। लोग खामुखाँ अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये उन पर अवर्णवाद लगाते हैं।''

(२) ''ग्रन्थ की मूल भित्ति आदिपुराण पर से खड़ी हुई है।''... ''इस ग्रन्थ के विषय ऋषिप्रणीत आगम में कहीं संक्षेप से और कहीं विस्तार से पाये जाते हैं। अतएव हमें तो इस ग्रन्थ में न अप्रमाणिता ही प्रतीत होती है और न आगमविरुद्धता ही।''

मालूम होता है ये वाक्य महज लिखने के लिये लिखे गये हैं, अथवा ग्रन्थ का रंग जमाना ही इनका उद्देश्य जान पड़ता है। अन्यथा, ग्रन्थ के परिशीलन, तुलनात्मक अध्ययन और विषय की गहरी

जाँच के साथ इनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। सोनीजी के हृदय में यदि किसी समय विवेक जागृत हुआ तो उन्हें अपने इन वाक्यों और इसी प्रकार के दूसरे वाक्यों के लिये भी, जिनमें से कितने ही ऊपर यथास्थान उद्धृत किये जा चुके हैं, जरूर खेद होगा और आश्चर्य अथवा असंभव नहीं जो वे अपनी भूल को स्वीकार करें। यदि ऐसा हो सका और शैतान ने कान में फूँक न मारी तो यह उनके लिये निःसंदेह बड़े ही गौरव का विषय होगा। अस्तु।

उपसंहार

त्रिवर्णाचार की इस सम्पूर्ण परीक्षा और अनुवादादि विषयक आलोचना पर से सहृदय पाठकों तथा विवेकशील विचारकों पर ग्रन्थ की असलियत खुले बिना नहीं रहेगी और वे सहज ही में यह नतीजा निकाल सकेंगे कि यह ग्रन्थ जिसे भट्टारकजी 'जिनेन्द्रागम' तक लिखते हैं वास्तव में कोई जैन ग्रन्थ नहीं किन्तु जैन ग्रन्थों का कलंक है। इसमें रत्नकरण्डकश्रावकाचारादि जैसे कुछ आर्ष ग्रन्थों के वाक्यों का जो संग्रह किया गया है वह ग्रन्थकर्ता की एक प्रकार की चालाकी है, धोखा है, मुलम्मा है, अथवा विरुद्धकथन रूपी जाली सिक्कों को चलाने आदि का एक साधन है। भट्टारकजी ने उनके सहारे से अथवा उनकी ओट में उन मुसलमानों की तरह अपना उल्लू सीधा करना चाहा है जिन्होंने भारत पर आक्रमण करते समय गौओं के एक समूह को अपनी सेना के आगे कर दिया था। और जिस प्रकार गोहत्या के भय से हिन्दुओं ने उन पर आक्रमण नहीं किया उसी प्रकार शायद आर्षवाक्यों की अवहेलना का कुछ ख्याल करके उन जैन विद्वानों ने जिनके परिचय में यह ग्रन्थ अब तक आता रहा है इसका जैसा चाहिए वैसा विरोध नहीं किया। परन्तु आर्ष वाक्यों के अनुकूल कहे गये दूसरे प्रतिष्ठित विद्वानों के वाक्य अपने अपने स्थान पर माननीय तथा पूजनीय हैं, भट्टारकजी ने उन्हें यहाँ जैनधर्म, जैनसिद्धांत, जैननीति तथा जैन-शिष्टाचार आदि से विरोध रखने वाले और जैनादर्श से गिरे हुए कथनों के साथ में गूँथकर अथवा मिलाकर उनका दुरुपयोग किया है और इस तरह पर समूचे ग्रन्थ को विषमिश्रित भोजन के समान बना दिया है, जो त्याग किये जाने के योग्य है। विषमिश्रित भोजन का विरोध जिस प्रकार भोजन का विरोध नहीं कहलाता उसी तरह पर इस त्रिवर्णाचार के विरोध को भी आर्ष वाक्यों अथवा जैन शास्त्रों का विरोध या उनकी कोई अवहेलना नहीं कहा जा सकता। जो लोग भ्रमवश अभी तक इस ग्रन्थ को किसी और ही रूप में देख रहे थे, जैन शास्त्र के नाम की मुहर लगी होने से इसे साक्षात् जिनवाणी अथवा जिनवाणी के तुल्य समझ रहे थे और इसलिये इसकी प्रकट विरोधी बातों के लिये भी अपनी समझ में न आने वाले अविरोध की कल्पनाएँ करके शांत होते थे, उन्हें अपने उस अज्ञान पर अब जरूर खेद होगा, वे भविष्य में बहुत कुछ सतर्क तथा सावधान हो जायेंगे और यों ही इन त्रिवर्णाचार जैसे भट्टारकीय ग्रन्थों के आगे सिर नहीं झुकायेंगे। वास्तव में, यह सब ऐसे ग्रन्थों का ही प्रताप है जो जैन समाज अपने आदर्श से गिरकर बिल्कुल ही अनुदार, अंधश्रद्धालु तथा संकीर्णहृदय बन गया है, उसमें अनेक प्रकार के मिथ्यात्वादि कुसंस्कारों ने अपना घर बना लिया है और वह बुरी तरह से कुरीतियों के जाल में फँसा हुआ है। साथ ही, उसके व्यक्तियों

में आमतौर पर ढूँढ़ने पर भी जैनत्व का कोई खास लक्षण दिखलाई नहीं पड़ता। इन सब त्रुटियों को दूर करके अपना उद्धार करने के लिये समाज को ऐसे विकृत तथा दूषित साहित्य से अपने व्यक्तियों को सुरक्षित रखना होगा। और ऐसे जाली, ढोंगी तथा कपटी ग्रन्थों का सबल विरोध करके उनके प्रचार को रोकना होगा। साथ ही विचार स्वातंत्र्य को उत्तेजन देना होगा, जिससे सत्य-असत्य, योग्य-अयोग्य और हेयादेय की खुली जाँच हो सके और उसके द्वारा समाज के व्यक्तियों की साम्प्रदायिक मोहमुग्धता तथा अंधी श्रद्धा दूर होकर उन्हें यथार्थ वस्तुस्थिति के परिज्ञान द्वारा अपने विकास का ठीक मार्ग सूझ पड़े और उस पर चलने का यथेष्ट साहस भी बन सके। इन्हीं सदुद्देश्यों को लेकर इस परीक्षा के लिये इतना परश्रिम किया गया है। आशा है इस परीक्षा से बहुतों का अज्ञान दूर होगा, भट्टारकीय साहित्य के कितने ही विषयों पर अच्छा प्रकाश पड़ेगा और उससे जैन अजैन सभी भाई लाभ उठाएँगे।

अंत में सत्य के उपासक सभी जैन विद्वानों से मेरा सादर निवेदन है कि वे लेखक के इस सम्पूर्ण कथन तथा विवेचन की यथेष्ट जाँच करें और साथ ही भट्टारकजी के इस ग्रन्थ पर अब अपने खुले विचार प्रकट करने की कृपा करें। यदि परीक्षा से उन्हें भी यह ग्रन्थ ऐसा ही निकृष्ट तथा हीन जँचे तो समाजहित की दृष्टि से उनका यह जरूर कर्त्तव्य होना चाहिए कि वे इसके विरुद्ध अपनी आवाज उठाएँ और समाज में इसके विरोध को उत्तेजित करें, जिससे धूर्तों की की हुई जैन शासन की यह मलिनता दूर हो सके। इत्यलम्।

सरसावा, जिला-सहारनपुर
ज्येष्ठ कृ. १३, सं० १९८५

जुगलकिशोर मुख्तार

धर्मपरीक्षा की परीक्षा

कृत्वा कृतीः पूर्वकृताः पुरस्तात्प्रस्थादरं ताः पुनरीक्षमाणः।
तथैव जल्पेदय योन्यथा वा स काव्यचोरोऽस्तु स पातकी च॥ -सोमदेवः।

श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय में, श्रीधर्मसागर महोपाध्याय के शिष्य पद्मसागर गणी का बनाया हुआ 'धर्मपरीक्षा' नाम का एक संस्कृत ग्रन्थ है, जिसे, कुछ समय हुआ, सेठ देवचंदलालभाई के जैन पुस्तकोद्धार फंड, बम्बई ने छपाकर प्रकाशित भी किया है। यह ग्रन्थ संवत् १६४५ का बना हुआ है। जैसा कि इसके अंत में दिये हुए निम्न पद्य से प्रकट है–

तद्राज्ये विजयिन्यनन्यमतयः श्रीवाचकाग्रेसरा
द्योतन्ते भुवि धर्मसागरमहोपाध्यायशुद्धा धिया।
तेषां शिष्यकणेन पंचयुगषट्चंद्रांकिते (१६४५) वत्सरे
वेलाकूलपुरे स्थितेन रचितो ग्रन्थोऽयमानन्दतः॥१४८३॥

दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में भी 'धर्मपरीक्षा' नाम का एक ग्रन्थ है जिसे श्रीमाधवसेनाचार्य के शिष्य अमितगति नाम के आचार्य ने विक्रम संवत् १०७० में बनाकर समाप्त किया है। यह ग्रन्थ भी छपकर प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रन्थ का रचना-संवत्-सूचक अन्तिम पद्य इस प्रकार है–

संवत्सराणां विगते सहस्रे ससप्ततौ (१०७०) विक्रमपार्थिवस्य।
इदं निषिध्यान्यमतं समाप्तं, जिनेन्द्रधर्मामितयुक्तिशास्त्रम्॥२०॥

इन दोनों ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय प्रायः एक है। दोनों में 'मनोवेग' और 'पवनवेग' की प्रधान कथा और उसके अंतर्गत अन्य अनेक उपकथाओं का समान रूप से वर्णन पाया जाता है, बल्कि एक का साहित्य दूसरे के साहित्य से यहाँ तक मिलता जुलता है कि एक को दूसरे की नकल कहना कुछ भी अनुचित न होगा। श्वेताम्बर 'धर्मपरीक्षा' जो इस लेख का परीक्षा विषय है, दिगम्बर 'धर्मपरीक्षा' से ५७५ वर्ष बाद की बनी हुई है। इसलिए यह कहने में कुछ भी संकोच नहीं हो सकता कि पद्मसागर गणी ने अपनी धर्मपरीक्षा अमितगति की 'धर्मपरीक्षा' पर से ही बनाई है और वह प्रायः उसकी नकल मात्र है। इस नकल में पद्मसागर गणी ने अमितगति के आशय, ढंग (शैली) और भावों की ही नकल नहीं की, बल्कि उसके अधिकांश पद्यों की प्रायः अक्षरशः नकल कर डाली है और उस सबको अपनी कृति बनाया है, जिसका खुलासा इस प्रकार है–

पद्मसागर गणी की धर्मपरीक्षा में पद्यों की संख्या कुल १४८४ है। इनमें से चार पद्य प्रशस्ति के और छह पद्य मंगलाचरण तथा प्रतिज्ञा के निकालकर शेष १४७४ पद्यों में से १२६० पद्य ऐसे हैं, जो अमितगति की धर्मपरीक्षा से ज्यों के त्यों उठाकर रखे गये हैं। बाकी रहे २१४ पद्य, वे सब अमितगति के पद्यों पर से कुछ परिवर्तन करके बनाये गये हैं। परिवर्तन प्रायः छन्दोभेद की विशेषता को लिये हुए है। अमितगति की धर्मपरीक्षा का पहला परिच्छेद और शेष १९ परिच्छेदों के अंत में कुछ कुछ पद्य

अनुष्टुप् छन्द में न होकर दूसरे ही छंदों में रचे गये हैं। पद्मसागर गणी ने उनमें से जिन जिन पद्यों को लेना उचित समझा है, उन्हें अनुष्टुप् छन्द में बदलकर रख दिया है, और इस तरह पर अपने ग्रन्थ में अनुष्टुप् छंदों की एक लम्बी धारा बहाई है। इस धारा में आपने परिच्छेद-भेद को भी बहा दिया है अर्थात्, अपने ग्रन्थ को परिच्छेद या अध्यायों में विभक्त न करके उसे बिना हॉल्टिंग स्टेशन वाली एक लम्बी और सीधी सड़क के रूप में बना दिया है!! परन्तु अंत में पाँच पद्यों को उनकी रचना पर मोहित होकर उन्हें सहज में अनुष्टुप् छंद रूप न दे सकने आदि किसी कारण विशेष से, ज्यों का त्यों भिन्न भिन्न छंदों में भी रहने दिया है, जिससे अंत में जाकर ग्रन्थ का अनुष्टुप् छंदी नियम भंग हो गया है। अस्तु; इन पाँचों पद्यों में से पहला पद्य नमूने के तौर पर इस प्रकार है-

इदं व्रतं द्वादशभेदभिन्नं, यः श्रावकीयं जिननाथदृष्टम्।
करोति संसारनिपातभीतः प्रयाति कल्याणमसौ समस्तम्॥१४७६॥

यह पद्य अमितगति परीक्षा के १९वें परिच्छेद में नं० ९७ पर दर्ज है। इस पद्य के बाद एक पद्य और इसी परिच्छेद का देकर तीन पद्य २०वें परिच्छेद से उठाकर रखे गये हैं, जिनके नम्बर उक्त परिच्छेद में क्रमशः ८७, ८८, और ८९ दिये हैं, इस २०वें परिच्छेद के शेष सम्पूर्ण पद्यों को, जिनमें धर्म के अनेक नियमों का निरूपण था, ग्रन्थकर्ता ने छोड़ दिया है। इसी प्रकार दूसरे परिच्छेदों से भी कुछ कुछ पद्य छोड़े गये हैं, जिनमें किसी किसी विषय का विशेष वर्णन था। अमितगति धर्मपरीक्षा की पद्य संख्या कुल १९४१ है जिनमें २० पद्यों की प्रशस्ति भी शामिल है, और पद्मसागर धर्मपरीक्षा की पद्य संख्या प्रशस्ति से अलग १४८० है, जैसा कि ऊपर जाहिर किया जा चुका है। इसलिए सम्पूर्ण छोड़े हुए पद्यों की संख्या लगभग ४४० समझनी चाहिए। इस तरह लगभग ४४० पद्यों को निकालकर, २१४ पद्यों में कुछ छंदादिक का परिवर्तन करके और शेष १२६० पद्यों की ज्यों की त्यों नकल उतारकर ग्रन्थकर्ता श्रीपद्मसागर गणी ने इस 'धर्मपरीक्षा' को अपनी कृति बनाने का पुण्य सम्पादन किया है। जो लोग दूसरों की कृति को अपनी कृति बनाने के रूप पुण्य सम्पादन करते हैं उनसे यह आशा रखना तो व्यर्थ है कि वे उस कृति के मूलकर्ता का आदरपूर्वक स्मरण करेंगे, प्रत्युत उनसे जहाँ तक बन पड़ता है, वे उस कृति के मूलकर्ता का नाम छिपाने या मिटाने की चेष्टा किया करते हैं। ऐसा ही यहाँ पर पद्मसागर गणी ने भी किया है। अमितगति का कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करना तो दूर रहा, आपने अपनी शक्तिभर यहाँ तक चेष्टा की है कि ग्रन्थभर में अमितगति का नाम तक न रहने पाये और न दूसरा कोई ऐसा शब्द ही रहने पावे जिससे यह ग्रन्थ स्पष्ट रूप से किसी दिगम्बर जैन की कृति समझ लिया जाये। उदाहरण के तौर पर यहाँ इसके कुछ नमूने दिखलाये जाते हैं-

१. श्रुत्वा वाचमशेषकल्मषमुषां साधोर्गुणाशंसिनीं
नत्वा केवलिपादपंकजयुगं मर्त्यामरेन्द्रार्चितम्।
आत्मानं व्रतरत्नभूषितमसौ चक्रे विशुद्धाशयो॥
भव्यः प्राप्य यतेर्गिरोऽमितगतेर्व्यर्थाः कथं कुर्वते॥१०१॥

यह पद्य अमितगति की धर्मपरीक्षा के १९वें परिच्छेद का अंतिम पद्य है। इसमें मुनिमहाराज का उपदेश सुनकर पवनवेग के श्रावकव्रत धारण करने का उल्लेख करते हुए, चौथे चरण में लिखा है कि ''भव्यपुरुष अपरिमित ज्ञान के धारक मुनि के उपदेश को पाकर उसे व्यर्थ कैसे कर सकते हैं।'' साथ ही, इस चरण में अमितगति ने अन्यपरिच्छेदों के अंतिम पद्यों के समान युक्तिपूर्वक गुप्तरीति से अपना नाम भी दिया है। पद्मसागर गणी को अमितगति का यह गुप्त नाम भी असह्य हुआ और इसलिए उन्होंने अपनी धर्मपरीक्षा में, इस पद्य को नं० १४७७ पर ज्यों का त्यों उद्धृत करते हुए, इसके अंतिम चरण को निम्न प्रकार से बदल दिया है–

''मित्रादुत्तमतो न किं भुवि नरः प्राप्नोति सद्वस्त्वहो।''

इस तबदीली से प्रकट है कि यह केवल अमितगति का नाम मिटाने की गरज से ही की गई है। अन्यथा, इस परिवर्तन की यहाँ पर कुछ भी जरूरत न थी।

२. त्यक्तबाह्यान्तरग्रन्थों निःकषायो जितेन्द्रियः।
परीषहसहः साधुर्जातरूपधरो मतः॥१८-७६॥

इस पद्य में अमितगति ने साधु का लक्षण 'जातरूपधरः' अर्थात् नग्न दिगम्बर बतलाया है। साधु का लक्षण नग्न दिगम्बर प्रतिपादन करने से कहीं दिगम्बर जैनधर्म को प्रधानता प्राप्त न हो जाये, अथवा यह ग्रन्थ किसी दिगम्बर जैन की कृति न समझ लिया जाये, इस भय से गणी जी महाराज ने इस पद्य की कायापलट की है वह इस प्रकार है–

त्यक्तबाह्यान्तरो ग्रन्थों निष्क्रियो विजितेन्द्रियः।
परीषहसहः साधुर्भवाम्भोनिधितारकः॥१३७६॥

यहाँ 'जातरूपधरो मतः' के स्थान में 'भवाम्भोनिधितारकः' (संसारसमुद्र से पार करने वाला) ऐसा परिवर्तन किया गया है। साथ ही, 'निःकषायः' की जगह 'निष्क्रियः' भी बनाया गया है, जिसका कोई दूसरा ही रहस्य होगा।

३. कन्ये नन्दासुनन्दाख्ये कच्छस्य नृपतेर्वृषा।
जिनेन योजयामास नीतिकीर्ती इवामले॥१८-१४॥

दिगम्बर सम्प्रदाय में, ऋषभदेव का विवाह राजा कच्छ की नन्दा और सुनन्दा नाम की दो कन्याओं के साथ होना माना जाता है। इसी बात को लेकर अमितगति ने उसका ऊपर के पद्य में उल्लेख किया है। परन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय में, ऋषभदेव की स्त्रियों के नामों में कुछ भेद करते हुए, दोनों ही स्त्रियों को राजा कच्छ की पुत्रियाँ नहीं माना है। बल्कि सुमंगला को स्वयं ऋषभदेव के साथ उत्पन्न हुई उनकी सगी बहन बतलाया और सुनन्दा को एक दूसरे युगलिये की बहन बयान किया है जो अपनी बहन के साथ खेलता हुआ अचानक बाल्यावस्था में ही मर गया था। इसलिए पद्मसागर जी ने अमितगति के उक्त पद्य को बदलकर उसे नीचे का रूप दे दिया है, जिससे यह ग्रन्थ दिगम्बर ग्रन्थ न समझा जाकर श्वेताम्बर समझ लिया जाये–

सुमंगलासुनन्दाख्ये कन्ये सह पुरन्दरः।
जिनेन योजयामास नीतिकीर्ती इवामले॥१३४७॥

इस प्रकार, यद्यपि ग्रन्थकर्ता महाशय ने अमितगति की कृति पर अपना कर्तृत्व और स्वामित्व स्थापित करने और उसे एक श्वेताम्बर ग्रन्थ बनाने के लिए बहुत कुछ अनुचित चेष्टाएँ की हैं, परन्तु तो भी वे इस (धर्मपरीक्षा) ग्रन्थ को पूर्णतया श्वेताम्बर ग्रन्थ नहीं बना सके। बल्कि अनेक पद्यों को निकाल डालने, परिवर्तित कर देने तथा ज्यों का त्यों कायम रखने की वजह से उनकी यह रचना कुछ ऐसी विलक्षण और दोषपूर्ण हो गई है, जिससे ग्रन्थ की चोरी का सारा भेद खुल जाता है। साथ ही, ग्रन्थकर्ता की योग्यता और उनके दिगम्बर तथा श्वेताम्बर धर्म सम्बन्धी परिज्ञान आदि का भी अच्छा परिचय मिल जाता है। पाठकों के सन्तोषार्थ यहाँ इन्हीं सब बातों का कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है–

(१) अमितगति धर्मपरीक्षा के पाँचवें परिच्छेद में, 'वक्र' नाम के द्विष्ट पुरुष की कथा का वर्णन करते हुए, एक स्थान पर लिखा है जिस समय 'वक्र' मरणासन्न हुआ तब उसने अपने 'स्कंद' नामक शत्रु का समूल नाश करने के लिए पुत्र पर अपनी आंतरिक इच्छा प्रकट की और उसे यह उपाय बतलाया कि ''जिस समय मैं मर जाऊँ उस समय तुम मुझे मेरे शत्रु के खेत में ले जाकर लकड़ी के सहारे खड़ा कर देना। साथ ही अपने समस्त गाय, भैंस तथा घोड़ों के समूह को उसके खेत में छोड़ देना, जिससे वे उसके समस्त धान्य का नाश कर देवें। और तुम किसी वृक्ष या घास की ओट में मेरे पास बैठकर स्कन्द के आगमन की प्रतीक्षा करते रहना। जिस वक्त वह क्रोध में आकर मुझ पर प्रहार करे तब तुम सब लोगों को सुनाने के लिए जोर से चिल्ला उठना और कहना कि स्कन्द ने मेरे पिता को मार डाला है। ऐसा करने पर राजा स्कंद द्वारा मुझे मरा जानकर स्कंद को दण्ड देगा, जिससे वह पुत्र सहित मर जायेगा।'' इस प्रकरण के तीन पद्य इस प्रकार हैं–

एष यथा क्षयमेति समूलं कंचन कर्म तथा कुरु वत्स।
येन वसामि चिरं सुरलोके हृष्टमनाः कमनीयशरीरः॥८८॥
क्षेत्रममुष्य विनीय मृतं मां यष्टिनिषण्णतनुं सुत कृत्वा।
गौमहिषीहयवृन्दमशेषं शस्यसमूहविनाशि विमुंच॥८९॥
वृक्षतृणान्तरितो मम तीरे तिष्ठ निरीक्षितुमागतिमस्य।
कोपपरेण कृते मम घाते पूत्कुरु सर्वजनश्रवणाय॥९०॥

इन तीनों पद्यों के स्थान में पद्मसागर गणी ने अपनी धर्म परीक्षा में निम्नलिखित दो पद्य अनुष्टुप् छन्द में दिये हैं–

समूलं क्षयमेत्येष यथा कर्म तथा कुरु।
वसामि यत्स्फुरद्देहः स्वर्गे हृष्टमनाः सुखम्॥२८३॥
वृक्षाद्यन्तरितस्तिष्ठ त्वमस्यागतिमीक्षितुम्।
आयातेऽस्मिन्मृतं हत्वा मां पूत्कुरु जनश्रुतेः॥२८४॥

इन पद्यों का अमितगति के पद्यों के साथ मिलान करने पर पाठकों को सहज में ही यह मालूम हो जायेगा कि दोनों पद्य क्रमशः अमितगति के पद्य नं० ८८ और ९० पर से कुछ छील छालकर बनाये गये हैं और इनमें अमितगति के शब्दों की प्रायः नकल पाई जाती है। परन्तु साथ ही उन्हें यह जानने में भी विलम्ब न होगा कि अमितगति के पद्य नं० ८९ को पद्मसागर जी ने बिल्कुल ही छोड़ दिया है, उसके स्थान में कोई दूसरा पद्य भी बनाकर नहीं रखा। इसलिए उनका पद्य नं० २८४ बड़ा ही विचित्र मालूम होता है। उसमें उस उपाय के सिर्फ उत्तरार्द्ध का कथन है, जो वक्र ने मरते समय अपने पुत्र को बतलाया था। उपाय का पूर्वार्द्ध न होने से यह पद्य इतना असंबंद्ध और बेढंगा हो गया है कि प्रकृत कथन से उसकी कुछ भी संगति नहीं बैठती। इसी प्रकार के पद्य और भी अनेक स्थानों पर पाये जाते हैं, जिनके पहले के कुछ पद्य छोड़ दिये गये हैं और इसलिये वे पर कटे हुए कबूतर के समान लँडूरे मालूम होते हैं।

(२) अमितगति ने अपनी धर्मपरीक्षा के १५वें परिच्छेद में, 'युक्तितो घटते यन्न' इत्यादि पद्य नं० ४७ के बाद, जिसे पद्मसागर जी ने भी अपने ग्रन्थ में नं० १०८९ पर ज्यों का त्यों उद्धृत किया है, नीचे लिखे दो पद्यों द्वारा एक स्त्री के पंच भर्त्तार होने को अति निंद्य कर्म ठहराया है, और इस तरह पर द्रोपदी के पंचपति होने का निषेध किया है। वे दोनों पद्य इस प्रकार हैं–

सम्बन्धा भुवि विद्यन्ते सर्वे सर्वस्य भूरिशः।
भर्तृणां क्वापि पंचानां नैकया भार्यया पुनः॥४८॥
सर्वे सर्वेषु कुर्वन्ति संविभागं महाधियः।
महिलासंविभागस्तु निन्द्यानामपि निन्दितः॥४९॥

पद्मसागर जी ने यद्यपि इन पद्यों से पहले और पीछे के बहुत से पद्यों की एक दम ज्यों की त्यों नकल कर डाली है, तो भी आपने इन दोनों पद्यों को अपनी धर्मपरीक्षा में स्थान नहीं दिया। क्योंकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में, हिन्दुओं की तरह, द्रौपदी के पंचभर्त्तार ही माने जाते हैं। पाँचों पाण्डवों के गले में द्रौपदी ने वरमाला डाली थी और उन्हें अपना पति बनाया था, ऐसा कथन श्वेताम्बरों के 'त्रिशष्ठिशलाका-पुरुषचरित' आदि अनेक ग्रन्थों में पाया जाता है। उक्त दोनों पद्यों को स्थान देने से यह ग्रन्थ कहीं श्वेताम्बर धर्म के अहाते से बाहर न निकल जाये, इसी भय से शायद गणीजी महाराज ने उन्हें स्थान देने का साहस नहीं किया। परन्तु पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि गणीजी ने अपने ग्रन्थ में उस श्लोक को ज्यों का त्यों रहने दिया है जो आक्षेप के रूप में ब्राह्मणों के सन्मुख उपस्थित किया गया था और जिसका प्रतिवाद करने के लिए ही अमितगति आचार्य को उक्त दोनों पद्यों के लिखने की जरूरत पड़ी थी। वह श्लोक यह है–

द्रौपद्याः पंच भर्तारः कथ्यन्ते यत्र पाण्डवाः।
जनन्यास्तव को दोषस्तत्र भर्तृद्वये सति॥९७९॥

इस श्लोक में द्रौपदी के पंचभर्त्तार होने की बात कटाक्ष रूप से कही गई है। जिसका आगे

प्रतिवाद होने की जरूरत थी और जिसे गणीजी ने नहीं किया। यदि गणीजी को एक स्त्री के अनेक पति होना अनिष्ट न था तब आपको अपने ग्रन्थ में यह श्लोक भी रखना उचित न था और न इस विषय की कोई चर्चा ही चलाने की जरूरत थी। परन्तु आपने ऐसा न करके अपनी धर्मपरीक्षा में उक्त श्लोक और उसके सम्बन्ध की दूसरी चर्चा को, बिना किसी प्रतिवाद के ज्यों का त्यों स्थिर रखा है, इसलिए कहना पड़ता है कि आपने ऐसा करके निःसंदेह भारी भूल की है। और इससे आपकी योग्यता तथा विचारशीलता का भी बहुत कुछ परिचय मिल जाता है।

(३) श्वेताम्बरी धर्मपरीक्षा में, एक स्थान पर, ये तीन पद्य दिये हैं–

विलोक्य वेगतः खर्या क्रमस्योपरि मे क्रमः।
भग्नो मुशलमादाय दत्तनिष्ठुरघातया॥५१५॥
अथैतयोर्महाराटिः प्रवृत्ता दुर्निवारणा।
लोकानां प्रेक्षणीभूता राक्षस्योरिव रुष्टयोः॥५१६॥
अरे! रक्षतु ते पादं त्वदीया जननी स्वयम्।
रुष्टखर्या निगद्येति पादो भग्नो द्वितीयकः॥५१७॥

इन पद्यों में से पहला पद्य ज्यों का त्यों वही है जो दिगम्बरी धर्मपरीक्षा के ९वें परिच्छेद में नं० २७ पर दर्ज है। दूसरे पद्य में सिर्फ 'इत्थं तयोः' के स्थान में 'अथैतयोः' का और तीसरे पद्य में 'वोडे' के स्थान में 'अरे' और 'रुष्टयक्ष्र्या' के स्थान में 'रुष्टखर्या' का परिवर्तन किया गया है। पिछले दोनों पद्य दिगम्बरी धर्मपरीक्षा के उक्त परिच्छेद में क्रमशः नं० ३२ और ३३ पर दर्ज हैं। इन दोनों पद्यों से पहले अमितगति ने चार पद्य और दिये थे और जिनमें 'ऋक्षी' तथा 'खरी' नाम की दोनों स्त्रियों के वाग्युद्ध का वर्णन था उन्हें पद्मसागर जी ने अपनी धर्मपरीक्षा से निकाल दिया है। अस्तु और सब बातों को छोड़कर, यहाँ पाठकों का ध्यान उस परिवर्तन की ओर आकर्षित किया जाता है जो 'रुष्टयक्ष्र्या' के स्थान में 'रुष्टखर्या' बनाकर किया गया है। यह परिवर्तन वास्तव में बड़ा ही विलक्षण है। इसके द्वारा यह विचित्र अर्थ घटित किया गया है कि जिस खरी नाम की स्त्री ने पहले ऋक्षी के उपास्य चरण को तोड़ डाला था उसी ने ऋक्षी को यह चैलेंज देते हुए कि ''ले! अब तू और तेरी माँ अपने चरण की रक्षा कर'' स्वयं अपने उपास्य दूसरे चरण को भी तोड़ डाला! परन्तु खरी को अपने उपास्य चरण पर क्रोध आने और उसे तोड़ डालने की कोई वजह न थी। यदि ऐसा मान भी लिया जाये तो उक्त चैलेंज में जो कुछ कहा गया है वह सब व्यर्थ पड़ता है। क्योंकि जब खरी ऋक्षी के उपास्य चरण को पहले ही तोड़ चुकी थी, तब उसका ऋक्षी से यह कहना कि ''ले! अब तू अपने चरण की रक्षा कर मैं उस पर आक्रमण करती हूँ'' बिल्कुल ही भद्दा और असमंजस मालूम होता है। वास्तव में, दूसरा चरण ऋक्षी के द्वारा, अपना बदला चुकाने के लिए, तोड़ा गया था और उसी ने खरी को ललकार कर उपर्युक्त वाक्य कहा था। ग्रन्थकर्ता ने इस पर कुछ भी ध्यान न देकर बिना सोचे समझे वैसे ही परिवर्तन कर डाला, जो बहुत ही भद्दा मालूम होता है।

(४) अमितगति धर्मपरीक्षा के छठे परिच्छेद में, 'यज्ञा' ब्राह्मणी और उसके जारपति 'बटुक' का उल्लेख करते हुए, एक पद्य इस प्रकार से दिया है–

प्रपेदे स वचस्तस्या निःशेषं हृष्टमानसः।
जायेन्ते नेदृशे कार्ये दुष्प्रबोधा हि कामिनः॥४४॥

इस पद्य में लिखा है कि 'उस कामी बटुक ने यज्ञा की आज्ञा को (जो अपने निकल भागने का उपाय करने के लिए दो मुर्दे लाने के विषय में थी) बड़ी प्रसन्नता के साथ पालन किया, सच है कामी पुरुष ऐसे कार्यों में दुष्प्रबोध नहीं होते। अर्थात् वे अपने काम की बात को कठिनता से समझने वाले न होकर शीघ्र समझ लेते हैं। पद्मसागर जी ने यही पद्य अपनी धर्मपरीक्षा में नं० ३१५ पर दिया है परन्तु साथ ही इसके उत्तरार्द्ध को निम्न प्रकार से बदलकर रखा है–

''न जाता तस्य शंकापि दुष्प्रबोधा हि कामिनः॥ ''

इस परिवर्तन के द्वारा यह सूचित किया गया है कि 'उस बटुक को उक्त आज्ञा के पालन में शंका भी नहीं हुई, सच है कामी लोग कठिनता से समझने वाले होते हैं।' परन्तु बटुक ने तो यज्ञा की आज्ञा को पूरी तौर से समझकर उसे बिना किसी शंका के प्रसन्नता के साथ शीघ्र पालन किया है तब वह कठिनता से समझने वाला 'दुष्प्रबोध' क्यों? यह बात बहुत ही खटकनेवाली है, और इसलिए ऊपर का परिवर्तन बड़ा ही बेढंगा मालूम होता है। नहीं मालूम ग्रन्थकर्ता ने इस परिवर्तन को करके पद्य में कौनसी खूबी पैदा की और क्या लाभ उठाया! इस प्रकार के व्यर्थ परिवर्तन और भी अनेक स्थानों पर पाये जाते हैं जिनसे ग्रन्थकर्ता की योग्यता और व्यर्थाचरण का अच्छा परिचय मिलता है।

श्वेताम्बरशास्त्र-विरुद्ध कथन

(५) पद्मसागर गणी ने, अमितगति के पद्यों की ज्यों की त्यों नकल करते हुए, एक स्थान पर ये दो पद्य दिये हैं–

क्षुधा तृष्णा भयद्वेषौ रागो मोहो मदो गदः।
चिन्ता जन्म जरा मृत्युर्विषादो विस्मयो रतिः॥८९२॥
खेदः स्वेदस्तथा निद्रा दोषाः साधारणा इमे।
अष्टादशापि विद्यन्ते सर्वेषां दुःखहेतवः॥८९३॥

इन पद्यों में उन १८ दोषों का नामोल्लेख है, जिनसे दिगम्बर लोग अर्हन्तदेवों को रहित मानते हैं। उक्त दोषों का, २१ पद्यों में, कुछ विवरण देकर फिर ये दो पद्य और दिये हैं–

एतैर्ये पीडिता दोषैस्तैर्मुच्यन्ते कथं परे।
सिंहानां हतनागानां न खेदोस्ति मृगक्षये॥९१५॥
सर्वे रागिणि विद्यन्ते दोषा नात्रास्ति संशयः।
रूपिणीव सदा द्रव्ये गन्धस्पर्शरसादयः॥९१६॥

इन पद्यों में लिखा है कि ''जो देव इन क्षुधादिक दोषों से पीड़ित हैं, वे दूसरों को दुःखों से मुक्त

कैसे कर सकते है? क्योंकि हाथियों को मारने वाले सिंहों को मृगों के मारने में कुछ कष्ट नहीं होता। जिस प्रकार पुद्‌गल द्रव्य में स्पर्श, रस और गंधादिक गुण हमेशा पाए जाते हैं, उसी प्रकार ये सब दोष भी रागी देवों में पाये जाते हैं।'' इसके बाद एक पद्य में ब्रह्मादिक देवताओं पर कुछ आक्षेप करके गणीजी लिखते हैं कि ''सूर्य से अंधकार के समूह की तरह जिस देवता से ये सम्पूर्ण दोष नष्ट हो गये हैं वही सब देवों का अधिपति अर्थात् देवाधिदेव है और संसारी जीवों के पापों का नाश करने में समर्थ है।'' यथा–

एते नष्टा यतो दोषा भानोरिव तमश्चयाः।
स स्वामी सर्वदेवानां पापनिर्दलनक्षमः॥९१८॥

इस प्रकार गणीजी महाराज ने देवाधिदेव अर्हन्त भगवान् का १८ दोषों से रहित वह स्वरूप प्रतिपादन किया है जो दिगम्बर सम्प्रदाय में माना जाता है। परन्तु यह स्वरूप श्वेताम्बर सम्प्रदाय के स्वरूप से विलक्षण मालूम होता है, क्योंकि श्वेताम्बरों के यहाँ प्रायः दूसरे ही प्रकार के १८ दोष माने गये हैं। जैसा कि मुनि आत्माराम जी के 'तत्त्वादर्श' में उल्लिखित नीचे लिखे दो पद्यों से प्रकट है–

अंतरायदानलाभवीर्यभोगोपभोगगाः ।
हासो रत्यरती भीतिर्जुगुप्सा शोक एव च॥१॥
कामो मिथ्यात्वमज्ञानं निद्रा च विरतिस्तथा।
रागो द्वेषश्च नो दोषास्तेषामष्टदशाऽप्यमी॥२॥

इन पद्यों में दिये हुए १८ दोषों के नामों में से रति, भीति (भय), निद्रा, राग और द्वेष ये पाँच दोष तो ऐसे हैं जो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में समानरूप से माने गये हैं। शेष दानान्तराय, लाभान्तराय, वीर्यान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, हास्य, अरति, जुगुप्सा, शोक, काम, मिथ्यात्व, अज्ञान और विरति नाम के १३ दोष दिगम्बरों के माने हुए क्षुधा, तृषा, मोह, मद, रोग, चिंता, जन्म, जरा, मृत्यु, विषाद, विस्मय, खेद और स्वेद नाम के दोषों से भिन्न है। इसलिए गणीजी का उपर्युक्त कथन श्वेताम्बर शास्त्रों के विरुद्ध है। मालूम होता है कि अमितगति धर्मपरीक्षा के १३वें परिच्छेद से इन सब पद्यों को ज्यों का त्यों उठाकर रखने की धुन में आपको इस विरुद्धता का कुछ भी भान नहीं हुआ।

(६) एक स्थान पर, पद्मसागर जी लिखते हैं कि 'कुन्ती से उत्पन्न हुए पुत्र तपश्चरण करके मोक्ष गये और मद्री के दोनों पुत्र मोक्ष में न जाकर सर्वार्थसिद्धि को गये'। यथा–

कुन्तीशरीरजाः कृत्वा तपो जग्मुः शिवास्पदम्।
मद्रीशरीरजौ भव्यौ सर्वार्थसिद्धिमीयतुः॥१०९५॥

यह कथन यद्यपि दिगम्बर सम्प्रदाय की दृष्टि से सत्य है और इसीलिए अमितगति ने अपने ग्रन्थ के १५वें परिच्छेद में इसे नं० ५५ पर दिया है। परन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय की दृष्टि से यह कथन भी विरुद्ध है। श्वेताम्बर के 'पाण्डवचरित्र' आदि ग्रन्थों में 'मद्री' के पुत्रों का भी मोक्ष जाना लिखा है

और इस तरह पर पाँचों ही पाण्डवों के लिए मुक्ति का विधान किया है।

(७) पद्मसागर जी ने अपनी धर्मपरीक्षा में एक स्थान पर यह पद्य दिया है–

चार्वाकदर्शनं कृत्वा भूपौ शुक्रवृहस्पती।
प्रवृतौ स्वेच्छया कर्तुं स्वकीयेन्द्रियपोषणम्॥१३६५॥

इसमें शुक्र और बृहस्पति नाम के दो राजाओं को 'चार्वाक' दर्शन का चलाने वाला लिखा है, परन्तु मुनि आत्माराम जी ने, अपने 'तत्त्वादर्श' ग्रन्थ के चौथे परिच्छेद में, 'शीलतरंगिणी' नामक किसी श्वेताम्बरशास्त्र के आधार पर, चार्वाक मत की उत्पत्ति विषयक जो कथा दी है उससे यह मालूम होता है कि चार्वाक मत किसी राजा या क्षत्रिय पुरुष के द्वारा न चलाया जाकर केवल बृहस्पति नाम के एक ब्राह्मण द्वारा प्रवर्तित हुआ है, जो अपनी बाल विधवा बहन से भोग करना चाहता था। और इसलिए बहन के हृदय से पाप तथा लोक लज्जा का भय निकालकर अपनी इच्छा पूर्ति की गरज से ही उसने इस मत के सिद्धांत की रचना की थी। इस कथन से पद्मसागर जी का उपर्युक्त कथन भी श्वेताम्बर शास्त्रों के विरुद्ध पड़ता है।

(८) इस श्वेताम्बर 'धर्मपरीक्षा' में, पद्य नं० ७८२ से ७९९ तक, गधे के शिरच्छेद का इतिहास बतलाते हुए, लिखा है कि–

''ज्येष्ठा के गर्भ से उत्पन्न हुआ शंभु (महादेव) सात्यकि का बेटा था। घोर तपश्चरण करके उसने बहुत-सी विद्याओं का स्वामित्व प्राप्त किया था। विद्याओं के वैभव को देखकर वह दसवें वर्ष में भ्रष्ट हो गया। उसने चारित्र (मुनिधर्म) को छोड़कर विद्याधरों की आठ कन्याओं से विवाह किया। परन्तु वे विद्याधरों की आठों ही पुत्रियाँ महादेव के साथ रति कर्म करने में समर्थ न हो सकी और मर गई। तब महादेव ने पार्वती को रतिकर्म में समर्थ समझकर उसकी याचना की और उसके साथ विवाह किया। एक दिन पार्वती के साथ भोग करते हुए उसकी 'त्रिशूल' विद्या नष्ट हो गई। उसके नष्ट होने पर वह 'ब्राह्मणी' नाम की दूसरी विद्या को सिद्ध करने लगा। जब वह 'ब्राह्मणी' विद्या की प्रतिमा को सामने रखकर जप कर रहा था तब उस विद्या ने अनेक प्रकार की विक्रिया करनी शुरू की। उस विक्रिया के समय जब महादेव ने एक बार उस प्रतिमा पर दृष्टि डाली तो उसे प्रतिमा के स्थान पर एक चतुर्मुखी मनुष्य दिखलाई पड़ा, जिसके मस्तक पर गधे का सिर था। उस गधे के सिर को बढ़ता हुआ देखकर उसने शीघ्रता के साथ उसे काट डाला। परन्तु वह सिर महादेव के हाथ में चिपट गया, नीचे नहीं गिरा। तब ब्राह्मणी विद्या महादेव की साधना को व्यर्थ करके चली गई। इसके बाद रात्रि को महादेव ने श्रीवर्धमानस्वामी को श्मशान भूमि में ध्यानारूढ़ देखकर और उन्हें विद्यारूपी मनुष्य समझकर उन पर उपद्रव किया। प्रातःकाल जब उसे यह मालूम हुआ कि वे श्रीवर्धमान जिनेन्द्र थे तब उसे अपनी कृति पर बहुत पश्चाताप हुआ। उसने भगवान् की स्तुति की और उनके चरण छुए। चरणों को छूते ही उसके हाथ से चिपटा हुआ वह गधे का सिर गिर पड़ा।''

यह सब कथन श्वेताम्बर शास्त्रों के बिल्कुल विरुद्ध है। श्वेताम्बरों के 'आवश्यक' सूत्र में

महादेव की जो कथा लिखी है और जिसको मुनि आत्माराज जी ने अपने 'तत्त्वादर्श' नामक ग्रन्थ के १२वें परिच्छेद में उद्धृत किया है उससे यह सब कथन बिल्कुल ही विलक्षण मालूम होता है। उसमें महादेव (महेश्वर) के पिता का नाम 'सात्यकि' न बतलाकर स्वयं महादेव का ही असली नाम 'सात्यकि' प्रकट किया है और पिता का नाम 'पेढाल' परिव्राजक बतलाया है। लिखा है कि, 'पेढाल' ने अपनी विद्याओं का दान करने के लिए किसी ब्रह्मचारिणी से एक पुत्र उत्पन्न करने की जरूरत समझकर 'ज्येष्ठा' नाम की साध्वी से व्यभिचार किया और उससे सात्यकि नाम के महादेव पुत्र को उत्पन्न करके उसे अपनी सम्पूर्ण विद्याओं का दान कर दिया'। साथ ही, यह भी लिखा है कि ''वह सात्यकि नाम का महेश्वर महावीर भगवान् का अविरतसम्यग्दृष्टि श्रावक था''। इसलिए उसने किसी चारित्र का पालन किया, मुनि दीक्षा ली, घोर तपश्चरण किया और उससे भ्रष्ट हुआ, इत्यादि बातों का उसके साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है। महादेव ने विद्याधरों की आठ कन्याओं से विवाह किया, वे मर गईं, तब पार्वती से विवाह किया, पार्वती से भोग करते समय त्रिशूल विद्या नष्ट हो गई, उसके स्थान में ब्राह्मणी विद्या को सिद्ध करने की चेष्टा की गई, विद्या की विक्रिया, गधे के सिर का हाथ से चिपट जाना और फिर उसका वर्धमान स्वामी के चरण छूने पर छूटना, इन सब बातों का भी वहाँ कोई उल्लेख नहीं है। इनके स्थान में लिखा है कि ''महादेव बड़ा कामी और व्यभिचारी था, वह अपनी विद्या के बल से जिस किसी की कन्या या स्त्री से चाहता था विषय-सेवन कर लेता था, लोग उसकी विद्या के भय से कुछ बोल नहीं सकते थे, जो कोई बोलता था उसे वह मार डालता था'' इत्यादि। अंत में यह भी लिखा है कि ''उमा (पार्वती) एक वेश्या थी, महादेव उस पर मोहित होकर उसी के घर रहने लगा था। और 'चंद्रप्रद्योत' नाम के राजा ने, उमा से मिलकर और उसके द्वारा यह भेद मालूम करके कि भोग करते समय महादेव की समस्त विद्याएँ उससे अलग हो जाती हैं, महादेव को उमासहित भोगमग्नावस्था में अपने सुभटों द्वारा मरवा डाला था और इस तरह नगर का उपद्रव दूर किया था''। इसके बाद महादेव की उसी भोगावस्था की पूजा प्रचलित होने का कारण बतलाया है। इससे पाठक भले प्रकार समझ सकते हैं कि पद्मसागर जी गणी का उपर्युक्त कथन श्वेताम्बर शास्त्रों के इस कथन से कितना विलक्षण और विभिन्न है और वे कहाँ तक इस धर्मपरीक्षा को श्वेताम्बर का रूप देने में समर्थ हो सके हैं। गणीजी ने बिना सोचे समझे ही यह सब प्रकरण दिगम्बर धर्मपरीक्षा के १२वें परिच्छेद से ज्यों का त्यों नकल कर डाला है। सिर्फ एक पद्य नं० ७८४ में 'पूर्वे' के स्थान में 'वर्षे' का परिवर्तन किया है। अमितगति ने 'दशमे पूर्वे' इस पद के द्वारा महादेव को दशपूर्व का पाठी सूचित किया था। परन्तु गणी जी को अमितगति के इस प्रकरण की सिर्फ इतनी ही बात पसंद नहीं आई और इसलिए उन्होंने उसे बदल डाला है।

(९) पद्मसागर जी, अपनी धर्मपरीक्षा में, जैन शास्त्रानुसार 'कर्णराज' की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि-

''एक दिन व्यास राजा के पुत्र पाण्डु को वन में क्रीड़ा करते हुए किसी विद्याधर की

'काममुद्रिका' नाम की एक अंगूठी मिली। थोड़ी देर में उस अंगूठी का स्वामी चित्राङ्ग नाम का विद्याधर अपनी अंगूठी को ढूँढ़ता हुआ वहाँ आ गया। पाण्डु ने उसे उसकी वह अंगूठी दे दी। विद्याधर पाण्डु की इस प्रकार निःस्पृहता को देखकर बन्धुत्वभाव को प्राप्त हो गया और पाण्डु को कुछ विषण्णचित्त जानकर उसका कारण पूछने लगा। इस पर पाण्डु ने कुन्ती से विवाह करने की अपनी उत्कट इच्छा और उसके न मिलने को अपने विषाद का कारण बतलाया। यह सुनकर उस विद्याधर ने पाण्डु को अपनी वह काममुद्रिका देकर कहा कि इसके द्वारा तुम कामदेव का रूप बनाकर कुन्ती का सेवन करो, पीछे गर्भ रह जाने पर कुन्ती का पिता तुम्हारे ही साथ उसका विवाह कर देगा। पाण्डु काममुद्रिका को लेकर कुन्ती के घर गया और बराबर सात दिन तक कुन्ती के साथ विषय सेवन करके उसने उसे गर्भवती कर दिया। कुन्ती की माता को जब गर्भ का हाल मालूम हुआ तब उसने गुप्त रूप से प्रसूति कराई और प्रसव हो जाने पर बालक को एक मंजूषा में बन्द करके गंगा में बहा दिया। गंगा में बहता वह मंजूषा चंपापुर के राजा 'आदित्य' को मिला, जिसने उस मंजूषा में से उक्त बालक को निकालकर उसका नाम 'कर्ण' रखा और अपने कोई पुत्र न होने के कारण बड़े ही हर्ष और प्रेम के साथ उसका पालन-पोषण किया। आदित्य के मरने पर वह बालक चम्पापुर का राजा हुआ। चूँकि 'आदित्य' नाम के राजा ने कर्ण का पालन पोषण करके उसे वृद्धि को प्राप्त किया था इसलिए कर्ण 'आदित्यज' कहलाता है, वह ज्योतिष्क जाति के सूर्य का पुत्र कदापि नहीं है।[1]

पद्मसागर जी का यह कथन भी श्वेताम्बर शास्त्रों के प्रतिकूल है। श्वेताम्बरों के श्रीदेव विजयगणिविरचित 'पांडवचरित्र' में पाण्डु को राजा 'विचित्रवीर्य' का पुत्र लिखा है और उसे 'मुद्रिका' देने वाले विद्याधर का नाम 'विशालाक्ष' बतलाया है। साथ ही यह भी लिखा है कि 'वह विद्याधर अपने किसी शत्रु के द्वारा एक वृक्ष के नितम्ब में लोहे की कीलों से कीलित था। पाण्डु ने उसे देखकर उसके शरीर से वे लोहे की कीलें खींचकर निकाली, चंदनादिक के लेप से उसे सचेत किया और उसके घावों को अपनी मुद्रिका के रत्नजल से धोकर अच्छा किया। इस उपकार के बदले में विद्याधर ने पाण्डु को, उसकी चिन्ता मालूम करके, अपनी एक अंगूठी दी और कहा कि, यह अंगूठी स्मरण मात्र से सब मनोवांछित कार्यों को सिद्ध करने वाली है, इसमें अदृश्यीकरण आदि अनेक महान् गुण हैं। पाण्डु ने घर पर आकर उस अंगूठी से प्रार्थना की कि 'हे अंगूठी! मुझे कुन्ती के पास ले चल,' अंगूठी ने उसे कुन्ती के पास पहुँचा दिया। उस समय कुन्ती, यह मालूम करके कि उसका विवाह पाण्डु के साथ नहीं होता है, गले में फाँसी डालकर मरने के लिए अपने उपवन में एक अशोक वृक्ष के नीचे लटक रही थी। पाण्डु ने वहाँ पहुँचते ही गले से उसकी फाँसी काट डाली और कुन्ती के सचेत तथा परिचित हो जाने पर उसके साथ भोग किया। उस एक दिन के भोग से कुन्ती को गर्भ रह गया। बालक का जन्म होने पर धात्री की सम्मति से कुन्ती ने उसे मंजूषा में रखकर गंगा में बहा

---

१. यह सब कथन नं० १०४९ से १०९० तक के पद्यों में वर्णित है और अमितगति धर्मपरीक्षा के १५वें परिच्छेद से उठाकर रखा गया है।

दिया। कुन्ती की माता को, कुन्ती की आकृति आदि देखकर, पूछने पर पीछे से इस कृत्य की खबर हुई। वह मंजूषा 'अतिरथि' नाम के एक सारथि को मिला, जिसने बालक को उसमें से निकालकर उसका नाम 'कर्ण' रखा। चूँकि उस सारथि की स्त्री को मंजूषा मिलने के उसी दिन प्रातःकाल, स्वप्न में आकर सूर्य ने यह कहा था कि हे वत्स! आज तुझे एक उत्तम पुत्र की प्राप्ति होगी। इसलिए सूर्य का दिया हुआ होने से बालक का दूसरा नाम 'सूर्यपुत्र' भी रखा गया।

श्वेताम्बरीय पांडवचरित्र के इस सम्पूर्ण कथन से पद्मसागरजी के पूर्वोक्त कथन का कहाँ तक मेल है और वह कितना सिर से पैर तक विलक्षण है, इसे पाठकों को बतलाने की जरूरत नहीं है। वे एक नजर डालते ही दोनों की विभिन्नता मालूम कर सकते हैं। अस्तु; इसी प्रकार के और भी अनेक कथन इस धर्मपरीक्षा में पाए जाते हैं जो दिगम्बर शास्त्रों के अनुकूल तथा श्वेताम्बर शास्त्रों के प्रतिकूल हैं और जिनसे ग्रन्थकर्ता की साफ चोरी पकड़ी जाती है।

ऊपर के इन सब विरुद्ध कथनों से पाठकों के हृदय में आश्चर्य के साथ यह प्रश्न उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेगा कि "जब गणीजी महाराज एक दिगम्बर ग्रन्थ को श्वेताम्बर ग्रन्थ बनाने के लिए प्रस्तुत हुए थे तब आपने श्वेताम्बर शास्त्रों के विरुद्ध इतने अधिक कथनों को उसमें क्यों रहने दिया? क्यों उन्हें दूसरे कथनों की समान, जिनका दिग्दर्शन इस लेख के शुरू में कराया गया है, नहीं निकाल दिया या नहीं बदल दिया? उत्तर इस प्रश्न का सीधा सादा यही हो सकता है कि या तो गणीजी को श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थों पर पूरी श्रद्धा नहीं थी, अथवा उन्हें उक्त सम्प्रदाय के ग्रन्थों का अच्छा ज्ञान नहीं था। इन दोनों बातों में से पहली बात बहुत कुछ संदिग्ध मालूम होती है और उस पर प्रायः विश्वास नहीं किया जा सकता। क्योंकि गणीजी की यह कृति ही उनकी श्वेताम्बर सम्प्रदाय-भक्ति और साम्प्रदायिक मोहमुग्धता का एक अच्छा नमूना जान पड़ती है और इससे आपकी श्रद्धा का बहुत कुछ पता लग जाता है। इसलिये दूसरी बात ही प्रायः सत्य मालूम होती है। श्वेताम्बर ग्रन्थों से अच्छी जानकारी न होने के कारण ही आपको यह मालूम नहीं हो सका कि उपर्युक्त कथन तथा इन्हीं के सदृश और दूसरे कथन भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विरुद्ध हैं, और इसलिए आप उनको निकाल नहीं सके। जहाँ तक मैं समझता हूँ पद्मसागरजी की योग्यता और उनका शास्त्रीय ज्ञान बहुत साधारण था। वे श्वेताम्बर सम्प्रदाय में अपने आपको विद्वान् प्रसिद्ध करना चाहते थे, और इसलिए उन्होंने एक दूसरे विद्वान् की कृति को अपनी कृति बनाकर उसे भोले समाज में प्रचलित किया है। नहीं तो, एक अच्छे विद्वान् की ऐसे जघन्याचरण में कभी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। उसके लिए ऐसा करना बड़े ही कलंक और शर्म की बात होता है। पद्मसागर जी ने, यद्यपि यह पूरा ही ग्रन्थ चुराने का साहस किया है और इसलिए आप पर कवि की यह उक्ति बहुत ठीक घटित होती है कि 'अखिलप्रबंधहर्त्रे साहसकर्त्रे नमस्तुभ्यं', परन्तु तो भी आप, शर्म को उतारकर अपने मुँह पर हाथ फेरते हुए, बड़े अभिमान के साथ लिखते हैं कि-

गणेशनिर्मितां धर्मपरीक्षां कर्तुमिच्छति।
मादृशोऽपि जनस्तत्र चित्रं तत्कुलसंभवात्॥४॥
यस्तरुर्भज्यते हस्तिवरेण स कथं पुनः।
कलभेनेति नाशंक्यं तत्कुलीनत्वशक्तितः॥५॥
चक्रे श्रीमत्प्रवचनपरीक्षा धर्मसागरैः।
वाचकेन्द्रैस्ततस्तेषां शिष्येणैषा विधीयते॥६॥

अर्थात्–गणधर देव की निर्माण की हुई धर्मपरीक्षा को मुझ जैसा मनुष्य भी यदि बनाने की इच्छा करता है तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि मैं भी उसी कुल में उत्पन्न हुआ हूँ। जिस वृक्ष को एक गजराज तोड़ डालता है उसे हाथी का बच्चा कैसे तोड़ डालेगा, यह आशंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि स्वकीय कुलशक्ति से वह भी उसे तोड़ डाल सकता है। मेरे गुरु धर्मसागर जी वाचकेन्द्र ने 'प्रवचन परीक्षा' नाम का ग्रन्थ बनाया है और मैं उनका शिष्य यह 'धर्मपरीक्षा' नाम का ग्रन्थ रचता हूँ। इस प्रकार पद्मसागर जी ने बड़े अहंकार के साथ अपना ग्रन्थकर्तृत्व प्रकट किया है। परन्तु आपकी इस कृति को देखते हुए कहना पड़ता है कि आपका यह कोरा और थोथा अहंकार विद्वानों की दृष्टि में केवल हास्यास्पद होने के सिवाय और कुछ भी नहीं है। यहाँ पाठकों पर अमितगति का वह पद्य भी प्रकट किया है, जिसको बदलकर ही गणीजी ने ऊपर के दो श्लोक (नं० ४-५) बनाए हैं–

धर्मो गणेशेन परीक्षितो यः कथं परीक्षे तमहं जडात्मा।
शक्तो हि यं भक्तुमिभाधिराजः स भज्यते किं शशकेन वृक्षः॥१५॥

इस पद्य में अमितगति आचार्य, अपनी लघुता प्रकट करते हुए लिखते हैं कि–जो धर्म गणधरदेव के द्वारा परीक्षा किया गया है वह मुझ जड़ात्मा से कैसे परीक्षा किया जा सकता है? जिस वृक्ष को गजराज तोड़ डालने में समर्थ है क्या उसे शशक भंग कर सकते हैं? इसके बाद दूसरे पद्य में लिखा है– ''परन्तु विद्वान् मुनीश्वरों ने जिस धर्म में प्रवेश करके उसके प्रवेशमार्ग को सरल कर दिया है उसमें मुझ जैसे मूर्ख का प्रवेश हो सकता है, क्योंकि वज्रसूची से छेद किये जाने पर मुक्तामणि में सूत का नरम डोरा भी प्रवेश करते देखा जाता है।'' पाठकगण! देखा, कैसी अच्छी उक्ति और कितना नम्रतामय भाव है। कहाँ मूलकर्ता का यह भाव और कहाँ उसको चुराकर अपनी कृति बनाने वाले का उपर्युक्त अहंकार! मैं समझता हूँ यदि पद्मसागर जी इसी प्रकार का कोई नम्र भाव प्रकट करते तो उनकी शान में कुछ भी फर्क न आता। परन्तु मालूम होता है कि आपमें इतनी भी उदारता नहीं थी और तभी आपने, साधु होते हुए भी, दूसरों की कृति को अपनी कृति बनाने रूप यह असाधु कार्य किया है!!

इसी तरह पर और भी कितने ही ग्रन्थ श्वेताम्बर सम्प्रदाय में जाली तथा अर्धजाली पाए जाते हैं, जिन सबकी जाँच, परीक्षा तथा समालोचना होने की जरूरत है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के निष्पक्ष

विद्वानों को आगे आकर इसके लिये खास परिश्रम करना चाहिए और वैसे ग्रन्थों के विषय में यथार्थ वस्तुस्थिति को समाज के सामने रखना चाहिए। ऐसा किया जाने पर विचार स्वातंत्र्य फैलेगा, विवेक जागृत होगा और वह साम्प्रदायिकता तथा अंधी श्रद्धा दूर हो सकेगी जो जैन समाज की प्रगति को रोके हुए है। इत्यलम्।

बम्बई।

ता. ८ अगस्त सन् १९१७।

अकलंक प्रतिष्ठा पाठ की जाँच

'अकलंक प्रतिष्ठापाठ' या 'प्रतिष्ठाकल्प' नाम का एक ग्रन्थ है, जिसे 'अकलंक संहिता' भी कहते हैं और जो जैन समाज में प्रचलित है। कहा जाता है कि "यह ग्रन्थ उन भट्टाकलंक देव का बनाया हुआ है जो 'राजवार्तिक' और 'अष्टशती' आदि ग्रन्थों के कर्ता हैं और जिनका समय विक्रम की ८वीं शताब्दी माना जाता है"। यद्यपि विद्वानों को इस कथन पर संदेह भी है, परन्तु तो भी उक्त कथन वास्तव में सत्य है या नहीं इसका अभी तक कोई निर्णय प्रकट नहीं हुआ। अतः यहाँ इसी विषय का निर्णय करने के लिए यह लेख लिखा जाता है–

यह तो स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ में ग्रन्थ के बनने का कोई सन्-संवत् नहीं दिया है। परन्तु ग्रन्थ की संधियों में ग्रन्थकर्ता का नाम 'भट्टाकलंक देव' जरूर लिखा है। यथा–

इत्यार्षे श्रीमद्भट्टाकलंकदेवसंगृहीते प्रतिष्ठाकल्पनाम्नि ग्रन्थे सूत्रस्थाने प्रतिष्ठादिचतुष्टयनिरूपणीयो नाम प्रथमः परिच्छेदः॥१॥

संधियों को छोड़कर पद्यों में भी ग्रन्थकर्ता ने अपना नाम 'भट्टाकलंक देव' प्रकट किया है। जैसा कि आदि अंत के निम्न लिखित दो पद्यों से जाहिर है–

"प्रतिष्ठाकल्पनामासौ ग्रन्थः सारसमुच्चयः।
भट्टाकलंकदेवेन साधुसंगृह्यते स्फुटम्॥५॥ "

"भट्टाकलंकदेवेन कृतो ग्रन्थो यथागमम्।
प्रतिष्ठाकल्पनामासौ स्थेयादाचंद्रतारकम्॥ "

'राजवार्तिक' के कर्ता को छोड़कर, भट्टाकलंक देव नाम के कोई दूसरे विद्वान् आचार्य जैन समाज में प्रसिद्ध नहीं हैं। इसलिए मालूम होता है कि संधियों और पद्यों में 'भट्टाकलंक देव' का नाम लगा होने से ही यह ग्रन्थ राजवार्तिक के कर्ता का बनाया हुआ समझ लिया गया है। अन्यथा, ऐसा समझ लेने और कथन करने की कोई दूसरी वजह नहीं है। भट्टाकलंकदेव के बाद होने वाले किसी माननीय प्राचीन आचार्य की कृति में भी इस ग्रन्थ का कोई उल्लेख नहीं मिला। प्राचीन शिलालेख भी इस विषय में मौन हैं–उनसे कुछ पता नहीं चलता। ऐसी हालत में पाठक समझ सकते हैं कि उक्त कथन कहाँ तक विश्वास किये जाने योग्य हो सकता है। अस्तु; जहाँ तक मैंने इस ग्रन्थ को देखा और इसके साहित्य की जाँच की है उससे मालूम होता है कि यह ग्रन्थ वास्तव में राजवार्तिक के कर्ता भट्टाकलंक देव का बनाया हुआ नहीं है, उनसे बहुत पीछे का बना हुआ है। भट्टाकलंक देव के साहित्य और उनकी कथन शैली से इस ग्रन्थ के साहित्य और कथन शैली का कोई मेल नहीं है। इसका अधिकांश साहित्य-शरीर ऐसे ग्रन्थों के आधार पर बना हुआ है जिनका निर्माण भट्टाकलंक देव के अवतार से बहुत पीछे के समयों में हुआ है। यहाँ पाठकों के संतोषार्थ कुछ प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं, जिनसे पाठकों को इस बात का भी अनुभव हो जायेगा कि यह ग्रन्थ कब बना है और किसने

बनाया है–

(१) इस प्रतिष्ठा पाठ के पाँचवें परिच्छेद में बहुत से पद्य ऐसे पाए जाते हैं जो भगवज्जिनसेन प्रणीत 'आदिपुराण' से ज्यों के त्यों या कुछ परिवर्तन के साथ उठाकर रखे गये हैं। नमूने के तौर पर कुछ पद्य इस प्रकार हैं–

चैत्यचैत्यालयादीनां भक्त्या निर्मापणं च यत्।
शासनीकृत्य दानं च ग्रामादीनां सदार्चनम्॥२३॥

यह पद्य आदिपुराण के ३८वें पर्व का २८वाँ पद्य है और यहाँ ज्यों का त्यों बिना किसी परिवर्तन के रखा गया है।

ताः सर्वा अप्यर्हदीज्यापूर्विका यत इत्यतः।
विधिज्ञास्तामुशन्तीज्यां वृत्तिं प्राथमकल्पकीम्॥२०॥

इस पद्य का उत्तरार्द्ध और आदिपुराण के उक्त पर्वसम्बन्धी ३४ वें पद्य का उत्तरार्द्ध दोनों एक हैं। परन्तु पूर्वार्द्ध दोनों पद्यों के भिन्न-भिन्न पाए जाते हैं। आदिपुराण के उक्त ३४ वें पद्य का पूर्वार्द्ध है 'एवं विधविधानेन या महेज्या जिनेशिनाम्'। ग्रन्थकर्ता ने इस पूर्वार्ध को अपने इसी परिच्छेद के ३०वें पद्य का पूर्वार्द्ध बनाया है। और इस तरह पर आदिपुराण के एक पद्य को दो टुकड़ों में विभाजित करके उन्हें अलग-अलग स्थानों पर रखा है।

बलिस्नपनमन्यच्च व्रतमुद्यापनादिकम्।
उक्तेष्वेव विकल्पेषु ज्ञेयमन्यच्च तादृशम्॥२९॥

यह पद्य आदिपुराण के ३८वें पर्व में नं० ३३ पर इसी प्रकार से दर्ज है, सिर्फ 'मित्यन्यत् त्रिसंध्यासेवया समम्' की जगह यहाँ 'मन्यच्च व्रतमुद्यापनादिकम्' ऐसा परिवर्तन पाया जाता है। इस परिवर्तन से ग्रन्थकर्ता ने 'त्रिसंध्यासेवा' के स्थान में 'व्रत' और 'उद्यापनादिक' को खास तौर से पंच प्रकार के पूजन में शामिल किया है। अस्तु, इन उदाहरणों से प्रकट है कि यह ग्रन्थ (प्रतिष्ठापाठ) भगवज्जिनसेन के आदिपुराण से पहले का बना हुआ नहीं है। परन्तु भट्टाकलंक देव भगवज्जिनसेन से पहले हो चुके हैं। भगवज्जिनसेन ने, 'भट्टाकलंक श्रीपाल पात्रकेसरिणां गुणाः' इत्यादि पद्य के द्वारा आदिपुराण में, उनका स्मरण भी किया है। ऐसी हालत में यह ग्रन्थ कदापि भट्टाकलंक देव का बनाया हुआ नहीं हो सकता। और इसलिए कहना होगा कि यह प्रतिष्ठापाठ भगवज्जिनसेन के आदिपुराण से पीछे का अर्थात्, विक्रम की ९वीं शताब्दी के बाद का बना हुआ है।

(२) इस ग्रन्थ के तीसरे परिच्छेद में एक स्थान पर, प्राणायाम का स्वरूप बतलाते हुए, कुछ पद्य दिये हैं। उनमें से एक पद्य इस प्रकार है–

द्वादशान्तात्समाकृष्य यः समीरः प्रपूर्यते।
स पूरक इति ज्ञेयो वायुविज्ञानकोनिदैः॥६६॥

यह पद्य और इसके बाद के दो पद्य और जो 'निरुणद्धि' और निःसार्यते' शब्दों से प्रारम्भ होते

हैं, ज्ञानार्णव के २९वें प्रकरण में क्रमशः नं० ४, ५ और ६ पर दर्ज हैं। इससे प्रकट है कि यह ग्रन्थ ज्ञानार्णव के बाद का बना हुआ है। ज्ञानार्णव ग्रन्थ के कर्ता श्रीशुभचंद्र आचार्य का समय विक्रम की ११वीं शताब्दी के लगभग माना जाता है। उन्होंने अपने इस ग्रन्थ में, समंतभद्र, देवनन्दि और जिनसेन का स्मरण करते हुए, ''श्रीमद्भट्टाकलंकस्य पातु पुण्या सरस्वती'' इस पद्य के द्वारा भट्टाकलंक देव का भी बड़े गौरव के साथ स्मरण किया है। इसलिए यह प्रतिष्ठापाठ, जिसमें शुभचन्द्र के वचनों का उल्लेख पाया जाता है, भट्टाकलंक देव का बनाया हुआ न होकर विक्रम की ११वीं शताब्दी के बाद का बना हुआ है, यह कहने में कोई संकोच नहीं होता।

(३) एकसंधि भट्टारक का बनाया हुआ, 'जिनसंहिता' नाम का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ से सैकड़ों पद्य ज्यों के त्यों या कुछ परिवर्तन के साथ उठाकर इस प्रतिष्ठापाठ में रखे गये हैं। कई स्थानों पर उक्त संहिता का नामोल्लेख भी किया है और उसके अनुसार किसी खास विषय के कथन की प्रतिज्ञा या सूचना की गई है। यथा–

द्वितीये मंडले लोकपालानामाष्टकं भवेत्।
इति पक्षान्तरं जैनसंहितायां निरुपितम्॥७-१६॥
यदि व्यासात्पृथक्तेषां बलिदानं विवक्षितम्।
निरूप्यते तच्च जैनसंहितामार्गतो यथा॥१०-६॥

पहले पद्य में जैन संहिता के अनुसार कथन की सूचना और दूसरे में प्रतिज्ञा की गई है। दूसरे पद्य में जिस 'बलिदान' के कथन की प्रतिज्ञा है उसका वर्णन करते हुए जो पद्य दिये हैं उनमें से बहुत से पद्य ऐसे हैं जो उक्त संहिता से ज्यों के त्यों उठाकर रखे गये हैं। जैसा कि नं० ४७ के उत्तरार्द्ध से लेकर नं० ६१ के पूर्वार्द्ध तक के १४ पद्य बिल्कुल वही हैं जो उक्त संहिता के १४ वें परिच्छेद में नं० ३ से १६ तक दर्ज हैं। इन पद्यों में से एक पद्य नमूने के तौर पर इस प्रकार है–

पाशिनो धान्यदुग्धान्नं वायोः संपिष्टशर्वरी।
यक्षस्य पायसं भक्तं साज्यं क्षीरान्नमीशिनः॥५॥

यहाँ पाठकों को यह जानकर और भी आश्चर्य होगा कि इस प्रतिष्ठा पाठ का मंगलाचरण भी उक्त संहिता पर से लिया गया है। वह मंगलाचरण इस प्रकार है–

विज्ञानं विमलं यस्य विशदं विश्वगोचरं।
नमस्तस्मै जिनेन्द्राय सुरेन्द्राभ्यर्चितांघ्रये॥१॥
वंदित्वा च गणाधीशं श्रुतस्कंधमुपास्य च।
ऐदंयुगीनामाचार्यानपि भक्त्या नमाम्यहम्॥२॥

मंगलाचरण के दोनों पद्य उक्त संहिता के शुरू में क्रमशः नं० २ और ३ पर दर्ज हैं। सिर्फ दूसरे पद्य के उत्तरार्द्ध में भेद है। संहितामें वह उत्तरार्द्ध इस प्रकार से दिया है–

संग्रहिष्यामि मंदानां बोधाय जिनसंहिताम्।

पाठक समझ सकते हैं कि जिस ग्रन्थ में मंगलाचरण भी ग्रन्थकर्ता का अपना बनाया हुआ न हो, वह ग्रन्थ क्या भट्टाकलंक देव जैसे महाकवियों का बनाया हुआ हो सकता है? कभी नहीं। वास्तव में यह ग्रन्थ एक संग्रह[१] ग्रन्थ है। इसमें न सिर्फ अर्थों का बल्कि शब्दों का भी संग्रह किया गया है। ग्रन्थकर्ता की उक्तियाँ इसमें बहुत कम हैं। जैसा कि इसके एक निम्नलिखित पद्य से भी प्रकट है–

श्लोकाः पुरातनाः किंचिल्लिख्यंते लक्ष्यबोधकाः।
प्रायस्तदनुसारेण मदुक्ताश्च क्वचित् क्वचित्॥१०॥

भट्टारक एकसंधि का समय विक्रम की १३वीं शताब्दी पाया जाता है। इसलिए यह प्रतिष्ठापाठ, जिसमें उक्त भट्टारकजी की संहिता की बहुत कुछ नकल की गई है, विक्रम की १३वीं शताब्दी के बाद का बना हुआ है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

(४) इस प्रतिष्ठा पाठ को १३वीं शताब्दी के बाद का बना हुआ कहने में एक प्रबल प्रमाण और भी है। और वह यह कि इसमें पं० आशाधरजी के बनाए हुए 'जिनयज्ञकल्प' नामक प्रतिष्ठा पाठ और 'सागारधर्मामृत' के बहुत से पद्य, ज्यों के त्यों या कुछ परिवर्तन के साथ, पाये जाते हैं, जिनका एक एक नमूना इस प्रकार है–

किमिच्छकेन दानेन जगदाशा प्रपूर्य यः।
चक्रिभिः क्रियते सोऽर्हद्यज्ञः कल्पद्रुमो मतः॥५-२७॥
देशकालानुसारेण व्यासतो वा समासतः।
कुर्वन्कृत्स्नां क्रियां शक्रो दातुश्चित्तं न दूषयेत्॥५-७३॥

पहला पद्य 'सागारधर्मामृत' के दूसरे अध्याय का २८वाँ और दूसरा पद्य 'जिनयज्ञकल्प' के पहले अध्याय का १४०वाँ पद्य है। जिनयज्ञकल्प को, पंडित आशाधर जी ने, विक्रम संवत् १२८५ में और सागारधर्मामृत को उसकी टीका सहित विक्रम संवत् १२९६ में बनाकर समाप्त किया है। इससे स्पष्ट है कि यह अकलंक प्रतिष्ठा पाठ विक्रम की १३वीं शताब्दी के बाद का बना हुआ है।

(५) इस ग्रन्थ के तीसरे परिच्छेद में, एक स्थान पर यह दिखलाते हुए कि जिन मंदिर में विलासिनी के नाच के लिए एक सुन्दर नाचघर (नृत्यमंडप) भी होना चाहिए, एक पद्य इस प्रकार से दिया है–

नृत्याद्विलासिनीरम्यनृत्यमंडपमंडितम्।
पुरः पार्श्वद्वये यक्षयक्षीभवनसंयुतम्॥११७॥

यह ब्रह्मसूरि त्रिवर्णाचार के चौथे पर्व का १९७वाँ पद्य है। उक्त त्रिवर्णाचार के और भी बहुत से पद्य इस ग्रन्थ में पाये जाते हैं। इसी तीसरे परिच्छेद में लगभग २५ पद्य और हैं, जो उक्त त्रिवर्णाचार से उठाकर रखे गये हैं। इससे प्रकट है कि यह ग्रन्थ (प्रतिष्ठापाठ) ब्रह्मसूरि त्रिवर्णाचार के बाद का

१. ग्रन्थ की प्रतिज्ञा और संधियों में भी इसे ऐसा प्रकट किया है।

बना हुआ है। ब्रह्मसूरि का समय विक्रम की प्रायः १५वीं शताब्दी पाया जाता है। इसलिए यह प्रतिष्ठापाठ विक्रम की १५वीं शताब्दी के बाद का बना हुआ है।

(६) इस ग्रन्थ के शुरू में मंगलाचरण के बाद ग्रन्थ रचने की जो प्रतिज्ञा की गई है उसमें 'नेमिचंद्र प्रतिष्ठापाठ' का भी एक उल्लेख है। यथा–

अथ श्रीनेमिचन्द्रीयप्रतिष्ठाशास्त्रमार्गतः।
प्रतिष्ठायास्तदाद्युत्तरांगानां स्वयमंगिनाम्॥३॥

नेमिचन्द्र-प्रतिष्ठापाठ 'गोम्मटसार' के कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती का बनाया हुआ न होकर उन गृहस्थ नेमिचन्द्र सूरि का बनाया हुआ है जो देवेन्द्र के पुत्र तथा ब्रह्मसूरि के भानजे थे और जिनके वंशादिक का विशेष परिचय पाने के लिए पाठकों को उक्त प्रतिष्ठापाठ पर लिखे हुए उस नोट को देखना चाहिए जो जैन हितैषी के १२वें भाग के अंक नं० ४-५ में प्रकाशित हुआ है। उक्त नोट में नेमिचन्द्र प्रतिष्ठापाठ के बनने का समय विक्रम की १६वीं शताब्दी के लगभग बतलाया है। ऐसी हालत में विवादस्थ प्रतिष्ठापाठ विक्रम की १६वीं शताब्दी का या उससे भी कुछ पीछे का बना हुआ मालूम होता है। परन्तु इसमें तो कोई संदेह नहीं कि वह १६वीं शताब्दी से पहले का बना हुआ नहीं है। अर्थात् विक्रम की १५वीं शताब्दी के बाद का बना हुआ है। परन्तु कितने बाद का बना हुआ है, इतना निश्चय करना अभी और बाकी है।

(७) 'सोमसेन त्रिवर्णाचार' के पहले अध्याय में एक प्रतिज्ञा वाक्य इस प्रकार से दिया है–

यत्प्रोक्तं जिनसेनयोग्यगणिभिः सामन्तभद्रैस्तथा
सिद्धान्ते गुणभद्रनाममुनिभिर्भट्टाकलंकैः परैः
श्रीसूरिद्विजनामधेयविबुधैराशाधरैर्वाग्वरै -
स्तद्दृष्ट्वा रचयामि धर्मरसिकं शास्त्रं त्रिवर्णात्मकम्॥

इस वाक्य में जिन आचार्यों के अनुसार कथन करने की प्रतिज्ञा की गई है उनमें 'भट्टाकलंक' का भी एक नाम है। इन भट्टाकलंक से 'अकलंक प्रतिष्ठा पाठ' के कर्ता का ही अभिप्राय जान पड़ता है, 'राजवार्तिक' के कर्ता का नहीं। क्योंकि सोमसेनत्रिवर्णाचार में जिस प्रकार 'जिनसेन' आदि दूसरे आचार्यों के वाक्यों का उल्लेख पाया जाता है उस प्रकार राजवार्तिक के कर्ता भट्टाकलंक देव के बनाये हुए किसी भी ग्रन्थ का प्रायः कोई उल्लेख नहीं मिलता। प्रत्युत, अकलंक-प्रतिष्ठापाठ के बहुत से पद्यों और कथनों का समावेश उसमें जरूर पाया जाता है। ऐसी हालत में, सोमसेन त्रिवर्णाचार में 'अकलंक प्रतिष्ठापाठ' का उल्लेख किया गया है, यह कहना समुचित प्रतीत होता है। सोमसेन त्रिवर्णाचार विक्रम संवत् १६६५ में बनकर समाप्त हुआ है और अकलंक प्रतिष्ठापाठ का उसमें उल्लेख है। इसलिए अकलंक प्रतिष्ठापाठ विक्रम संवत् १६६५ से पहले बन चुका था, इस कहने में भी कोई संकोच नहीं होता।

नतीजा इस सम्पूर्ण कथन का यह है कि विवादस्थ प्रतिष्ठापाठ राजवार्तिक के कर्ता भट्टाकलंक

देव का बनाया हुआ नहीं है और न विक्रम की १६वीं शताब्दी से पहले का ही बना हुआ है। बल्कि उसकी रचना विक्रम की १६वीं शताब्दी या १७वीं शताब्दी के प्रायः पूर्वार्द्ध में हुई है। अथवा यों कहिए कि वह विक्रम संवत् १५०१ और १६६५ के मध्यवर्ती किसी समय का बना हुआ है।

अब रही यह बात कि, जब यह ग्रन्थ राजवार्तिक के कर्ता भट्टाकलंक देव का बनाया हुआ नहीं है और न भट्टाकलंकदेव नाम का कोई दूसरा विद्वान् जैन समाज में प्रसिद्ध है, तब इसे किसने बनाया है? इसका उत्तर इस समय सिर्फ इतना ही हो सकता है कि, या तो यह ग्रन्थ 'अकलंक' या 'अकलंकदेव' नाम के किसी ऐसे अप्रसिद्ध भट्टारक या दूसरे विद्वान् महाशय का बनाया हुआ है जो उपर्युक्त समय के भीतर हुए हैं और जिन्होंने अपने नाम के साथ स्वयं ही 'भट्ट' की महत्वसूचक उपाधि को लगाना पसंद किया है[2]। अथवा इसका निर्माण किसी ऐसे व्यक्ति ने किया है जो इस ग्रन्थ के द्वारा अपने किसी क्रियाकाण्ड या मंतव्य के समर्थनादिरूप कोई इष्ट प्रयोजन सिद्ध करना चाहता हो और इसलिए उसने स्वयं ही इस ग्रन्थ को बनाकर उसे भट्टाकलंक देव के नाम से प्रसिद्ध किया हो और इस तरह पर यह ग्रन्थ भी एक जाली ग्रन्थ बना हो। परन्तु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि, यह ग्रन्थ कोई महत्त्व का ग्रन्थ नहीं है। इसमें बहुत से कथन ऐसे भी पाए जाते हैं जो जैनधर्म के विरुद्ध हैं, अथवा जैन सिद्धान्तों से जिनका कोई मेल नहीं है। चूँकि यह लेख सिर्फ ग्रन्थ की ऐतिहासिकता ग्रन्थकर्ता और ग्रन्थ के बनने का समय निर्णय करने के लिए ही लिखा गया है इसलिए यहाँ पर विरुद्ध कथनों के उल्लेख को छोड़ा जाता है। इस प्रकार के विरुद्ध कथन और भी प्रतिष्ठापाठों में पाए जाते हैं, जिन सबकी विस्तृत आलोचना होने की जरूरत है। अवसर मिलने पर प्रतिष्ठापाठों के विषय पर एक स्वतंत्र लेख लिखा जायेगा और उसमें यह भी दिखलाया जायेगा कि उनका वह कथन कहां तक जैनधर्म के अनुकूल या प्रतिकूल है।

देवबन्द
ता. २६ मार्च, सन् १९१७

---

२. बाद को 'हिस्ट्री ऑफ कनडीज लिटरेचर' (कनडी साहित्य का इतिहास) से मालूम हुआ कि इस समय के भीतर 'भट्टाकलंक देव' नाम एक दूसरे विद्वान् हुए हैं जो दक्षिणकनाडा में हाडुवल्लिमठ के अधिपति भट्टारक के शिष्य थे और जिन्होंने विक्रम की १७ वीं शताब्दी में (ई० सं० १६०४ में) कनडी भाषा का एक बड़ा व्याकरण संस्कृत में लिखा है, जिसका नाम है 'कर्णाटकशब्दानुशासनम्' और जिस पर संस्कृत की एक विस्तृत टीका भी आपकी ही लिखी हुई है। हो सकता है कि यह प्रतिष्ठा पाठ आपकी ही रचना हो। परन्तु फिर भी इसमें मंगलाचरण का दूसरे ग्रन्थ से उठाकर रखा जाना कुछ खटकता जरूर है, क्योंकि आप संस्कृत के अच्छे विद्वान् कहे जाते है। यदि आपका उक्त शब्दानुशासन मुझे देखने के लिये मिल सकता तो इस विषय का कितना ही संदेह दूर हो सकता था।

पूज्यपाद-उपासकाचार की जाँच

सन् १९०४ में, 'पूज्यपाद' आचार्य का बनाया हुआ 'उपासकाचार' नाम का एक संस्कृत ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था। उसे कोल्हापुर के पंडित श्रीयुत कलापा भरमापाजी निटवे ने, मराठी पद्यानुवाद और मराठी अर्थसहित, अपने 'जैनेंद्र' छापाखाने में छापकर प्रकाशित किया था। जिस समय ग्रन्थ की यह छपी हुई प्रति मेरे देखने में आई तो मुझे इसके कितने ही पद्यों पर संदेह हुआ और इच्छा पैदा हुई कि इसके पद्यों की जाँच की जाये, और यह मालूम किया जाये कि यह ग्रन्थ कौन से पूज्यपाद आचार्य का बनाया हुआ है। तभी से मेरी इस विषय की खोज जारी है और इस खोज से अब तक जो कुछ नतीजा निकला है उसे प्रकट करने के लिये ही यह लेख लिखा जाता है।

सबसे पहले मुझे देहली के 'नया मंदिर' के शास्त्र भण्डार में इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति का पता चला। इस प्रति के साथ छपी हुई प्रति का जो मिलान किया गया तो उससे मालूम हुआ कि उसमें छपी हुई प्रति के निम्नलिखित छह श्लोक नहीं हैं-

पूर्वापराविरोधादिदूरं हिंसाद्यपापासनम्।
प्रमाणद्वयसंवादि शास्त्रं सर्वज्ञभाषितम्॥७॥
गोपुच्छिकश्वेतवासा द्राविडो यापनीयकः।
निष्पिच्छश्चेति पंचैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः॥१०॥
नास्त्यर्हतः परो देवो धर्मो नास्ति दयां विना।
तपः परश्च नैर्ग्रन्थ्यमेतत्सम्यक्त्वलक्षणं॥११॥
मांसाशिषु दया नास्ति न सत्यं मद्यपायिषु।
धर्मभावो न जीवेषु मधूदुम्बरसेविषु॥१५॥
चित्ते भ्रान्तिर्जायते मद्यपानात् भ्रान्तं चित्तं पापचर्यामुपैति।
पापं कृत्वा दुर्गतिं यान्ति मूढास्तस्मान्मद्यं नैव देयं न पेयं॥१६॥
अणुव्रतानि पंचैव त्रिःप्रकारं गुणव्रतम्।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि इत्येतद् द्वादशात्मकम्॥२२॥

साथ ही, यह भी मालूम हुआ है कि देहली वाली प्रति के नीचे लिखे हुए दस श्लोक छपी हुई प्रति से अधिक हैं-

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदञ्च चतुःपदम्।
आसनं शयनं कुप्यं भांडं चेति बहिर्दश॥७॥
मृद्वी च द्रवसंपन्ना मातृयोनिसमानिका।
सुखानां सुखिनः प्रोक्ता तत्पुण्यप्रेरिता स्फुटम्॥५३॥
सज्जातिः सद्गृहस्थत्वं पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता।

साम्राज्यं परमार्हन्त्यं निर्वाणं चेति सप्तधा॥५६॥
खर्जूरं पिंडखर्जूरं कादल्यं शर्करोपमान्।
मृदिक्ष्वादिके भोगांश्च भुंजते नात्र संशयः॥६०॥
ततः कुत्सितदेवेषु जायेन्ते पापपाकतः।
ततः संसारगर्तासु पञ्चधा भ्रमणं सदा॥६१॥
प्रतिग्रहोन्नतस्थानं पादक्षालनमर्चनम्।
नमस्त्रिविधयुक्तेन एषणा नव पुण्ययुक्॥६४॥
श्रुतिस्मृतिप्रसादेन तत्त्वज्ञानं प्रजायेते।
ततो ध्यानं ततो ज्ञानं बंधमोक्षो भवेत्ततः॥७०॥
नामादिभिश्चतुर्भेदैर्जिनसंहितया पुनः।
यंत्रमंत्रक्रमेणैव स्थापयित्वा जिनाकृतिम्॥७६॥
उपवासो विधातव्यो गुरूणां स्वस्य साक्षिकः।
सोपवासो जिनैरुक्तो न च देहस्य दंडनम्॥८१॥
दिवसस्याष्टमे भागे मन्दीभूते दिवाकरे।
तं नक्तं प्राहुराचार्या न नक्तं रात्रिभोजनम्॥९२॥

श्लोकों की इस न्यूनाधिकता के अतिरिक्त दोनों प्रतियों में कहीं-कहीं पद्यों का कुछ क्रम भेद भी पाया गया, और वह इस प्रकार है-

देहली वाली प्रति में, छपी हुई प्रति के ५५वें पद्य से ठीक पहले उसी प्रति का ४७वाँ पद्य, नम्बर ७० के श्लोक से ठीक पहले नं० ६८ का श्लोक, नं० ७३ वाले पद्य के अनन्तर नं० ७१ का पद्य, नं० ७८ वाले पद्य से पहले नं० ७९ का पद्य और नं० ९२ के श्लोक के अनन्तर उसी प्रति का अन्तिम श्लोक नं० ९६ दिया है। इसी तरह ९० नम्बर के पद्य के अनन्तर उसी प्रति के ९४ और ९५ नम्बरवाले पद्य क्रमशः दिये हैं।

इस क्रमभेद के सिवाय, दोनों प्रतियों के किसी किसी श्लोक में परस्पर कुछ पाठ भेद भी उपलब्ध हुआ, परन्तु वह कुछ विशेष महत्त्व नहीं रखता, इसलिये उसे यहाँ पर छोड़ा जाता है।

देहली की इस प्रति से संदेह कोई विशेष निवृत्ति न हो सकी, बल्कि कितने ही अंशों में उसे और भी ज्यादा पुष्टि मिली और इसलिये ग्रन्थ की दूसरी हस्तलिखित प्रतियों के देखने की इच्छा बनी ही रही। कितने ही भण्डारों को देखने का अवसर मिला और कितने ही भण्डारों की सूचियाँ भी नजर से गुजरीं, परन्तु उनमें मुझे इस ग्रन्थ का दर्शन नहीं हुआ। अंत को पिछले साल जब मैं 'जैन सिद्धान्त भवन' का निरीक्षण करने के लिये आरा गया और वहाँ करीब दो महीने तक ठहरना हुआ, तो उस वक्त भवन से मुझे इस ग्रन्थ की दो पुरानी प्रतियाँ कनड़ी अक्षर में लिखी हुई उपलब्ध हुईं-एक ताड़पत्रों पर और दूसरी कागज पर। इन प्रतियों के साथ छपी हुई प्रति का जो मिलान किया गया तो

उससे मालूम हुआ कि इन दोनों प्रतियों में छपी हुई प्रति के वे छह श्लोक नहीं हैं जो देहली वाली प्रति में भी नहीं हैं, और न वे दस श्लोक ही हैं जो देहली की प्रति में छपी हुई प्रति से अधिक पाए गये हैं और जिन सबका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। इसके सिवाय, इन प्रतियों में छपी हुई प्रति के नीचे लिखे हुए पन्द्रह श्लोक भी नहीं हैं–

क्षुधा तृषा भयं द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम्।
जरा रुजा च मृत्युश्च स्वेदः खेदो मदो रतिः॥४॥
विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवः।
त्रिजगत्सर्वभूतानां दोषाः साधारणा इमे॥५॥
एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरंजनः।
विद्यन्ते येषु ते नित्यं तेऽत्र संसारिणः स्मृताः॥६॥
स्वतत्त्वपरतत्त्वेषु हेयोपादेयनिश्चयः।
संशयादिविनिर्मुक्तः स सम्यग्दृष्टिरुच्यते॥९॥
रक्तमात्रप्रवाहेण स्त्री निन्द्या जायेते स्फुटम्।
द्विधातुजं पुनर्मांसं पवित्रं जायेते कथम्॥१९॥
अक्षरैर्न विना शब्दास्तेऽपि ज्ञानप्रकाशकाः।
तद्रक्षार्थं च षट्स्थाने मौनं श्रीजिनभाषितम्॥४१॥
दिव्यदेहप्रभावर्ताः सप्तधातुविवर्जिताः।
गर्भोत्पत्तिर्न तत्रास्ति दिव्यदेहास्ततो मताः॥५७॥
ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः।
अन्नदानात्सुखी नित्यं निर्व्याधिर्भेषजाद्भवेत्॥६९॥
येनाकारेण मुक्तात्मा शुक्लध्यानप्रभावतः।
तेनायं श्रीजिनोदेवो बिम्बाकारेण पूज्यते॥७२॥
आप्तस्यासन्निधानेऽपि पुण्यायाकृतिपूजनम्।
तार्क्षमुद्रा न किं कुर्युर्विषसामर्थ्यसूदनम्॥७३॥
जन्मजन्म यदभ्यस्तं दानमध्ययनं तपः।
तेनैवाभ्यासयोगेन तत्रैवाभ्यस्यते पुनः॥७४॥
अष्टमी चाष्टकर्माणि सिद्धिलाभा चतुर्दशी।
पंचमी केवलज्ञानं तस्मात्तत्र यमाचरेत्॥७९॥
कालक्षेपो न कर्तव्य आयुःक्षीणं दिने दिने।
यमस्य करुणा नास्ति धर्मस्य त्वरिता गतिः॥९४॥
अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।

नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः॥९५॥
जीवन्तं मृतकं मन्ये देहिनं धर्मवर्जितम्।
मृतो धर्मेण संयुक्तो दीर्घजीवी भविष्यति॥९६॥

छपी हुई प्रति से इन प्रतियों में अधिक पद्य कोई नहीं है, क्रम-भेद का उदाहरण सिर्फ एक ही पाया जाता है और वह यह है कि छपी हुई प्रति में जो पद्य ५० और ४१ नम्बरों पर दिये हैं वे पद्य इन प्रतियों में क्रमशः ३९ और ३८ नम्बरों पर अर्थात्, आगे पीछे पाये जाते हैं। रही पाठ भेद की बात, वह कुछ उपलब्ध जरूर होता है और कहीं कहीं इन दोनों प्रतियों में परस्पर भी पाया जाता है। परन्तु वह भी कुछ विशेष महत्त्व नहीं रखता और उसमें ज्यादातर छापे की तथा लेखकों की भूलें शामिल हैं। तो भी दो एक खास-खास पाठभेदों का यहाँ परिचय करा देना मुनासिब मालूम होता है, और वह इस प्रकार है-

(१) तीसरे पद्य में 'निर्ग्रन्थः स्यात्तपस्वी च' (तपस्वी निर्ग्रंथ होता है) के स्थान में आरा की प्रतियों में 'निर्ग्रन्थेन भवेन्मोक्षः' (निर्ग्रंथ होने से मोक्ष होता है) ऐसा पाठ दिया है। देहली वाली प्रति में भी यही पाठ 'निर्ग्रन्थ न भवेन्मोक्षः' ऐसे अशुद्ध रूप से पाया जाता है।

(२) छपी हुई प्रति के ३० वें पद्य में 'न पापं च अमी देयाः' ऐसा जो एक चरण है वह ताडपत्रवाली प्रति में भी वैसा ही है। परन्तु आरा की दूसरी प्रति में उसका रूप 'न परेषाममीदेयाः' ऐसा दिया है और देहली वाली प्रति में वह 'न दातव्या इमे नित्यं' इस रूप में उपलब्ध होता है।

(३) छपी हुई प्रति में एक पद्य[1] इस प्रकार दिया हुआ है-

वृक्षा दावाग्निनालग्नास्तत्सख्यं कुर्वते वने।
आत्मारूढतरोरग्निमागच्छंतं न वेत्यसौ॥९१॥

इस पद्य का पूर्वार्द्ध कुछ अशुद्ध जान पड़ता है और इसी से मराठी में इस पद्य का जो यह अर्थ किया गया है कि "वन में दावाग्नि से ग्रसे हुए वृक्ष उस दावाग्नि से मित्रता करते हैं, परन्तु जीव स्वयं जिस देहरूपी वृक्ष पर चढ़ा हुआ है उसके पास आती हुई अग्नि को नहीं जानता है" वह ठीक नहीं मालूम होता। आरा की प्रतियों में उक्त पूर्वार्द्ध का शुद्ध रूप 'वृक्षा दावाग्निलग्ना ये तत्संख्या कुरुते वने' इस प्रकार दिया है और इससे अर्थ की संगति भी ठीक बैठ जाती है-यह आशय निकल आता है कि 'एक मनुष्य वन में, जहाँ दावाग्नि फैली हुई है, वृक्ष पर चढ़ा हुआ, उन दूसरे वृक्षों की गिनती कर रहा है जो दावाग्नि से ग्रस्त होते जाते हैं (यह कह रहा है कि अमुक वृक्ष को आग लगी, वह जला और वह गिरा!) परन्तु स्वयं जिस वृक्ष पर चढ़ा हुआ है उसके पास आती हुई आग को नहीं देखता है। इस अलंकृत आशय का स्पष्टीकरण भी ग्रन्थ में अगले पद्य द्वारा किया गया है और इससे

---

१. देहली की प्रति में भी यह पद्य प्रायः इसी प्रकार से है, सिर्फ इतना भेद है कि उसमें पूर्वार्द्ध को उत्तरार्द्ध और उत्तरार्द्ध को पूर्वार्द्ध बनाया गया है।

दोनों पद्यों का सम्बन्ध भी ठीक बैठ जाता है।

आरा की इन दोनों प्रतियों में ग्रन्थ की श्लोक संख्या कुल ७५ दी है, यद्यपि, अंत के पद्यों पर जो नंबर पड़े हुए हैं उनसे वह ७६ मालूम होती है। परन्तु 'न वेत्ति मद्यपानतः' इस एक पद्य पर लेखकों की गलती से दो नम्बर ८ और ९ पड़ गये हैं जिससे आगे के संख्यांको में बराबर एक एक नम्बर की वृद्धि होती चली गई है। देहली वाली प्रति में भी इस पद्य पर भूल से दो नम्बर १३ और १४ डाले गये हैं और इसीलिये उसकी श्लोक संख्या १०० होने पर भी वह १०१ मालूम होती है। छपी हुई प्रति की श्लोक संख्या ९६ है। इस तरह आरा की प्रतियों से छपी हुई प्रति में २१ और देहली वाली प्रति में २५ श्लोक बढ़े हुए हैं। ये सब बढ़े हुए श्लोक 'क्षेपक' हैं जो मूल ग्रन्थ की भिन्न भिन्न प्रतियों में किसी तरह पर शामिल हो गये हैं और मूल ग्रन्थ के अंगभूत नहीं हैं। इन श्लोकों को निकालकर ग्रन्थ को पढ़ने से उसका सिलसिला ठीक बैठ जाता है और वह बहुत कुछ सुसम्बद्ध मालूम होने लगता है। प्रत्युत् इसके, इन श्लोकों को शामिल करके पढ़ने से उसमें बहुत कुछ बेढंगापन आ जाता है और वह अनेक प्रकार की गड़बड़ी तथा आपत्तियों से पूर्ण जँचने लगता है। इस बात का अनुभव सहृदय पाठक स्वयं ग्रन्थ पर से कर सकते हैं।

इन सब अनुसंधानों के साथ ग्रन्थ को पढ़ने से ऐसा मालूम होता है कि छपी हुई प्रति जिस हस्तलिखित प्रति पर से तैयार की गई है उसमें तथा देहली की प्रति में जो पद्य बढ़े हुए हैं उन्हें या तो किसी विद्वान् ने व्याख्या आदि के लिये अपनी प्रति में टिप्पणी के तौर पर लिख रखा था या ग्रन्थ की किसी कानड़ी आदि टीका में वे विषयसमर्थानादि के लिये 'उक्तं च' आदि रूप से दिये हुए थे, और ऐसी किसी प्रति से नकल करते हुए लेखकों ने उन्हें मूल ग्रन्थ का ही एक अंग समझकर नकल कर डाला है। ऐसे ही किसी कारण से ये सब श्लोक अनेक प्रतियों में प्रक्षिप्त हुए जान पड़ते हैं। और इसलिये यह कहने में कोई संकोच नहीं हो सकता कि ये बढ़े हुए पद्य दूसरे अनेक ग्रन्थों के पद्य हैं। नमूने के तौर पर यहाँ चार पद्यों को उद्धृत करके बतलाया जाता है कि वे कौन कौन से ग्रन्थ के पद्य हैं–

गोपुच्छिकश्वेतवासा द्राविडो यापनीयकः।
निष्पिच्छश्चेति पंचैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः॥१०॥

यह पद्य, जो इन्द्रनन्दि के 'नीतिसार' ग्रन्थ का पद्य है और उसमें भी नं० १० पर दिया हुआ है।

सज्जातिः सद्ग्रहस्थत्वं पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता।
साम्राज्यं परमार्हन्त्यं निर्वाणं चेति सप्तधा॥५६॥

यह पद्य, जो देहली वाली प्रति में पाया जाता है, श्रीजिनसेनाचार्य के 'आदिपुराण' का पद्य है और इसका यहाँ पूर्वापरपद्यों के साथ कुछ भी मेल मालूम नहीं होता।

आप्तस्यासन्निधानेऽपि पुण्यायाकृतिपूजनम्।
तार्क्षमुद्रा न किं कुर्युर्विषसामर्थ्यसूदनम्॥७३॥

यह श्रीसोमदेवसूरि के 'यशस्तिलक' ग्रन्थ का पद्य है और उसके आठवें आश्वास में पाया जाता है।

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः॥९५॥

यह 'चाणक्य नीति' का श्लोक है।

टीका-टिप्पणियों के श्लोक किस प्रकार से मूल ग्रन्थ में शामिल हो जाते हैं इसका विशेष परिचय पाठकों को 'रत्नकरण्डकश्रावकाचार की जाँच'[२] नाम के लेख द्वारा कराया जायेगा।

यहां तक के इस सब कथन से यह बात बिल्कुल साफ हो जाती है कि छपी हुई प्रति को देखकर उसके पद्यों पर जो कुछ संदेह उत्पन्न हुआ था वह अनुचित नहीं था बल्कि यथार्थ ही था, और उसका निरसन आरा की प्रतियों पर से बहुत कुछ हो जाता है। साथ ही, यह बात ध्यान में आ जाती है कि यह ग्रन्थ जिस रूप से छपी हुई प्रति में तथा देहली वाली प्रति में पाया जाता है उस रूप में वह पूज्यपाद का 'उपासकाचार' नहीं है, बल्कि छपी हुई प्रति में से, ऊपर दिये हुए, २१ श्लोक और देहलीवाली प्रति में से २५ श्लोक कम कर देने पर वह पूज्यपाद का उपासकाचार रहता है, और उसका रूप प्रायः वही है जो आरा की प्रतियों में पाया जाता है। संभव है कि ग्रन्थ के अंत में कुछ पद्यों की प्रशस्ति और हो और वह किसी जगह की दूसरी प्रति में पाई जाती हो। उसके लिये विद्वानों को अन्य स्थानों की प्रतियाँ भी खोजनी चाहिए।

अब देखना यह है कि, यह ग्रन्थ कौन से पूज्यपाद आचार्य का बनाया हुआ है। 'पूज्यपाद' नाम के आचार्य एक से अधिक हो चुके हैं। उनमें सबसे ज्यादा प्रसिद्ध और बहुमाननीय आचार्य 'जैनेन्द्र' व्याकरण तथा 'सर्वार्थसिद्धि' आदि ग्रन्थों के कर्ता हुए हैं। उनका दूसरा नाम 'देवनन्दी' भी था, और देवनन्दी नाम के भी कितने ही आचार्यों का पता चलता है।[३] इससे, पर्याय नाम की वजह से यदि उनमें से ही किसी का ग्रहण किया जाये तो किसका ग्रहण किया जाये, यह कुछ समझ में नहीं आता। ग्रन्थ के अंत में अभी तक कोई प्रशस्ति उपलब्ध नहीं हुई और न ग्रन्थ के शुरू में किसी आचार्य का स्मरण किया गया है। हाँ आरा की एक प्रति के अंत में समाप्तिसूचक जो वाक्य दिया है वह इस प्रकार है–

---

२. माणिकचंद्रग्रन्थमाला में प्रकाशित 'रत्नकरण्डकश्रावकाचार' पर जो ८४ पृष्ठों की विस्तृत प्रस्तावना लिखी गई है उसी में रत्नकरण्डक श्रावकाचार की यह सब जाँच शामिल है।

३. एक देवनंदी विनयचंद्र के शिष्य और 'द्विसंधान' काव्य की 'पदकौमुदी' टीका के कर्ता नेमिचंद्र के गुरु थे, और एक देवनंदी आचार्य ब्रह्मलाज्यक के गुरु थे जिसके पढ़ने के लिये संवत् १६२७ में 'जिनयज्ञकल्प' की वह प्रति लिखी गई थी जिसका उल्लेख सेठ माणिकचंद्र के 'प्रशस्तिसंग्रह' रजिस्टर में पाया जाता है।

''इति श्रीवासुपूज्यपादाचार्यविरचित उपासकाचारः समाप्तः॥ ''

इसमें 'पूज्यपाद' से पहले 'वासु' शब्द और जुड़ा है और उससे दो विकल्प उत्पन्न हो सकते हैं। एक तो यह कि यह ग्रन्थ 'वासुपूज्य' नाम के आचार्य का बनाया हुआ है तथा लेखक के किसी अभ्यास की वजह से पूज्यपाद का नाम चित्त पर ज्यादा चढ़ा हुआ तथा अभ्यास में अधिक आया हुआ होने के कारण 'पाद' शब्द उसके साथ में गलती से और अधिक लिखा गया है, क्योंकि 'वासुपूज्य' नाम के भी आचार्य हुए हैं- एक 'वासुपूज्य' श्रीधर आचार्य के शिष्य थे जिनका उल्लेख माघनंदिश्रावकाचार की प्रशस्ति में पाया जाता है और 'दानशासन' ग्रन्थ के कर्ता भी एक 'वासुपूज्य' हुए हैं, जिन्होंने शक संवत् १३४३ में उक्त ग्रन्थ की रचना की है। दूसरा विकल्प यह हो सकता है कि यह ग्रन्थ 'पूज्यपाद' आचार्य का ही बनाया हुआ है और उसके साथ में 'वासु' शब्द लेखक के वैसे ही किसी अभ्यास के कारण गलती से जुड़ गया है। ज्यादातर ख्याल यही होता है कि यह पिछला विकल्प ही ठीक है, क्योंकि आरा की दूसरी प्रति के अंत में भी यही वाक्य दिया हुआ है और उसमें 'वासु' शब्द नहीं है। इसके सिवाय, छपी हुई प्रति और देहली की प्रति में भी यह ग्रन्थ पूज्यपाद का ही बनाया हुआ लिखा है। साथ ही, ''दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्ता और उनके ग्रन्थ'' नाम की सूची में भी पूज्यपाद के नाम के साथ एक श्रावकाचार ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है। इन सब बातों से यह तो पाया जाता है कि यह ग्रन्थ पूज्यपादाचार्य का बनाया हुआ है, परन्तु कौन से 'पूज्यपाद' आचार्य का बनाया हुआ है, यह कुछ मालूम नहीं होता।

ऊपर जिस परिस्थिति का उल्लेख किया गया है उस पर से, यद्यपि, यह कहना आसान नहीं है कि यह ग्रन्थ अमुक पूज्यपाद आचार्य का बनाया हुआ है, परन्तु इस ग्रन्थ के साहित्य को सर्वार्थसिद्धि, समाधितन्त्र और इष्टोपदेश नामक ग्रन्थों के साहित्य के साथ मिलान करने पर इतना जरूर कह सकते हैं कि यह ग्रन्थ उक्त ग्रन्थों के कर्ता श्रीपूज्यपादाचार्य का बनाया हुआ तो नहीं है। इन ग्रन्थों की लेखनी जिस प्रौढ़ता को लिये हुए है, विषय प्रतिपादन का इनमें जैसा कुछ ढंग है और जैसा कुछ इनका शब्द विन्यास पाया जाता है, उसका इस ग्रन्थ के साथ कोई मेल नहीं है। सर्वार्थसिद्धि में श्रावकधर्म का भी वर्णन है, परन्तु वहाँ लक्षणादिरूप से विषय के प्रतिपादन में जैसी कुछ विशेषता पाई जाती है वह यहाँ दृष्टिगोचर नहीं होती। यदि यह ग्रन्थ सर्वार्थसिद्धि के कर्ता का ही बनाया हुआ होता तो, चूँकि यह श्रावकधर्म का एक स्वतंत्र ग्रन्थ था इसलिये, इसमें श्रावकधर्म सम्बन्धी अन्य विशेषताओं के अतिरिक्त उन सब विशेषताओं का भी उल्लेख जरूर होना चाहिए था जो सर्वार्थसिद्धि में पाई जाती हैं। परन्तु ऐसा नहीं है, बल्कि कितनी ही जगह कुछ कथन परस्पर विभिन्न भी पाया जाता है, जिसका एक नमूना नीचे दिया जाता है-

सर्वार्थसिद्धि में 'अनर्थदंडविरति' नाम के तीसरे गुणव्रत का स्वरूप इस प्रकार दिया है-

''असत्युपकारे पापादानहेतुरनर्थदण्डः। ततो विरतिरनर्थदण्डविरतिः॥ अनर्थदण्डः पंचविधः। अपध्यानं, पापोपदेशः, प्रमादचरितम्, हिंसाप्रदानम्, अशुभश्रुतिरिति। तत्र परेषां जयपराजय वध-

बन्धनाङ्गच्छेद –परस्वहरणादि कथं स्यादिति मनसा चिन्तनमपध्यानम्। तिर्यक्क्लेशवाणिज्य-प्राणिवधकारंभादिषु पापसंयुक्तं वचनं पापोपदेशः। प्रयोजनमन्तरेण वृक्षादिच्छेदनभूमिकुट्टनसलिल-सेचनाद्यवद्यकार्यं प्रमादाचरितं। विषकण्टकशस्त्राग्निरज्जुकशा-दण्डादिहिंसोपकरणप्रदानं हिंसाप्रदानम्। हिंसारागादिप्रवर्धनदुष्टकथाश्रवण-शिक्षण-व्यापृतिरशुभश्रुतिः॥''

इस स्वरूप कथन में अनर्थदंडविरति का लक्षण, उसके पाँच भेदों का नामनिर्देश और फिर प्रत्येक भेद का स्वरूप बहुत ही जँचे तुले शब्दों में बतलाया गया है। और यह सब कथन तत्त्वार्थसूत्र के उस मूल सूत्र में नहीं है जिसकी व्याख्या में आचार्य महोदय ने यह सब कुछ लिखा है। इसलिये यह भी नहीं कहा जा सकता कि मूल ग्रन्थ के अनुरोध से उन्हें वहाँ पर ऐसा लिखना पड़ा है। वास्तव में, उनके मतानुसार, जैनसिद्धांत का इस विषय में ऐसा ही आशय जान पड़ता है कि उसी को उन्होंने प्रदर्शित किया है। अब उपासकाचार में दिये हुए इस व्रत के स्वरूप को देखिये–

पाशमण्डलमार्जारविषशस्त्रकृशानवः ।
न पापं च अमी देयास्तृतीयं स्याद्गुणव्रतम्॥१९॥

इसमें अनर्थदंडविरति का सर्वार्थसिद्धि वाला लक्षण नहीं है और न उसके पाँच भेदों का कोई उल्लेख है। बल्कि यहाँ इस व्रत का जो कुछ लक्षण अथवा स्वरूप बतलाया गया है। वह अनर्थदण्ड के पाँच भेदों में से 'हिंसाप्रदान' नाम के चौथे भेद की विरति से ही सम्बन्ध रखता है। इसलिये, सर्वार्थसिद्धि की दृष्टि से यह लक्षण लक्ष्य के एक देश में व्यापने के कारण अव्याप्ति दोष से दूषित है, और कदापि सर्वार्थसिद्धि के कर्ता का नहीं हो सकता।

इस प्रकार के विभिन्न कथनों से भी यह ग्रन्थ सर्वार्थसिद्धि के कर्ता श्रीपूज्यपाद स्वामी का बनाया हुआ मालूम नहीं होता, तब यह ग्रन्थ दूसरे कौन से पूज्यपाद आचार्य का बनाया हुआ है और कब बना है, यह बात अवश्य जानने के योग्य है और इसके लिये विद्वानों को कुछ विशेष अनुसंधान करना होगा। मेरे ख्याल में यह ग्रन्थ पं० आशाधर के बाद का १३वीं शताब्दी से पीछे का बना हुआ मालूम होता है। परन्तु अभी मैं इस बात को पूर्ण निश्चय के साथ कहने के लिये तय्यार नहीं हूँ। विद्वानों को चाहिए कि वे स्वयं इस विषय की खोज करें और इस बात को मालूम करें कि किन किन प्राचीन ग्रन्थों में इस ग्रन्थ के पद्यों का उल्लेख पाया जाता है। साथ ही, उन्हें इस ग्रन्थ की दूसरी प्राचीन प्रतियों की भी खोज लगानी चाहिए। संभव है कि उनमें से किसी प्रति में इस ग्रन्थ की प्रशस्ति उपलब्ध हो जाये।

इस लेख पर से पाठकों को यह बतलाने की जरूरत नहीं है कि भण्डारों में कितने ही ग्रन्थ कैसी संदिग्धावस्था में मौजूद हैं, उनमें कितने अधिक क्षेपक शामिल हो गये हैं। और वे मूल ग्रन्थकर्ता की कृति को समझने में क्या कुछ भ्रम उत्पन्न कर रहे हैं। ऐसी हालत में, प्राचीन प्रतियों पर से ग्रन्थों की जाँच करके उनका यथार्थ स्वरूप प्रकट करने की और उसके लिये एक जुदा ही विभाग स्थापित करने की कितनी अधिक जरूरत है, इसका अनुभव सहृदय पाठक स्वयं कर सकते हैं। प्राचीन प्रतियाँ दिन

पर दिन नष्ट होती जाती हैं। उनसे शीघ्र स्थायी काम ले लेना चाहिए। नहीं तो उनके नष्ट हो जाने पर यथार्थ वस्तुस्थिति के मालूम करने में फिर बड़ी कठिनता होगी और अनेक प्रकार की दिक्कतें पैदा हो जायेंगी। कम से कम उन खास खास ग्रन्थों की जाँच तो जरूर हो जानी चाहिए जो बड़े-बड़े प्राचीन आचार्यों के बनाये हुए हैं अथवा ऐसे आचार्यों के नाम से नामांकित है और इसलिये उनमें उसी नाम के प्राचीन आचार्यों के बनाए हुए होने का भ्रम उत्पन्न होता है। आशा है, हमारे दूरदर्शी भाई इस विषय की उपयोगिता को समझकर उस पर जरूर ध्यान देने की कृपा करेंगे।

सरसावा, जिला-सहारनपुर।
ता. २५ नवम्बर सन् १९२१ **जुगलकिशोर मुख्तार**

चर्चासागर के बड़े भाई की जाँच
अर्थात्
सूर्यप्रकाश-परीक्षा
प्रास्ताविक निवेदन

आजकल 'चर्चासागर' ग्रन्थ जैनसमाज में सर्वत्र चर्चा का विषय बना हुआ है और सब ओर से उसका भारी विरोध हो रहा है। ऐसे ग्रन्थ के इस विरोध को देखकर मेरी प्रसन्नता का होना स्वाभाविक है, क्योंकि आज से कोई अठारह वर्ष पहले मैंने अन्धश्रद्धा की नींद में पड़े हुए जैनसमाज को जगाने और उसमें विचारस्वातन्त्र्य तथा तुलनात्मक पद्धति से ग्रन्थों के अध्ययन को उत्तेजन देने के लिए ग्रन्थों की परीक्षा के (उनके विषय में गहरी जाँचपूर्वक स्पष्ट घोषणा करने के) जिस भारी काम को प्रारम्भ किया था, और जो कई साल तक जारी रहा, वह आज कुछ विशेष रूप से फलित होता हुआ नजर आता है। उस वक्त आम तौर पर विद्वानों तक में इतना मनोबल और साहस नहीं था कि वे जैन की मुहर लगे हुए और जैन मन्दिरों के शास्त्र भण्डारों में विराजित किसी भी ग्रन्थ के विरोध में प्रकट रूप से कोई शब्द कह सकें। और तो क्या, मेरे परीक्षालेखों को पढ़कर और उन पर से यह जानकर भी कि ये ग्रन्थ धूर्तों के रचे हुए, जाली तथा बनावटी हैं बहुतों को उन पर अपनी स्पष्ट सम्मति देने की हिम्मत तक नहीं हुई थी। यद्यपि उसे अच्छी जाँच-पड़तालपूर्वक देने के लिये मैंने बारबार विद्वानों से निवेदन भी किया था। इसी से तत्कालीन 'जैनहितैषी' पत्र के सम्पादक प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित नाथूराम जी प्रेमी ने कोई चार वर्ष बाद सितम्बर १९१७ में मेरे कुछ परीक्षालेखों को पुस्तकाकार छपाते हुए लिखा था कि-

''इन लेखों ने जैनसमाज को एक नवीन युग का सन्देश सुनाया है और अन्धश्रद्धा के अन्धेरे में पड़े हुए लोगों को चकाचौंधा देने वाले प्रकाश से जागृत कर दिया है। यद्यपि बाह्य दृष्टि से अभी तक इन लेखों का कोई स्थूल प्रभाव व्यक्त नहीं हुआ है, तो भी विद्वानों के अन्तरंग में एक शब्दहीन हलचल बराबर हो रही है, जो समय पर कोई अच्छा परिणाम लाये बिना नहीं रहेगी।''

प्रेमी जी की उक्त भविष्यवाणी क्रमशः सत्य होती जाती है। इस विषय में विद्वानों का वह संकोच बराबर दूर हो रहा है और वे परीक्षाप्रधानता तथा स्पष्टवादिता को अपनाते जाते हैं। और इसीलिये आज संख्याबद्ध विद्वान् तथा दूसरे प्रतिष्ठित सज्जन 'चर्चासागर' को लेकर ऐसे दूषित ग्रन्थों का विरोध करने के लिए मैदान में आ गये हैं। यह सब उन परीक्षालेखों से होनेवाली उस शब्दहीन हलचल का ही परिणाम है जिसे प्रेमी जी ने उस वक्त अनुभव किया था। और इसी से आज 'जैनजगत्' के सहसम्पादक महाशय अपने २३ नवम्बर के पत्र में लिख रहे हैं कि-

''चर्चासागर' के सम्बन्ध में जैन समाज में जो चर्चा चल रही है, उसमें प्रत्यक्षरूप से यद्यपि आप भाग नहीं ले रहे हैं, किन्तु वास्तव में इसका सारा श्रेय आपको है। यह सब आपके उस परिश्रम

का फल है जो आज से क़रीब १०-१२ वर्ष पहले से आप करते आ रहे हैं। जिस बात के कहने के लिये उस समय आपको गालियाँ मिली थीं, वही आज स्थितिपालक दल के स्तम्भों द्वारा कही जा रही है।''

जिन्होंने मेरी ग्रन्थ-परीक्षाओं तथा दूसरी विवेचनात्मक पुस्तकों को पहले से नहीं देखा था, उन विद्वानों में से एक प्रसिद्ध न्यायतीर्थ जी हाल में ग्रन्थ परीक्षा के तृतीय भाग (सोमसेन त्रिवर्णाचार की परीक्षा) और ''विवाह क्षेत्र प्रकाश'' को पढ़कर अपने १६ नवम्बर के पत्र में लिखते हैं कि-

''आपकी इन पुस्तकों को पढ़कर बड़ा ही आनन्द आता है। यह सब पुस्तकें विद्यार्थी-जीवन में ही पढ़ लेना चाहिए थीं, मगर दुःख का विषय है कि उन पांजरापोलों या काँजी हाउसों (कानी भौतों) में विद्यार्थियों को ऐसे साहित्य का भान भी नहीं कराया जाता है। मेरी प्रबल इच्छा है कि आपकी और प्रेमी जी की तमाम रचनायें पढ़ जाऊँ। क्या आप नाम लिखने की कृपा करेंगे?...खेद है कि सामाजिक संस्थाओं में हम लोग इन ज्ञानव्यापक बनाने वाली पुस्तकों से बिल्कुल अपरिचित रखे जाते हैं। इसीलिये विद्यार्थी ढब्बू निकलते हैं।''

इसी तरह पर दूसरे विद्वान् भी चर्चा के इस वातावरण में अपने लेखादिकों के द्वारा उन ग्रन्थ परीक्षाओं का अभिनन्दन कर रहे हैं, तथा आर्यसमाज के साथ के शास्त्रार्थों तक में कुछ जैन पण्डितों को यह घोषित कर देना पड़ा है कि हम इन त्रिवर्णाचार जैसे ग्रन्थों को प्रमाण नहीं मानते हैं। कुछ विद्वानों ने तो जिनमें दो न्यायतीर्थ भी शामिल हैं, चर्चासागर की भी साङ्गोपाङ्ग परीक्षा कर देने की मुझे प्रेरणा की है और यह सब उन परीक्षा लेखों की सफलता को लिये हुए भावी का एक अच्छा शुभ लक्षण जान पड़ता है। अतः मेरे लिये एक प्रकार से आनन्द का ही विषय है और मुझे ग्रन्थपरीक्षा का जो राजमार्ग खुला है, उस पर बहुतों को चलते तथा चलने के लिये उद्यत देखकर निःसन्देह प्रसन्नता होती है।

परन्तु साथ ही यह देखकर आश्चर्य के साथ कुछ खेद भी होता है कि लोग इस चर्चासागर के विरुद्ध जितना टूटकर पड़े हैं, उसका शतांश भी वे उन त्रिवर्णाचार (धर्मरसिक) आदि ग्रन्थों का विरोध नहीं कर रहे हैं जिनके आधार पर इस ग्रन्थ में धर्मविरुद्ध तथा आपत्तिजनक विषयों को चर्चित किया गया और विधेय ठहराया गया है। क्या विषवृक्ष के मूल में कुठाराघात न करके उसे सींचते रहने और बनाये रखने पर यह आशा की जा सकती है कि उसमें पत्र-पुष्पादि का प्रादुर्भाव नहीं होगा? कदापि नहीं। जब तक इन दूषित मूलग्रन्थों का अस्तित्त्व अक्षुण्ण बना रहेगा अथवा उनकी भूमि पर अन्धश्रद्धा का वृक्ष लहलहाता रहेगा, तब तक ऐसे असंख्य चर्चासागर रूपी पत्र पुष्पों की उत्पत्ति को कोई रोक नहीं सकता। इसमें बेचारे उन अन्धश्रद्धालुओं का विशेष अपराध भी क्या कहा जा सकता है, जो उपलब्ध ग्रन्थों पर से कुछ विषयों की चर्चाओं का संग्रह करते हैं, जबकि उन ग्रन्थों के विषय में उनके भीतर यह रूह (स्पिरिट) फूँकी गई है कि वे सब जिनवाणी हैं और इसलिए उन पर संदेह करना अथवा उनके विरुद्ध विचार करना अधर्म तथा मिथ्यात्व है। यह सब अपराध ऐसी मिथ्या रूह (चेतना)

फूंकने वाले ग्रन्थकर्ताओं तथा उनके प्रचारकों आदि का है, और कुछ उनका भी है जो यह जानते हुए भी कि ये ग्रन्थ विषमिश्रित हैं, धर्मविरुद्ध कथनों से भरे हुए हैं, उनके विषय में चुप्पी साधे हुए हैं, उनसे जनता को सावधान करने की हिम्मत नहीं रखते हैं अथवा उन पर ''विष है'' ऐसा लेबल लगाने में प्रमाद करते हैं। क्या जो लोग यह जानते हुए भी कि अमुक सिक्का, अथवा नोट जाली है, उसे चलने देते हैं, वे दूसरों के ठगाये जाने में मदद नहीं करते हैं? जरूर करते हैं और इसलिये अपराधी हैं।

यह ठीक है कि ग्रन्थकार पण्डित चम्पालाल जी ने अनेक स्थानों पर अर्थ का अनर्थ किया है, चालाकी से काम लिया है और कितनी ही विरुद्ध बातें अपनी तरफ़ से भी ऐसी जोड़ दी हैं जिनका कोई प्रमाण नहीं दिया गया, ऐसा ग्रन्थ से जान पड़ता है। परन्तु जो मुद्रित ग्रन्थ हमारे सामने हैं, वह अपने मूलरूप में नहीं किन्तु भाषा के परिवर्तनादि को लिये हुए है। हो सकता है कि इसमें उन भाषापरिवर्तक तथा सम्पादक महाशयों की भी कुछ लीला शामिल हो गई हो, जिन्हें अपना नाम देने तक में संकोच हुआ है, जिनके नाम पीछे से पत्रों में कुछ रहस्य के साथ प्रकट हो रहे हैं[१] और जिन्होंने अपने कर्तव्य के पालन में यहाँ तक उपेक्षा तथा आनाकानी की है कि पब्लिक को इतनी भी सूचना नहीं दी कि इस ग्रन्थ की भाषा परिवर्तित की गई है तथा इसके सब फुटनोट उनकी अपनी कृति हैं–ग्रन्थकर्ता की नहीं। और इसलिए उन्होंने पब्लिक को एक प्रकार से धोखे में रखा है और यह सब उनके नैतिक बल की त्रुटि का अच्छा सूचक है तथा उनके विषय में काफ़ी सन्देह पैदा करता है। ऐसी हालत में जब तक ग्रन्थ की हस्तलिखित कापी अपने असली (अपरिवर्तित) रूप में सामने न हो अथवा उस पर से कोई निष्पक्ष विद्वान् अपनी जाँच की रिपोर्ट प्रकट न करे तब तक पण्डित चम्पालाल जी पर किसी विषय का सीधा आरोप नहीं लगाया जा सकता है।

हाँ, यदि यह मान लिया जाये और जाँच से साबित हो जाये, जिसकी अधिकांश में सम्भावना है, कि मात्र भाषापरिवर्तन के सिवाय ग्रन्थ में दूसरा कोई ख़ास गोलमाल नहीं हुआ है, फुटनोट बेशक सम्पादकादिक के लगाये हुए हैं, तो पण्डित चम्पालाल जी ने जितने अंशों में जानबूझकर अर्थ अनर्थादि किया है, कुछ विरुद्ध तथा अनर्थकारी बातों को यों ही अपनी तरफ़ से जोड़ा है अथवा किसी कषायवश दूषित साहित्य को इस तरह पर प्रचार देने का यतन किया है, उतने अंशों में वे इस विषय के विशेष अपराधी जरूर हैं। और तब यह उनकी अक्षम्य धृष्टता है जो वे इस ग्रन्थ के सब कथनों को 'भगवान् अरहन्त की आज्ञानुसार' बतलाते हैं और इसे 'जिनवाणी' प्रतिपादित करते हैं।

परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी इतना तो स्पष्ट है कि 'चर्चासागर' नाम का जो मुद्रित ग्रन्थ हमारे सामने हैं, उसमें 'त्रिवर्णाचार' तथा 'धर्मरसिक' नाम से बहुत से धर्मविरुद्ध कथन पाये जाते

१. इसे ढूँढारी भाषा से हिन्दी में परिवर्तित करने वालों में पण्डित लालाराम जी का और इसके प्रधान सम्पादकों तथा प्रचारकों में उनके भाई पण्डित नन्दनलालजी का नाम प्रकट हुआ है, जो इस समय ब्र० ज्ञानचन्द्रजी के रूप में थे और अब क्षुल्लक ज्ञानसागरजी के रूप में मुनिसंघ में उपस्थित हैं।

हैं और वे सब 'सोमसेन त्रिवर्णाचार' में मौजूद हैं, जिसे 'धर्मरसिक' भी कहते हैं और जिसमें धर्मविरुद्ध कथन बहुत कुछ कूट-कूट कर भरे हुए हैं, जिनका बहुत कुछ पता ग्रन्थ की उस विस्तृत परीक्षा से सहज ही में चल सकता है जो ग्रन्थ परीक्षा के तृतीय भाग में २६६ पृष्ठों में दर्ज है। इसी तरह 'उमास्वामि श्रावकाचार' आदि दूसरे जाली तथा अर्द्धजाली ग्रन्थों के प्रमाणों का हाल है। इन मिथ्यात्वपोषक तथा अन्धश्रद्धा के गढ़रूप मूल ग्रन्थों का पूर्णतया विरोध न करके उनकी कुछ चर्चाओं को संग्रह करने वाले ग्रन्थ का विरोध करना क्या अर्थ रखता है, यह मेरी कुछ समझ में नहीं आता। और इसीलिये ऐसे एकांगी विरोध को देखते हुए मुझे कुछ आश्चर्य होता है।

'सोमसेन-त्रिवर्णाचार' के दो संस्करण हो चुके-एक में वह मराठी टीकासहित प्रकाशित हुआ और दूसरे में हिन्दी टीकासहित। जगह-जगह मन्दिरों में उसकी कापियाँ पाई जाती हैं और उसे भी दूसरे ग्रन्थों के साथ नित्य अर्घ्य चढ़ाया जाता है। यह सब विष-वृक्षों को सींचना और उसे बनाये रखना नहीं तो और क्या है?

अतः चर्चासागर के विरोध में लेखनी उठाने वालों का यह पहला कर्तव्य होना चाहिए कि वे उन ग्रन्थों का खुला विरोध करें, जिनके आधार पर वस्तुतः धर्मविरुद्ध कथनों अथवा आपत्तिजनक विषयों को ग्रन्थ में चर्चित और प्रतिपादित किया गया है। उनमें से जिन ग्रन्थों की परीक्षायें अभी तक नहीं हो पाई हैं[२] उनकी पूरी जाँच तथा सांगोपांग परीक्षा का भी अपनी शक्तिभर पूरा यतन करना और कराना चाहिए, जिससे सर्वसाधारण उनके स्वरूपादि से भले प्रकार परिचित हो सकें और उनके विषय में जिनवाणीत्व की जो मिथ्या रूह उनके भीतर फूँकी हुई है कि वह निकलकर, उनकी श्रद्धा का सुधार हो सके।

मेरा विचार ''चर्चासागर'' जैसे ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी प्रायः वही है, जिसे मैं अपनी ग्रन्थपरीक्षाओं में आम तौर पर और ''सोमसेन-त्रिवर्णाचार'' की परीक्षा के अन्त में ख़ास तौर पर प्रकट कर चुका हूँ। मैं ऐसे ग्रन्थों को जैनग्रन्थ नहीं, किन्तु जैनग्रन्थों के कलंक समझता हूँ। इनमें रत्नकरण्ड श्रावकाचारादि जैसे कुछ आर्ष ग्रन्थों के वाक्यों का जो संग्रह किया गया है, वह ग्रन्थकर्ताओं की एक प्रकार की चालाकी है, धोखा है, मुलम्मा है अथवा विरुद्ध कथनरूपी जाली सिक्कों को चलाने आदि का एक साधन है। उन्होंने उनके सहारे से अथवा उनकी ओट में उन मुसलमानों की तरह अपना उल्लू सीधा करना चाहा है, जिन्होंने भारत पर आक्रमण करते समय गौओं के एक समूह को अपनी सेना के आगे कर दिया था। और जिस प्रकार गोहत्या के भय से हिन्दुओं ने उन आक्रमण नहीं किया था उसी प्रकार शायद आर्षवाक्यों की अवहेलना का कुछ ख़याल करके

---

२. निम्नलिखित ग्रन्थों की विस्तृत परीक्षायें लेखक द्वारा हो चुकी हैं और उन्हें 'जैनग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, बम्बई' ने तीन भागों में प्रकाशित किया है, जो सब पढ़ने तथा ऐसे दूषित साहित्य के विरोध में प्रचार करने के योग्य हैं- १. उमास्वामी-श्रावकाचार, २. कुन्दकुन्दश्रावकाचार, ३. जिनसेन-त्रिवर्णाचार, ४. भद्रबाहु-संहिता, ५. सोमसेन-त्रिवर्णाचार, ६. धर्मपरीक्षा (श्वेताम्बर)।

उन जैन विद्वानों ने, जिनके परिचय में ऐसे ग्रन्थ अब तक आते रहे हैं, उनका जैसा चाहिए वैसा विरोध नहीं किया है। परन्तु आर्षवाक्य और आर्षवाक्यों के अनुकूल कहे गये दूसरे प्रतिष्ठित विद्वानों के वाक्य अपने-अपने स्थान पर माननीय तथा पूजनीय हैं, धूर्त लोगों ने उन्हें जैनधर्म, जैनसिद्धान्त, जैननीति तथा जैन-शिष्टाचार आदि से विरोध रखनेवाले और जैन-आदर्श से गिरे हुए कथनों के साथ में गूंथकर अथवा मिलाकर उनका दुरुपयोग किया है और इस तरह ऐसे समूचे ग्रन्थों को विषमिश्रित भोजन के समान बना दिया है, जो त्याग किये जाने के योग्य होता है। विषमिश्रित भोजन का विरोध जिस प्रकार भोजन का विरोध नहीं कहलाता उसी तरह पर ऐसे ग्रन्थों के विरोध को भी आर्षवाक्यों अथवा जैनशास्त्रों का विरोध या उनकी कोई अवहेलना नहीं कहा जा सकता। अतः विद्वानों तथा दूसरे विवेकी जनों को ऐसे ग्रन्थों के विरुद्ध अपना विचार प्रकट करने में जरा भी संकोच न होना चाहिए, संकोच से उन्हें ऐसे ग्रन्थों द्वारा होने वाले अनर्थ का भागी होना पड़ेगा। अस्तु।

अब मैं पाठकों तथा समाज का ध्यान एक दूसरी ओर आकर्षित करना चाहता हूँ और वह है ''चर्चासागर का बड़ा भाई''। मुनि शान्तिसागर जी के संघ की असीम कृपा से जहाँ हमें 'चर्चासागर' जैसे ग्रन्थरत्न की प्राप्ति हुई है, वहाँ प्रसाद रूप में एक दूसरा अपूर्व ग्रन्थ और भी मिला है, जिसका नाम है 'सूर्यप्रकाश'। दोनों का उद्गम स्थान एक ही संघ और दोनों के निर्माण तथा प्रकाशनादि में एक ही मुख्य स्पिरिट (मनोवृत्ति) अथवा उद्देश्य के होने से इन्हें भाई-भाई कहना तो सार्थक है ही, परन्तु 'सूर्यप्रकाश' को चर्चासागर का बड़ा भाई कहना तो और भी सकारण है। क्योंकि-

(१) एक तो यह (सूर्यप्रकाश) चर्चासागर से कोई डेढ़ वर्ष बड़ा है, इसका जन्म जब विक्रम संवत् १९०९ के श्रावण मास में हुआ है, तब चर्चासागर ने वि०सं० १९१० के माघ मास में अवतार लिया है।

यहाँ पर किसी को यह आशंका नहीं करनी चाहिए कि चर्चासागर में तो उसका निर्माणकाल वि०सं० १८१० दिया हुआ है। यह सब अपना नाम गुप्त रखनेवाले यार लोगों की चालाकी है। उन्होंने ग्रन्थ को वृद्धता का कुछ मान देने के लिए उसकी आयु में एक दम १०० वर्ष की वृद्धि कर दी है। अन्यथा, ग्रन्थ में संवत् जिन 'दिग हरि चन्द्र' शब्दों में दिया हुआ है, उनका स्पष्ट अर्थ १९१० होता है, फुट नोट लगाने वालों ने दिग, हरि और चन्द्र पर क्रमशः ६, ७, ८ डालकर फुटनोट में उनका अर्थ देते हुए 'दिशायें दश हैं', 'चन्द्र एक को कहते हैं' इतना तो लिखा है, परन्तु हरि अर्थात् नारायण ८ होते हैं या ९ ऐसा कुछ लिखा नहीं। 'हरि' शब्द का अर्थ बिल्कुल ही छोड़ दिया है और वैसे ही गोलमाल करते हुए लिख दिया है कि-

''इन सबके मिलाने से तथा अङ्कानां वामो गतिः अर्थात् अङ्कों की गति बाँई ओर को होती है इस न्याय से १८१० है। अर्थात् विक्रम संवत् १८१० में यह ग्रन्थ बना।''

यह चालाकी नहीं तो और क्या है? ग्रन्थ में तो २२९वीं चर्चा के अन्तर्गत, पृ. ४५७ पर, भीष्म पन्थ की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए, उसका स्पष्ट संवत् ''अठारह सौ तेईस को साल'' तक दिया

हुआ है, तब यह ग्रन्थ १८१० में कैसे बन सकता है, इसे पाठक स्वतः समझ सकते हैं।

और 'सूर्यप्रकाश' में तो इस विषय की चालाकी और भी बढ़ी-चढ़ी है। उसमें अनुवादक-सम्पादक ब्र. ज्ञानचन्द्रजी (वर्तमान क्षुल्लक ज्ञानसागरजी) ने निर्माणकाल विषयक श्लोक का अर्थ ही नहीं दिया, जबकि उसी प्रकार के बीसियों संख्यावाचक श्लोकों का ग्रन्थ में अर्थ दिया गया है। और मजा यह है कि अर्थ न देने का कोई कारण भी नहीं बतलाया और न उसके छोड़ने की कोई सूचना ही की गई है। लाचार ग्रन्थप्रकाशक सेठ रावजी सखाराम दोशी से उनके भूमिकात्मक दो शब्दों में यह कहलाया गया है कि ''अन्त में जो निर्माणकाल बताया है उसका अर्थ अस्पष्ट है। इसलिये पाठक उसको ध्यान से पढ़ें और मनन करें।'' परन्तु अर्थ तो कुछ दिया ही नहीं गया जिसके विषय में अस्पष्टता की प्रकाशक महाशय खुद कुछ कल्पना करता और श्लोक का पाठ कुछ अस्पष्ट है नहीं, वह तो अपने स्पष्ट रूप में इस प्रकार है-

अंकाभ्रनन्देन्दु प्रमे हि चाब्दे मित्राद्रि-शैलेन्दु-सुशाकयुक्ते।
मासे नभाख्ये शुभनन्दघस्त्रे विरोचनस्यैव सुवारके हि॥

और इस श्लोक पर से स्पष्ट जाना जाता है कि यह ग्रन्थ 'वि०सं० १९०९ तथा शक सं० १७७४ के श्रावण मास में शुक्ल नवमी के दिन रविवार को' बनकर समाप्त हुआ है। अगले दो श्लोकों में, जिनका अर्थ निरंकुशता-पूर्वक कुछ घटा-बढ़ाकर[३] दिया गया है, ग्रन्थ के द्रोणीपुर के पार्श्वनाथ-जिनालय में समाप्त होने की सूचना समय, नक्षत्र और योग के नामोल्लेखपूर्वक की गई है, साथ ही कुछ आशीर्वाद भी दिया गया है।

इस सारी स्थिति पर से ऐसा मालूम होता है कि उक्त श्लोक का अर्थ न देने में अनुवादकादि का यह ख़ास आशय रहा है कि सर्वसाधारण पर यह बात प्रकट न होने पाये कि ग्रन्थ इतना अधिक आधुनिक है, अर्थात् इस बीसवीं शताब्दी का ही बना हुआ है।

(२) दूसरे, छपकर प्रकाशित भी यह ग्रन्थ चर्चासागर से एक वर्ष एक महीना पहले हुआ है। यह अगस्त १९२९ में मुद्रित और प्रकाशित है तो वह सितम्बर १९३० में।

(३) तीसरे, नाम माहात्म्य की दृष्टि से भी सूर्यप्रकाश बड़ा है, जो सागर के भी ऊपर रहता है। अनेक सागरों को प्रकाशित करता है और जिसके बिना सब कुछ अन्धकारमय है।

(४) चौथे, इसकी मूल रचना गीर्वाणभाषा संस्कृत में हुई है जो कि सब आर्यभाषाओं में बड़ी है, जबकि चर्चासागर आधुनिक हिन्दी भाषा का ग्रन्थ है। उसमें संस्कृतादि के वाक्यों को इधर-उधर से उधार लेकर रखा गया है। प्रकाशक महाशय ने इसके कुछ अशुद्ध प्रयोगों को प्रचलित संस्कृत व्याकरण तथा कोष-सम्मत न देखकर जो उसे 'अपभ्रंश' भाषा का ग्रन्थ मान लेने की सलाह दी है, वह निरर्थक है। जान पड़ता है वे अपभ्रंश भाषा के स्वरूप से बिल्कुल ही अनभिज्ञ हैं। अच्छा होता यदि वे उनके विषय में आर्ष प्रयोगों की कल्पना कर डालते और इस तरह पर ग्रन्थकार की त्रुटियों

३. यह निरंकुशता अनुवाद में सर्वत्र पायी जाती है।

को महत्त्व का रूप दे देते।

(५) पाँचवें, 'सूर्यप्रकाश' पर आचार्य शान्तिसागरजी की प्रशंसा की मुहर लगी हुई है, जिससे प्रेरित होकर ही द्रव्यदाताओं ने (गाँधी नेमचन्द मियाचन्द आदि तीन भाइयों ने) उसके उद्धार के लिये धन खर्च किया है, जबकि 'चर्चासागर' पर वैसी कोई मुहर नहीं है। हाँ बाद को 'जैनजगत्' में प्रकाशित सेठ गम्भीरमल जी पाण्ड्या के वक्तव्य से मालूम हुआ कि उनसे उसकी प्रशंसा करनेवाले और उसे 'महान् उपयोगी' बतलाने वाले ब्र. ज्ञानचन्द्रजी तथा क्षुल्लक चन्द्रसागरजी थे। उन्हीं की प्रेरणा तथा उपदेश से उन्होंने उसके प्रकाशनार्थ द्रव्य दान किया था और ये दोनों ही शान्तिसागरजी के शिष्य हैं। अतः शिष्य-प्रशंसित की अपेक्षा गुरु-प्रशंसित को स्वभावतः ही बड़प्पन की प्राप्ति है। शायद इसी से उक्त ब्र. ज्ञानचन्द्र जी ने जो ग्रन्थ के अनुवादक भी हैं, सम्पादक के तौर पर ग्रन्थ पर अपना नाम देना गौरव की वस्तु समझा है। जबकि 'चर्चासागर' का सम्पादन करने पर भी उन्हें उस पर अपना नाम किसी रूप में भी देने में संकोच हुआ है।

(६) छठे, 'चर्चासागर' की कोई क़ीमत नहीं है, वह यों ही मुफ्त बँटता फिरता है। जबकि 'सूर्यप्रकाश' पर सेठों द्वारा द्रव्य की सहायता प्राप्त होने पर भी २ रुपये क़ीमत दर्ज है और इसीलिये दो रुपये उसकी भेंट करने पड़ते हैं, जो सम्भवतः उसकी बड़ाई का चिह्न है।

(७) सातवें, 'सूर्यप्रकाश' में सबसे अधिक बड़प्पन की बात यह है कि वह 'चर्चासागर' की अपेक्षा अधिक तथा गहरे प्रपञ्च को लिये हुए है! उसमें सबकुछ अपना इष्ट जैसे तैसे भविष्य-वर्णन के रूप में भगवान् महावीर के मुख से कहलाया गया है, श्वेताम्बरों, ढूँढियों, तेरहपंथियों और सुधारकों आदि को भरपेट गालियाँ भी उन्हीं के श्रीमुख से दिलाई हैं! और इसलिये वह सोलहों आने जिनवाणी है। खुद ग्रन्थकार ने उसका विशेषण भी 'जिनवक्तज' अर्थात् जिनमुखोत्पन्न दिया है। जबकि 'चर्चासागर' के विधाता ने इधर-उधर की नई-पुरानी चर्चाएँ करते हुए जो कुछ बुरा-भला कहा है वह सब अपने शब्दों में कहा है और उसके प्रमाण में यथासम्भव दूसरे ग्रन्थों के वाक्यों को उद्धृत किया है जो जैनाचार्यों, भट्टारकों, जैनपण्डितों तथा धूर्तों और अजैन विद्वानों तक के बनाये हुए हैं। इसीलिये चर्चासागर को पूरे तौर पर जिनवाणी का दर्जा प्राप्त नहीं है।

इस तरह पर 'सूर्यप्रकाश' को मैंने चर्चासागर का बड़ा भाई निश्चित किया है। इसका दर्शन-सौभाग्य मुझे हाल में ही प्राप्त हुआ है। बम्बई से सुहृद्वर पण्डित नाथूराम जी प्रेमी ने इसे रजिस्ट्री कराकर मेरे पास भेज दिया है और साथ ही यह अनुरोध किया है कि मैं इसकी परीक्षापूर्वक कुछ विशेष आलोचना कर दूँ, जिससे इसके द्वारा जो अनर्थ फैलाया जा रहा है, वह रोका जा सके। आते ही दो तीन दिन के भीतर मैंने इस ४१२ पृष्ठ के सानुवाद मोटे ग्रन्थ पर सरसरी तौर पर एक नजर डाली और उस पर से यह ग्रन्थ मुझे बहुत कुछ निःसार, अनुदार, प्रपञ्ची तथा असम्बद्धप्रलापी जान पड़ा। साथ ही, यह भी जान पड़ा कि अनुवादक महाशय ने इच्छानुकूल उलटा-सीधा तथा प्रपञ्चमय अर्थ कर ग्रन्थ के इन गुणों को और भी बढ़ा दिया है और उसके विषय में 'एक तो करेला दूसरे नीमचढ़ा' की

कहावत को चरितार्थ किया है। और इसलिये मैंने इस ग्रन्थ की विशेष आलोचना का निश्चय किया।

यह 'सूर्यप्रकाश' पण्डित नेमिचन्द्र का बनाया हुआ है। ग्रन्थ के अन्त में उनकी एक प्रशस्ति भी लगी हुई है, जिससे मालूम होता है कि चम्पावतीपुर में स्वर्णकीर्ति नाम के कोई सूरि (भट्टारक) थे, उनके शिष्य राजमल्ल, राजमल्ल के शिष्य फतेचन्द्र, फतेचन्द्र के शिष्य वृन्दावन, वृन्दावन के शिष्य सीताराम और सीताराम के शिष्य शिवजीराम हुए, तो पहले कुछ वर्ष चम्पावतीपुर में रहे, फिर तक्षपुर में रहने लगे और अन्त को वहाँ से भी चलकर द्रोणी (दूनी) पुर में आ बस। उन्हीं पण्डित शिवजीराम के ग्रन्थकार महाशय शिष्य थे।

ये सब शिष्य-प्रशिष्यजन और पण्डित चम्पालाल जी प्रायः उसी समय की पौध हैं, जबकि भट्टारकीय लीलाओं के विरोधरूप दिगम्बर तेरहपंथ अच्छी तरह से उत्पन्न हो चुका था, अपना विस्तार कर रहा था और भट्टारकानुयायियों तथा तेरहपंथियों में द्वन्द्व युद्ध चल रहा था। चर्चासागर और सूर्यप्रकाश दोनों उसी समय की स्पिरिट (मनोवृत्ति) को लिये हुए हैं और उसी युद्ध का परिणाम हैं। उस वक्त इस प्रकार का कितना ही साहित्य-निर्माण हुआ जान पड़ता है, परन्तु तेरहपंथी विद्वानों के प्रबल युक्तिवाद और प्रभाव के सामने उसका अधिक प्रचार नहीं हो सका था। किन्तु दुःख तथा खेद का विषय है कि आज कुछ पण्डित लोग, सम्भवतः अपने पूर्व जन्मों के संस्कारवश, उसी मिथ्यात्वपोषक भ्रष्ट साहित्य को प्रचार देने के लिये उतारू हुए हैं और इसके लिये उन्होंने नग्न भट्टारकीय मार्ग का नया अवलम्बन लिया है, क्योंकि पुराने सवस्त्र भट्टारकीय मार्ग की असफलता का उन्हें अनुभव हो चुका है। अन्यथा, सोमसेन-त्रिवर्णाचार जैसे ग्रन्थों पर अटल विश्वास रखने के कारण वे अन्तरंग में मुनियों के सर्वथा नग्न रहने के पक्षपाती नहीं हो सकते मुनि वस्त्र भी रखे और नग्न भी कहलायें, इसीलिये तो भट्टारक सोमसेन जी ने, जो अपने को 'मुनि' तथा 'मुनीन्द्र' तक लिखते हैं, नग्न की विचित्र परिभाषा कर डाली है! और अपने त्रिवर्णाचार के तृतीय अध्याय की निम्न पंक्तियों में दस प्रकार के नग्न बतला दिये हैं-

अपवित्रपटो नग्नो नग्नश्चार्धपटः स्मृतः।
नग्नश्च मलिनोद्वासी नग्नः कौपीनवानपि॥२१॥
कषाय वाससा नग्नो नग्नश्चानुत्तरीयमान्।
अन्तः कच्छोवहिः कच्छोमुक्तकच्छस्तथैव च॥२२॥
साक्षान्नग्नः स विज्ञेयो दश नग्नाः प्रकीर्तिताः।

अर्थात् जो लोग अपवित्र वस्त्र पहने हुए हों, आधा वस्त्र पहने हों, मैले कुचैले वस्त्र पहने हुए हों, लंगोटी लगाये हुए हों, भगवे वस्त्र पहने हुए हों, महज धोती पहने हुए हों, भीतर कच्छ लगाये हुए हों, बाहर कच्छ लगाये हुए हों, कच्छ बिल्कुल न लगाये हुए हों और वस्त्र से बिल्कुल रहित हों, उन सबको नग्न ठहराया है!

जब महात्मा गाँधीजी ने मुनियों को लंगोटी लगाने की बात कही थी, तब इन त्रिवर्णाचारी

पण्डितों ने भी उसका विरोध किया था और उसे देखकर मुझे आश्चर्य हुआ था। मैं सोचता था कि दूसरे लोग नग्नता में बाधा आती हुई देखकर उसका विरोध करें सो तो ठीक, किन्तु ये त्रिवर्णाचारी पण्डित किस आधार पर विरोध करने के लिये उद्यत हुए हैं, जबकि इनके मतानुसार–इनके मान्य आगम त्रिवर्णाचार के अनुसार–लंगोटी तो लंगोटी, पूरे वस्त्र पहनने पर भी नग्नता भंग नहीं होती। परन्तु उसी समय मैंने समझ लिया था कि यह सब इन लोगों की गहरी चालें है, ये यों ही अपने विचारों की बलि देकर इन मुनियों के पीछे नहीं लगे हैं, इनके हाथों नग्न भट्टारकीय मार्ग को प्रतिष्ठित कराके उसके द्वारा अपना गहरा उल्लू सीधा करना चाहते हैं, और वही हो रहा है। जनता प्रायः मूर्ख है, मुनियों के बाह्य रूप को देखकर उस पर लट्टू है और मुनि–मोह में पागल बनी हुई है। उसे सूझ नहीं पड़ता कि इन मुनियों में कितना ज्ञान है, कितना वैराग्य है, कितना अकषायभाव है और इनकी परिणति तथा प्रवृत्ति कहाँ तक जैनागम के अनुकूल है! और न उसे यही खबर है कि ये मुनि सामाजिक राग–द्वेषों में कितना भाग ले रहे हैं, और आचार्य होकर भी शान्तिसागर जी इन क्षुल्लकादि वेषधारी पण्डितों के हाथ की कैसी कठपुतली बने हुए हैं! इसी से वह ठगाई जाती है, धोखा खा रही है और अपनी द्रव्यादि शक्तियों का कितना ही दुरुपयोग कर रही है, जिसका एक ताजा उदाहरण सेठ गम्भीरमल जी पाण्ड्या का पश्चाताप पूर्वक यह प्रकट करना है कि उन्होंने चर्चासागर के प्रकाशनार्थ द्रव्य की सहायता देने में धोखा खाया है। और यह सब जैन समाज के दुर्भाग्य की बात है।

अतः जिन लोगों के हृदय में धर्म की कुछ चोट है और समाज का कुछ दर्द है, उन्हें समय रहते शीघ्र सावधान हो जाना चाहिए और जनता को सचेत करते हुए इस नग्न भट्टारकीय पर्दे की ओट में अनर्थों को बढ़ने देना नहीं चाहिए साथ ही अपने धर्म, अपने साहित्य और अपने पूर्व महर्षियों की (प्राचीन आचार्यों की) कीर्ति की रक्षा का और उसे विकृत तथा मलिन न होने देने का पूरा ध्यान रखना चाहिए। यही इस समय का उनका खास कर्त्तव्य है। और नहीं तो फिर यह देखकर अधिकाधिक पछताना ही पड़ेगा कि–

''पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैर्वठरैश्च तपोधनैः।
शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम्॥''

''भ्रष्टचारित्र पण्डितों और वठर साधुओं (मूर्ख तथा धूर्त मुनियों) ने, जिनेन्द्रचन्द्र के निर्मल शासन को (पवित्र जैनधर्म को) मलिन कर दिया है!''

यही सब सोच–विचारकर समाज–हित की दृष्टि से मैं इस ग्रन्थ की विशेष जाँच, आलोचना एवं परीक्षा में प्रवृत्त हुआ हूँ। इस कार्य के लिये मुझे ग्रन्थ की पुरानी हस्तलिखित प्रति की भी आवश्यकता थी, जिसके लिये सूचना निकाली गई और कुछ पत्रव्यवहार भी किया गया, परन्तु खेद है कि किसी भी भाई ने उसके भेजने या भिजवाने की कृपा नहीं की! सत्य की जाँच, खोज, परीक्षा और निर्णय जैसे कार्यों में समाज के सहयोग की यह हालत निःसन्देह शोचनीय है! हाँ, एक मित्र के द्वारा मुझे इतना पता जरूर चला है कि जिस हस्तलिखित प्रति पर से यह ग्रन्थ अनुवादित और

सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ है, वह झालरापाटन के सरस्वती भवन की प्रति है, और इसलिये मैंने उसकी प्राप्ति के वास्ते सेठ विनोदीराम बालचन्द जी की फर्म के मालिक सेठ नेमिचन्द जी बी. सेठी को लिखा, जिसके उत्तर में उन्होंने अपने ३० दिसम्बर सन् १९३१ के पत्र द्वारा यह सूचित किया है कि–'सूर्यप्रकाश' की हस्तलिखित प्रति ब्र. ज्ञानसागर जी ले गये थे, तब से वह यहाँ नहीं आई, जिसके लिये लिखा-पढ़ी चल रही है। सो हस्तलिखित प्रति यहाँ पर है नहीं, अगर होती तो आपको अवश्य भिजवा दी जाती।

सूर्यप्रकाश को छपकर प्रकाशित हुए कई वर्ष हो चुके हैं, काम हो जाने के बाद इतने अर्से तक भी ज्ञानसागर जी जैसे क्षुल्लक व्यक्तियों का उस ग्रन्थ-प्रति को वापस न करना और अपने पास रोके रखना जरूर दाल में कुछ काला होने के सन्देह को पुष्ट करता है। संभव है कि मूल में भी उनके द्वारा कुछ गोलमाल किया गया हो। अस्तु, पुरानी हस्तलिखित प्रति के अभाव में मुद्रित प्रति पर से ही ग्रन्थ के विशेष आलोचनामय परीक्षा कार्य को प्रारम्भ किया जाता है।

ग्रन्थ-नाम

ग्रन्थ का नाम 'सूर्यप्रकाश' सामने आते ही और उसके पूर्व में धर्म, कर्म, जैन, मिथ्यान्धकार या महावीर जैसा कोई विशेषणपद न देखकर आम तौर पर यह ख्याल होने लगता है कि इस ग्रन्थ में सूर्य के प्रकाश का विवेचन होगा अथवा सूर्य क्या वस्तु है, उसका उदय-अस्त तथा गति-स्थिति आदि किस प्रकार होती है और उनका क्या परिणाम निकलता है, इत्यादि ज्योतिःशास्त्रसम्बन्धी बातों का वर्णन होगा। परन्तु यह सब कुछ भी नहीं है। ग्रन्थ में भगवान् महावीर के मुख से भावी मनुष्यों के आचार-विचार, उनकी प्रवृत्ति, कतिपय धर्मों के प्रादुर्भाव और कुछ घटनाओं आदि का वर्णन यद्वा-तद्वा भविष्य कथन के रूप में कराया गया है, और इसलिये ग्रन्थ के विषय को देखते हुए ग्रन्थ का यह नाम कुछ बड़ा ही विचित्र जान पड़ता है और उस पर से ग्रन्थ के यों ही कल्पित किये जाने की थोड़ी सी प्राथमिक सूचना मिलती है। साथ ही, यह भी मालूम होता है कि ग्रन्थकार कोई विशेष बुद्धिमान् अथवा समझ-बूझ का आदमी नहीं था। उसके कथनानुसार यह ग्रन्थ प्रायः 'अनागतप्रकाश' नामक किसी ग्रन्थ के आधार पर रचा गया है। जो सम्भवतः ग्रन्थकार महाशय की कल्पना में ही स्थित जान पड़ता है और इसलिये इसका नाम यदि 'भविष्यप्रकाश' जैसा कुछ होता तो विषय के साथ भी उसका कुछ मेल मिल जाता, किन्तु ऐसा नहीं है। विषय के साथ नाम का सामंजस्य स्थापित करने की ग्रन्थकार को कोई समझ ही नहीं पड़ी और इसी से उसका यह नामकरण बहुत कुछ निरंकुशता तथा बेढंगेपन को लिये हुए जान पड़ता है। अस्तु।

ग्रन्थ का जालीपन

अब मैं सबसे पहले पाठकों के सामने कुछ ऐसे प्रमाण उपस्थित करता हूँ, जिनसे साफ़ तौर पर इस ग्रन्थ का जालीपन पाया जाता है–

१. ग्रन्थावतार की विचित्र कल्पना

ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थावतार की कथा देते हुए लिखा है कि गिरनार पर्वत की गुहा में धरसेन नाम के एक योगीन्द्र रहते थे। उन्होंने यह सोचकर कि सम्पूर्ण अंगो तथा पूर्वों का ज्ञान लोप हो चुका है और बिना शास्त्र के लोग धर्म के मार्ग को नहीं जान सकेंगे। जयधवल, महाधवल और विजयधवल नाम के तीन शास्त्रों की रचना की, जिनकी श्लोक संख्या क्रमशः ७० हजार, ४० हजार और ६० हजार हुई। रचना के बाद उन्हें पत्रों (ताडपत्रों) पर लिखा गया और ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी के दिन चतुर्विध-संघ के साथ उनकी पूजा की गई। इसके बाद धरसेनजी का स्वर्गवास हो गया। और उनके शिष्य भूतबलि आदि उन तीनों ग्रन्थों के पाठी हुए। उनके भी स्वर्गवास पर कालक्रम से नेमिचन्द्र मुनीन्द्र (सिद्धान्त चक्रवर्ती) उन तीनों ग्रन्थों के पारगामी हुए और उन्होंने महाधवल ग्रन्थ के आधार पर तीन ग्रन्थों की रचना की, जिनके नाम हैं (१) अनागत प्रकाश (२) तत्त्व प्रकाश (३) धर्म प्रकाश। अनागत प्रकाश को 'सर्व-क्रियादिकथक' तथा 'मतान्तरविघातक' लिखा है और इसी ग्रन्थ के अनुसार 'सूर्यप्रकाश' नाम का यह ग्रन्थ रचा गया है, ऐसी ग्रन्थकार ने सूचना की है। और इस तरह पर महाधवल ग्रन्थ तथा धरसेनाचार्य को इस ग्रन्थ का मूलाधार बतलाकर इसे महाप्रामाणिक प्रसिद्ध करने की चेष्टा की गई है।

परन्तु यह सब कोरी कल्पना और जाल है, वास्तविकता से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि प्रथम तो यह बात किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं है कि श्री धरसेनाचार्य ने जयधवलादि नाम के तीन ग्रन्थों की रचना की, उन्हें पत्रों पर लिखाया और ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी को उनकी प्रतिष्ठा की। वस्तुतः उन्होंने खुद ऐसा कोई ग्रन्थ ही नहीं बनाया। दूसरे, जयधवलादि ये मूल ग्रन्थों के नाम नहीं, किन्तु टीका ग्रन्थों के नाम हैं। टीकाओं का ही इतने श्लोक परिमाण विस्तार है और वे मूल ग्रन्थों से बहुत कुछ बाद की (शताब्दियों पीछे की) कृतियाँ है। जिसे यहाँ 'जयधवल' नाम दिया गया है, वह वस्तुतः भूतबलि पुष्पदन्ताचार्य द्वारा महाकर्मप्रकृति प्राभृत से उद्‌धृत 'षट्खण्डागम' ग्रन्थ की वीरसेनाचार्य कृत 'धवला' नाम की टीका अथवा 'धवल' नाम का भाष्य है, जिससे युक्त सिद्धान्त ग्रन्थ को 'धवलसिद्धान्त' कहते हैं और उसकी रचना शक संवत् ७३८ (वि० संवत् ८७३) में हुई है। ग्रन्थ में अन्यत्र धरसेन यतीन्द्रेण रचिता धवलादयः, इस वाक्य के द्वारा प्रथमोल्लेखित ग्रन्थ का नाम 'धवल' दिया भी है। इसी तरह 'विजयधवल' जिसका नाम दिया गया है, वह गुणधर आचार्य विरचित 'कषायप्राभृत' ग्रन्थ की 'जयधवला' नाम की टीका अथवा 'जयधवल' नाम का भाष्य है जिसे २० हजार श्लोक जितने आद्य अंश को वीरसेन ने, और शेष को उनके शिष्य जिनसेन ने शक सं० ७५९ (सं० ८९४) में रचा है। और ये सब बातें इन ग्रन्थों पर से ही जानी जाती हैं। ये दोनों ग्रन्थ मूड़बिद्री[४] की काल कोठरी से निकलकर उत्तर भारत में भी आ गये हैं और इसलिये इनके विषय में अब कोई

४. 'सूर्यप्रकाश' में इन ग्रन्थों के अस्तित्त्व स्थान इस नगर को 'जैनपुर' नाम से उल्लेखित किया है और अनुवादक ने उसका अर्थ 'मूडबिद्री' ही दिया है।

ग़लतफ़हमी नहीं फैलाई जा सकती। इन्द्रनन्दि के 'श्रुतावतार' से भी इन बातों का समर्थन होता है और उसमें यह भी लिखा है कि सबसे पहले भूतबलि आचार्य ने 'षट्खण्डागम' को पुस्तकारूढ़ (लिपिबद्ध) कराकर ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी को उसकी पूजा प्रतिष्ठा की थी, धरसेनाचार्य का इस पूजा प्रतिष्ठादि से कोई सम्बन्ध नहीं है। रही 'महाधवल' ग्रन्थ की बात, वह भी धरसेनाचार्य की कोई कृति नहीं है, किन्तु षट्खण्डागम के 'महाबन्ध' नामक छठे खण्ड का या अधिक स्पष्ट रूप में कहा जाये तो महाबन्ध के संक्षेपभूत 'सत्कर्म' नामक ग्रन्थ का कोई भाष्य है, जो 'महाधवल' नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ है। उक्त श्रुतावतार में इस नाम से उसका कोई उल्लेख नहीं है और मूड़बद्री के पं० लोकनाथ जी शास्त्री ने हाल में उसका जो परिचय ३१ दिसम्बर सन् १९३१ के 'जैन-मित्र' अंक नं० ७ में प्रकाशित कराया है उससे भी इस नाम की कोई स्पष्ट उपलब्धि नहीं होती[५]। हाँ, ब्रह्म. हेमचन्द्र के 'श्रुतस्कंध' से इस ४० हजार की संख्या वाले ग्रन्थ का नाम 'महाबन्ध जरूर जान पड़ता है–

सत्तरिसहस्सधवलो जयधवलो सट्ठिसहसबोधव्वा।
महबंधो चालीसह सिद्धंततयं अहं वंदे॥८८॥

और शास्त्री जी के उक्त परिचय से भी यह ग्रन्थ साफ़ तौर पर बन्धविषयक मालूम होता है, क्योंकि इसमें प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश ऐसे चार प्रकार के बन्धों का ही चार अध्यायों में विस्तार के साथ वर्णन किया है। साथ ही, यह भी मालूम होता है कि कोई विवरण (भाष्य) ग्रन्थ है, इसमें पंचिका रूप से मूल 'सत्कर्म' विषय का विवरण दिया है, जैसा कि इस ग्रन्थ के निम्न प्रतिज्ञावाक्य से प्रकट है–**वुच्छामि सत्तकम्मे पंचियरूवेण विवरणं सुमहत्थं॥**

और इसलिये महाधवल को महाबन्ध के संक्षेपभूत उस 'सत्कर्म'[६] ग्रन्थ का भाष्य समझना

---

५. इस विषय में विशेष रूप से दर्याफ़्त करने पर और यह पूछने पर कि ग्रन्थ साहित्य के किस अंश पर से उन्हें इस नाम की उपलब्धि हुई है, शास्त्रीजी अपने १७ जुलाई सन् १९३२ के पत्र में लिखते है "उक्त सिद्धान्त ग्रन्थ के किसी अध्याय के अन्त में 'महाधवल' नाम नहीं लिखा गया किन्तु केवल ग्रन्थकार के प्रथम पृष्ठ में 'महाधवल' ऐसा नाम है। अतएव (उस ग्रन्थ के इस नाम सम्बन्धी) विषय में मुझे भी संदेह है"।

६. पं० लोकनाथजी शास्त्री ने अपने ग्रन्थ परिचय में भाष्य के उक्त प्रतिज्ञावाक्य में प्रयुक्त हुए 'सत्तकम्मे' पद के 'सत्त' शब्द का अर्थ 'सप्त' दिया है, जो ठीक मालूम नहीं होता, क्योंकि इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार के "सत्कर्मनामधेयं षष्ठं खण्डं विधाय संक्षिप्य" इस वाक्य से यह स्पष्ट जाना जाता है कि छठे खण्ड के संक्षेपभूत ग्रन्थ का नाम 'सत्कर्म' है और वही 'सत्तकम्मे' पद के द्वारा यहाँ विवक्षित है। प्राकृत भाषा में 'सत्त' शब्द केवल 'सप्त' के अर्थ में ही प्रयुक्त नहीं होता किन्तु सत्य (सत्), शक्त, शप्त, सक्त, सत्र, गत और सत्व अर्थों में भी प्रयुक्त होता है (देखो, प्राकृत शब्द महार्णव पृष्ठ १०७६)। और इसलिये श्रुतावतार के उक्त वाक्य को ध्यान में रखते हुए यहां पर उसका सत्य अर्थात् सत् अर्थ ही ठीक जान पड़ता है और उससे मूल ग्रन्थ का नाम बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। भाष्य लिखने की प्रतिज्ञा के अवसर पर उस ग्रन्थ का नाम दिया जाना बहुत कुछ स्वाभाविक है, जिस पर भाष्य लिखा जाता है। यहाँ पर यह प्रकट कर देना भी उचित मालूम होता है कि बाद को उक्त शास्त्रीजी ने भी इसे मान लिया है। वे १७ जुलाई सन् १९३२ के पत्र में, अपनी भूल स्वीकार करते हुए लिखते हैं–"मंगलाचरण में प्रयुक्त 'सत्तकम्मे' इस पद का 'सप्तविधकर्म' ऐसा, अर्थ ठीक नहीं है, जो आपने श्रुतावतार के अनुसार 'सत्कर्म' किया, सो ही ठीक मालूम पड़ता है"।

चाहिए जो कि 'श्रुतावतार' पर से वीरसेन आचार्य की कृति जाना जाता है। और इससे तीसरी बात यह फलित होती है कि 'महाधवल' ग्रन्थ का विषय इस 'सूर्यप्रकाश' ग्रन्थ के विषय से एकदम भिन्न है और इसलिये यह ग्रन्थ जिस 'अनागतप्रकाश' ग्रन्थ के आधार पर बतलाया जाता है, उसके उद्धार का सम्बन्ध महाधवल के साथ नहीं जोड़ा जा सकता।

चौथे, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने 'अनागतप्रकाश' आदि नाम के तीन ग्रन्थ बनाये हैं, इसकी भी अन्य कहीं से कुछ उपलब्धि और सिद्धि नहीं होती। उनके बनाये हुए तीन प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जो प्रायः सर्वत्र पाये जाते हैं और वे है गोम्मटसार, त्रिलोकसार और लब्धिसार–जिसमें क्षपणासार भी शामिल है। 'बाहुबलि–चरित्र' में भी नेमिचन्द्र के नाम के साथ इन्हीं तीनों ग्रन्थों का उल्लेख पाया जाता है और लिखा है कि वे सिद्धान्तसागर को मथकर प्राप्त किये गये हैं, जिससे धवलादि सिद्धान्त ग्रन्थों पर से उन्हीं के उद्धृत किये जाने की स्पष्ट सूचना मिलती है–दूसरों की नहीं! यथा–

सिद्धान्तामृतसागरं स्वमतिमन्थक्ष्माभृदालोड्यमध्ये,
लेभेऽभीष्टफलप्रदानपि सदा देशीगणाग्रेसरः।
श्रीमद्गोम्मटलब्धिसारविलसत् त्रैलोक्यसारामर–
क्ष्माजश्रीसुरधेनुचिन्तितमणीन् श्रीनेमिचन्द्रो मुनिः॥

सूर्यप्रकाश के विधाता ने नेमिचन्द्राचार्य की कृति रूप से इन ग्रन्थों का नाम तक भी नहीं दिया! इनके स्थान पर दूसरे ही तीन नवीन ग्रन्थों की कल्पना कर डाली है, जिनका कहीं कुछ पता तक भी नहीं है!! हाँ, अनुवादक महाशय को कुछ ख्याल आया और उसने अपनी तरफ़ से लिख दिया है कि आपके "प्राकृत के ग्रन्थ गोम्मटसारादि प्रसिद्ध हैं"।

इस प्रकार यह जयधवलादि ग्रन्थों का ऐतिहासिक परिचय है और इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थकार ने इनके नाम पर कितना जाल रचा है। मालूम होता है उसने कभी इन ग्रन्थों को देखा तक भी नहीं, यों ही इधर–उधर से इनके महत्वादि की कुछ कथा सुनकर और यह जानकर कि वे दूर से ही पूजा–अर्चा के पात्र बने हुए मूड़बद्री की एक काल–कोठरी में बन्द हैं, किसी को प्राप्य नहीं हैं, न सर्वसाधारण की उन तक गति है और इसलिये उनके पवित्र नामाश्रय पर जो भी प्रपञ्च रचा जायेगा वह सहज ही में किसी को मालूम नहीं हो सकेगा, उसने यह सब कुछ खेल खेला है, और इस तरह पर अपनी मनमानी बातों को प्राचीन ग्रन्थों तथा प्राचीन आचार्यों के नाम पर जनता के गले उतारने का जघन्य प्रयत्न किया है। ग्रन्थकार पं० नेमिचन्द्र का यह प्रयत्न उस प्रपञ्च से भी एक तरह पर कुछ बढ़ा चढ़ा है जो जिनसेन–त्रिवर्णाचार के कर्ता ने 'यथोक्तं जयधवले', 'तत्राह महाधवले', 'अथ धवलेऽप्युक्तं' जैसे वाक्यों के साथ हिन्दू ऋषियों के स्त्री–संभोगादि सम्बन्धी कुछ जैनबाह्य वाक्यों को हिन्दू ग्रन्थों से उद्धृत कर उन्हें जयधवलादि ग्रन्थों के नाम से जैनसमाज में प्रचलित करने का किया था[७]। उसका वह प्रपञ्च तो इन सिद्धान्त ग्रन्थों के सम्बन्ध में कुछ थोड़े से वाक्यों तक ही

७. देखो इसी ग्रन्थ के पृष्ठ ५४ से ५५ तक।

सीमित था, परन्तु इस ग्रन्थकार ने तो प्रायः समूचे ग्रन्थ को महाधवल की गर्दन पर लादकर चलाने का भारी प्रपञ्च रचा है! इस जालसाजी तथा धूर्त्तता का भी कुछ ठिकाना है!! मालूम होता है, ग्रन्थकार महाशय को अपनी इस प्रपञ्च रचना पर, उसे अमोघ समझते हुए बहुत कुछ गर्व हुआ है और इसलिये उसने ग्रन्थावतार के अन्त में यहाँ तक लिख दिया है कि ''जो कोई मनुष्य कुमार्गपोषक (सुधारक आदि?) होंगे वे इस ग्रन्थ के सुनने मात्र से मंत्रकीलित नागों की तरह मूकवत् स्थिर हो जायेंगे–उन्हें इसके विरुद्ध बोल तक नहीं आएगा''–

अस्य श्रवणमात्रेण कुपथपोषका नराः।
मूकवत् येऽत्र स्थास्यन्ति यथा नागाश्च कीलिताः॥

परन्तु बेचारे पण्डितजी को यह खबर नहीं थी कि जयधवलादि ग्रन्थ सदा के लिये कालकोठरी में बन्द नहीं रहेंगे, काललब्धि को पाकर एक न एक दिन उनके बंधन भी खुलेंगे, वे कनड़ी लिपि से देवनागरी लिपि में भी लिखे जायेंगे और विद्वानों के परिचय में भी आयेंगे। और न यही खबर थी कि उसके इस समग्र मायाजाल का भंडाफोड़ करने वाले तथा इस ग्रन्थ के विरुद्ध साधिकार बोलने वाले परीक्षक भी पैदा होंगे और उन पर कोई माया मंत्र न चल सकेगा! यदि खबर होती तो वह ऐसी गर्वोक्ति का साहस कर व्यर्थ ही हास्यास्पद बनने की चेष्टा न करता।

यहाँ पर मुझे इतना और भी कह देना चाहिए कि आज भी जो लोग कषाय तथा अज्ञानवश इन ग्रन्थों को छिपाकर रखते हैं और किसी जिज्ञासु विद्वान् को भी पढ़ने के लिये नहीं देते, वे इन ग्रन्थों के नाम पर ऐसे प्रपंचों तथा जाली ग्रन्थों के रचे जाने में सहायक होते हैं। अतः मूडबद्री और सहारनपुर जैसे स्थानों के भाइयों को इस विषय में अपने कर्त्तव्य को ख़ास तौर पर समझ लेना चाहिए, और साथ ही यह जान लेना चाहिए कि उनका ऐसा व्यवहार जिनवाणी माता के प्रति घोर अत्याचार है तथा दूसरों की ज्ञान सम्प्राप्ति में बाधक होना अपने अशुभ कर्मों के आस्रव-बन्ध का कारण है।

२. भगवान् महावीर के सिर विरुद्ध कथन

ग्रन्थ में मंगलाचरणादि के अनन्तर भगवान् महावीर के समवसरण में राजा श्रेणिक के पहुँचने का और भगवान् से पञ्चमकालभावी प्राणियों के सम्बन्ध में एक प्रश्न ''पंचमे कीदृशा भूताः का चेष्टा कीदृशी क्रिया भविष्यन्ति कथं ते हि'' इत्यादि रूप से पूछने का उल्लेख करते हुए प्रश्न के उत्तर रूप ग्रन्थ के विषय का प्रारम्भ किया गया है। भगवान् ने ''शृणु त्वं भावितीर्थेशवर्णनं पंचमस्य वै (७८)'' इत्यादि रूप से उत्तर देते हुए और कुछ भविष्य का वर्णन करते हुए कहा है–

सहस्त्रार्धेषु वर्षेषु नाशो धर्मस्य वा पुनः।
भविष्यन्ति पुनर्धर्ममार्गजैनप्रभावकाः॥१५३॥
भद्रबाहुस्तथा भूप जिनसेन ऋषीश्वरः।
समन्तभद्रयोगीन्द्रो बौद्धमातंगसिंहभः॥१५४॥
इत्याद्या वरयोगीन्द्रा वर्तयिष्यन्ति निश्चयात्।

दिशावासधराः पूज्या देवमानववृन्दतः॥१५५॥
पश्चादभ्रमुनिजायाप्रमाब्दे मगधेश्वर।
कुन्दकुन्दाभिधो मौनी भविष्यति सुरार्चितः॥१५६॥

इस भविष्य वर्णन में बतलाया है कि पाँच सौ वर्ष में धर्म का नाश हो जायेगा, फिर जैनधर्म की पुनः प्रभावना प्रतिष्ठा करने वाले भद्रबाहु, जिनसेन और समन्तभद्र आदि उत्तम योगीन्द्र होंगे। बाद को कुछ वर्ष बीतने पर जिनकी संख्या 'जायो' शब्द का प्रयोग संदिग्ध होने से ७० ऊपर कुछ शतक जान पड़ती है, कुन्दकुन्द नाम के मुनि होंगे।

यह वर्णन आपत्ति के योग्य है, क्योंकि भगवान् महावीर से पाँच सौ वर्ष के भीतर जैनधर्म का नाश अथवा लोप नहीं हुआ, ५०० वर्ष की समाप्ति पर भी जैनधर्म तब आज से कहीं बहुत अधिक अच्छे ढंग से प्रचलित था। उस वक्त उसके अनुयायियों में ग्यारह अङ्गादिक के पाठी तक भी मौजूद थे, जिनका आज शताब्दियों से अभाव है। दूसरे, कुन्दकुन्द का अवतार समन्तभद्र के ही नहीं, किन्तु जिनसेन के भी बाद (पश्चात्) बतलाना ऐतिहासिक तथ्य के विरुद्ध है। जिनसेन कुन्दकुन्द से कई शताब्दियों बाद विक्रम की ९वीं शताब्दी में हुए हैं। उन्होंने 'जयधवल' भाष्य को शक सं० ७५९ (वि०सं० ८९४) में बनाकर समाप्त किया है, जबकि कुन्दकुन्द शक संवत् ३८८ से भी बहुत पहिले हो चुके हैं, क्योंकि इस संवत् में लिखे हुए मर्करा ताम्रप्लेट में उनका नामोल्लेख ही नहीं किन्तु उनके वंश में होने वाले गुणचन्द्रादि दूसरे कई आचार्यों तक के नाम भी दिये हुए हैं[८]। और समन्तभद्र का कुन्दकुन्द से पीछे होना तो श्रवणबेलगोल के कई शिलालेखों (नं० ४०/६४ आदि) से प्रकट है।

यद्यपि श्लोक नं० १५६ के शुरू में प्रयुक्त हुआ 'पश्चात्' शब्द अपने प्रयोगमाहात्म्य से साफ़ तौर पर पूर्वोल्लिखित भद्रबाहु, जिनसेन और समन्तभद्र के पश्चात् कुन्दकुन्द के होने को सूचित करता है, परन्तु अनुवादक महाशय ने उसके पहले ''हमारे'' अर्थवाचक शब्द की यों ही ऊपर से कल्पना की है और 'जाया' शब्द को चार की संख्या का वाचक बतलाकर (!) लिख दिया है कि ''हमारे (वीर निर्माण संवत् से) चार सौ सत्तर वर्ष के बाद देवों से पूजित कुन्दकुन्द नाम के यतीश्वर होंगे'' अर्थात् वि० संवत् १ में कुन्दकुन्द का होना बतला दिया है! इस अर्थ को यदि किसी तरह पर ठीक मान लिया जाये तो उससे और कई आपत्तियाँ खड़ी होती हैं और विरोध आते हैं–

(क) एक तो आगे कुन्दकुन्द का वर्णन करते हुए जो उनके समय में धरसेनाचार्यकृत धवलादि ग्रन्थों का अस्तित्त्व बतलाया गया है[९] वह नहीं बन सकता, क्योंकि वीर निर्वाण संवत् ४७० से पहले न तो धरसेन ही हुए हैं और न उन मूल सिद्धांत ग्रन्थों की रचना ही हुई थी जिन पर धवलादि भाष्य रचे गये हैं। इन सबका प्रादुर्भाव धवलादि ग्रन्थों के अनुसार उस समय के बाद हुआ है जबकि एक

८. देखो, 'एपिग्राफ़िका कर्णाटिका' जिल्द पहली अथवा 'स्वामी समन्तभद्र' इतिहास पृष्ठ १६६।

९. ''धरसेनयतीन्द्रेण रचिता धवलादयः। विद्यन्ते तेऽधुना तत्र जैनाभिद्यपुरे वरे''॥ (पृष्ठ ६८)

१०. रिपुरग्रीन्दु संयुक्तसमेऽभूत्श्वेतवाससाम्। द्वापरेषु प्रमग्रानां यतोहि कालदोषतः॥

भी अङ्ग का कोई पूरा पाठी नहीं रहा था और यह समय पूर्वोल्लिखित श्रुतावतार तथा श्रुतस्कंध के ही नहीं, किन्तु त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति और जिनसेनकृत हरिवंशपुराणादि जैसे प्राचीन ग्रन्थों के भी अनुसार वीर निर्वाण संवत् ६८३ है। और इसलिये दोनों कथन परस्पर में विरुद्ध पड़ते हैं।

(ख) दूसरे, ग्रन्थावतार में ग्रन्थकार का यह सूचित करना कि धरसेन से पहले संपूर्ण अंग तथा पूर्व नष्ट हो चुके थे (''अंगाश्च पूर्वा ह्यखिला गताश्च'' पृ० ३९०) और फिर धरसेन को वीर निर्वाण सं० ४७० से पहले का विद्वान् बतलाना भी विरुद्ध है, जबकि अङ्गज्ञान नष्ट नहीं हुआ था।

(ग) तीसरे, कुन्दकुन्द के समय में श्वेताम्बर मत का जो बहुत कुछ प्रचार बतलाया गया है और यह कहा गया है कि गिरनार पर्वत पर श्वेताम्बराचार्य के साथ कुन्दकुन्द का महान् वाद हुआ है, वह सब कथन भी विरुद्ध ठहरता है, क्योंकि इसी ग्रन्थ में ढूंढक मत की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए, श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति संवत् १३६ में बतलाई है (पृष्ठ १७९)[१०] और यह संवत् १३६ विक्रम संवत् जान पड़ता है, जिसका समर्थन रत्ननन्दि के भद्रबाहु चरित्र से [११] ही नहीं किंतु १० वीं शताब्दी के बने हुए दर्शनसार ग्रन्थ की निम्न गाथा से भी होता है–

एकसये छत्तीसे विक्कमरायस्स मरण पत्तस्स।
सोरट्ठे वलहीए उप्पण्णो सेवडो संघो॥

यदि यह कहा जाये कि यह सं० १३६ वीर निर्वाण संवत् है तब भी विरोध दूर होने में नहीं आता, क्योंकि एक तो दूसरे प्राचीन ग्रन्थों के साथ विरोध बना ही रहता है, दूसरे इसी ग्रन्थ में अन्यत्र पृष्ठ ६३ पर श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति भद्रबाहु के समय के बाद बतलाई है[१२]। ये भद्रबाहु यदि श्रुतकेवली हो तो उनका समय दिगम्बर मतानुसार वीर निर्वाण से १६२ वर्ष तक का है। इनके बाद श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति होने से वह वीर निर्वाण संवत् १३६ में नहीं बन सकती और इस संवत् में उत्पत्ति मानने से वह भद्रबाहु श्रुतकेवली के बाद नहीं बन सकती। यदि ये भद्रबाहु दूसरे भद्रबाहु हों तो फिर वे उक्त भविष्यवर्णन के भी अनुसार वीर निर्वाण से ५०० वर्ष के बाद हुए हैं, तब वीर निर्वाण सं० १३६ में श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति और भी ज्यादा विरुद्ध हो जाती है और 'पश्चात्' शब्द का अर्थ वही ५०० वर्ष के बाद होने वाले भद्रबाहु, समन्तभद्र आदि आचार्यों के भी बाद का रह जाता है जिस पर शुरू में ही आपत्ति की जा चुकी है।

इस तरह पर उक्त भविष्य-कथन हर तरह से विरुद्ध तथा आपत्ति के योग्य पाया जाता है। भगवान् महावीर जैसे आप्त पुरुषों के द्वारा ऐसे विरुद्ध कथनों का प्रणयन नहीं बन सकता। चूँकि यह सब कथन भगवान् महावीर के मुख से कहलाया गया है (उनके सिर पर इसका सारा भार रखा गया है) इसलिये इससे साफ़ तौर पर ग्रन्थ का जालीपन सिद्ध होता है।

---

११. मृते विक्रमभूपाले षट्त्रिंशदधिके शते॥ गतेऽब्दानामभूल्लोके मतं श्वेताम्बराभिधं॥४-५५॥

१२. ''भद्रदोः समये पश्चादभूद्वै श्वेतवाससां। मतः कापट्यमग्नां द्वादरार्पितचेतसाम्''॥
अर्थ–''भद्रबाहु स्वामी के पीछे श्वेतांबर मत प्रचलित हुआ।''

३. महावीर के नाम पर असम्बद्ध प्रलाप

उक्त (नं० २ में उद्धृत) भविष्य वर्णन के अनन्तर पद्य नं० १५७ में राजा श्रेणिक को कुन्दकुन्द मुनि का चरित्र सुनने की प्रेरणा की गई है और फिर उन मुनिराज का भावी वृतान्त सुनाया गया है, जो पद्य नं० ४९७ पर जाकर समाप्त हुआ है। इस प्रकरण के आदि अन्त के दोनों पद्य इस प्रकार हैं–

मुनेस्तस्य श्रृणुध्वं च वृत्तमानन्ददायकम्।
एकाग्रमनसा भूप कर्मेन्धनहुताशनम्॥१५७॥
इत्थं श्रेणिक-भूप सर्वगदितं वृत्तं मया तेऽखिलम्
पापौघस्य विनाशकं सुविमलं श्रीकुन्दकुन्दस्य वै।
चित्ते त्वं कुरु धारणं च मनसः शुद्धं करं नन्ददम्
अग्रे धर्मविवर्द्धकं वरसुरैः पूज्यं च पूज्योदयम्॥४९७॥

इनसे स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द का यह सब ३४० पद्यमय भावी वृत्तान्त महावीर के द्वारा राजा श्रेणिक के प्रति कहा गया है। अब इस वृत्तान्त का कुछ परिचय भी लीजिये–

वृत्तान्त के प्रारंभिक अंश (श्लोक नं० १५८ से १९८ तक) को पढ़ते हुए प्रायः[१३] ऐसा मालूम होता है मानो भगवान् ठीक ठीक भविष्य का वर्णन कर रहे हैं। उन्होंने बतलाया है कि 'वार (वारॉं?) नगर में 'कुन्द' सेठ और 'कुन्दा' सेठानी से 'कुन्दकुन्द' नाम का पुत्र पैदा होगा, जो कुमार अवस्था में ही जिनचन्द्र मुनि के पास से जिनदीक्षा लेकर मुनि हो जायेगा। एक दिन वे कुन्दकुन्द मुनि धरणीभूषण पर्वत पर विदेहक्षेत्रस्थ सीमंधर स्वामी का ध्यान लगायेंगे, उस वक्त सीमंधर स्वामी अपने समवसरण में उन्हें 'धर्मवृद्धि' देंगे, उसे सुनकर वहाँ पर बैठे हुए चक्रवर्ती आदि राजा विस्मय को प्राप्त हुए (प्रायुः १७०)! वे भगवान् सीमंधर स्वामी से पूछेंगे कि यहाँ कोई आया नहीं, तब आप ने किसको धर्मवृद्धि दी, उत्तर में स्वामी उन्हें भरतक्षेत्र की वर्तमान स्थिति का कुछ वर्णन करते हुए तत्रस्थ कुन्दकुन्द मुनि का और उनके उस ध्यान का परिचय देंगे, उसे सुनकर चक्रवर्ती आदि महान् हर्ष को प्राप्त हुए (संप्रायुः १८४) और सब देवेन्द्रों, राजाओं तथा यतीश्वरों ने हाथ जोड़कर भारत के उस ऋषि को नमस्कार किया (चक्रुर्नतिं १८५)! इसके बाद यह पूछे जाने पर कि वे कुन्दकुन्द मुनि किस उपाय से यहाँ आ सकेंगे, सीमंधर स्वामी ने कहा (अवदत् १८६) कि उनके पूर्व जन्म के दो मित्रों रविकेतु और चन्द्रकेतु को भेजना चाहिए। उक्त दोनों देव कुन्दकुन्द को ले जाने के लिये यहाँ (भारत में) आवेंगे, उस वक्त यहाँ रात्रि का समय होने से और यह जानकर कि ध्यानमग्न मुनि रात्रि को बोलते नहीं, वे नमस्कार करके वापस चले जायेंगे। प्रातः काल शिष्यों से देवों के आगमन आदि का हाल मालूम करके कुन्दकुन्द इस प्रकार का दुर्घट नियम लेंगे कि जब तक सीमंधर स्वामी की दर्शन-प्राप्ति न होगी

१३. इस अंश में भी कहीं कहीं कुछ भविष्यकालीन क्रियाओं के स्थान पर 'प्रायुः', 'संप्रायुः, 'चक्रुः' और 'अवदत्' जैसी भूतकालीन क्रियाओं का गलत प्रयोग पाया जाता है। इसी से यहाँ जानबूझकर 'प्रायः' शब्द का व्यवहार किया गया है।

तब तक मेरे चार प्रकार के आहार का त्याग है। इसके बाद वे दोनों देव फिर दिन के समय आयेंगे और उनके विमान में बैठकर कुन्दकुन्द सीमंधर स्वामी के पास जायेंगे॥ पिछले कथन का सूचक अन्तिम वाक्य इस प्रकार है–

तद्विमाने समारूह्य यास्यति स मुनीश्वरः।
केवलं धर्मकार्यार्थं पूर्वपुण्येन प्रेरितः॥१९८॥

परन्तु इस कथन के बाद ऐसा मालूम होता है कि भगवान् अपनी भविष्य वर्णना की बात को भूलकर एकदम बदल गये हैं और इसलिये उन्होंने विमानारूढ़ कुन्दकुन्द का शेष जीवनचरित्र अपने पूर्वकथन के विरुद्ध भूतकालीन क्रियाओं में इस ढंग से कहना प्रारम्भ कर दिया है मानो कुन्दकुन्द कोई भूतकालीन ऋषि थे और वे भगवान् महावीर से पहले हुए हैं। महावीर के इस उत्तर कथन की कुछ बातें सूचना मात्र क्रमशः इस प्रकार हैं–

''विमानरूढ़ कुन्दकुन्द ने अनेक पर्वतों, आश्चर्यों और सम्पूर्ण पृथिवी को देखते हुए आकाश में गमन किया (चकार गमनं १९९), विमान से उतरकर सीमंधर प्रभु की सभा में प्रवेश किया (विवेश २००), उन्हें देखा,[१४] तीन प्रदक्षिणायें दीं, उनका स्तवन प्रारम्भ किया, अपने लघुशरीर का ख्याल कर कहाँ बैठने के सम्बन्ध में कुछ विचार किया और फिर सीमंधर स्वामी के पीठाधोभाग में अपना आसन ग्रहण किया। उस समय वहाँ चक्री आया, उसने कुन्दकुन्द को हाथ में लेकर आश्चर्य के साथ कुछ चिन्तन किया, फिर स्वामी से पूछा, उन्होंने कहा कि जिसकी बाबत पहले कहा गया था यह वही भारतज मुनि है, यह सुनकर चक्री सन्तुष्ट हुआ और उसने मुनि को इस भय से कि कहीं तुच्छकाय होने के कारण उस (५०० धनुष ऊँचे पर्वताकार मनुष्यों के बीच में) कुछ हानि न पहुँच जाये स्वामी के सामने स्थापित कर दिया। कुन्दकुन्द मुनि ने सीमंधर स्वामी की दिव्यवाणी सुनकर आनन्द प्राप्त किया और फिर स्वामी से एक लम्बा-सा प्रश्न करके वे मौनस्थ हो रहे। प्रश्न में मिथ्यात्व की वृद्धि, सर्वत्र जिनालयों के न होने, श्वेताम्बर मत के प्रचार तथा जैन शास्त्रों के न दिखलाई देने का भी उल्लेख किया गया है और उसका कारण पूछा गया है। उत्तर में सीमंधर स्वामी की वाणी खिरी, जिसमें बलभद्र के जीव द्वारा मिथ्यामत की उत्पत्ति जैसी अन्य बातों के अतिरिक्त भद्रबाहु के पश्चात् श्वेताम्बर मत उत्पन्न हुआ बतलाया गया, श्वेताम्बरों पर 'कापट्यमग्नता' का आरोप किया गया, दुष्ट लोगों द्वारा जिनागम शास्त्रों के समुद्र में डुबोए जाने के कारण जैन शास्त्रों का न दिखाई देना कहा गया और साथ ही यह भी कहा गया कि इस समय जैनपुर (मूडबिद्री) में धरसेन-यतीन्द्र के रचे हुए धवलादिक शास्त्र मौजूद हैं। उत्तर को सुनकर कुन्दकुन्द का चित्त संदेहरहित हो गया। इसके बाद स्वामी की ध्वनि में यह बात प्रकट हुई कि कुन्दकुन्द योगीन्द्र को सर्वसिद्धान्त सूचक शास्त्र लिखाकर दिये जाने चाहिए और उन्हें ग्रन्थों के साथ भेजना चाहिए। ध्वनिसमाप्ति पर कुन्दकुन्द सभा स्थान में ही ग्रन्थों को पढ़ने

१४. यहाँ 'ददर्श' और आगे 'ददौ', 'आरभे' आदि मूल क्रियापदों को साथ में न दिखलाकर उनका अर्थ अथवा आशय ही दे दिया गया है।

के लिये बैठ गये (!) और उन्होंने वहाँ सर्वसिद्धान्तसूचक ग्रन्थ पढ़े। विदेह क्षेत्र में आहार की योग्यता न मिलने से वहाँ आहार के समय दिन और भारत में उस वक्त रात्रि होने की वजह से (!) कुन्दकुन्द सात दिन तक निराहार रहे, फिर सीमंधर स्वामी को बार-बार स्तुतिप्रणाम कर, गणधरादि को नमन कर और उनके दिये हुए ग्रन्थों को लेकर तथा विमान में रखकर वे पूर्वोक्त दोनों देवताओं के साथ आकाश मार्ग से रवाना हुए, देवता उन्हें उसी स्थान पर छोड़कर और उनकी आज्ञा लेकर वापस चले गये। फिर कुन्दकुन्द ने सारे मिथ्यात्व को शान्त किया, उनके उपदेश से भव्य जीवों ने दान, पूजा, यात्रा, अभिषेक, जिनबिम्ब प्रतिष्ठा, मंदिरजीर्णोद्धार आदि अनेक कार्य किये, उस वक्त जैनधर्म का बड़ा उद्योत हुआ, उन्होंने कलिकाल में धर्म का उद्धार किया, वे मुनि जयवंत हों। उनके अतिशय को देखकर कितनों ही ने संयम ग्रहण किया। 'नन्दी' आदि उनके शिष्य हुए, जिन्हें चारों दिशाओं में भव्यों के संबोधनार्थ भेजा गया। उस वक्त जिनधर्म पृथिवी पर प्रकट हुआ। कुन्दकुन्द ने पुनः सिद्धान्तों को प्रकट किया, कितने ही ग्रन्थ रचे जिनमें समयसारादि कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त 'श्रावकाचार'[१५], 'जिनेन्द्रस्नानपाठ' तथा 'प्रभुपूजन' जैसे ग्रन्थों के नाम भी दिये हैं और फिर लिखा है कि उन्होंने सर्व प्राणियों के हितार्थ ग्रन्थों में विस्तार के साथ पूजाविधि तथा स्नानविधि का निर्माण किया है।''

यह पिछला वाक्य इस प्रकार है-

पूजाविधिस्तथास्नानविधिर्विस्तारतः खलु।
ग्रन्थेषु निर्मितस्तेन सर्वभूतहिताप्तये॥३५१॥

इसके अनन्तर मानो भगवान् को फिर कुछ होश आई और वे भूत वर्णना को छोड़कर पुनः भविष्य कथन के रूप में कहने लगे- ''हे चेलनाकान्त (श्रेणिक)! इत्यादि सम्पूर्ण ग्रन्थों को वह धर्मबुद्धि मुनि जिनधर्म की प्रभावना के लिये करेगा (रचेगा), अपनी सिद्धि तथा भव्यों के संबोधनार्थ हे राजन्! वह यतीन्द्र पृथ्वी पर विहार करेगा और भव्यों को संबोधता हुआ धर्म को बढ़ाता हुआ मिथ्यान्धकार का नाश करेगा।'' यथा-

इत्यादिसकलान् ग्रन्थान् चेलकान्तसुधर्मभाक्।
करिष्यति प्रभावार्थं जिनधर्मस्य धर्मधीः॥३५२॥
स यतीन्द्रः स्वसिद्ध्यर्थं विहारं च करिष्यति।
तदावनौ नराधीश भव्यबोधार्थमंजसा॥३५३॥

---

१५. 'कुन्दकुन्दश्रावकाचार' की परीक्षा की जा चुकी है और वह महाजाली सिद्ध हुआ है मालूम होता है इसी तरह पर और भी कितने ही ग्रन्थ कुन्दकुन्द के नाम से जाली बनाये गये हैं, जिनमें 'जिनेन्द्रस्नानपाठ' और 'प्रभुपूजन' जैसे ग्रन्थ भी उसी कोटि के जान पड़ते है। अभिषेक और पूजन जैसे विषय उस वक्त ख़ास विवादापन्न थे और अधिकांश वे ही तेरहपंथ और बीस पंथ के झगड़े की जड़ बने हुए थे। भट्टारकों तथा भट्टारकानुगामियों ने इन विषयों के सम्बन्ध में अपनी मान्यताओं के पीछे युक्तिबल न देखकर प्राचीन आचार्यों के नाम पर अनेक जाली ग्रन्थों की रचना की है, और कितनी ही बातें दूसरे ग्रन्थों में प्रक्षिप्त भी की हैं।

भव्यान् सम्बोधयन् धर्मं वर्द्धयन् वचनोत्करैः।
मिथ्यान्धतमसं सैव हनिष्यति भवाब्धिदम्॥३५४॥

परन्तु यह होश कुछ अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सकी, उक्त कथन के अनन्तर ही पलट गई अथवा यों कहिये कि भगवान् के ज्ञान का क्षण भर में कुछ ऐसा विपर्यास (उलटफेर) हो गया कि उसमें भविष्यकालीन घटनाएँ भूतकालीन के रूप में झलकने लगीं और इसलिये भगवान् गिरनार पर्वत पर होने वाले कुन्दकुन्द के वृतान्त को सुनने की प्रेरणा करते हुए कहने लगे–

''एक दिन उन कुन्दकुन्द मुनीश्वर ने नेमि जिनेन्द्र की यात्रा के लिये गमन किया, उनके साथ बहुत से भव्य पुरुष स्त्रियों सहित चले, मुनि भी चले, आर्यिकाएँ भी चलीं, उस चतुर्विध संघ में ७०० मुनि थे, १४०० आर्यिकाएँ थी, ३५ हजार श्रावक थे और ७० हजार श्राविकाएँ थी। इतने बड़े संघ के साथ कुन्दकुन्द मुनि गिरनार पर्वत के वन में पहुँचे और सबने मार्गश्रम-निवारणार्थ अपने अपने योग्य स्थान पर डेरा किया। अब दूसरी कथा सुनो- उसी वन में नेमि जिन की यात्रा के लिये श्वेताम्बरों का महान् संघ भी आ पहुँचा, जिसमें नानातिशय सम्पन्न २४० यति थे। जिन्हें नाम के यति, रसों से अपना शरीर पुष्ट करने वाले तथा मदोद्धत बतलाया गया और उनके आज्ञापालक दो लाख मनुष्य (श्रावकजन) और थे[१६] पहले आये हुए संघ ने कुन्दकुन्द को आगे कर जिस समय यात्रा के लिये प्रस्थान किया, उस वक्त श्वेताम्बरों ने जिन्हें 'खल' तक कहा गया, आकर उसे रोका और कहा कि पहले हम यात्रा करेंगे, क्योंकि हमारा मत सबसे पहला है और हम सबमें वृद्ध है। इस पर कुन्दकुन्द ने 'वसुपाल' नाम के एक श्रावक को बुलाकर और उसे भले प्रकार शिक्षा देकर श्वेताम्बरों के पास भेजा, जिसने कुछ समझाने के अनन्तर श्वेताम्बरों से कह दिया कि यदि तुम्हारी वाद की शक्ति हो तो शीघ्र आकर वाद कर लो। जो संघ जीतेगा, वही पहले तीर्थयात्रा करेगा। इस तरह श्वेताम्बरों को क्षुभित कर उसने सब वृतान्त आकर गुरु से कह दिया, तब कुन्दकुन्द सर्व संघ सहित गिरनार पर्वत के समीप ही ठहर गये। वहीं पर श्वेताम्बरी लोग वाद के लिये आ गये। श्वेताम्बरों के मुख्याचार्य शुक्लाचार्य के साथ कुन्दकुन्द का वाद हुआ। शुक्लाचार्य जब युक्तिवाद में हार गया तब उसे कोप हो गया और उसने अपने मंत्रबल से कुन्दकुन्द के कमण्डलु में मछलियाँ बना दीं, इशारा पाकर उनके एक शिष्य ने कुन्दकुन्द से पूछा 'आपके कमण्डलु में क्या है?' कुन्दकुन्द ने कहा- अपने गुरुजी से ही पूछो, वे आदि मत के धारक हैं, उसने तब गुरु से पूछा और गुरु ने मद से आकर लोगों को संबोधन करते हुए कहा देखो, यह मुनि जीवभक्षक है'' (क्योंकि इसके कमण्डलु में मछलियाँ हैं)। ''यह

---

१६. इससे मालूम होता है कि दोनों संघों के मुनि-आर्यिका, श्रावक-श्राविकाओं की संख्या तीन लाख सात हजार तीन सौ चालीस थी। तब उनके साथ ५० हजार के करीब गाड़ियाँ और इतने ही गाड़ीवान (हांकने वाले) तथा ५० हजार के करीब दूसरे नौकर चाकर और एक लाख से ऊपर बैल घोड़े ऊँट वगैरह सवारी तथा बारबर्दारी के जानवर भी होंगे। इतने बड़े जनादि समूह का एक ही वक्त में गिरनार पर्वत की तलहटी के एक वन में समा जाना ग्रन्थकार को शायद कुछ अस्वाभाविक प्रतीत नहीं हुआ!!

सुनकर कुन्दकुन्द ने सीमंधर स्वामी को नमस्कार करके कमंडलु को ओंधा कर दिया और उसमें से पद्मपुष्पों का समूह नीचे गिर पड़ा, जिसकी सुगन्ध से उसी क्षण वहाँ भँवरे आ गये॥ इस अतिशय को देखकर संघ के सब लोग बड़े प्रसन्न हुए, लोगों ने 'पद्मनन्दी' नाम से कुन्दकुन्द की स्तुति की और श्वेताम्बरों के चेहरे मलिन हो गये। उसी वक्त से कुन्दकुन्द मुनि 'पद्मनन्दी नाम से प्रसिद्ध हुए।''

''फिर शुक्लाचार्य और कुन्दकुन्द का और भी वाद (मंत्र वाद) हुआ, मन्त्रबल से शुक्लाचार्य ने कुन्दकुन्द की पिच्छि को आकाश में रख दिया और कुन्दकुन्द ने शुक्लाचार्य के शरीर से वस्त्रों को उतार कर उसके पास रख दिया, इस तरह दोनों का महान् वाद हुआ वह पिच्छि तो स्वामी के पास आ गई परन्तु वे वस्त्र वहीं रहे।''

''पुनः कुन्दकुन्द स्वामी ने शुक्लाचार्य से कहा कि यदि तुम्हारा धर्म आदि धर्म है तो इस पाषाणनिर्मित सरस्वती की मूर्ति से कहलाओ, जिसको यह मूर्ति आदि मत कह देगी उसी की पहले यात्रा होगी, शुक्लाचार्य ने इसे स्वीकार किया और अपने मंत्रबल से मूर्ति को बोलने के लिये प्रेरित किया परन्तु मूर्ति ने बोलकर नहीं दिया, इससे शुक्लाचार्य का मुंह काला पड़ गया। तब कुन्दकुन्द ने पिच्छि हाथ में लेकर और सीमंधर स्वामी को नमस्कार कर उस सरस्वती से सत्यवाणी बोलने को कहा, उसे सुनते ही वह पाषाण की मूर्ति बोलने लगी, उसने दैगम्बर मत को तीन बार 'आदिमत' बतलाया, उसकी बहुत कुछ प्रशंसा की और फिर शुक्लाचार्य को अपना संकल्प छोड़ने की प्रेरणा करते हुए वह मौनस्थ हो गई। सरस्वती के प्रभाव से श्वेताम्बर यतियों के सर्व देवता कुत्तों की तरह भाग गये![१७] और दिगम्बर पक्ष की जय हुई।''

''तत्पश्चात् कुन्दकुन्द ने चतुर्विध संघ के साथ श्री नेमिजिनेन्द्र का सानन्द दर्शन किया और वहीं पर 'सरस्वती' नाम का गच्छ तथा 'बलात्कार' नाम का गण स्थापित किया, अपने नाम का वंश क़ायम किया और अपने शिष्यों की 'नन्दि' आदि आम्नाय क़ायम की और कहा कि सर्व संघों में मूल संघ मुख्य है, अतः आज से तुम इसको भजो। सिद्धभूमि की यात्रा करके कुन्दकुन्द मुनि अपने स्थान को वापस आ गये और तप करने लगे। एक दिन ध्यान के समय उनकी गर्दन टेढ़ी हो गई, वे उसके कारण का विचार करने लगे तो सरस्वती ने आकर कहा कि अकाल मैं जैन सिद्धान्तों को पढ़ने के दोष से ग्रीवा में यह वक्रता आई है, अकाल में जैन सिद्धान्तों को नहीं पढ़ना चाहिए। इस पर कुन्दकुन्द ने अपनी निन्दा की और उस दोष की शान्ति के लिये सीमंधर स्वामी का स्तवन किया, तब सरस्वती ने अवक्रता प्रदान की और वह 'वक्रग्रीव' नाम देकर अपने स्थान चली गई। इसी से कुन्दकुन्द का तीसरा नाम 'वक्रग्रीव' हुआ। 'एलाचार्य' नाम विदेह क्षेत्र से पड़ा, और विमान में पिच्छिका के गिर जाने पर देवों ने गृद्धपिच्छिका दी थी, इससे 'गृद्धपिच्छाचार्य' नाम पृथ्वी पर प्रसिद्ध हुआ। इस तरह वे मुनि पाँच नामों से प्रसिद्धि को प्राप्त हुए।''

यह पिछला वाक्य इस प्रकार है–

---

१७. इस वाक्य के द्वारा भगवान् महावीर की भाषासमिति का, संयत भाषा का अच्छा प्रदर्शन किया गया है!

एवं पंचाभिधानेन स मुनिः सकलार्थवित्।
आसीत् विख्याततां पूज्यः विपक्षविजयात्सुरैः॥४५३॥

इसके बाद भगवान् महावीर कुन्दकुन्द की भक्ति में कुछ ऐसे डूबे कि वे इस बात को ही भूल गये कि हम तीर्थङ्कर हैं, सर्वज्ञ हैं, कुन्दकुन्द हमारे पीछे शताब्दियों बाद कलिकाल में एक छद्मस्थज्ञानी साधु होने वाला है, और इसलिये उन्होंने, मानो अपने को कलिकालीन अनुभव करते हुए, एक पूर्व महर्षि के तौर पर कुन्दकुन्द को नमस्कार किया, उनके चरणों की वन्दना की और उनका स्तोत्र तक रच डाला, जिसमें श्वेताम्बरों को गाली दी गई। उन्हें 'खलाशय' तथा 'क्रूर' बतलाया गया, कुन्दकुन्द मुनीन्द्र ने ही इस कलियुग में शास्त्रादि की रचना की है ऐसा कहा गया और कहा गया कि उनके समान इस काल में न कोई हुआ और न होगा। साथ ही, उनकी माता को भी धन्यवाद दिया गया जिसकी कोख से ऐसा पुत्र पैदा हुआ। इतने पर से भी तृप्त न होते हुए पुनः भगवान् 'चित्तरोधार्थ' पाँच नामों का बखान कर कुन्दकुन्द का स्तवन करने लगे। इस कथन के सूचक वाक्य इस प्रकार है–

अश्मजा वादिता येन भंगमाप्ताः खलाशयाः।
स्वेतवासोधराः क्रूराः तस्मै श्रीमुनये नमः॥४५४॥
सीमंधरजिनेन्द्रस्य येनाप्तं दर्शनं शुभम्।
प्राचीनपुण्ययुक्तेन तस्य पादौ नमाम्यहम्॥४५५॥
अस्मिन् कलौ मुनीन्द्रेण तेनैव रचना कृता।
शास्त्रादीनामहो भव्याः तस्मै नमोऽस्तु सर्वदा॥४५६॥
कुन्दकुन्दसमश्चास्मिन् काले मिथ्यात्वसंभृते॥
नाभून्नैव पुनश्चात्र भविष्यति सुनिश्चयात्॥४५७॥
धन्या सा जननी लोके यस्याः कुक्षौ सुरैः स्तुतः।
अभूद्वै ईदृशः पुत्रो मिथ्यान्धतमःपूषणः॥४५८॥
कुन्दकुन्दमुनीन्द्रस्य तस्यैवाहं करोमि वै।
स्तवनं चित्तरोधार्थं नित्याहसो विनाशकम्॥४५९॥

इसके बाद कुन्दकुन्द के स्तवन का माहात्म्य बतलाकर भगवान् ने कहा कि "इस तरह धर्ममार्ग को प्रकट करने के पश्चात् कुन्दकुन्द ने अपनी आयु का एक महीना अवशिष्ट जानकर समाधि सिद्धि के लिये अपने नगर के बाह्यस्थ वन में गमन किया और वहाँ क्रमशः सर्व आहार का त्यागकर, मंत्रराज का श्रवण स्मरण और पंचपरमेष्ठी तथा सीमंधर स्वामी का ध्यान करते हुए, समाधिपूर्वक प्राण त्यागकर स्वर्ग प्राप्त किया। चौथे काल में वे मोक्ष जायेंगे।" और इसके अनन्तर ही वे कुन्दकुन्द के गुणों का तथा उनके पुण्य का पुनः कीर्तन करने लगे और यहाँ तक कह गये कि 'हे यतिराज! हमारी और तुम्हारी सदा रक्षा करो ('यतीराज स पातु नो वः सदा' ४९१)! हमारी संसार से रक्षा करो ('न पातु संसारतः' ४९४)! साथ ही उन्होंने पुण्योपार्जन की प्रेरणा की और फिर राजा श्रेणिक को संबोधन

कर 'इत्थं श्रेणिकभूप सर्वगदितं वृत्तं मया तेऽखिलम्' इत्यादि रूप से वह उपसंहारात्मक अन्तिम वाक्य (पद्य नं० ४९७) कहा जो ऊपर उद्धृत किया जा चुका है और उसमें बतलाया है कि "हे राजा श्रेणिक! इस तरह श्री कुन्दकुन्द का यह सब पूरा निर्मल चरित्र मैंने तुझसे कहा है, इसे तू चित्त में धारण कर, यह पूज्योदय को लिये हुए पाप समूह का नाश करने वाला, मन को शुद्ध करने वाला, आनन्द का देने वाला, आगामी काल में धर्म का बढ़ाने वाला और देवों से पूज्य है।"

इस प्रकार यह भूत-भविष्यतादि के विवेकरहित ग्रन्थकार का भगवान् महावीर के नाम पर असम्बद्ध प्रलाप है। ग्रन्थकार को यह सब लिखते हुए इतनी भी होश रही मालमू नहीं होती कि वह अपने कथन के पूर्वापर सम्बन्ध को ठीक समझ सके अथवा यह जान सके कि भगवान् महावीर कब हुए हैं- चतुर्थ काल में या इस पंचम (कलि) काल में और उनकी क्या पोजीशन थी? और इसलिये उसे यह खबर नहीं पड़ी कि मैं भगवान् के मुख से भविष्य में होने वाले कुन्दकुन्द मुनि का जो वर्णन करा रहा हूँ वह भविष्यवर्णना के रूप में ही होना चाहिए भूतवर्णना के रूप में नहीं, और न यही समझ पड़ी कि सर्वज्ञ भगवान् के मुख से कहे जानेवाले शब्द कितने संयत, कितने उदार, कितने गंभीर और कितने सत्यमय होने चाहिए। इसी से उसने उन्मत्त की तरह यद्वा-तद्वा कहीं भविष्यकाल की क्रिया का और कहीं भूतकाल की क्रिया का प्रयोग कर डाला! साथ ही, सत्य-असत्य, उचित-अनुचित, कहने योग्य और न कहने योग्य, जो जी में आया भगवान् के मुख से कहला डाला!! इस तरह ग्रन्थकार ने अपनी मूर्खता, अपनी अज्ञता, अपनी अनुदारता, अपनी साम्प्रदायिकता, अपनी कट्टरता और अपनी मिथ्या धारणा को भगवान् महावीर के ऊपर लादकर उन्हें मूर्ख, अज्ञानी, अनुदार, साम्प्रदायिक, कट्टर और असत्य-भाषी ठहराने की अक्षम्य धृष्टता की है!!!

अनुवादक महाशय ब्र० ज्ञानचन्द्र को भी ग्रन्थकार का यह असम्बद्ध प्रलाप कुछ खटका जरूर है परन्तु उन्होंने ग्रन्थकार के सुर में सुर मिलाकर उसे छिपाने तथा उस पर पर्दा डालने की जघन्य चेष्टा की है। उसने श्लोक नं० १९८ का अर्थ देने के बाद एक विचित्र वाक्य इस प्रकार लिख दिया है-

"आगे ग्रन्थकार उस कथन के अनुसार स्वयं वर्णन करते हैं।"

परन्तु ग्रन्थकार ने ग्रन्थ में कहाँ ऐसी सूचना की है, इसे वे बतला नहीं सके और न यह सुझा सके हैं कि ग्रन्थकार को अपने ग्रन्थ की पूर्वप्रतिज्ञा (श्लोक नं० १५७) के विरुद्ध ऐसा करने की जरूरत क्यों पैदा हुई? वह भगवान् को बीच में कहते कहते छोड़कर अपना राग क्यों अलापने लगा? और पूर्व-कथन में भी जो कहीं कहीं भूतकालीन वाक्य पाये जाते हैं उनका तब क्या बनेगा? इससे यह सब अनुवादक महाशय की निजी निःसार कल्पना है। उन्हें इस कल्पना को करते हुए इतनी भी समझ नहीं पड़ी कि हमारे 'उस कथन' शब्दों का वाच्य भगवान् का भविष्यवर्णनारूप कथन है या भूतवर्णनारूप, यदि भूतवर्णनारूप है तो असम्बद्ध प्रलाप ज्यों का त्यों स्थिर रहता है और यदि भविष्यवर्णनारूप है तो उसके अनुसार ग्रन्थकार का कथन भी भविष्यवर्णनारूप होना चाहिए था, जो नहीं है, और न यही खबर पड़ी कि श्लोक नं० १९८ के बाद से यदि ग्रन्थकार ने बिना किसी सूचना

के ही स्वयं अपने तौर पर वर्णन करना प्रारम्भ कर दिया था तो फिर आगे चलकर श्लोक नं० ३५२ से भगवान् राजा श्रेणिक को संबोधन करते हुए बीच में क्यों बोल पड़े? वहाँ उनके इस बीच में कूद पड़ने की अथवा बिना बुलाये बोल उठने के कारण की अनुवादक महाशय ने भी कोई सूचना नहीं की! क्या ग्रन्थकार के सामने भी उसके संबोधन के लिये राजा श्रेणिक मौजूद थे? यदि ऐसा कुछ नहीं तो फिर क्या अनुवादक महाशय अपने उक्त वाक्य-प्रयोग के द्वारा यह सुझाना चाहते हैं कि भविष्यवर्णनारूप जितना कथन है वह तो खास महावीर का कथन है–उन्हीं के शब्दों में ज्यों का त्यों उनके मुख से निकला हुआ है, उसमें तदनुसार कथन की कोई बात नहीं और शेष कथन ग्रन्थकार का अपने तौर पर किया हुआ कथन है? यदि ऐसा है तब भी असम्बद्ध प्रलाप का दोष दूर नहीं होता, क्योंकि भविष्य वर्णना के कथनों को क्रमशः मिलाकर और इसी तरह भूतवर्णना के कथनों को क्रमशः मिलाकर अलग अलग पढ़ने पर वे और भी ज्यादा असम्बद्ध मालूम होते हैं। उदाहरण के तौर पर यदि 'तद्विमाने समारूह्य यास्यति' इत्यादि श्लोक नं० १९८ के बाद 'इत्यादि सकलान् ग्रन्थान्' नाम के भविष्यवर्णना वाले श्लोक नं० ३५२ को पढ़ें तो वह कितना असम्बद्ध तथा बेढंगा मालूम देगा और उससे भगवान् की मूर्खता, असमीक्ष्यकारिता और उन्मत्त प्रलापता कितनी अधिक बढ़ जायेगी, क्योंकि बीच के सारे कथन सम्बन्ध को छोड़ देने पर भी श्लोक नं० ३४२ में प्रयुक्त हुआ 'इत्यादि' शब्द अपने पहले कुछ ग्रन्थों के नामोल्लेख को मांगता है, जिसका महावीर की भविष्यवर्णना में अभाव है। अतः इस असम्बद्ध प्रलाप के ऊपर किसी तरह भी पर्दा नहीं डाला जा सकता- प्रकरण के आदि अन्त के ऊपर उद्धृत किये हुए दोनों प्रतिज्ञा और उपसंहार वाक्य (नं० १५७, ४९७) ही इस बात को स्पष्ट बतला रहे हैं कि यह सारा वर्णन भगवान् महावीर के मुख से राजा श्रेणिक के प्रति कहलाया गया है। अनुवादक महाशय ने व्यर्थ ही भोले पाठकों की आँखों में धूल डालने का यह निंद्य प्रयत्न किया है। वास्तव में अपने इस प्रयत्न द्वारा ग्रन्थकार की स्पष्ट मूर्खतादि का पक्ष लेकर उन्होंने खुद को तत्सदृश सिद्ध किया है।

खेद है कि मुनि शान्तिसागर जी आचार्य बनकर और कलिकाल सर्वज्ञ कहलाकर भी ग्रन्थकार के इतने मोटे असम्बद्ध प्रलाप को समझ नहीं सके, न अपने चेले ब्रह्मचारी (वर्तमान क्षुल्लक ज्ञानसागर) की उक्त करतूत (लीपापोती) को ही परख सके हैं और यों ही बिना समझे गणधर चेलों के जाल में फंसकर ऐसे जाली ग्रन्थ के प्रशंसक बन बैठे हैं और अपने संघ द्वारा उसका प्रचार करते तथा होने देते हैं, जो भगवान् महावीर के पवित्र नाम को कलंकित करने वाला है। अस्तु!

इस असम्बद्ध प्रलाप के भीतर जो असत्य प्रलाप भरा हुआ है और ऐतिहासिक तथ्यों के विरुद्ध कितना ही कथन पाया जाता है उस सबको यहाँ प्रकट करने का अवसर नहीं है, अवकाश मिला तो उसका कुछ अंश किसी दूसरी जगह प्रकट किया जायेगा- कुछ संकेतमात्र नं० २ में दिया भी जा चुका है। यहाँ पर सिर्फ इतना ही जान लेना चाहिए कि ऐसा असम्बद्ध प्रलाप भगवान् महावीर जैसे आप्त पुरुषों का नहीं हो सकता। चूँकि प्रतिज्ञा और उपसंहार वाक्यों आदि के द्वारा उसे साफ तौर पर भगवान्

का प्रकट किया गया है, अतः इस पर से ग्रन्थ का जालीपन और भी निःसंदेह हो जाता है और वह स्पष्टतया जाली तथा बनावटी सिद्ध होता है। साथ ही, यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वह ग्रन्थकार के कथनानुसार किसी 'अनागतप्रकाश' नाम के प्राचीन ग्रन्थ से उद्धृत किया गया मालूम नहीं होता, बल्कि अधिकांश में ग्रन्थकार के द्वारा कल्पित किया गया और कुछ इधर-उधर के भूतवर्णना वाले आधुनिक भट्टारकीय ग्रन्थों पर से अपनी नासमझी के कारण उठाकर रखा गया जान पड़ता है। और इसी से वह इतना बेढंगा बन गया है।

४. तेरहपंथियों से भगवान् की झड़प

ग्रन्थ में भगवान् महावीर के मुख से भविष्य कथन के रूप में जो असम्बद्ध प्रलाप कराया गया है, वह नं० ३ में दिये हुए कुन्दकुन्द के प्रकरण के साथ ही समाप्त नहीं होता, बल्कि दूर तक चला गया है। अगले प्रकरणों को पढ़ते हुए भी ऐसा मालूम होता है मानों भगवान् कहीं-कहीं तो ठीक भविष्य का वर्णन कर रहे हैं और कहीं एकदम विचलित हो उठे हैं और उनके मुख से कुछ का कुछ निकल गया है—कथन का कोई भी एक सिलसिला और सम्बन्ध ठीक नहीं पाया जाता। कुन्दकुन्द-प्रकरण के अनन्तर अगले कथन का जो प्रतिज्ञावाक्य दिया है, वह इस प्रकार है—

अथापरं शृणु भूप पंचमसमयस्य वै।
वृत्तान्तं भाविकं वक्ष्ये सर्वचिन्तासमाधिना॥४९९॥

इसमें साफ तौर पर पंचम काल के दूसरे भावी वृत्तान्त के कथन की प्रतिज्ञा करते हुए राजा श्रेणिक से उस वृत्तान्त को सुनने की प्रेरणा की गई है। परन्तु इसके अनन्तर ही, भावी वृत्तान्त की बात को भुलाकर, भगवान् ने अभिषेकादि छह क्रियाओं का उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया है! और उसके द्वारा वे खुद ही अपनी पूजा-अर्चा का विधान करने बैठ गये हैं! यहाँ तक कि जपक्रिया के मंत्रों में उन्होंने अपना नाम भी 'सर्वकर्मरहिताय श्रीमहावीर-जिनेश्वराय सदा नमः' इत्यादि रूप से जपने के लिये बतला दिया है!! साथ ही अपने परम आराध्य कुन्दकुन्द के नाम का मंत्र देना भी वे नहीं भूले हैं और उन्होंने कुन्दकुन्द के नाम वाले मंत्र को तीन बार 'नमोस्तु' के साथ जपने की व्यवस्था करके उनके प्रति अपनी गाढ़ श्रद्धा-भक्ति का परिचय दिया है!!! अभिषेक क्रिया के वर्णन में उन्होंने जल, इक्षुरस, घृत, दुग्ध और दधिरूप पंचामृत से जिनेन्द्र के-और इसलिये अपने भी-स्नान का विधान ही नहीं किया, बल्कि 'स्नानं कुरुध्वं बुधाः' (५०८) जैसे वाक्यों द्वारा उसकी साक्षात् प्रेरणा तक की है। साथ ही, उसकी दृढ़ता के लिये ऐसे अभिषेक का फल भी मेरु पर्वत पर देवताओं द्वारा अभिषेक किया जाना आदि बतला दिया है, और एक नजीर भी प्रोत्साहनार्थ तथा इस क्रिया को मुख्यता प्रदान करने के लिये दे डाली है, और वह यह कि देवता लोग भी पहले भगवान् का अभिषेक करके पीछे सम्पत्ति को अंगीकार करते हैं- दूसरे कामों में लगते हैं।[१८] इसी तरह पूजन क्रिया के वर्णन में उन्होंने

१८. इससे यह कथन अगले भविष्यकथन की प्रस्तावना या उत्थानिका की कोटि से निकल जाता है और एक असम्बद्ध प्रलाप के रूप में ही रह जाता है।

भगवच्चरणों के आगे जल की तीन धाराएं छोड़ने, केसर, अगर-कपूर को घिसकर जिन-चरणों पर लेप करने और जिन-चरणों के आगे सुन्दर अक्षतों, कुन्द-कमलादि के पुष्पों तथा सर्व प्रकार के पक्वान्न व्यंजनों को चढ़ाने, हजारों घृतपूरित दीपकों का उद्योत करने, सुगंधित धूप जलाने और केला आम्रादि फलों को अर्पण करने रूप अष्टद्रव्य से पूजन का विधान ही नहीं किया किन्तु ''एवं बुधोत्तमा जिनपतेः इज्यां कुरुध्वं च भो'' (६२२) जैसे वाक्यों द्वारा उस प्रकार से पूजन की साक्षात् प्रेरणा भी की अथवा आज्ञा तक दी है। साथ ही ऐसे प्रत्येक द्रव्य से पूजन का फल ही नहीं बतलाया बल्कि इन द्रव्यों से पूजन करके फल प्राप्त करने वालों की आठ कथाएं भी दे डाली हैं[१९] जिससे इस प्रकार के पूजन की पुष्टि में कोई कोर कसर बाकी न रह जाये! शेष जप, स्तुति, ध्यान और गुरुमुख से शास्त्रश्रवण[२०] नाम की क्रियाओं का विधान भी भगवान् ने प्रेरणा तथा फलवर्णना के साथ किया है, परन्तु उनके विषय में भविष्य का कोई खास उल्लेख नहीं किया गया।[२१] इसके बाद वे फिर से पूर्णाहुति के तौर पर उक्त छहों क्रियाओं का उपदेश देने बैठ गये हैं! और इतने पर भी तृप्त न होकर थोड़ी देर बाद उन्होंने जलगंधाक्षतादि जुदे-जुदे द्रव्यों से पूजन का वही राग पुनः छेड़ दिया है!!

हाँ, बीच-बीच में जब कहीं उन्हें दिगम्बर तेरहपंथी नजर पड़ गये हैं या उनसे भी चार कदम आगे तारनपंथी और स्थानकवासी दिखलाई दे गये हैं तो भगवान् अपने को संभाल नहीं सके, वे आवेश में आकर एकदम उन पर टूट पड़े हैं और समवसरण में बैठे-बैठे ही भगवान् की उनके साथ अच्छी खासी झड़प हो गई है! भगवान् ने उन्हें मूर्ख, मूढ़, कृतघ्न, गुरुनिन्दक, आगमनिन्दक, जिनागमप्रघातक, जैनेन्द्रमतघातक, मदोद्धत, क्रूर, सुबोधलव-वर्जित, क्रियालेशोज्झित, वचनोत्थापक, मिथ्यात्वपथसेवक, मायावी, खल, खलाशय, जडाशय, धर्मघ्न, धर्मबाह्य, कापट्यपूरित, जिनाज्ञालोपक, कुमार्गगामी और अधम आदि कहकर अथवा इस प्रकार की गालियाँ देकर ही संतोष धारण नहीं किया, बल्कि उन्हें श्वपचतुल्य (चाण्डालों के समान) और सप्तम नरकगामी तथा निगोदगामी तक बतला दिया है!!! अभिषेक और पूजन क्रियाओं के सम्बन्ध में भविष्यवर्णनारूप से जो कथन किया गया

---

१९. ये कथाएँ पंचमकाल के भाविक वृत्तान्त के वर्णन में बहुत कुछ असम्बद्ध जान पड़ती हैं, और इनसे यह कथन अगले भविष्यकथन की प्रस्तावना या उत्थानिका की कोटि से और भी ज्यादा निकल जाता है तथा एक प्रलाप के रूप में ही रह जाता है।

२०. ग्रन्थों का स्वतः स्वाध्याय कर लोग कहीं भक्त भट्टारकों के शासन से निकल न जायें, उन पर नुक्ताचीनी करने वाले तेरहपंथी न बन जायें, इसी से शायद गुरुमुख से शास्त्रश्रवण की यह बात रखी गई जान पड़ती है। अनुवादक जी ने 'ग्रन्थान् भव्याः गुरोरास्यात् शृणुध्वम्' का अर्थ ''ग्रन्थों का स्वाध्याय गुरुमुख से ही श्रवण करना चाहिए'' देकर इसकी मर्यादा को और भी बढ़ा दिया है, परन्तु खेद है कि वे अपने इस वाक्य में प्रयुक्त हुए 'ही' शब्द पर खुद अमल करते हुए नजर नहीं आते!!

२१. इन क्रियाओं के साथ में भविष्य का कोई वर्णन न रहने से इनका कथन प्रतिज्ञात भाविक वृत्तान्त के साथ और भी असंगत हो जाता है और बिल्कुल ही निरर्थक ठहरता है।

है वह प्राय: उन्हीं को लक्ष्य करके कहा गया है।[२२] ये पंचम काल के (कलियुगी) लोग इन क्रियाओं को नहीं मानेंगे अथवा अमुक विधि से अभिषेक-पूजा नहीं करेंगे, क्रियाओं का उत्थापन करेंगे, नया नया मार्ग चलाएंगे, शास्त्रों के वचन का लोप करेंगे, ग्रन्थों को दोष लगाएंगे, संस्कृत प्राकृत ग्रन्थ नहीं

---

२२. इस प्रकरण के भविष्यवर्णनावाले अधिकांश वाक्य इस प्रकार हैं, जिन्हें पढ़कर विज्ञ पाठक स्वयं जान सकेंगे कि वे तेरहपंथियों आदि को लक्ष्य करके ही लिखे गये हैं–

(१) कलौ वै मानवा मूढा चाभिषेकक्रियामिमाम्। नूनमुत्थापयिष्यन्ति स्वस्वमतिविपर्ययात्॥५०९॥
शास्त्राणां वचनं मूर्खा लोपयिष्यन्ति निश्चयात्। नूतनं नूतनं मार्गं करिष्यन्ति स्वकीर्तये॥५१०॥
दास्यन्ति सर्वग्रन्थानां दोषं स्वमतिसम्बलान्। संस्कृतं प्राकृतं ग्रन्थं वाचयिष्यन्ति नैव च॥५११॥
स्वं स्वं कल्पित वाक्यं च मानयिष्यन्ति ते नरा:। जैनागमविनिर्मुक्ता आचार्यागमनिन्दका:॥५१२॥
स्वस्वमतस्य पक्षस्य पालका गुरुनिन्दका:। कृतघ्ना: ते भविष्यन्ति जैनेन्द्रमतघातका:॥५१३॥
इनके अनन्तर ही 'द्वितीया च क्रिया प्रोक्ता' इत्यादि रूप से पूजन क्रिया का वर्णन है।.

(२) अनेन विधिना भूप कलौ मूढाश्च ये नरा:। करिष्यन्ति जिनेन्द्राणां पूजां नैव मदोद्धता:॥६२३॥
तस्मिन् तदुद्भवा: क्रूरा: सुबोधलववर्जिता:। वचनोत्थापका: स्वस्यागमस्यैव प्रतिश्चयात्॥६२४॥
इनके बाद 'अंगपूर्वानाराधीश स्थास्यन्ति मत्परं खलु' इत्यादि रूप से भविष्यवर्णना के जो चार श्लोक दिये हैं और श्लोक नं० ६४० तक भूतादिवर्णना को लिये जो वाक्य दिये हैं उनका प्रस्तावित पूजनक्रिया के साथ कोई खास सम्बन्ध नहीं है।.

(३) कलौ धर्मप्रकाशार्थं सर्वलोकस्य साक्षित:। नूतनां स्थापनां लोका: करिष्यन्ति च मायिन:॥६४१॥
केचिच्च द्वेषका मर्त्या: केचिच्च सेवका: खलु। एवं तस्मिन् भविष्यन्ति कलौ च मगधाधिप॥६४२॥
जैनागमसुवाक्येषु ह्यमीषां मगधेश्वर। निश्चयो न भविष्यति संशयाधीनचेतसाम्॥६४३॥
ग्रन्थानां पूजका: केचित् जिनबिम्बस्य निन्दका:। कलौ भेदा ह्यनेके च ज्ञातव्या श्रेणिक त्वया॥६४४॥
वसुभूपालवत्स्वस्य मतस्य ते नरा: खला:। दृढं पक्षं करिष्यन्ति सप्तघावनि दु:खदम्॥६४५॥
जिनात्तपुरुषाणां च केचिच्छ्राद्धानिका नरा:। खला निन्दां करिष्यन्ति जिनागमप्रघातका:॥६४६॥
पूर्वाचार्यकृतां सर्वामभिषेकादिकां क्रियाम्। तस्मिन्नुत्थापयिष्यन्ति ते मूढा: पञ्चमोद्भवा:॥६४७॥
नूतनां नूतनां सर्वां करिष्यन्ति जडाशया:। ते नराश्च क्रियां भूप स्वस्वमतिविकल्पत:॥६४८॥
वयं श्रद्धानिका यूयं मिथ्यात्वपथसेवका:। मानयिष्यन्ति ते चित्ते क्रियालेशोज्झिता: खलु॥६४९॥
स्वधीकल्पितग्रन्थान् वै स्वाध्याये पूजनादिके। कार्ये प्रवर्तयिष्यन्ति नो तद्धिते खलाशया:॥६५०॥
इत्थं जैनेन्द्रधर्मस्य मध्ये भेदोत्करा: खलु। तस्मिन्नेव भविष्यन्ति स्वस्वमतविनाशका:॥६५१॥
इसके पश्चात् हुंडावसर्पिणी काल की कुछ घटनाओं का उल्लेख ६६० नम्बर तक है।.

(४) साधर्मि पुरुषाणां च निन्दां ते श्रावका: खला:। करिष्यन्ति कलौ भूप निन्दाया: किं फलं भवेत्॥६६१॥
आगे नम्बर ६८१ तक निन्दा का फल दिया है।.

(५) ह्येवं सर्व भविष्यन्ति कलौ भूप न संशय:। स्वचित्ते मानयिष्यन्ति वयं श्रद्धानिका: खलु॥६८२॥
ग्रन्थलोपजपापेन ते च श्रद्धानिका: खलु। नरकावनौ च यास्यन्ति सर्वे हि मगधेश्वर॥६८३॥

बाँचेंगे, अपनी ही बुद्धि से कल्पित किये (भाषा) ग्रन्थों को स्वाध्याय तथा पूजनादि के कार्यों में बरतेंगे, ग्रन्थों के पूजक तथा जिनबिम्बों के निन्दक भी होंगे और जिनात्तपुरुषों (भट्टारक गुरुओं) तथा साधर्मी पुरुषों की निन्दा करेंगे, इत्यादि कहकर और निन्दा के फलवर्णन की अप्रासंगिक बात उठाकर उसके बहाने उन्हें फिर प्रकारान्तर से खूब कोसा गया है। कहा गया है कि ऐसे निन्दक लोग अगले जन्म में अन्धे, बहरे, गूंगे, कुबड़े, सदा रोगी, विकलांगी, दारिद्री, नपुंसक, कुरूपी, असुरीले, दुःखभोगी, पुत्रपौत्रादिरहित, सदा शोकी, भाग्यहीन, दुर्बुद्धि, क्रूर, दुष्ट, खल, ज्ञानशून्य, मुन्यादि-वर्जित (साधु आदि के सत्संग रहित अथवा निगुरे), धर्ममार्गपरान्मुख, गुणमानविहीन और दूसरों के घर पर नौकर होते हैं (होंगे) प्रतिपच्चन्द्रमा की तरह (शीघ्र) मर जाते हैं, ८वें, १२वें, १६वें वर्ष तथा जवानी में ही मरण को प्राप्त हो जाते हैं और इस लोक तथा परलोक में धूर्त[२३] बन जाते हैं। साथ ही यह भी कहा गया है कि प्राणियों के शरीर में जो भी कष्टदायक दुःख होते हैं वे सब परनिन्दा के फल हैं[२४] और जो लोग प्रत्यक्ष में (सामने ही) निन्दा करते हैं, उन्हें चाण्डाल के समान समझना चाहिए।[२५]

इसके बाद यह दुहाई देते हुए कि ग्रन्थों में भद्रबाहु, माघनन्दी, जिनसेन, गुणभद्र, कुन्दकुन्द, वसुनन्दी और सकलकीर्ति आदि योगीन्द्रों के द्वारा पूजा स्नानादि की वे ही सब क्रियाएं रखी गई हैं जो वीतराग भगवान् तथा गणधरादिक ने कही हैं, यहाँ तक कह डाला है कि उन क्रियाओं का उत्थापन करने वाले कपटी मनुष्य दुःखों से भरे हुए सातों नरकों में क्यों नहीं जायेंगे? भगवान् के वचन को लोपने से मूढ़ मानी पुरुष निश्चय ही नाना दुःखों की खान निगोदों में पड़ेंगे।[२६]

अन्त में बहुत कुछ संतप्त होकर भगवान् उन तेरहपंथियों आदि को संबोधन करते हुए उनसे इस प्रकार पूछने और कहने लगे हैं–

''बतलाओ तो सही, किस ग्रन्थ के आधार पर तुमने गृहस्थों की इन छह क्रियाओं (पंचामृत अभिषेक, भगवत् चरणों पर गंधलेपन को लिये हुए सचित्तादि द्रव्यों से पूजा, स्तुति, जप, ध्यान, गुरुमुख से शास्त्रश्रवण) का लोप किया है? यदि तुम्हारे जिनागम की श्रद्धा है, तो प्रतिदिन छह

---

२३. मूल में 'धवाः' पद है और वह यहाँ धूर्तों का वाचक है। हेमचन्द्रादि के कोशों में भी 'धवः धूर्ते नरे पत्यौ' आदि वाक्यों के द्वारा 'धव' शब्द को धूर्तवाचक बतलाया है। परन्तु अनुवादक संपादक ब्र० ज्ञानचन्द्र जी महाराज ने अपनी नूतनाविष्कारिणी शक्ति के द्वारा बड़ी निरंकुशता के साथ उसका अर्थ विधुर तथा विधवा कर दिया है और लिख दिया है कि ''इस लोक तथा परलोक में विधुर अथवा विधवा हो जाते हैं''!!

२४. फलादेश की इस फिलासॉफी ने जैनधर्म की सारी कर्म फिलॉसॉफी को लपेटकर बालाएताक़ रख दिया है!

२५. पिछले दोनों वाक्यों के सूचक श्लोक इस प्रकार हैं–
ये ये दुःखाश्च जायेंते प्राणिनां दुःखदायकाः। ते ते ज्ञेयाः शरीरेषु परनिन्दाया भो फलम्॥६७९॥
प्रत्यक्षं येऽत्र मूढा वै निन्दां कुर्वन्ति सर्वदा। ज्ञेयाः श्वपचसा तुल्याः स्वमतस्य क्षयंकराः॥६८१॥

२६. तत्क्रियोत्थापकाः किन्न यास्यन्ति ये च सप्तसु। श्वभ्रेषु दुःखपूर्णेषु नराः कापट्यपूरिताः॥६९४॥
प्रभोर्वाक्यप्रलोपेन ते मूढा मानसंयुताः। यास्यन्ति वै निकोतेषु नानादुःखकरेषु च॥६९८॥

क्रियाओं को करो। मूढों! हृदयोक्ति को छोड़ो और वसु राजा की तरह ग्रन्थों का लोप मत करो। अहो मूर्खों! मतिश्रुतावधिनेत्रधारक योगियों ने तो इन अभिषेकादि सम्पूर्ण क्रियाओं में कोई दोष देखा नहीं, तुम्हारे तो मूढों! मतिज्ञानादि सद्गुण अल्पमात्रा में भी दिखाई नहीं देते, फिर बतलाओ तुम बुद्धिविहीनों ने किस ज्ञान से अभिषेकादि क्रियाओं में प्रदोष देखा है? प्रभु के चरणों पर चन्दनादि से लेप करने में क्या दोष है? दीपक का उद्योत करने में, जिनांकस्थित यक्षों का पूजन करने में, धूप जलाने में, रात्रि को पूजन करने में, जिनात्तपुरुषों (भट्टारकों) के मार्गवर्धक वात्सल्य में, पुष्पसमूह से जिनचरण की पूजा करने में और केला, आम तथा अंगूरादि फलों से पूजा करने में क्या दोष है? इत्यादि सम्पूर्ण क्रियाएं जिननाथ ने आगम में कही हैं, तुमने अपनी मूढ़बुद्धि से उन्हें छोड़ दिया है। अतः तुम जिनेन्द्र की आज्ञा भंग करनेवाले और कुमार्गगामी हो, श्राद्ध (श्रद्धावान् श्रावक) नहीं हो, जिनाज्ञा के लोप से निष्फल हो गये हो। जहाँ आज्ञा (आज्ञापालन) नहीं वहाँ धर्म का लेश भी नहीं, अतः तुम निःसंदेह कुश्रद्धा के पालक हो। अरे! जिनवचन में यदि तुम्हारी दृढ़ श्रद्धा हो तो अभिषेकादि सत्क्रियाओं को अङ्गीकार करो। मूढों! बतलाओ तो सही, किसकी आज्ञा से तुमने अभिषेकादि मुख्य क्रियाएं छोड़ी हैं? ग्रन्थ खोलकर दिखलाओ। दुष्टों! बोलो, ग्रन्थों के अनुसार तुमने ये क्रियाएँ छोड़ी हैं या अपनी मति के अनुसार? जिनमुखोत्पन्न ग्रन्थों की आज्ञा तो तीनों लोक में सभी देवेन्द्र, नरेन्द्र, नागेन्द्र और खचरेन्द्र मानते हैं, जिनेन्द्र की आज्ञा के बिना सुरेन्द्र कहीं भी कोई काम नहीं करते, फिर बतलाओ अरे मर्त्यो! तुमने परम्परा से चली आई इन अभिषेकादि क्रियाओं को कैसे उत्थापित किया है? जिनाज्ञा लोपने की सामर्थ्य तो देवेन्द्रों की भी नहीं होती, मूढों! तुमने कैसे उसका लोप कर दिया? क्या तुम उनसे भी बड़े हो और इसलिये तुमने सर्वेन्द्रपूज्य प्रभु के वाक्य का उत्थापन कर दिया है? अरे मूर्खों! बोलो, क्या ये सब क्रियाएं असत्य हैं? यदि असत्य हैं तो फिर सारे ग्रन्थ झूठे ठहरेंगे। तुम्हारे यदि जिनागम की श्रद्धा है तो फिर आगम वाक्य के अनुसार क्यों नहीं चलते? पक्षपात को छोड़ो और ग्रन्थपक्ष के अनुसार चलो।''

जिन वाक्यों का सार दिया गया है वे क्रमशः इस प्रकार हैं–

भवद्भिः केन ग्रन्थेन वक्तव्यं खलु लोपिताः।
षट् क्रियाः जिननाथेन इमाः प्रोक्ताश्च गेहिनाम्॥६०॥
स्यात् यदि दृढश्रद्धा वै भवतामागमस्य च।
कुरुध्वं जिननाथस्य षट् क्रियां वासरं प्रति॥६१॥
त्यजध्वं हृदयोक्तिं च वसुभूपालवत् खलु।
ग्रन्थानां लोपनं मूढा मा कुरुध्वं मतापहम्॥६२॥
मतिश्रुतावधिनेत्रधारकाणां च योगिनाम्।
गृहस्थधर्मव्याख्यानं कुर्वतां च विमानिनाम्॥६३॥

तेषां नैव ह्यहो मूर्खा दोषो दृष्टो किमप्यहो।
अभिषेकादिसर्वासु क्रियासु विदितेषु वै ॥६४॥
भवतां नैव भो मूढा मतिज्ञानादिसद्गुणा:।
चाल्यमात्रापि दृश्यन्ते सर्वद्वापरनाशका: ॥६५॥
वक्तव्यं केन ज्ञानेन भवद्भिः मतिवर्जितैः।
किं दृष्टश्च प्रदोषो वै अभिषेकादिषु खलु ॥६६॥
दोषः किं स्यात्प्रभोः पादलेपने चन्दनादिभिः।
दीपस्योद्योतने किं च जिनांकयक्षपूजने ॥६७॥
धूपोत्करस्य दहने निशायाः पूजने तथा।
जिनात्तपुरुषाणां च वात्सल्ये मार्गवर्द्धके ॥६८॥
पुष्पोत्करैः जिनेन्द्रस्य पादाम्बुजपूजने खलु।
केलाम्रगोस्तनी चान्यत्फलोत्करैः प्रपूजने॥६९॥
इत्याद्या याः क्रियाः सर्वा जिननाथेन वर्णिताः।
आगमे तत् भवद्भिश्च त्यक्ता भो मूढबुद्धितः॥७०॥
अतः यूयं जिनेन्द्रस्य आज्ञाघ्नाश्च कुमार्गगाः।
न श्राद्धा निःफला जाता जिनाज्ञालोपतः खलु॥७१॥
यत्राज्ञा न च तत्रापि धर्मलेशोऽपि नास्ति वै।
अतो यूयं कुश्रद्धायाः पालकाश्च न संशयः ॥७२॥
यदि स्यात् दृढश्रद्धा वै भवतां तद्वचनस्य च।
तदा ह्यंगीकुरुध्वं भो स्नपनादिसत्क्रियाम् ॥७३॥
आख्यापयथ मूढाः कस्याज्ञया स्नपनादिकाः।
यूयं त्यक्ताः क्रिया मुख्या ग्रन्थपक्षं प्रदर्श्यथ ॥७४॥
ग्रंथानुसारतः त्यक्ताः वदध्वं च क्रियाः खलाः।
इमे यूयं तथा किं च स्वमतेः सारतः खलु ॥७५॥
जिनाननसमुत्पन्नग्रन्थाज्ञां भुवने त्रये॥
देवेन्द्रा वा नरेन्द्राश्च नागेन्द्राः खचरेश्वराः ॥७६॥
सर्वे ते मानयन्त्येव निःशंकां निखिलार्थदाम्।
मतिश्रुतावधिश्लिष्टशुद्धदृग्धारकाः खलु ॥७७॥
क्वचिदपि जिनेन्द्रस्य चाज्ञा ऋते सुरेश्वराः।
न कुर्वन्त्यपरं कार्यं नानाभवप्रदायकम् ॥७८॥

यूयं वदथ भो मर्त्याः पारंपर्यात्समागताः।
भवद्भिरभिषेकाद्याः कथमुत्थापितः खलु॥७९॥
सुरेन्द्राणामपि नैव सामर्थ्यं स्यात्कदाचन।
जिनाज्ञालोपने मूढाः भवद्भिः लोपिताः कथम्॥८०॥
यूयं तदधिकाः किं वै अतः उत्थापितं प्रभोः।
वाक्यं सर्वेन्द्रपूज्यं च सर्वत्रापि निरंकुशम्॥८१॥
वदध्वं पुनः भो मूर्खा ह्यसत्याः स्युरिमाः क्रियाः।
सर्वे ग्रन्था असत्याः स्युः सर्वसन्देहनाशकाः॥८२॥
युष्माकं यदि श्रद्धा स्यात् दृढा जिनागमस्य वै।
तदा किं न कुरुध्वं भो तत् वाक्यं शिवदायकम्॥८३॥
पक्षपातं त्यजध्वं च ग्रन्थपक्षं जगन्नुत्तम्।
यूयं श्रद्धानिका नित्यं कुरुध्वं धर्मसिद्धये॥८४॥

(पृष्ठ १६३ से १६७)

पाठकजन! देखा, कितनी भारी झड़प का यह उल्लेख है! इसी तरह का और भी कितना ही संघर्षात्मक कथन है, जो भट्टारकों को ग्रन्थकार के शब्दों में जिनात्तपुरुषों को गुरु न मानने से सम्बन्ध रखता है, जिसमें भट्टारकों को गुरु न मानने वालों को सप्तम नरकगामी तक बतलाया है![२७] और जिसे यहाँ छोड़ा जाता है। अस्तु, इतनी खैर हुई कि ग्रन्थकार ने उत्तर में तेरहपंथियों को कुछ बोलने नहीं दिया, नहीं तो समवसरण सभा का रंग कुछ दूसरा ही हो जाता! और इस तरह से निरर्गल बोलने तथा पूछने वाले भगवान् के ज्ञान-विज्ञान की सारी कलई खुल जाती!!

इस प्रकार ग्रन्थकार ने अपनी इस कृति द्वारा भगवान् महावीर जैसे परमवीतरागी और ब्रह्मज्ञानी पूज्य महान् पुरुष को एक अच्छा खासा पागल, विक्षिप्तचित्त, अविवेकी, कषायवशवर्ती और कलुषितहृदय, क्षुद्रव्यक्ति प्रतिपादित किया है। उसका यह घोर अपराध किसी तरह भी क्षमा किये जाने के योग्य नहीं है। एक स्वार्थसाधु पामर मनुष्य अपनी स्वार्थ-साधना में अंधा होकर और कषायों में डूबकर जाने-अनजाने पूज्य पुरुषों तक को कितना नीचे गिरा देता है यह इस प्रकरण से बहुत कुछ स्पष्ट है, जिसमें यहां तक चित्रित किया गया है कि भविष्य में एक खास ढंग से अभिषेक-पूजा को न होते हुए देखकर भगवान् एक दम बिगड़ बैठे हैं! ग्रन्थकार ने अपनी कुत्सित वासनाओं और कषाय भावनाओं को चरितार्थ करने के लिये भगवान् महावीर के पवित्र नाम का आश्रय लिया है, उसे अपना आला अथवा हथियार बनाया है अर्थात् बातें अपनी, कहने का ढंग अपना और नाम भगवान् महावीर

---

२७. येऽधमा नैव मन्यन्ते गुरुं ज्ञानस्य दायकम्।
ते यास्यन्ति न संदेहः सप्तमे श्वभ्रकूपके॥ पृ. १७७

का! उसकी इस कृति में साफ तौर पर भट्टारकानुगामियों की तेरहपंथियों के साथ युद्ध की वही मनोवृत्ति काम करती हुई दिखलाई दे रही है जिसका पहले लेख में उल्लेख किया जा चुका है। इसके सिवाय इस सारे वर्णन में और कुछ भी सार नहीं है। भगवान् महावीर जैसे परम विवेकी और परम संयमी आप्तपुरुषों का ऐसा असम्बद्ध, सदोष और कषायपरिपूर्ण वचन व्यवहार नहीं हो सकता। ऐसे वचनों अथवा ग्रन्थों को जिनवाणी कहना–जिनमुखोत्पन्न बतलाना–जिनवाणी का उपहास करना है। यदि सचमुच जिनवाणी का ऐसा ही रूप हो तो उसे कोई भी सुशिक्षित और सहृदय मानव अपनाने के लिये तैयार नहीं होगा।

इसके सिवाय, किसी भी सभ्य मनुष्य को यह बात पसंद नहीं आती कि वह अपनी पूजा प्रशंसा के लिये दूसरों को साक्षात् प्रेरणा करे, फिर मोहरहित वीतरागी आप्तपुरुषों की तो बात ही निराली है– उन्हें वीतराग होने के कारण पूजा प्रशंसा से कोई प्रयोजन ही नहीं होता, जैसा कि स्वामी समन्तभद्र के ''न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे'' जैसे वाक्य से प्रकट है। उनके द्वारा इस तरह विस्तारपूर्वक और लड़-झगड़कर अपनी पूजा-अर्चा का विधान नहीं बन सकता। स्वामी पात्रकेसरी ने तो अपने स्तोत्र में 'त्वया ज्वलितकेवलेन न हि देशिताः किन्तु तास्त्वयि प्रसृतभक्तिभिः स्वयमनुष्ठिताः श्रावकैः' जैसे वाक्य द्वारा स्पष्ट बतला दिया है कि केवलज्ञानी भगवान् ने इन पूजनादि क्रियाओं का उपदेश नहीं दिया, किन्तु भक्त श्रावकों ने स्वयं ही (अपनी भक्ति आदि के वश होकर) उनका अनुष्ठान किया है, उन्हें अपने व्यवहार के लिये कल्पित किया है। और यह बहुत कुछ स्वाभाविक है।[२८] ऐसी हालत में भगवान् महावीर के मुख से जो कुछ यद्वा-तद्वा अपनी इच्छानुकूल कहलाया गया है और उसमें तेरहपंथियों आदि के प्रति जो अपशब्दों का व्यवहार किया गया है उसमें भगवान् महावीर का कोई सम्बन्ध नहीं है–उनका जरा भी उसमें हाथ नहीं है–वह सब वास्तव में ग्रन्थकार के संतप्त एवं आकुल हृदय का प्रतिबिम्ब है, उसकी अपनी चित्तवृत्ति का रूप है, और इसलिए उसकी निजी कृति है। अपनी कृति को दूसरे की प्रकट करना अथवा उसके विषय में ऐसी योजना करना जिससे वह दूसरे की समझ ली जाये, इसी का नाम जालसाजी है और इस जालसाजी से यह ग्रन्थ लबालब भरा हुआ है। इसलिए इसे जाली कहने में जरा भी अत्युक्ति नहीं है।

अपनी इस कृति पर से ग्रन्थकार पंडित नेमिचन्द्र इतना मूर्ख मालूम होता है कि उसे ग्रन्थरचना के समय इतनी भी तमीज (विवेक-परिणति) नहीं रही है कि मैं कहना तो क्या चाहता हूँ और कह क्या रहा हूँ! वह कहने तो चला भगवान् महावीर के मुख से निकला हुआ अविकल भाविक वृत्तान्त और सुना गया अपने संतप्त हृदय की बेढंगी दास्तान!! जिस परनिन्दा की उसने इतनी बुराई की और जिसका इतना भारी भयंकर परिणाम बतलाया, उसी को उसने खुद अपनाया है और उससे उसका ग्रन्थ भरा पड़ा है!!! क्या दूसरों को उपदेश देना ही पंडिताई का लक्षण है, खुद अमल करना नहीं?

२८. इस विषय के विशेष विवेचनादि के लिये लेखक की उस लेखमाला को देखना चाहिए जो कुछ वर्ष पहले 'उपासना विषयक समाधान' नाम से जैन जगत् में प्रकट हुई थी।

समझ में नहीं आता, आचार्य कहलाने वाले शांतिसागरजी ने ऐसे कषायवर्धक और सम्प्रदायिक विद्वेषमूलक जाली ग्रन्थ को कैसे पसंद किया, क्यों कर अपनाया और किस तरह वे उसकी प्रशंसा करने बैठ गये!! क्या उन्होंने भगवान् महावीर को ऐसा ही कलुषितहृदय, अविवेकी, असभ्य और यों ही हवा से बातें करने वाला उन्मत्त प्रलापी एवं क्षुद्र प्राणी समझा है? क्या इसी रूप में उनके ऐसे ही गुणों का चिन्तन करते हुए वे उनका ध्यान किया करते हैं!! और ऐसे ही बेढंगे ग्रन्थों को वे जिनवाणी समझते हैं? अथवा यह समझ लिया जाये कि वे खुद भी ग्रन्थकार के रंग में रंगे हुए हैं? बड़ी ही कृपा हो यदि आचार्य महाराज स्वयं ही इस विषय का खुलासा प्रकट करने का कष्ट उठाएँ। और यदि वस्तुतः किसी के प्रभाव में पड़कर या वस्तुस्थिति को ठीक न समझने के कारण उनसे भूल हो गई है तो उसका खुले दिल से प्रायश्चित्त कर डालें, और अपने संघ में ऐसे दूषित ग्रन्थों के प्रचार को रोक देवें। इसी में उनके पद की शोभा है।

५. ढूँढियों पर गालियों की वर्षा

दिगम्बर तेरहपंथियों से उस भारी झड़प के बाद जिसका ऊपर नं० ४ में उल्लेख किया जा चुका है, भगवान् महावीर, अपनी उसी भाविक वृतान्तवर्णना के सिलसिले में, राजा श्रेणिक को ढूँढियों (स्थानकवासी जैनों) का कुछ वर्णन सुनाने बैठे हैं, जिसे ग्रन्थ 'ढूँढकमतोत्पत्ति' नाम दिया गया है। परन्तु ढूँढक मत की उत्पत्ति का इस प्रकरण में प्रायः कुछ भी इतिहास नहीं है, सिर्फ इतना कहा गया है कि श्वेताम्बर मत में लुंका (लौंका शाह) संवत् १५२७ में उत्पन्न हुआ। उसके मत में बहुत से भेद हुए, कोई जिनपूजा के निन्दक हैं, कोई जिनबिम्बों के दर्शन-पूजन से पराङ्मुख हैं, कोई तीर्थयात्राओं की निन्दा करते हैं, कोई जैन मन्दिरों तथा प्रतिष्ठाओं के निषेधक हैं, और ये सब जिनमार्ग के नाशक हुए हैं (बभूवुः)। बाकी सारा प्रकरण दिगम्बर तेरहपंथियों की तरह ढूँढियों के साथ भगवान् के लड़ने झगड़ने, उनकी पूजनादि-सम्बन्धी कुछ मान्यताओं का खण्डन करने और उन पर अविश्रान्त गालियों की वर्षा से भरा हुआ है। मालूम होता है 'अथापरं शृणुध्वं भो'[२९] इन शब्दों के साथ प्रकरण का प्रारम्भ करते ही भगवान् एक दम विचलित हो उठे हैं, उन्होंने भविष्यवर्णना की अपनी बात (प्रतिज्ञा) को भुला दिया है और वे ढूँढियों की उत्पत्ति का वर्णन एक अतीत घटना के रूप में करने चले हैं! उन्होंने उसके लिये प्रायः आसीत्, अभूत्, जाताः, बभूवुः जैसी भूतकालीन क्रियाओं का प्रयोग किया है[३०] और उनके द्वारा यह सूचित किया है कि ढूँढकमत (स्थानकवासी सम्प्रदाय) की उत्पत्ति उनसे पहले

---

२९. यह पूरा श्लोक इस प्रकार है-

अथापरं शृणुध्वं भो स्वेतवासोमते खलु।

लुङ्काभिधः कुधीरासीत्सर्वधर्मविनाशकः॥१४६॥

३०. अनुवादक को भी यह बात कुछ खटकी है और इसलिये उसने कहीं कहीं हिन्दी पाठकों को धोखे में डालते हुए, भूतकाल की क्रिया का अर्थ भविष्यकाल की क्रिया में दे दिया है। -देखो, पृष्ठ १८०।

ही हो चुकी थी, इतना ही नहीं बल्कि निम्न वाक्य द्वारा वे यहां तक भी स्पष्ट कह गये हैं कि इस वक्त ढूँढिया लोग सब जगह खूब फैले हुए हैं!![३१]

नाम्ना ढूंढ्याश्च विख्याता क्रियाकर्मविवर्जिताः।
सर्वत्र विस्तृता ते च ह्यधुना भो बुधोत्तमाः॥१५२॥

इसके सिवाय, भगवान् ने, भो लुंकमतधारकाः भो लुंकाः, भो ढूंढ्याः इत्यादि संबोधन पदों के द्वारा ढूंढियो को साक्षात् संबोधन करके कितनी ही बातें गद्य-पद्य में कही हैं उन्हें पूजन-विधान तथा जिनबिंबदर्शनादि के लिये, क्रोध भरे अपशब्दों के साथ, उनके पैंतालीसा,[३२] जीवाभिगम, ज्ञाताकथा, उपासकदशा, सूत्रकृतागम और भगवतीसूत्रादि ग्रन्थों को देखने, उनके अनुसार चलने अथवा उनका लोप कर देने को भी कहा है। कुछ बातों का ढूँढियों ने उत्तर भी दिया है, जिसका उल्लेख ग्रन्थ में निम्न प्रकार के वाक्यों के साथ किया गया है-

ढूंढ्या इत्युत्तरं श्रुत्वापि स्वपक्ष-पालनार्थमित्यूचुः।
इति श्रुत्वापि पुनः लुंकमतधारका ढूंढ्या इत्याहुः॥

इससे जान पड़ता है कि बहुत से ढूँढिये भगवान् के समवसरण में पहुँच गये थे! उन्हें अपनी सभा में साक्षात् सामने बैठे देखकर भगवान् श्रेणिक को कथा सुनानी भी भूलकर इतने आवेश में भर गये और इतने उत्तेजित हो उठे कि वे अपने को संभाल नहीं सके और इसलिये उन्होंने, जो कुछ कहनी-अनकहनी थी, वह सब कह डाली! उन्होंने सब ढूँढियों को मूर्ख, मूढ़, मूढ़मानस, मूढ़चित्त, महामूढ़, सुबोधलववर्जित, मतिवर्जित, निर्विचार, मतिहीन, ज्ञातिहीन, क्रियाहीन, सर्वहीन, क्रियाकर्मविवर्जित, जिननिन्दक, जिनाज्ञाविमुख, धर्मलोपक, जिनमार्गनाशक, जिनधर्मनाशक, जैनघातक, जिनघ्न, जिनागमघ्न, जिनवाक्यघ्न, जिनमंत्रराजघ्न, सर्वघ्न, मदोद्धत, मदोन्मत्त, खल, खलात्मा, खलाशय, क्रूर, अशुद्ध, असाधु, कुकुलान्वित, ज्ञानलेशोज्झित, भक्ष्याभक्ष्यविवेकरहित, भ्रष्टाचारी, अधम आदि कहकर ही संतोष धारण नहीं किया, बल्कि उन्हें बगुलों से भी गये-बीते, श्वपचवत्, निशाचरसम, जनंगमोपम (चाण्डालतुल्य), चाण्डालों से भी हीन, म्लेच्छाचार-प्रपालक, म्लेच्छ, जीवभक्षक, पशुतुल्य, दुर्गतिगामी और निगोदगामी तक कह डाला है!! इस प्रकरण के पिछले कुछ थोड़े से वाक्य नमूने के तौर पर इस प्रकार हैं-

---

३१. अनुवादक ब्रह्मचारी ज्ञानचन्द्र (क्षुल्लक ज्ञानसागर) जी ने श्लोक के उत्तरार्द्ध का, जिसमें यह बात कही गई है, अर्थ ही नहीं दिया और न यही सूचित किया कि इस वाक्य का अर्थ उनसे नहीं बन सका, जो अतिसुगम है! यह है आपके निष्कपट व्यवहार का एक नमूना!! आपकी लीलाओं के विशेष परिचय के लिये तो 'अनुवादक की निरंकुशता' वाले प्रकरण को देखिये।

३२. 'पैंतालीसाभिधे ग्रन्थे' इन शब्दों में 'पैंतालीस' या पैंतालीसा' नाम के जिस ग्रन्थ का उल्लेख किया गया है उस नाम का कोई एक ग्रन्थ ढूंढियों के यहां देखने अथवा सुनने में नहीं आता। संभव है कि यह श्वेताम्बरों के ४५ आगम ग्रन्थों की तरफ ही मूर्खतापूर्ण इशारा हो, जिनमें से ढूँढिया भाई बहुत से ग्रन्थों को प्रमाण नहीं मानते।

हंसा हंसाः हि भो मूर्खाः बका बकाश्च सुन्दराः।
यूयं च बकतुल्यापि नो सन्ति ध्यानमानसाः ॥८३॥
क्रियालेशोऽपि नास्त्येव भवतां च खलात्मनाम्।
यत्र नास्ति क्रियाशुद्धिः धर्मोऽपि तत्र नास्ति वै ॥८४॥
प्रत्यक्षं भवतां मूढाः म्लेच्छाचारो हि दृश्यते।
अतः स्युः तत्समाः यूयं भ्रष्टाचारस्य पालनात् ॥८५॥
जिह्वास्वादेन युष्माभिः सर्वाचारः सुशोभनः।
त्यक्ता (क्तो)ऽतः सर्वधर्मोपि मुनिगृहस्थगोचरः ॥८६॥
प्रासुकं प्रासुकं कृत्वा सर्ववस्तुकदम्बकम्।
भवद्भिश्च क्रियाहीनैः सर्व ह्यंगीकृतं ननु ॥८७॥
भक्ष्याभक्ष्यविवेकोपि युष्माकं नास्ति किंचनः।
दृश्यते श्वपचो यद्वत् तद्वत् यूयं न संशयः ॥८८॥
ज्ञातिहीनाः क्रियाहीनाः जिनबिम्बस्य निन्दकाः।
यूयं च सर्वहीनाःस्युर्यथा म्लेच्छाः तथा खलु ॥८९॥
खाद्याखाद्यस्य भेदो न म्लेच्छानां च खलात्मनाम्।
यथा स्यात् किंचनो लुंका युष्माकमपि सो नहि ॥९०॥
स्वस्वधर्मे रताः सर्वे स्वस्वदेवस्य पूजकाः।
यूयं हि जिनधर्मस्य नाशकाः स्युः न संशयः ॥९१॥

× × × ×

तनोः हि नवद्वाराः स्युः भो लुंका तान् कथं खलाः।
बन्धयथ सुचेलेन जीवानां रक्षणाय नो ॥९४॥
बन्धयथ नवद्वारान् लुंकाः त्यजथ भो खलाः।
वक्त्रस्य बंधनं नूनं यूयं सत्या यदि खलु ॥९५॥
वासोयोगात्समीरस्य कीलालस्य च निश्चयात्।
जीवोत्कराश्च आस्ये वै उत्पद्यन्ते खलाशयाः ॥९६॥
तत्रैव ते च म्रियंते सदाकालेत्र संशयः।
नो यूयं पश्यथ लुंकाः ग्रन्थेषु सकलेषु च ॥९७॥
अतो यूयं च प्रत्यक्षं निशाचरसमाः खलाः।
जीवानां भक्षणात् स्युः हि ते हि जीवस्य भक्षकाः॥९८॥
रक्षथ नैव रात्रौ च प्रासुकं चोदकं खलु।
यदि स्यान्मलमूत्रादेरुत्पत्तिः मां खलाः स्फुटं॥९९॥

वदथ कुरुथ किं च तत्र तत्शुद्धये तदा।
किं न कुरुथ भो लुंका यदि श्वपचसोपमाः॥१००॥
कथं जपथ नोकारं सामायिकं पठथ च।
अशुद्धे सर्वं व्यर्थं स्यात् शुचिः सर्वत्र सम्मता॥१०१॥
ईदृश्यं निंद्यकर्म च नो कुर्वन्ति खलाः स्फुटं।
मातंगापि क्रियाहीना व्रतकर्मविवर्जिताः॥१०२॥
जनंगमोपमा यूयं किं स्युः भो जिननिन्दकाः।
नो संति तत्समाप्येव तद्धीना नात्रसंशयः॥१०३॥
भो म्लेच्छाः ईदृशं किं स्यात् साधुजनस्य लक्षणं।
वयं हि साधवो लोके इत्यसत्यं वदथ मा॥१०४॥
अतो भो कुक्रियां त्यक्त्वा क्रियां शुद्धां सुखास्पदां।
पालयत प्रयत्नेन जिनवक्त्रसमुद्भवाम्॥१०५॥
यायाश्च कुगतिं मूढा यूयमाचारवर्जनात्।
मा भजथाविवेकं च धर्ममार्गस्य नाशकाः॥१०६॥
जिनबिम्बं जिनागारं जिनसिद्धान्तपुस्तकं।
जिनमतस्थं दयाभावं जिनयात्रां जिनोत्सवम्॥१०७॥
जिनधर्मं प्रभोर्वाचं धर्माब्धिसोमसदृशं।
इत्याद्यान् ये च लोकाश्च निन्दयन्त्येव ते मताः॥१०८॥
म्लेच्छाश्च जिनधर्मस्य नाशकाश्च जिनागमे॥
इति ज्ञात्वा न कर्तव्या निन्दा बिम्बस्य भो खलाः॥१०९॥
इत्युपदेशमस्माभिर्दत्तो भवतां खलु।
अहंकारमदान्नैव तद्धि भद्रार्थमेव च॥११०॥
निकोतेः यदि वांछा चेत् युष्माकं स्यात्खलाः स्फुटं।
तदा कुरुथ बिम्बस्य निन्दां धर्मस्य नाशिनीम्॥१११॥

–पृ० २०२ से २०६

इन वाक्यों में भगवान् ढूँढियों से कहते हैं ''अरे मूर्खों! हंस हंस ही होते हैं और सुन्दर बगुले, बगुले ही, परन्तु तुम तो बगुलों के बराबर भी ध्यानी नहीं हो। तुम दुष्टात्माओं के तो क्रिया का लेश भी नहीं है, और जहां क्रियाशुद्धि नहीं वहां धर्म भी नहीं होता। मूढों! तुम्हारे तो प्रत्यक्ष म्लेच्छाचार दिखलाई पड़ता है, अतः तुम भ्रष्टाचार के पालने से म्लेच्छों के समान हो। जिह्वास्वाद के वशवर्ती होकर तुमने सारा शोभनाचार त्याग दिया है और इसलिये मुनिगृहस्थ सम्बन्धी सारे धर्म से ही तुम हाथ

धो बैठे हो। तुम क्रियाहीनों ने प्रासुक प्रासुक करके सारी वस्तुओं को ही अंगीकार कर लिया है। तुम्हारे भक्ष्याभक्ष्य का कुछ भी विवेक नहीं है। जिस तरह चाण्डाल दिखाई देता है उसी तरह तुम भी दिखाई पड़ते हो, इसमें सन्देह नहीं। तुम जिनबिम्ब की निन्दा करने वाले जातिहीन हो, क्रियाहीन हो और सब में हीन (नीच) हो, जैसे म्लेच्छ होते हैं वैसे ही निश्चय से तुम हो। म्लेच्छों के और दुष्टात्माओं के जैसे खाद्य–अखाद्य का कुछ भेद विचार नहीं होता, वैसे ही लुंकाओ! तुम्हारे भी खाद्य अखाद्य का विचार नहीं है। सब लोग अपने अपने धर्म में लीन और अपने अपने देव के पूजक हैं परन्तु तुम तो निःसंदेह जिनधर्म के नाशक ही हो। ×××× हे लुंकाओ! शरीर के नव द्वार होते हैं, तुम अधमजन जीवों की रक्षा के लिये उन सबको कपड़े से क्यों नहीं बाँधते? हे लुंकाओ! खल पुरुषो! यदि तुम सच्चे हो तो या तो नवों द्वारों को कपड़े से बांधो और नहीं तो मुख पर पट्टी बांधना भी छोड़ो। दुरात्माओं! वस्त्र, वायु और थूक के योग से जीवों के समूह मुख में उत्पन्न हो जाते हैं और सदा वहीं मरते रहते हैं, इसमें संशय नहीं है। तुम सब ग्रन्थों में इस बात को देख सकते हो। अतः दुष्टो! जीवों के भक्षण से साक्षात् निशाचरों (राक्षसों) के समान हो। निशाचर भी जीव भक्षक होते हैं। तुम रात को प्रासुक जल नहीं रखते। यदि उस समय मलमूत्रादि की उत्पत्ति हो तो दुर्जनो! मुझे बतलाओ उसकी शुद्धि के लिये तब क्या करते हो? यदि कुछ नहीं करते हो तो चाण्डाल के समान हुए कैसे णमोकार मंत्र का जप करते और सामायिक पाठ पढ़ते हो? अशुद्ध अवस्था में तो सब कुछ करना व्यर्थ है, सब जगह पवित्रता को माना गया है।[३३] पापियों! ऐसा निंद्यकर्म[३४] तो व्रतकर्मविवर्जित और क्रियाहीन मातंग (चाण्डाल) भी नहीं करते हैं। अरे जिननिन्दको! तुम चाण्डालों के बराबर भी कैसे हो सकते हो, तुम तो उनके बराबर भी नहीं हो, किन्तु निःसंदेह उनसे हीन हो। अरे म्लेच्छो! यह क्या साधुजन का लक्षण है? हम साधु हैं ऐसा झूठ मत बोलो। अरे! कुक्रिया को छोड़कर जिनभाषित शुद्ध सुखकारी क्रिया का यत्न से पालन करो। मूढों! तुमने आचार त्याग दिया है इससे दुर्गति को जाओ, धर्ममार्ग के नाशकों! अविवेक को मत धारण करो। जो लोग जिनबिम्ब, जिनमंदिर, जिनसिद्धान्तपुस्तक, जिनमतस्थ, दयाभाव, जिनयात्रा, जिनोत्सव, जिनधर्म और प्रभु के वचनादि की निन्दा करते हैं, वे जिनागम में म्लेच्छ तथा जिनधर्म के नाशक माने गये हैं, ऐसा जानकर, अरे दुष्टो! बिम्ब की मूर्ति की निन्दा नहीं करनी चाहिए। हमने जो आपको यह उपदेश दिया है वह अहंकारमद से नहीं दिया किन्तु हित के लिये ही दिया है। यदि दुष्टो! तुम्हारी निगोद जाने की इच्छा है तो खूब मूर्ति की निन्दा करो, जो धर्म का नाश करने वाली है।''

---

३३. यहाँ शायद भगवान् को अपने शासन के और ग्रन्थकार को देवपूजा के निम्न वाक्यों का स्मरण ही नहीं रहा–

अपवित्रः पवित्रो वा सुस्थितो दुःस्थितोऽपि वा। ध्यायेत्पंचनमस्कारं सर्वपापैः प्रमुच्यते॥१॥

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा। यः स्मरेत्परमात्मानं स बाह्याभ्यन्तरे शुचिः॥२॥

३४. यहाँ 'ईदृश्यं निन्द्यकर्म' का अर्थ अनुवादक ने ''अपने मूत्र से अपनी शरीर की शुद्धि'' दिया है, जो बिल्कुल मनगढन्त तथा शरारत से भरा हुआ है!!

पाठकजन! देखा कितनी भारी गालियों कि यह वर्षा है! पद-पद पर और बात-बात में ढूँढिया भाइयों के प्रति कितना निर्हेतुक अपशब्दों का व्यवहार किया गया है!! कैसा दांत पीस-पीसकर उन्हें कोसा गया है!! और उन पर कैसे नीच से नीच आक्रमण किये गये हैं!!! भगवान् महावीर का परम संयत मुख और ये शब्द! ये कषाय से पूरित और संतप्त हृदय के उद्‌गार!! क्या कोई महावीर का सहृदयभक्त इन्हें भगवान् महावीर के मुख से निकले हुए शब्द मान सकता है? अथवा कोई विवेकी पुरुष भाषासमिति और वचनगुप्ति की चरमसीमा को पहुँचे हुए एक सर्वज्ञ वीतराग तथा निर्मोही महात्मा की ओर से उसी के उपासकों के प्रति ऐसी सभ्य और शिष्ट वचनवर्गणा की कल्पना कर सकता है? कदापि नहीं। यह सब ग्रन्थकार की साम्प्रदायिक कट्टरता के कुपरिणाम स्वरूप उसकी निजी लीला, चालाकी, जालसाजी और धोखादेही है जो उसने अपनी तथा अपने जैसों की कृति को भगवान् महावीर जैसे परम संयमी और परम वीतरागी आप्तपुरुषों की कृति बतलाया है, और इस तरह अपनी मूर्खता, कषायवासना एवं स्वार्थ साधना के वश उन्हें सभ्यसंसार में नीचे गिराने आदि की जघन्य चेष्टा की है। उसे कषायावेश एवं झूठ की बुनातनी की धुन में इतनी भी खबर नहीं रही कि वह भगवान् महावीर के मुख से ढूंढियों की उत्पति का वर्णन भूतकाल की क्रियाओं में कराने और भगवान् के समवसरण में ढूँढियों को बिठलाकर उनके साथ भगवान् का साक्षात् संवाद कराने से भगवान् महावीर और राजा श्रेणिक को कितना आधुनिक विक्रम संवत् १५२७ से भी कितने अधिक पीछे का ठहरा रहा है और इसलिये पब्लिक के सामने अपने झूठ का कितना पर्दा फाश कर रहा है! सच है ''दरोग़गोरा हाफ़िजा न बाशद'' अर्थात् झूठे की स्मरणशक्ति ठीक काम नहीं देती। उसे अपने कथन के पूर्वापर सम्बन्ध का, उसके गुणदोष एवं परिणाम का यथेष्ट भान नहीं रहता और इसलिये वह यद्वा-तद्वा जो जी में आता है कह डालता है। ठीक यही हालत ग्रन्थकार पं० नेमिचन्द्र की हुई जान पड़ती है। उसे इस प्रकरण में कहीं बिल्कुल अंत में जाकर भविष्यकथन की बात का कुछ स्मरण हुआ है और इसलिए उसने बिना पूर्वापर का सम्बन्ध ठीक जोड़े नीचे लिखे भविष्यकथन के दो श्लोक भी, मगधेश्वर राजा श्रेणिक को संबोधन करते हुए, भगवान् के मुंह से कहला दिये हैं–

ईदृशाः धर्ममार्गस्य नाशकाश्च खलाशयाः।
ज्ञानलेशोज्झिताः क्रूरा भविष्यन्ति न संशयः॥१२१॥
भव्यभावयुता स्वल्पसंख्याढ्या मगधेश्वर!
विसंख्याढ्या नराः तस्मिन् भविष्यन्त्येव नेतराः॥१२२॥

यहां पहले श्लोक में प्रयुक्त हुआ 'ईदृशाः (इस प्रकार के) पद बहुत खटकता है और वह ग्रन्थकार की नासमझी का द्योतक है, जबकि उससे ठीक पहले, ग्रन्थ में ढूँढियों के स्वरूप का परिचायक कोई दूसरा श्लोक नहीं है और उससे भी पहले ढूँढियों के सिद्धान्तों का खण्डन तथा उनके साथ भगवान् का वादविवाद चल रहा था। इस श्लोक से ठीक पहले का निम्न श्लोक और भी ज्यादा बेढंगा (असंगत) है और वह ग्रन्थकार की अच्छी खासी मूर्खता का द्योतक जान पड़ता है–

यत्प्रोक्ता वीरनाथेन श्रेणिकं प्रति भो बुधाः।
भाविकालभवा वार्ता तथैव पश्यथाशुभा॥१२०॥

इसमें कहा गया है कि 'हे बुधजनो! महावीर स्वामी ने श्रेणिक के प्रति जो भविष्यकाल सम्बन्धी बात कही है उसे तुम वैसी ही अशुभ रूप देख लो।' परन्तु एक तो ढूँढियों के सम्बन्ध में कोई बात भविष्यवर्णना के रूप में इससे पहले इस प्रकरण में कही नहीं गई, दूसरे जब भगवान् अभी कथन कर ही रहे हैं और अगले दोनों श्लोक उन्हीं के वाक्य हैं तब ग्रन्थकार का इस तरह से बीच में बोल उठना क्या अर्थ रखता है? वह उसकी मूर्खता नहीं तो और क्या है?

जान पड़ता है ग्रन्थकार ने बिना सोचे समझे कितने ही वाक्यों को इधर-उधर से उठाकर भी रखा है और इससे उसके ग्रन्थ में और भी ज्यादा असम्बद्धता, बेढंगापन तथा जालीपन आ गया है। इस प्रकरण का प्रायः गद्य भाग ढूंढिया साधुओं और किसी भट्टारक के दरम्यान हुए शास्त्रार्थ की रिपोर्ट का एक अंश जान पड़ता है, जिसका अनुभव पाठकों को नीचे के कुछ संवाद वाक्यों से ही हो जायेगा–

''ढूंढ्या इत्युत्तरं श्रुत्वापि स्वपक्षपालनार्थमित्यूचुः। भो सज्जनाः! भवद्भिः यत्कथितं तत्सत्यमपि तथापि अस्माकं वाक् श्रयतां। वयं निरारंभाः स्युः अतः अस्माभिः आरम्भदोषेण प्रतिमायाः पूजन उत्थापितं। आरंभात् सकलजपतपःसंयमज्ञानादिसद्गुणा नश्यन्ति। यत्रारंभः तत्र किमपि धर्मोत्पत्तिर्नास्त्येव। निरारंभेण शिवस्थानप्राप्तिरंजसा भवति। आरंभेण अनन्तशः जीवराशयो म्रियन्ते। तत्पाकात् श्वभ्राब्धौ अयं प्राणी दुःखौघं भुंजति वा निगोदिषु वचनागोचरं ह्यनन्तकालपर्यंतं दुःखं भुंजत्येव।

इत्येवं कल्पोक्तं श्रुत्वा लुंकमतेभघातने केशरितुल्यः जैनागममार्गवर्धनैकदिवाकरः असत्यपक्षविभंजकः भव्याब्जमार्तंडोपमः श्रीवीतरागप्रतिपालकः (पादक) सिद्धान्तादिग्रन्थवाचने सामर्थ्यधारकः पूर्वाचार्यवाक्य-प्रतिपालकः तन्मतोत्थापनार्थमित्याह-भो लुंकाः! आरम्भनिराकरणं यूयं शृणुथ चित्तसमाधिना करोम्यहम्।''

''इति श्रुत्वापि पुनः लुंकमतधारका ढूंढ्या इत्याहुः भो बुधोत्तमाः! सुरेन्द्राणामारम्भे पापोत्पत्तिर्नास्त्येव। पापारम्भोत्पत्तिः पुरुषकार्येषु भवेत् नात्र संशयः।

इतिकल्पोक्तं श्रुत्वा जिनागमार्थज्ञायक आह- भो लुंका अस्योत्तरं यूयं शृणुथ। ××× पुनरारम्भ फलं शृणुथ- श्रीवर्धमानवन्दनार्थं श्रेणिकाभिधो भूपेन्द्रः सकलसेनया सह किमगमत् वा एकएवागमत् तत्कथय भो मतिविवर्जिताः।''

भगवान् महावीर की समवसरण सभा में ढूँढियों के साथ भगवान् के शास्त्रार्थ का ऐसा रूप नहीं हो सकता। इसमें ढूँढियों की ओर से कहे गये 'भो सज्जनाः' जैसे सम्बोधनपद और उनकी बात का उत्तर देने वाले वक्ता के लिए प्रयुक्त हुए 'लुंकमतेभघातने केशरितुल्यः' आदि विशेषणपद तथा आरंभफल की सिद्धि में प्रमाण रूप से प्रस्तुत किया हुआ श्रीवर्द्धमान की वन्दना को श्रेणिक के सेनासहित जाने का उल्लेख, ये सब विषय खास तौर से ध्यान देने योग्य हैं और वे विषय पर और

भी अच्छा खासा प्रकाश डालते हैं। अस्तु।

इन सब प्रमाणों से (प्रमाणों के पांच गणों से) ग्रन्थ का जालीपन भले प्रकार सिद्ध हो जाता है और किसी विशेष स्पष्टीकरण की जरूरत नहीं रहती। साथ ही ग्रन्थकार की बुद्धि, योग्यता, कपटकला, कषायवशवर्तिता, उद्धतता, धूर्तता, साम्प्रदायिक कट्टरता, कलहप्रियता, और असत्यवादिता का भी कितना ही भंडाफोड़ होकर उसका बहुत कुछ वास्तविक रूप सामने आ जाता है।

यहाँ पर मैं इतना और भी कह देना चाहता हूँ कि ग्रन्थकार अपनी ऐसी लीलाओं तथा प्रवृत्तियों के कारण जैनधर्म के संस्कारों से प्रायः शून्य मालूम होता है। उसने यदि जैनधर्म के स्याद्वादामृत अथवा विरोधमथनी अनेकान्तरसायन का सेवन किया होता तो उसकी कदापि ऐसी कलुषित मनोवृत्ति न होती और न वह अपने तेरहपंथी भाइयों की तरह ढूंढिया भाइयों पर भी इस तरह से जहर उगलता। उसे स्वतः यह समझ में आ जाता कि ये लोग भी हमारी तरह जैनधर्म के उपासक हैं, उसकी मूल बातों (तत्त्वों) को मानते हैं और ये भी भगवान् महावीर आदि सभी जैन तीर्थंकरों की पूजा भक्ति करते हैं। पूजा भक्ति का तरीका कितने ही अंशों में समान और कितने ही अंशों में जुदा जुदा है, और ऐसा होना देशकालादि की परिस्थितियों की दृष्टि से बहुत कुछ स्वाभाविक है। भक्तिमार्ग बड़ा ही विचित्र तथा गहन होता है, वह सदा सबके लिये न कभी एक जैसा रहा और न रहेगा। अतः पूजा भक्ति उपासना की जाहिरी, फ़रूआती एवं ऊपरी बातों में एक दूसरे के तरीकों को पूर्णतया न अपनाते और न पसन्द करते हुए भी एक को दूसरे से घृणा करने, द्वेष रखने अथवा शत्रुता धारण करने की जरूरत नहीं है। सबको मिलकर प्रेमपूर्वक एक पिता की संतान के रूप में रहना तथा एक दूसरे के उत्थान का यत्न करना चाहिए और प्रेमपूर्वक ही एक दूसरे की भूल, त्रुटि, गलती, अन्यथा प्रवृत्ति अथवा गलत तरीके को सुधारना चाहिए न कि ऐसे विषैले साहित्य द्वारा घृणा तथा द्वेषादि के भाव को फैलाकर के जिसका असर उल्टा होता है।

निःसंदेह यह सब ऐसे दूषित साहित्य का ही परिणाम है जिसने परस्पर में कलह का बीज बोकर जैनधर्म के पतन का मार्ग साफ कर दिया है और जैनियों की शक्ति को छिन्न-भिन्न करके उन्हें किसी भी काम का नहीं छोड़ा। प्रत्युत उनके सारे पूर्व गौरव को मिट्टी में मिलाकर उन्हें जनता की आंखों में हक़ीर (तुच्छ) बना दिया है! जो लोग जानबूझकर ऐसे साहित्य की सृष्टि करते, उसे अपनाते, उसकी प्रशंसा करते और उसका प्रचार करते हैं उनका हृदय जरूर काला है, भले ही वे ऊपर से कितने ही साफ सुथरे तथा शान्त दिखलाई पड़ते हों, और इसीलिये उन्हें जैनधर्म तथा जैन समाज का हितशत्रु समझना चाहिए।

कुछ विलक्षण और विरुद्ध बातें

यह 'सूर्यप्रकाश' ग्रन्थ, जिसका जालीपन और बेढंगापन ऊपर अनेक प्रमाणों के आधार पर भले प्रकार दिनकर प्रकाश की तरह स्पष्ट सिद्ध किया जा चुका है, और भी बहुत-सी ऐसी विलक्षण तथा विरुद्ध बातों से भरा हुआ है जिनका भगवान् महावीर के सत्य शासन अथवा उनके उपदेशों के

साथ प्रायः कोई मेल नहीं है प्रत्युत इसके, जो उसकी प्रकृति के विरुद्ध तथा गौरव को घटाने वाली है और साथ ही ग्रन्थ को और भी ज्यादा अप्रामाणिक, अमान्य, अश्रद्धेय एवं त्याज्य ठहराने के लिये पर्याप्त है। नीचे ऐसी ही कुछ बातों का नमूने के तौर पर दिग्दर्शन कराया जाता है। इससे पाठकों पर ग्रन्थ की असलियत और भी अच्छी तरह से खुल जायेगी और उन्हें ग्रन्थकार के हृदय, श्रद्धान, तत्त्वज्ञान एवं कपटाचरण का और भी कितना ही पता चल जायेगा–

१. सब पापों से छूटने का सस्ता उपाय!

ढूँढियों पर गालियों की वर्षा के अनन्तर पूर्वोल्लेखित श्लोक नं० १२२ के बाद ही ग्रन्थ में एक व्रतप्रकरण दिया गया है, जिसका प्रारम्भ ''पुनराह शृणु भूप! तेषां भाविसुखाप्तये'' इन शब्दों से होता है, और उसके द्वारा भगवान् महावीर ने पंचम काल के मानवों की सुख-प्राप्ति के लिये राजा श्रेणिक को कुछ व्रत-विधान सुनाया है। इस प्रकरण में अष्टान्हिक आदि व्रतों के नाम सामान्य रूप से अथवा कुछ विशेषणों के साथ देकर और उनके विधिपूर्वक अनुष्ठान का फल दो तीन भवों में मुक्ति का होना बतलाकर 'कर्मदहन' नाम के एक खास व्रत का विधान किया गया है। इस व्रत की उत्कृष्ट विधि में मूलोत्तर कर्म प्रकृतियों की संख्या प्रमाण १५६ प्रोषधोपवास एकान्तर से और निरारम्भ करने होते हैं अर्थात् पहले दिन मध्याह्न के समय एक बार शुद्ध भोजन, दूसरे दिन निरारम्भ अनशन (उपवास) फिर तीसरे दिन एक बार भोजन और चौथे दिन अनशन यह क्रम रहता है, भोजन के दिन पंचामृतादि के अभिषेकपूर्वक तथा जिनचरणों में गन्धलेपनपूर्वक सचित्तादि द्रव्यों से पूजा की जाती है, प्रत्येक उपवास के दिन उस-उस कर्म प्रकृति के नामोल्लेखपूर्वक एक जाप्य १०८ संख्या प्रमाण जपा जाता है। साथ ही, विकथादि के त्यागरूप कुछ संयम का भी अनुष्ठान किया जाता है[३५]। यह सब बतलाने के बाद ग्रन्थ में इस व्रत के फल का वर्णन करते हुए लिखा है–

कर्मदहनव्रतस्य फलं शृणु समाधिना।
श्रवणाच्च यत्सर्वांहाः प्रलयं यान्ति देहिनाम्॥१७८॥

इसमें भगवान् महावीर राजा श्रेणिक को कर्मदहन व्रत के फल को ध्यानपूर्वक सुनने की प्रेरणा करते हुए कहते हैं कि 'इस व्रत के फलश्रवण से देहधारियों के सब पाप प्रलय को प्राप्त हो जाते हैं! यहाँ 'सर्वांहाः' पद में प्रयुक्त हुए 'सर्व' शब्द की मर्यादा 'सर्वज्ञ' शब्द में प्रयुक्त हुए 'सर्व' शब्द की मर्यादा से कुछ कम नहीं है। वह जैसे त्रिकालवर्ती अशेष पदार्थों को विषय करने वाला कहा जाता है वैसे ही यह 'सर्व' शब्द भी भूत-भविष्यत्-वर्तमान काल सम्बन्धी सब प्रकार के सम्पूर्ण पापों को अपना विषय करने वाला समझना चाहिए। उन सब पापों का इस फलश्रवण से उपशम या क्षयोपशम

---

३५. अनुवादक ने एक दिन के जाप्य का नमूना ''ओं ह्रीं मतिज्ञानावरणकर्मनाशाय नमः'' दिया है! वह संयम विकथा, ग्रहारम्भ, स्त्रीसेवन, शृङ्गार, खट्वाशयन, शोक, वृथापर्यटन, अष्टमद, पैशून्य, परनिन्दा, परस्त्री निरीक्षण, रागोद्रेकपूर्वक हास्य, रति, अरति, कुभाव, दुर्ध्यान, भोगाभिलाष, पत्र, शाक और अशुद्ध दूध दही वृत्त के त्यागरूप कहा गया है। – (श्लोक १६८ से १७१)।

होना नहीं कहा गया बल्कि एकदम प्रलय (क्षय) हो जाना बतलाया गया है और इसलिये इस कथन का साफ फलितार्थ यह निकलता है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, असातावेदनीय, अशुभ नाम, अशुभ आयु, और अशुभ गोत्र नाम की जो भी पाप प्रकृतियाँ है वे सब इस व्रत के फलश्रवण मात्र से क्षय को प्राप्त हो जाती हैं! फिर तो मुक्ति की उसी जन्म में गारण्टी अथवा रजिस्टरी समझिये!

पाठकजन! देखो, कितना सस्ता और सरल यह उपाय भगवान् ने सब पापों से छूटने और मुक्ति की प्राप्ति का बतलाया है!! पापक्षय का इससे अधिक सुगम उपाय आपको अन्यत्र कहीं से भी देखने को नहीं मिला होगा। इस गुहारहस्य का ग्रन्थकार पर ही अवतार भगवान् की खास मेहरवानी का फल जान पड़ता है!!! अच्छा होता, यदि भगवान् दिगम्बर तेरहपंथियों और ढूंढियों को इस व्रत का फल पहले ही सुना देते, जिससे वे बेचारे सर्व पापों से मुक्त हो जाते और फिर भगवान् को उनके साथ लड़ने-झगड़ने तथा उन पर गालियों की वर्षा करने की जरूरत ही न रहती! शायद कोई तार्किक महाशय यहां यह कह बैठे कि चूँकि भगवान् को खास तौर से अपने अभिषेक पूजनादि के लिये उन्हें प्रेरित करना था वे इस व्रत का फल उन्हें पहले ही कैसे सुना देते! परन्तु तब तो उन्हें व्रतफल सुनने का ऐसा माहात्म्य बतलाना ही नहीं चाहिए था। इसे मालूम करके तो लोगों की प्रवृत्ति उस कर्मदहनव्रत के अनुष्ठान की भी नहीं रह सकती, जिसमें अनेक प्रकार से अपने अभिमत पंचामृताभिषेक, जिनचरणों पर गन्धलेपन और सचित्त द्रव्यों से पूजन की प्रेरणा अथवा पुष्टि की गई है। क्योंकि उसकी उत्कृष्टविधि का और इसलिये अधिक से अधिक-फल तो अगले जन्म में विदेहक्षेत्र का सम्राट् होकर जिन दीक्षा लेकर और अनेक तप तपकर मुक्ति का होना लिखा है, और इस व्रतफल के श्रवण से बिना किसी परिश्रम के ही सब पापों का नाश होकर उसी जन्म में मुक्ति हो जाती है। इससे व्रत करने की अपेक्षा उसका फल सुनना ही अच्छा रहा! फिर ऐसा कौन बुद्धिमान है जो सिद्धि के सरल से सरल एवं लघु मार्ग को छोड़कर कष्टकर और लम्बे मार्ग को अपनाए? ग्रन्थकार की इस मार्मिक शिक्षा और कर्मफल के नूतन आविष्कार पर तो लोगों को सारे धर्म-कर्म को छोड़कर एक मात्र कर्मदहनव्रत के फल को ही सुन लेना चाहिए! बस, बेड़ा पार है!! इससे सस्ता और सुगम उपाय दूसरा और कौन हो सकता है?

ग्रन्थ में एक स्थान पर उन मनुष्यों को जो सारे जन्म पाप में ही मग्न रहते हैं, इसी व्रत के कारण शिवपद की प्राप्ति होना लिखा है-

आजन्मपापमग्ना हि नराः यास्यन्ति निश्चयात्।
अस्यैव कारणात् भूप! शिवास्पदे च शाश्वते॥१२॥ -पृष्ठ २५४

परन्तु हमारे खयाल से तो उक्त श्लोक नं० १७८ की मौजूदगी में, ऐसे महापापी मनुष्यों को भी व्रत की उत्कृष्ट विधि के अनुष्ठानरूप इस द्राविडी प्राणायाम की जरूरत नहीं है। वे इस व्रत के फल को सुनकर सहज ही में सब पापों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं!

यहाँ पर मुझे प्रकट करते हुए बड़ा ही खेद होता है कि जो गुप्त रहस्य की बात किसी तरह भगवान् के मुख से अथवा ग्रन्थकार के कलम से भव्य जीवों के कल्याणार्थ निकल गई थी उसका प्रकट होना अनुवादक महाशय पं० नन्दनलाल (ब्र० ज्ञानचन्द्र) जी वर्तमान क्षुल्लक ज्ञानसागर जी को सहन नहीं हुआ और इसलिए उन्होंने उसे छिपाने की चेष्टा करते हुए उक्त श्लोक नं० १७८ का अर्थ ही नहीं दिया!! संभव है कि उन्हें इसमें भगवान् की या ग्रन्थकार की भूल मालूम पड़ी हो अथवा अपनी अभीष्ट पंचामृताभिषेकादि क्रियाओं को बाधा पहुँचने का कुछ भय उपस्थित हुआ हो और इसी से उन्होंने उस पर पर्दा डालना उचित समझा हो!!! परन्तु कुछ भी हो, सत्य की प्रतिज्ञा को लिए हुए व्रती श्रावक होकर और एक अच्छे अनुवादक की हैसियत से उन्हें ऐसा कूटलेखन तथा कपटाचरण करना उचित नहीं था। कोई भी सहृदय धार्मिक पुरुष उनकी इस निरंकुशता और कपट-कला का अभिनन्दन नहीं कर सकता।

२. धर्म और धन की विचित्र तुलना!

कर्मदहनव्रत की विधि, और व्रत के फल को सुनकर राजा श्रेणिक ने भगवान् से पूछा कि 'आपने तो पंचमकाल के मनुष्यों को निर्धन बतलाया है, फिर वे बिना धन के व्रत कैसे करेंगे? तब तो व्रत का वह फल उनके लिये नहीं बनता।' उत्तर में भगवान् ने कहा 'राजन्! यदि पूर्व पापों के उदय से घर में दरिद्र हो तो काय से प्रोषधसहित दुगुना व्रत करना चाहिए।' यथा–

भवद्भिः कथिता मर्त्या निःस्वा हि पंचमोद्भवाः।
करिष्यन्ति कथं वृत्तं तदृते नास्ति तत्फलम्॥३०॥
गृहे यदि दरिद्रः स्यात्पूर्वपापोदयात् नृप।
कायेन द्विगुणं कार्यं व्रतं प्रोषधसंयुतम्॥३१॥

यहाँ पर इतना और भी जान लेना चाहिए कि इस प्रश्नोत्तर से पहले, ग्रन्थ में व्रत की जो उत्कृष्ट विधि बतलाई गई है और जिसका संक्षिप्त परिचय नम्बर १ में दिया जा चुका है उसके अनुसार धन के खर्च का काम सिर्फ अभिषेकपुरस्सर पूजन के करने और पारणा के दिन एक पात्र को भोजन कराने में ही होता है, जिसका औसत अनुमान २०० रुपये के करीब बैठता है अर्थात् १५६ पारणाओं के दिन पात्रों का भोजन खर्च ४० रुपये और १५७ दिन का अभिषेक पूजन खर्च १६० रुपये। और इसलिये उक्त व्यवस्था से यह स्पष्ट है कि यदि कोई मनुष्य यह सब खर्च न उठाकर शुद्ध प्रासुक जल से ही भगवान् का अभिषेक कर लिया करे और ''वचो विग्रहसंकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते। तत्र मानससंकोचो भावपूजा पुरातनैः॥'' इस पुरातनविधि के अनुसार शरीर तथा वचन को परमात्मा के प्रति एकाग्र करके हाथ जोड़ने, शिरोनति करने, तथा स्तुतिपाठ पढनेरूप द्रव्यपूजा और ध्यानादिरूप से मन को एकाग्र करके भगवान् की भावपूजा कर लिया करे, साथ ही अपने भोजन में से एक ग्रास ही पहिले दानार्थ निकाल दिया करें तो इस प्रकार के पूजनादि के साथ १५६ प्रोषधोपवास और १५७ एकाशन करने तथा विकथादि के त्यागरूप उस सारे संयम का अनुष्ठान करने पर भी, जिसका पीछे एक फुटनोट में

उल्लेख किया गया है, वह इस व्रत के फल को नहीं पा सकेगा! फल प्राप्ति के लिये उसे ३१३ दिन का उतना ही धर्माचरण फिर से करना होगा!! अर्थात् उसके इस फिर से किये जाने वाले ३१३ दिन के धर्माचरण का मूल्य २०० रुपये के करीब है!!!

पाठकजन! देखा, धर्माचरण के साथ धन की यह कैसी विचित्र तुलना है! निर्ग्रन्थ मुनियों के पास तो धन होता ही नहीं भले ही भट्टारक लोग धन रखा करें और उनके लिये भी इस व्रत का विधान किया गया है, तब उन निर्धन महात्माओं को भी दुगुना व्रत करना पड़ेगा!! उनकी ३१३ दिन तक महाव्रत रूप परिणति भी उस फल को सिद्ध नहीं कर सकेगी!!! बड़ी ही विचित्र कल्पना है! समझ में नहीं आता, इस व्यवस्था को व्रतविधान कहा जाये या दण्डविधान अथवा एक प्रकार की दुकानदारी!! धन को इतना महत्त्व दिया जाना जैनधर्म की शिक्षा के नितान्त बाहर है।

भगवान् महावीर के शासन में तो आकिञ्चन्य धर्म अथवा अपरिग्रहत्व को खास महत्त्व प्राप्त है और सिद्धि का जो कार्य ऐसे त्यागी धर्मात्माओं से सहज ही में बन सकता है वह धनाढ्यों से लाखों रुपये दान-पूजा में खर्च करने पर भी नहीं बनता। मालूम होता है इस सब व्यवस्था के नीचे उसकी तह में पंचामृतादिक के अभिषेक, जिनप्रतिमा पर गन्धलेपन, सचित्तादि द्रव्यों से पूजन और भट्टारकों को कुछ प्राप्ति कराने की मनोवृत्ति ही काम कर रही है। इसी से ग्रन्थ में धनाढ्यों को प्रकारान्तर से कुछ डांटा भी गया है। कहा गया है कि ये लोग व्रत की उत्थापना करेंगे, ऐसे पापियों का धन पुत्र-पुत्रियों के विवाहों और मृतकादि की क्रियाओं में खर्च होगा, पाप कार्यों में तो लगेगा परन्तु धर्मकार्यों में व्यय नहीं होगा, धर्म कार्यों से ये लोग परान्मुख रहेंगे। बुधजनों को सदा चाहिए कि वे पूजा और पात्रदानादिक में, जो कि जिनेन्द्र भगवान् के कार्य हैं (!) कृपणता को धारण न करें, वह अनेक दुखों की दाता है।[३६] पिछली बात का सूचक वाक्य इस प्रकार है-

भो बुधाः! जिनकार्येषु इज्यापात्रादिषु सदा।
कृपणत्वं भजध्वं मा ह्यनेकदुःखदायकम्॥४०॥

आगे चलकर इस मनोवृत्ति ने और भी विशेष रूप धारण किया है। ग्रन्थकार को उद्यापन की बात याद आ गई और इसलिये उसने व्रत की सारी विधि तथा फल की बात हो चुकने के बाद और यहाँ तक कहे जाने के बाद भी कि ''कर्मदहनव्रतस्य विधिश्च कथितो मया। करिष्यति सुभावेन इदं यास्यति सोऽव्यये॥'' (४३) उद्यापन की तान छेड़ दी है![३७] और उसके विषय में भगवान् से कहला

---

३६. एक स्थान पर इसी प्रकरण में पूजा तथा पात्र को भोजन दान न करके भोजन करने वाले गृहस्थ को निश्चय नरक के दुःखों का भोगने वाला लिख है! (पृष्ठ २२०)

३७. अनुवादक महाशय इस विषय में ग्रन्थकार से भी दो कदम आगे जान पड़ते हैं, क्योंकि उन्होंने इससे भी पहले ग्रन्थ में उद्यापन की बात छेड़ी है-अर्थात् ३१ वें श्लोक का अर्थ देते हुए 'गृहे यदि दरिद्रः स्यात्' का अर्थ ''यदि दरिद्रता के कारण व्रत का उद्यापन करने की शक्ति न हो'' ऐसा कर दिया है! जबकि वहाँ उद्यापन का कोई प्रसंग ही नहीं था!!

दिया है कि "व्रत की पूर्णता पर व्रतियों को व्रतफल की सिद्धि के लिये[३८] हर्ष के साथ श्रीजिनेन्द्र की प्रतिष्ठा करानी चाहिए, चतुर्विध संघ को शिवप्राप्ति के लिये यथायोग्य दान देने चाहिए और नगरों तथा ग्रामों के जिन मन्दिरों में मनोहर छत्र, चंवर, घंटे तथा ध्वजादिक स्थापित करने चाहिए। राजन्! यह इस व्रत के उद्यापन की उत्कृष्ट विधि आगम में शिवसुख के देने वाली मानी गई है। यथाशक्ति व्रत का उद्यापन करना ही चाहिए। यदि दारिद्र के योग से ऐसी भी उद्यापन की शक्ति न हो तो फिर काय से दुगुना व्रत करना चाहिए, उससे उद्यापन के समान ही फल की प्राप्ति होती है"–

पूर्णे याते हि व्रतस्य प्रतिष्ठा श्रीजिनेशिनां।
करणीया सुमोदेन व्रतस्य फलसिद्धये॥४४॥
चतुर्विधाय संघाय, यथायोग्यानि मोदतः।
सन्देयानि शिवाप्त्यर्थं दानानि व्रतिभिः खलु॥४५॥
पुरेषु नगरेषु वै स्थापनीया मनोहराः।
छत्राश्च चामराः घंटाः ध्वजाद्याः जिनसद्मसु॥४६॥
उत्कृष्टोऽयं विधिर्भूप! शिवशर्मप्रदायकः।
व्रतस्योद्यापनस्यास्य स्यात्खलु आगमे मतः॥४७॥
यथाशक्त्या करणीयो व्रतस्योद्यापनो नृप!
× × × ×
एतादृश्यपि नास्त्येव शक्तिर्दारिद्रयोगतः॥४९॥
अतो हि कायतो भव्याः कुरुध्वं द्विगुणमिदं।
तत्समं हि फलाप्तिश्च भवतामपि संभवेत्॥५०॥

वस्तुतः उद्यापनादि की ये सब बातें भट्टारकीय शासन से सम्बन्ध रखती हैं। भट्टारकों को उद्यापनों से बहुत कुछ प्राप्ति हो जाती थी और उनके अधिकृत मन्दिरों में बहुत-सा सामान पहुँच जाता था, जिसके आधार पर वे खूब आनन्द के तार बजाते थे। इसलिये उन्होंने अनेक व्रतों के साथ उद्यापन की बात को जोड़ दिया है। दुगुने व्रत के भय से समर्थ लोग उद्यापन करने लगे, धनाढ्य स्त्री-पुरुषों से तो थोड़े से व्रतों का बनना भी मुश्किल होता है, फिर दुगुने व्रतों की तो बात ही दूर है, और इसलिये उनके द्वारा, अपनी मानमर्यादा की रक्षा करते हुए अच्छी बड़ी स्केल (बड़े परिमाण) में उद्यापन होने लगे और उनसे भट्टारकों तथा उनके आश्रितों का कितना ही काम सधने लगा। इस तरह उद्यापन की बात का प्रचार हुआ। अन्यथा, व्रतों के साथ अनिवार्य रूप से उद्यापन करने, और न करने

---

३८. यदि उद्यापन के बिना व्रत फल की सिद्धि ही नहीं होती तो ग्रन्थकार को व्रतफल का विधान उद्यापन विधान के बाद करना चाहिए था, परन्तु ऐसा नहीं किया गया और इसलिये यह कहना ठीक होगा कि ग्रन्थकार को उद्यापन की बात बाद को याद आ गई है और वह व्रत विधि के अतिरिक्त है।

पर दण्ड स्वरूप दुगुने व्रत करने की बात को भगवान् महावीर के शासन में कोई स्थान नहीं है और न प्राचीन आगमग्रन्थों में ही उसका कहीं उल्लेख पाया जाता है। अपने व्रत की समाप्ति पर उद्यापनादि रूप से कोई उत्सव करना या न करना यह सब व्रतियों की इच्छा एवं शक्ति पर निर्भर है—व्रतविधान और उसके फल के साथ उसका कोई खास सम्बन्ध नहीं है। इसी तरह अभिषेक पूजन की गरज अथवा उद्देश्यसिद्धि के लिये पंचामृतादिक अभिषेक को अपनाना और केला, अंगूर, अनार तथा लड्डू, फेनी, पकवान जैसे द्रव्यों से पूजन करना भी कोई लाजिमी बात नहीं है। पूजनादि की उद्देश्यपूर्ति दूसरे प्रकार से भी की जा सकती है और कहीं अधिक अच्छे रूप में की जा सकती है जिसकी कुछ सूचना ऊपर की जा चुकी है। अतः पूजनादिक और उद्यापन में धन न खर्च करने वालों के लिये दुगुने व्रत की इस व्यवस्था को भट्टारकीय लीला का ही एक परिणाम समझना चाहिए।

३. ध्यान और तप का करना वृथा!

व्रत प्रकरण के बाद ग्रन्थ में 'सम्मेदाचल' नाम का एक प्रकरण दिया है और उसमें श्री सम्मेदशिखर की यात्रा का अद्भुत माहात्म्य बतलाते हुए ध्यान और तप की बुरी तरह से अवगणना की गई है! 'श्मशान भूमियों और पर्वतों की गुफादि में करोड़ पूर्व वर्ष पर्यन्त किये हुए ध्यान से भी अधिक फल सम्मेदशिखर के दर्शन से होता है!' इतना ही नहीं कहा गया, बल्कि 'पंचम काल में तप और ध्यान की सिद्धि नहीं होती अतः सम्मेदशिखर की यात्रा ही सर्वसिद्धि की करने वाली है' यहाँ तक भी कह डाला है!! और इस तरह आजकल के लिये ध्यान और तप का करना बिल्कुल ही वृथा ठहरा दिया है!!! दो कदम आगे चलकर तो स्पष्ट शब्दों में इन दोनों का निषेध ही कर दिया है और भव्यजनों के नाम यह आज्ञा जारी कर दी है कि 'तपों के समूह को और ध्यानों के समूह को मत करो किन्तु जीवनभर बार-बार सम्मेदशिखर का दर्शन किया करो!! उसी के एक मात्र पुण्य से दूसरे ही भव में निःसंदेह शिवपद की प्राप्ति होगी''। यथा—

कोटिपूर्वकृतं ध्यानं श्मशानाद्रिगुहादिषु।
तदधिकं भवत्येव फलं तद्दर्शनात् नृणाम्॥१३॥
नैवसिद्धिः तपस्योच्चैः (!) ध्यानस्यैव कदाचन।
तस्मिन् काले ह्यतो भूप! सा यात्रा सर्वसिद्धिदा॥१४॥
मा कुरुध्वं तपोवृन्दं भो भव्याः! ध्यानसंहतिम्।
× × × ×
समं प्रत्येकवारं च आमृत्यु तस्य दर्शनम्॥१७॥
भजध्वं तेन पुण्येन केवलेन शिवास्पदे।
यास्यथ नात्र संदेहो द्वितीये हि भवेऽव्यये॥१८॥

यह सब कथन जैनधर्म की शिक्षा से कितना बाहर है, इसे बतलाने की जरूरत नहीं। सहृदय पाठक सहज ही में इसकी निःसारता का अनुभव कर सकते हैं। खेद है कि ग्रन्थकार ने इसे भी भगवान्

के मुख से ही कहलाया है! उसे यह ध्यान नहीं रहा कि मैं इस ग्रन्थ में अन्यत्र कितनी ही बार इन दोनों के करने की प्रेरणा तथा इनके सफल अनुष्ठान का उल्लेख भी कर आया हूँ!! और न यही खयाल आया कि जिस ध्यान और तप के माहात्म्य से सम्मेदशिखर पूज्यता को प्राप्त हुआ है, उसी की मैं इस तरह अवगणना तथा निषेध कर रहा हूँ!! अथवा प्रकारान्तर से मुनिधर्म को भी उठा रहा हूँ!!! हां, इस प्रकार की शिक्षा भट्टारकों के खूब अनुकूल है, उन्हें राजसी ठाठों के साथ मौज मजा उड़ाना है, ध्यानादि के विशेष चक्कर में पड़ना नहीं है।

४. मुक्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं!

ग्रन्थ में, सम्मेदशिखर के दर्शनमाहात्म्य का वर्णन करते हुए, एक श्लोक निम्न प्रकार से दिया है, जिसमें राजा श्रेणिक को संबोधन करते हुए कहा है कि 'इस (पाँचवें) काल में मानवों के लिये सम्मेदशिखर के (उसके दर्शन के) सिवाय शिव का-मुक्ति का-दूसरा और कोई उपाय नहीं है-

अस्मिन् काले नराणां च मतो भो मगधाधिप!
श्रीमच्छिखरसम्मेदान्नान्योपायः शिवस्य वै॥२६॥

यह कथन जैन सिद्धान्तों के बिल्कुल विरुद्ध है, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रादि सभी प्राचीन जैन ग्रन्थों में, जो पंचमकाल के मनुष्यों के लिये ही लिखे गये हैं, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मुक्ति का उपाय (मार्ग) बतलाया है-सम्मेदशिखर की यात्रा अथवा उसके दर्शन को किसी भी सिद्धान्त ग्रन्थ में मुक्ति का उपाय नहीं लिखा। दूसरे, खुद इस ग्रन्थ के भी यह विरुद्ध है, क्योंकि इसी ग्रन्थ में मुक्ति के दूसरे उपाय भी बतलाये हैं। उदाहरण के तौर पर कर्मदहन आदि व्रतों को ही लीजिये, जिनसे द्वितीयादि भव में मुक्ति का प्राप्त होना लिखा है-इस यात्रा से भी द्वितीयादि भव में ही मुक्ति की प्राप्ति होना बतलाया है। फिर ग्रन्थकार का यहाँ भगवान् के मुख से यह कहलाना कि ''मुक्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं'' कितनी अधिक नासमझी तथा अविवेक से सम्बन्ध रखता है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। यदि शिव का-मुक्ति अथवा कल्याण का-दूसरा कोई उपाय नहीं है, सम्यग्दर्शनादिक भी नहीं तब समझ में नहीं आता कि इस ग्रन्थ के उपासक मुनिजन भी क्यों व्यर्थ के तप, जप, ध्यान, संयम और उपवासादि का कष्ट उठा रहे हैं! उन्हें तो सब कुछ छोड़-छोड़कर एक मात्र सम्मेदशिखर का दर्शन ही करते रहना चाहिए!!

५. भव्यत्व की अपूर्व कसौटी!

कोई जीव भव्य है या अभव्य, इसका पहचानना बड़ा ही मुश्किल काम है, क्योंकि कभी-कभी कोई जीव प्रकट रूप में ऊँचे दर्जे के आचार का पालन करते हुए भी अंतरंग में सम्यक्त्व की योग्यता न रखने के कारण अभव्य होता है और दूसरा महापापाचार में लिप्त रहने पर भी आत्मा में सम्यक्त्व के व्यक्त होने की योग्यता को रखने के कारण भव्य कहा जाता है। बहुत बड़े विशेष ज्ञानी ही जीवों के इस भेद को पहचान सकते हैं। परन्तु पाठकों को यह जानकर बड़ा ही कौतुक होगा कि इस ग्रन्थ

में उन सब जीवों को 'भव्य' बतला दिया गया है जो सम्मेदशिखर पर स्थित हो अथवा जिन्हें उसका दर्शन हो सके, चाहे वे भील, चाण्डाल, म्लेच्छादि मनुष्य, सिंहसर्पादि पशु, कीड़े मकोड़े आदि क्षुद्र जन्तु और वनस्पति आदि किसी भी पर्याय में क्यों न हों-और साथ ही यह भी लिख दिया है कि वहां अभव्य जीवों की उत्पत्ति ही नहीं होती और न अभव्यों को उक्त गिरिराज का दर्शन ही प्राप्त होता है! यथा-

''यत्रत्या सकला जीवाः सिंहसर्पादिका नराः।
भव्याः स्युः इतरेषां च उत्पत्तिर्नैव तत्र वै॥२८॥''
''कलौ तद्दर्शनेनैव तरिष्यन्ति घना जनाः।
भव्यराशिसमुत्पन्ना नोऽभव्याः तस्य दर्शकाः॥३३॥''

पाठकजन! देखा, भव्यत्व की यह कैसी अपूर्व कसौटी बतलाई गई है! बड़े-बड़े सिद्धान्तशास्त्रों का मंथन करने पर भी आपको ऐसे गूढ़ रहस्य का पता न चला होगा!! यह सब भट्टारकीय शासन की महिमा है, जिसके प्रताप से ऐसे गुप्त तत्त्व प्रकाश में आए हैं!!! इन यात्राओं के द्वारा भट्टारकों तथा उनके आश्रित पंडे-पुजारियों का बड़ा ही स्वार्थ सधता था-तीर्थस्थान महन्तों की गद्दियाँ बन गये थे-इसी से लोगों को यात्रा की प्रेरणा करने के लिये उन्होंने गंगा यमुनादि हिन्दूतीर्थों के माहात्म्य की तरह कितने ही माहात्म्य बना डाले हैं। इनमें वास्तविकता बहुत कम पाई जाती है, अतिशयोक्तियां भरी हुई हैं। सम्मेदशिखर के माहात्म्यादि विषय में जो कुछ विस्तार के साथ इस ग्रन्थ में कहा गया है उसकी पूरी जांच और आलोचना को प्रकट करने के लिए एक अच्छा खासा ग्रन्थ लिखा जा सकता है। मालूम होता है, आचार्य शान्तिसागर जी का जो विशाल संघ सम्मेदशिखर की यात्रा को कुछ वर्ष पहले निकला था वह प्रायः इस ग्रन्थ में दी हुई बड़ी यात्रा विधि को सामने रखकर ही निकला था और उसके द्वारा संघपति सेठजी को अगले ही जन्म में मुक्ति की प्राप्ति का सर्टिफिकेट मिल गया है।[३९] आश्चर्य नहीं जो भावी निश्चित सिद्धों (तीर्थंकरों) की तरह उनकी अभी से पूजा प्रारम्भ हो जाये!! अब वे स्वच्छन्द हैं, चाहे जो करें!!!

६. सम्यग्दर्शन का विचित्र लक्षण।

इस ग्रन्थ में, तेरहपंथियों से भगवान् की झड़प के समय, सम्यग्दर्शन अथवा सम्यग्दृष्टि का जो लक्षण दिया है वह इस प्रकार है-

सम्यग्दृष्टेरिदं लक्ष्म यदुक्तं ग्रन्थकारकैः।
वाक्यं तदेव मान्यं स्यात् ग्रन्थवाक्यं न लंघयेत्॥६१५॥

अर्थात् ग्रन्थकारों ने (ग्रन्थों में) जो भी वाक्य कहा है उसे ही मान्य करना और ग्रन्थों के किसी

३९. ''इत्यादि शुभविधिना सो वन्दितः सन् द्वितीये हि भवे तं पुरुषं मोक्षसुखं दातुं क्षमः। नात्र संशयः।'' इस वाक्य के अनुसार।

वाक्य का उल्लंघन नहीं करना, सम्यग्दर्शन का लक्षण है। जिसकी ऐसी मान्यता अथवा श्रद्धा हो वह सम्यग्दृष्टि है।[४०]

जिन पाठकों ने जैनधर्म के प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन किया है अथवा कम से कम तत्त्वार्थसूत्र, रत्नकरण्डक श्रावकाचार और पंचाध्यायी जैसे ग्रन्थों को ही देखा है, उन्हें यह बतलाने की जरूरत नहीं कि यह लक्षण कितना विचित्र और विलक्षण है। वे सहज ही में समझ सकते हैं कि इसमें समीचीन लक्षण के अंगरूप न तो तत्त्वार्थश्रद्धान का कोई उल्लेख है, न परमार्थ आप्त-आगम-गुरु के त्रिमूढ़तादि-रहित और अष्टअंगसहित श्रद्धान का ही कहीं दर्शन है, न स्वानुभूति का कुछ पता है, और न प्रशमसंवेगादि गुणों का ही कोई चिह्न दिखाई पड़ता है! सच पूछिये तो यह लक्षण बड़ा ही रहस्यमय है, जाली सिक्कों को चलाने की मनोवृत्ति ही इसकी तह में काम करती हुई नजर आती है और इसलिए इसे भट्टारकीय शासन के प्रचार का मूल मंत्र समझना चाहिए। इसी पर्दे की ओट में भट्टारक लोग और उनके अनुयायी जन सब कुछ करना चाहते हैं। प्राचीन ग्रन्थों में अपनी इष्टसिद्धि के लिये चाहे जो कुछ मिला दिया जाये और चाहे जिन बातों को चलाने के लिये प्राचीन ऋषियों अथवा तीर्थंकरों के नाम पर नये ग्रन्थों का निर्माण कर दिया जाये, परन्तु उसमें कोई भी 'चूं चरा' अथवा आपत्ति न करे, बिना परीक्षा और बिना तत्त्व की जांच किये ही सब लोग उन बातों को आगमकथित के रूप में आँख मींचकर मान लेवें, इसी मन्तव्य की रक्षा के लिये बिना किसी विशेषण के सामान्य रूप से ग्रन्थकार, ग्रन्थ और वाक्य शब्दों का प्रयोग करके सम्यग्दर्शन अथवा सम्यग्दृष्टि के लक्षण का यह विचित्र कोट तैयार किया गया है!! अन्यथा इसमें कुछ भी सार नहीं है। ग्रन्थकारों में अच्छे-बुरे, योग्य-अयोग्य सभी प्रकार के ग्रन्थकार होते हैं। उनमें आचार्य, भट्टारक, गृहस्थ और प्रस्तुत ग्रन्थकार तथा त्रिवर्णाचारों के कर्ताओं जैसे धूर्त भी शामिल हैं और ग्रन्थों में भी अनेक कारणों के वश सच्ची झूठी सभी प्रकार की बातें लिखी जा सकती हैं और लिखी गई हैं। फिर बिना परीक्षा और सत्य की जाँच किये महज ग्रन्थ वाक्य होने से ही किसी बात को कैसे मान्य किया जा सकता है? यदि यों ही मान्य किया जाये तो फिर सम्यक् मिथ्या का विवेक ही क्या रह सकता है? और बिना उसके सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि का भेद भी कैसे बन सकता है? अतः यह सब भट्टारकीय मायाजाल और उनकी लीला का दुष्परिणाम है! और उसी ने ऐसे बहुत से झूठे तथा जाली ग्रन्थों को जन्म दिया है, जिनमें अनेक त्रिवर्णाचार, श्रावकाचार, संहिताशास्त्र और चर्चासागर जैसे ग्रन्थ भी शामिल हैं। और जिनमें से कितनों ही की परीक्षा होकर उनका स्पष्ट झूठ तथा जालीपन पब्लिक के सामने आ चुका है।

यहां पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि अनुवादक महाशय ने उक्त श्लोक का अर्थ देते हुए लिखा है कि ''सम्यग्दृष्टि का यही एक लक्षण है कि जिसको जिनेन्द्र के आगम का श्रद्धान

४०. 'सम्यग्दृष्टि' शब्द सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शनवान् दोनों के अर्थ में आता है। इसी से मूल में प्रयुक्त हुए इस शब्द का अर्थ यहाँ उभयरूप से किया गया है।

है।'' अर्थात् आपने 'यदुक्तं ग्रन्थकारकैः वाक्यं तदेव मान्यं स्यात्' का अर्थ ''जिसको श्री जिनेन्द्र के आगम का श्रद्धान है'' ऐसा किया है! और इस तरह प्रस्तुत ग्रन्थ की स्पष्ट बात पर कुछ पर्दा डालते हुए हिन्दी पाठकों की आंखों में धूल डालने का यत्न किया है!! मूल में 'श्री जिनेन्द्र देव' और उनके 'आगम' का नामोल्लेख तक भी नहीं है, बल्कि सामान्य रूप से बहुवचनान्त 'ग्रन्थकारकैः' पद के साथ 'यदुक्तं' पद का प्रयोग करके सभी ग्रन्थकारों के कथन का समावेश किया गया है। अतः यह सब भट्टारकीय शासन के अनुयायी और उसे प्रचार देने के उत्कट इच्छुक अनुवादक महाशय (वर्तमान क्षुल्लक ज्ञानसागर जी) की निरंकुशता है! और उनकी ऐसी निरंकुशताओं से यह सारा ग्रन्थ भरा पड़ा है!!

७. कुन्दकुन्द की अनोखी श्रद्धा का उल्लेख!

श्री कुन्दकुन्द मुनिराज की विदेहक्षेत्र यात्रा का वर्णन करते हुए, एक स्थान पर लिखा है कि विदेहक्षेत्र के चक्रवर्ती ने एक दिन मुनिजी से आहार के लिये विहार की प्रार्थना की, जिसके उत्तर में उन्होंने कहा ''तुम्हें क्या मालूम नहीं कि इस क्षेत्र में मेरे आहार की योग्यता नहीं है?'' इस पर चक्रवर्ती ने योग्यता न होने का कारण पूछा, तब कुन्दकुन्द ने उत्तर दिया–

मत्क्षेत्रे ह्यधुना रात्रिः त्वत्क्षेत्रे ह्यधुना दिवा।
भारतजोऽप्यहं न्यादं कथं कुर्वेऽत्र दोषदम्॥२९३॥

अर्थात् मैं भारत में उत्पन्न हुआ हूँ, तुम्हारे क्षेत्र में इस समय दिन होने पर भी मेरे क्षेत्र में इस वक्त रात्रि है, तब मैं इस समय (जबकि मेरे हिसाब से रात्रि है) यहाँ भोजन कैसे करूं? वह दोषकारी है, रात्रि भोजन के दोष को लिये हुए है!!

पाठकजन! देखा, देशकालादि के अनुसार वर्तन करने वाले एक महामुनि के द्वारा दिया हुआ यह कैसा विचित्र उत्तर है और इसमें कुन्दकुन्द की कैसी अनोखी श्रद्धा का उल्लेख किया गया है! जबकि विदेह क्षेत्र में खूब दिन खिल रहा था, सूर्य का यथेष्ट प्रकाश हो रहा था, शुद्ध एवं निर्दोष भोजन की सब व्यवस्था मौजूद थी और दूसरे महान् मुनिजन भी आहार के लिये जा रहे थे तथा भोजन कर रहे थे, तब कुन्दकुन्द का उस समय को रात्रि बतला कर भोजन करने से इंकार करना और उस भोजन को सदोष मानना अथवा महज इस वजह से भोजन न करना कि उस समय भारत में रात्रि है, भोजन करने से रात्रि-भोजन का दोष लगेगा, कितना हास्यास्पद है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। इससे तो वहाँ रात्रि के समय, जबकि भारत में दिन था, कुन्दकुन्द का भोजन कर लेना निर्दोष ठहरता है! फिर, उसे उन्होंने क्यों नहीं अपनाया और क्यों सात दिन तक वे भूखे रहे? इसका ग्रन्थ पर से कुछ भी समाधान नहीं होता! इसके सिवाय, यदि यह मान लिया जाये कि भारत की रात्रि-दिन की चर्या के हिसाब से ही कुन्दकुन्द बंधे हुए थे तो उन्हें उस वक्त चक्रवर्ती से वार्तालाप भी नहीं करना चाहिए था और न वहां दिन के समय सीमंधर स्वामी तथा उनके गणधरों से ही प्रश्नादिक करने चाहिए थे, क्योंकि उस समय भारत में रात्रि थी और रात्रि को मुनिजन बोलते नहीं हैं खुद कुन्दकुन्द भी इसीलिये

उन देवों से नहीं बोले थे जो रात्रि के समय उन्हें लेने के लिये गये थे और जिसका उल्लेख ग्रन्थ में "ब्रूयुर्नैव रात्रौ च" इत्यादि वाक्य के द्वारा किया गया है। फिर कुन्दकुन्द ने अपने उस रात्रि में मौन के नियम को वहाँ जाकर क्यों भुला दिया? यह देशकालानुसार वर्तन नहीं था तो और क्या था? फिर भोजन ने ही कौन सी खता की थी? यदि वहां उन्हें भोजन कराना ही ग्रन्थकार को इष्ट नहीं था तो अच्छा होता यदि कुन्दकुन्द के द्वारा ऐसा कुछ उत्तर दिला दिया जाता कि "भारतीयों द्वारा दिया हुआ भारत का अन्न-जल ही मेरे लिये ग्राह्य है।" परन्तु ग्रन्थकार को इतनी समझ होती तब न! उसने तो अपनी मूर्खतावश कुन्दकुन्द जैसे महान् आचार्य को भी अच्छा खासा मूर्ख बना डाला है!!

८. आगम का अद्भुत विधान

ग्रन्थ में एक स्थान पर आगम का जो विधान दिया गया है, वह इस प्रकार है-

जिनबिम्बं नराः ये हि दृष्ट्वा कुर्वन्ति भोजनम्।
ते मता ह्यागमे मर्त्याः पशुतुल्याश्च तद्व्रते॥ पृ०२०६॥

अर्थात् आगम में वे लोग ही निश्चय से मनुष्य माने गये हैं जो जिनबिम्ब का-जिनेन्द्र की मूर्ति का-दर्शन करके भोजन करते हैं। जो लोग जिनबिम्ब का दर्शन किये बिना भोजन कर लेते हैं उन्हें 'पशुतुल्य' समझना चाहिए।

आगम की इस व्यवस्था के अनुसार- (१) वे सब निर्ग्रन्थ जैन मुनि पशुतुल्य ठहरते हैं जिनके जिनबिम्ब के दर्शनपूर्वक भोजन का तो क्या, जिनबिम्ब के दर्शन का भी कोई नियम नहीं होता। वैसे ही चर्यादिक को जाते समय यदि कोई जैन मन्दिर अचानक रास्ते में आ जाता है तो वे दर्शन कर लेते हैं अन्यथा नहीं। (२) वे सब सज्जन भी पशुओं की कोटि में आते हैं जो अपने यहाँ जैन मन्दिर के न होने या सफर में रहने आदि किसी कारण के वश बिना जिनबिम्ब का दर्शन किये ही भोजन कर लेते हैं अथवा कुछ खा-पीकर दर्शन करते हैं-भले ही वे कैसे ही सभ्य, शिष्ट, धर्मात्मा एवं मनुष्योचित कार्यों के करने वाले क्यों न हों! (३) सारे अजैन जन भी पशुतुल्य करार पाते हैं, जिनमें बड़े-बड़े सन्त-महन्त, सत्पुरुष त्यागमूर्ति, परोपकारी, पूज्य देशनेता और गाँधीजी जैसे महात्मा भी शामिल हैं! क्योंकि वे लोग बिना जिनबिम्ब का दर्शन किये ही भोजन किया करते हैं!! (४) उन सब दुष्टों, धूर्तों तथा पापात्माओं को भी मनुष्यत्व का सर्टिफिकेट मिल जाता है, जो किसी तरह भोजन से पहले जिनबिम्ब का दर्शन तो कर लेते हैं परन्तु अन्य प्रकार से जिनके पास धर्माचार या विवेक जैसी कोई वस्तु नहीं होती और जो मनुष्य हत्याएँ तक कर डालते हैं!

मालूम नहीं यह कौन से आगम का अद्भुत विधान है! जैनागम का तो ऐसा कोई विधान है नहीं और न हो सकता है। संभवतः यह ग्रन्थकार के उस कलुषित हृदयागम का ही विधान जान पड़ता है जो ढूँढिया भाइयों पर गालियों की वर्षा करते समय उसके सामने खुला हुआ था।

इसी तरह का एक अत्यन्त संकीर्ण हृदयोद्गार ग्रन्थकार ने और भी निकाला है और वह इस प्रकार है-

पश्यन्ति नैव ये मूढाः जिनबिम्बं जगन्नुतम्।
कदापि तन्मुखो नैव दर्शनीयो बुधोत्तमैः॥ पृ० १९५॥

इसमें बतलाया गया है कि ''जो लोग जिनबिम्ब का दर्शन नहीं करते हैं उन मूढों का कदापि मुँह नहीं देखना चाहिए!''

इस व्यवस्था के अनुसार देश की प्रायः सारी महाविभूतियाँ-पूज्य व्यक्तियाँ-भी जैनियों के लिये नहीं-नहीं इस ग्रन्थ के मानने वालों के लिये, अदर्शनीय हो जाती हैं! उन्हें देश के दूसरे पूज्य नेताओं, राजाओं, हाकिमों से नहीं मिलना चाहिए। अन्य व्यापारियों, सेवकों तथा शिल्पकारों से भी बात नहीं करनी चाहिए!! और रास्ता चलते हुए आँखें बन्द करके अथवा अपने मुँह पर पल्ला डालकर चलना चाहिए, क्योंकि चारों तरफ ऐसे ही लोग भरे पड़े हैं जो जिनबिम्ब का दर्शन नहीं करते कहीं उनका मुख न दिखलाई पड़ जाये!!! कैसी अद्भुत व्यवस्था और कैसी हृदयहीनता है!! इस व्यवस्था पर दृढ़ता के साथ अमल करने (चलने) वाले क्या संसार में कुछ अधिक समय तक जीवित रह सकते हैं या अपनी कुछ उन्नति कर सकते हैं? कदापि नहीं। फिर उनके द्वारा अपने धर्म का प्रचार अथवा लोगों को जिनबिम्ब के दर्शन की ओर लगाने का कार्य तो बन ही कैसे सकता है? निःसंदेह, इस प्रकार की शिक्षाओं ने जैन समाज को बहुत बड़ी हानि पहुँचाई है और जैनियों को पतन के खुले मार्ग पर लगाया है!! अन्यथा, हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों आदि ने तो पतित से पतित मनुष्यों, भील-चाण्डालों और म्लेच्छों तक को, उनकी बाँह पकड़कर, सन्मार्ग पर लगाया है। वे यदि उनका मुँह ही न देखते तो उनका उद्धार कैसे कर पाते? परन्तु खेद है कि आज आचार्य कहे जाने वाले शान्तिसागर जी और उनके गणधर क्षुल्लक ज्ञानसागर जी ऐसी विषैली शिक्षाओं से परिपूर्ण ग्रन्थ का भी अनुमोदन तथा प्रचार करते हैं और जैन समाज उनसे कुछ भी जवाब तलब नहीं करता-उन्हें बराबर आचार्य तथा क्षुल्लक मानता चला जाता है! इससे अधिक जैन समाज का पतन और क्या हो सकता है!

९. कर्म सिद्धान्त की नई ईजाद!

भगवान् से राजा श्रेणिक के कुछ प्रश्नों का उत्तर दिलाते हुए, एक स्थान पर लिखा है कि ''म्लेच्छों से उत्पन्न हुए स्त्री-पुरुष मरकर व्रतहीन मनुष्य (स्त्री-पुरुष) होते हैं।'' यथा-

म्लेच्छोत्पन्ना नरा नार्यः मृत्वा हि मगधेश्वर!
भवन्ति व्रतहीनाश्च इमे वामाश्च मानवाः॥ पृ० ३७७॥

इस विधान के द्वारा ग्रन्थकार ने कर्मसिद्धान्त की एक बिल्कुल ही नई ईजाद कर डाली है! क्योंकि जैनधर्म के कर्मसिद्धान्तानुसार म्लेच्छ सन्तानों के लिये न तो मनुष्यगति में जाने का ही कोई नियम है, जिसे सूचित करने के लिये ही यहाँ 'मानवा' पद का खास तौर से प्रयोग किया गया है। वे दूसरी गतियों में भी जा सकते हैं और जाते है और न अगले जन्म में व्रतहीन होना ही उनके लिये लाजिमी है। व्रतहीन होने के लिये चारित्रमोहनीय का एक भेद अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय कारण माना गया है और चारित्रमोहनीय के आस्रव का कारण ''कषायोदयात् तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य''

इस सूत्र के अनुसार कषाय के उदय से तीव्र परिणाम का होना कहा गया है न कि किसी म्लेच्छ की सन्तान होना। म्लेच्छ की सन्तानें तो अपने उसी जन्म में व्रतों का पालन कर सकती हैं और महाव्रती मुनि तक हो सकती हैं, जिसके अनेक उदाहरण तथा विधान जैन शास्त्रों में पाये जाते हैं[४१] तब उनके लिये अगले जन्म में लाजिमी तौर से व्रतहीन होने की कोई वजह ही नहीं हो सकती।

इसके सिवाय, इसी ग्रन्थ में एक स्थान पर लिखा है कि जैनधर्म को धारण करता हुआ श्वपच (म्लेच्छ विशेष भी) 'श्रावकोत्तम' माना गया है, कुत्ता भी व्रत के योग से देवता हो जाता है और एक क्रीड़ा भी लेशमात्र व्रत के प्रसाद से उत्तम गति को प्राप्त होता है। तथा दूसरे स्थान पर लिखा है कि मातङ्ग (म्लेच्छ विशेष) आदि मनुष्यों ने शुद्ध एक (कर्म दहन) व्रत का पालन करने से सुख को प्राप्त किया है। यथा–

''श्वपचो जिनधर्मेण कथितः श्रावकोत्तमः।''...
''ह्यलको वृतयोगेन देवत्वे जायेते खलु।''...
''कीटोऽपि व्रतलेशेन भजते गतिमुत्तमाम्॥ पृष्ठ ३७॥ ''

''मातंगाद्याश्च ये मर्त्याः शुद्धैकव्रतपालनात्।
सुखमाप्ताः...॥ पृष्ठ ३८१॥ ''

जब इसी ग्रन्थ के कथनानुसार श्वपच मातंग ही नहीं किन्तु कुत्ता और कीड़ा भी व्रत का पालन कर सकता है तब एक म्लेच्छपुत्र या पुत्री व्रत का अनुष्ठान करते हुए मरकर मनुष्य होने पर भी व्रत का पालन न कर सके सर्वथा व्रतहीन ही रहे–यह कैसे बन सकता है? अतः ग्रन्थकार की यह नई ईजाद अथवा व्यवस्था बिल्कुल उसकी नासमझी पर अवलम्बित है, वास्तविकता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं और उसे एक उन्मत्त प्रलाप से अधिक कुछ भी महत्त्व नहीं दिया जा सकता। इसी तरह की और भी कितनी ही बातें कर्म सिद्धान्त की विडम्बना को लिये हुए पाई जाती हैं, जिन्हें यहाँ छोड़ा जाता है।

१०. स्त्री जाति का घोर अपमान!

ग्रन्थ के शुरू में भगवान् के मुँह से पंचमकाल के भविष्य का वर्णन कराते हुए एक स्थान पर

---

४१. देखो, हरिवंश पुराणादि ग्रन्थ, जिनमें अनेक भीलों, चाण्डालों, म्लेच्छों के व्रतपालनादि का उल्लेख है। 'जरा' नाम की म्लेच्छ कन्या से उत्पन्न हुए 'जरत्कुमार' ने भी अन्त को मुनिदीक्षा ली थी, जिसका उल्लेख भी जिनसेन के हरिवंशपुराण में है। इसके सिवाय, लब्धिसार की टीका के निम्न अंश से साफ प्रकट है कि म्लेच्छ देशों से आये हुए म्लेच्छ तथा म्लेच्छ कन्याओं से चक्रवर्त्यादिक के वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा उत्पन्न पुत्र जैन मुनि दीक्षा के अधिकारी हैं– ''म्लेक्षभूमिजमनुष्याणां सकलसंयमग्रहणं कथं भवतीति नाशंकितव्यं। दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागतानां म्लेच्छराजानां चक्रवर्त्यादिभिः सहजातवैवाहिक सम्बन्धानां संयमप्रतिपत्तेरविरोधात्। अथवा चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छव्यपदेशभाजः संयमसंभवात् तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात्।'' (गाथा नं० १९३)

लिखा है-

शीलहीना भविष्यन्ति वामास्तस्मिन्मदोद्धताः।
त्यक्त्वा च स्वपतिं दासं भोक्ष्यन्ति कालदोषतः॥१००॥
लक्षकोटिषु शीलाढ्या नारी ह्येका नराधिराट्!
शुद्धशीलधरा नापि भविष्यन्ति न संशयः॥१०१॥

अर्थात् पंचमकाल में स्त्रियां शीलरहित तथा मदोद्धत होंगी और काल दोष से अपने पति को छोड़कर नौकर से भोग करेंगी। हे राजन्! लाखों-करोड़ों स्त्रियों में कोई एक स्त्री शीलवती होगी और शुद्धशील का पालन करने वाली तो कोई होगी ही नहीं!

इस भविष्य-कथन के अनुसार भारतवर्ष में इस वक्त मन-वचन-काय से प्रसन्नतापूर्वक शुद्ध शीलव्रत का पालन करने वाली तो कोई स्त्री होनी ही न चाहिए। जो किसी मजबूरी आदि के कारण काय से शीलव्रत का पालन करती हो, उनकी संख्या भी ५० या ज्यादा से ज्यादा १०० के करीब होनी चाहिए। जैन समाज की स्त्री-संख्या छह लाख के करीब है, इसलिये उनमें तो कोई एकाध स्त्री ही वैसी शीलवती होनी चाहिए। बाकी सब स्त्रियों को व्यभिचारिणी समझना चाहिए!!

यह कथन प्रत्यक्ष के कितना विरुद्ध और विपरीत है, उसे बतलाने की जरूरत नहीं। देश-काल का थोड़ा सा भी व्यापक ज्ञान रखने वाले इसे सहज ही में समझ सकते हैं। हां इतना जरूर कहना होगा कि इसके द्वारा स्त्रियों की पवित्रता पर जो व्यर्थ का निरर्गल आक्रमण और अविवेकपूर्ण भारी दोषारोपण किया गया है वह स्त्री जाति का घोर अपमान है और एक ऐसा अपराध है जो क्षमा नहीं किया जा सकता। वास्तव में भगवान् महावीर के बाद से आज तक देश में हजारों लाखों देवियां पूर्ण रूप से पतिव्रत धर्म का पालन करने वाली परम सुशीला, पतिपरायणा और देश की गौरवरूपिणी हो चुकी हैं। उनकी यह अवज्ञा किसी तरह भी सहन नहीं की जा सकती। इस समय भी पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां अधिक शीलसम्पन्न तथा अधिक पवित्र जीवन बिताने वाली हैं और जो पतित भी होती हैं वे प्रायः पुरुषों के द्वारा ही पतन के मार्ग में लगाई जाती हैं, फिर भी पुरुषों के शीलविहीन होने की बाबत ऐसा कुछ नहीं कहा गया, यह आश्चर्य है! और वह ग्रन्थकार के पूर्ण अविचार तथा उसके किसी स्वार्थ को सूचित करता है।

११. शूद्र जलादि के त्याग का अजीव विधान!

इस ग्रन्थ में कुछ स्थानों पर शूद्रस्पर्शित जल घृतादि को त्याज्य बतलाते हुए लिखा है-

''निन्द्यं स्यात्सर्वमासेषु न्यादपानादिकं खलु।
शूद्रकरेण संस्पृश्य सदाचारविनाशकम्॥१३३॥
मद्यमांसमधूनां यदशनाद्दोषो जायेते।
वै स्यात्तद्धस्तसंपर्क-वस्तुमक्षणतो बुधाः॥१३४॥
ये पुनः शूद्रहस्तस्य भाद्रमासे व्रतेषु च।

चूर्णोदकाज्यं खादन्ति ते नरास्तत्समा मताः॥१३५॥ ''
''शूद्रस्पृश्यं जलं चूर्णं घृतं ग्राह्यं व्रताप्तये।
नैव गृह्णन्ति ये मूर्खास्तत्समास्ते बुधैर्मताः॥१६०॥ '' -पृष्ठ ३६, ३७, २१४

अर्थात् शूद्र का हाथ लगा हुआ भोजन-पानादिक निश्चय से सदाचार का विनाशक है, सभी महीनों में निन्द्य है (खाने के योग्य नहीं)। हे बन्धुजनों! जो दोष मद्य मांस मधु के खाने से लगता है, वही शूद्र का हाथ लगी वस्तु के खाने में लगता है। जो लोग भादों के महीने में तथा व्रतों में शूद्र के हाथ का जल, घृत और आटा खाते हैं, वे शूद्रों के समान माने गये हैं। व्रत की (कर्मदहन-व्रत की) सिद्धि के लिये शूद्र स्पर्शित जल, घृत और आटा ग्रहण नहीं करना चाहिए, जो मूर्ख ग्रहण करते हैं वे शूद्रों के समान ही माने गये हैं।

एक स्थान पर तो यहां तक भी लिखा है कि जो लोग खानपानादि सम्बन्धी कामों के लिये- उनकी तैयारी में सहायता पहुँचाने आदि के लिये[४२] शूद्रों को अपने घर पर (नौकर) रखते हैं वे श्रावक कैसे हो सकते हैं? उन्हें निश्चय से शूद्रों के समान समझना चाहिए। यथा-

शूद्रलोकस्य ये धाम्नि रक्षन्ति ते कथं मताः।
खानपानादिकर्मार्थं श्रावकास्तत्समाः खलु॥ पृ०३२॥

मालूम नहीं, ये सब विधान कौनसी कर्मफिलासॉफी अथवा धर्मशास्त्र की किस आज्ञा से सम्बन्ध रखते हैं! और न यही कुछ समझ में आता है कि मात्र शूद्र के हाथ का स्पर्श होने से ही भोजन पान की कोई सामग्री निन्द्य (सदोष) क्यों कर हो जाती है? कैसे सदाचार की विनाशक बन जाती है? और उसके भक्षण से मद्य-मांस-मधु के भक्षण का दोष (पाप) किस प्रकार लगता है? कोई मनुष्य महज भादों अथवा व्रत के दिनों में शूद्रस्पर्शित जल, घृत और आटे के लेने से ही-बिना शूद्र का कर्म किये अथवा शूद्र की वृत्ति को अपनाये ही-शूद्र कैसे बन जाता है? शूद्र बना देने की वह विशेषता जल, घृत और आटे को ही क्यों प्राप्त है? दूध, दही, गुड़, शक्कर, बूरा, खांड, दाल, चावल, तिल, गेहूं, चना आदि सालिम अनाज और फल शाकादिक को वह क्यों प्राप्त नहीं है? यदि प्राप्त है तो फिर दोनों में से किसी भी श्लोक में उनका उल्लेख क्यों नहीं किया गया? 'आदि' शब्द तक भी क्यों साथ में नहीं लगाया गया? और प्राप्त होने पर कोई भी मनुष्य शूद्र की पदवी पाने से वंचित कैसे रह सकता है? इसी तरह बर्तन मांजने, चौका चूल्हा करने, पानी भरने, दुग्धादि गर्म करने तथा लाकर देने, आटा छानने और शाकादि ठीक करने जैसे कामों के लिये घर पर सत् शूद्र की योजना होने से ही घर के लोग शूद्र कैसे बन जाते हैं? बड़ा ही अजीब विधान है!!!

क्या ग्रन्थकार की दृष्टि में सारे ही शूद्र असदाचारी तथा मद्यमांसादिक के खाने वाले होते हैं और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में से कोई भी असदाचारी तथा मद्य, मांस, मधु का सेवन करने वाला नहीं होता

४२. जैसे बर्तन मांजना, चौका चूल्हा करना, पानी भरना, दुग्धादि गर्म करना तथा लाकर देना, आटा छानना और शाकादि ठीक करना जैसे कामों के लिये।

है? यदि ऐसा नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष में हजारों शूद्र बड़े सदाचारी, ईमानदार तथा सफाई के साथ रहने वाले देखे जाते हैं और उनकी कितनी ही जातियां मद्य, मांस का स्पर्श तक नहीं करतीं, प्रत्युत इसके, लाखों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य दुराचारी पाये जाते हैं, मद्य-मांसादिक का खुला सेवन करते हैं और कितने ही जैनी भी महादुराचारी तथा कुछ मद्य मांसादिक का सेवन करने वाले भी नजर आते हैं, तब फिर शूद्रों के विषय में ही ऐसा नियम क्यों? उनके प्रति यह अन्याय क्यों? और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के साथ अनुचित पक्षपात क्यों? क्यों ऐसा नियम नहीं किया गया कि जो लोग दुराचारी तथा मद्य मांसादिक का सेवन करने वाले हों, उनके हाथ का भोजनपान नहीं करना, भले ही वे जैनी क्यों न हो? यदि ऐसा नियम किया जाता तो वह कुछ समुचित एवं न्यायानुमोदित भी जान पड़ता और दिल को भी लगता। प्रत्युत इसके, ऊपर का विधान बिल्कुल जैनधर्म की शिक्षा के बाहर है—शूद्रों के प्रति घृणा, तिरस्कार एवं दूषित मनोवृत्ति का द्योतक है। जैनधर्म में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये भेद वृत्ति (आजीविका) के आश्रित हैं और इन सभी को जैनधर्म के पालन का अधिकारी बतलाया है। सभी लोग वर्णानुसार अपनी अपनी आजीविका करते हुए जैनधर्म का यथायोग्य पालन कर सकते हैं और जैनी हो सकते हैं। शूद्र तो शूद्र, भीलों चाण्डालों एवं म्लेच्छों तक के जैनधर्म को धारण करके जैन व्रतों का पालन करने के उदाहरणों और विधानों से जैन ग्रन्थ भरे पड़े हैं, जिनका कुछ थोड़ा-सा परिचय लेखक की 'जैनी कौन हो सकता है' इस नाम की पुस्तक से भी मिल सकता है। खुद इस ग्रन्थ में भी एक स्थान पर 'व्रतपालनात् शूद्रोऽपि श्रावको ज्ञेयः' जैसे वाक्य के द्वारा व्रत पालन करते हुए शूद्र को श्रावक लिखा है, एक दूसरे स्थान पर श्वपच (चाण्डाल) के श्रावकोत्तम होने का उल्लेख किया है और तीसरे स्थान पर मातंगादिक ने कर्मदहन व्रत का पालन कर सुख पाया, ऐसी सूचना की गई है। क्या एक शूद्र या मातंग (चाण्डाल), कर्मदहन व्रत का अनुष्ठान करता हुआ और इसलिये व्रत विधि के साथ अनुगत भगवान् का अभिषेक पूजनादि करता हुआ भी, खुद अपने हाथ का भोजन न करके किसी ब्राह्मणादि के हाथ का भोजन करता फिरेगा? कैसी अजीब विडम्बना होगी! ग्रन्थकार को इन सब पूर्वापरसम्बन्धों आदि की कुछ भी खबर नहीं पड़ी और उसने यों ही बिना सोचे समझे उन्मत्तों की तरह जो जी में आया लिख मारा!! और साथ में भगवान् महावीर को भी घसीट मारा, क्योंकि ये सब वाक्य भी उन्हीं के मुख से और उन्हीं के शासन के विरुद्ध कहलाये गये हैं!!! जिन भगवान् महावीर ने शूद्रों का संकट दूर किया, उन पर होते हुए ब्राह्मणों के अत्याचारों का तीव्र विरोध कर उन्हें हटाया और उन्हें सब प्रकार की धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की, उन्हीं के मुख से शूद्रों के प्रति ऐसे अन्याय तथा तिरस्कारमय शब्दों का निकलना कब संभव हो सकता है और कौन सहृदय उस पर विश्वास कर सकता है? कोई भी नहीं, और कभी भी नहीं।

१२. भगवान् की मिट्टी खराब!

इस ग्रन्थ में भगवान् महावीर के मुख से बहुत-सा असम्बद्ध प्रलाप कराकर और अनेक आपत्ति के योग्य, पूर्वापरविरुद्ध, इतिहासविरुद्ध, सत्यविरुद्ध तथा अपने ही शासन के विरुद्ध कितनी ही बेढंगी

बातें कहलाकर और भगवान् को अच्छा खासा मूर्ख, अविवेकी, अनुदार, साम्प्रदायिक कट्टर, विक्षिप्तचित्त, असभ्य, अशिष्ट, कषायवशवर्ती और कलुषित हृदय क्षुद्र व्यक्ति चित्रित करके उनकी कैसी मिट्टी खराब की गई है, इसका कितना ही परिचय पाठकों को अब तक के उल्लेखों द्वारा प्राप्त हो चुका है। यहां पर दो-तीन बातें और भी इसी विषय की प्रकट की जाती हैं-

(क) सम्मेदाचल के प्रकरण में, कूटों के नामादिसम्बन्धी राजा श्रेणिक के प्रश्न को लेकर, भगवान् महावीर से सम्मेदशिखर का स्तोत्र[४३] कराया गया है और उसमें उनसे ''अहं नमामि शिरसा त्रिशुद्ध्या तं तीर्थराजं शिवदायकं च'', ''ईडे सदा तं शिवदायकं च'' जैसे वाक्यों के द्वारा सिर झुकाकर पर्वतराज की पूजा वन्दना तक कराई गई है! इतना ही नहीं, बल्कि इस स्तोत्र की प्रतिज्ञा के अवसर पर भगवान् को गणधरों, सर्व मुनियों तथा जिनवाणी के भी आगे नतमस्तक किया गया है अर्थात् उन्हें भी नमस्कार कराकर स्तोत्र की प्रतिज्ञा कराई गई है!! यथा-

नत्वा श्रीजिननायकान् गणधरान्देवेन्द्रवृन्दार्चितान्
मौनीन्द्रान् सकलान् तथा च सुखदां जैनेन्द्रवक्त्रोद्भवाम्।
वाणीं पापप्रणाशिकां मुनिनुतां सद्बुद्धिदां पावनीं
सम्मेदाभिधपर्वतस्य शिवदं स्तोत्रं करोमि शुभम्॥ -पृष्ठ २६५

मालूम नहीं जिनेन्द्र-पदवी और परम आर्हन्त्य दशा को प्राप्त भगवान् महावीर का अपने ही उपासक गणधरों तथा मुनियों और अपनी ही वाणी के-अपने ही शास्त्रों के-आगे सिर झुकाने का तथा पर्वत की स्तुति वन्दना का क्या अभिप्राय और उद्देश्य हो सकता है! वास्तव में तो इस प्रकार की स्तुति तथा पूजा-वन्दना जिनेन्द्रपद की एकमात्र विडम्बना है अथवा यों कहिये कि ये सब भगवान् महावीर की उस स्थिति तथा पोजीशन के विरुद्ध है जिसे लिये हुए वे केवलज्ञान के पश्चात् समवसरण में स्थित थे। वे इन मुनियों आदि की वन्दना और पर्वतों की स्तुतिपूजा के भाव से बहुत ऊँचे उठ चुके थे-उपासकों की इस श्रेणी से ही निकल चुके थे और इसलिये उन से इस प्रकार की क्रियाएँ कराना सचमुच ही उनकी मिट्टी खराब करना है!! उन्हें एक तरह से जलील (अपमानित) करना है!!!

(ख) कर्मदहन व्रत के फलकथन में-जो राजा श्रेणिक को सुनाया गया है-मोक्ष-स्थानादि का वर्णन करते हुए, ''ईदृशे मगधाधीश मोक्षस्थाने मनोहरे'' इत्यादि श्लोक से पहले एक ही श्लोक के अंतर पर निम्न श्लोक दिया है और उसके द्वारा भगवान् महावीर से मुक्त जीवों के प्रति यह प्रार्थना और याचना कराई गई है कि वे उसे बोधि और समाधि प्रदान करें-

ते मया संस्तुताः सर्वे चिन्मयाः कायवर्जिताः।
मे समाधिं सुबोधिं च यच्छन्तु नोपरा इह ॥११॥

---

४३. इस स्तोत्र में राजा श्रेणिक को संबोधन करने के लिये नृप, नृपते, मगधाधीश, नराधीश और चेलनापते जैसे पदों का प्रयोग किया गया है।

इससे मालूम होता है कि समवसरण स्थित भगवान् महावीर बोधि और समाधि से विहीन थे! उन्हें दोनों को जरूरत थी और इसलिये स्तुति के अनंतर उन्होंने उनके लिये याचना की है!! और शायद इसीलिये उन्होंने, स्तुति का प्रारम्भ करते हुए, ''किंचित् बुद्धि-लवेन भव्यवचसा तेषां च कुर्वे स्तवं'' इस वाक्य के द्वारा अपने को थोड़ी-सी बुद्धि का धारक भी सूचित किया है!!! 'बोधि' अर्हद्धर्म की प्राप्ति को, सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) को तथा पूर्ण ज्ञान को भी कहते हैं, और 'समाधि' स्वरूप में चित्त की स्थिरता का नाम है अथवा ''प्रशस्तं ध्यानं शुक्लं धर्म्यं वा समाधिः'' इस श्री विद्यानन्द के वाक्यानुसार धर्म्य और शुक्ल नाम के प्रशस्त ध्यानों को भी समाधि कहते हैं। अब पाठकजन सोचिये, कि क्या केवलज्ञान और केवल सम्यक्त्व आदि क्षायिक गुणों को पाकर अथवा परम आर्हन्त्य पद को प्राप्त होकर भी भगवान् महावीर बोधि-समाधि से विहीन थे? उन्हें पूर्ण ज्ञान नहीं था? स्वरूप में उनका चित्त स्थिर नहीं था? और वे प्रशस्त ध्यानी नहीं थे? यदि ऐसा कुछ नहीं है तो फिर ऐसे आप्तपुरुषों से बोधि-समाधि की याचना कराना और उन्हें थोड़ी-सी बुद्धि का धारक प्रकट कराना उनकी तथा अर्हत्पद की मिट्टी खराब करना नहीं तो और क्या है? अर्हन्तों से तो दूसरे लोग 'दिंतु समाहिं च मे बोहिं' जैसे शब्दों के द्वारा बोधिसमाधि की प्रार्थना किया करते हैं, वे यदि खुद ही बोधि-समाधि से विहीन हों तो उनकी उपासना से इस विषय में लाभ भी क्या उठाया जा सकता है? और उनकी अर्हन्तता अथवा आप्तता का महत्त्व भी क्या हो सकता है? कुछ भी नहीं।

(ग) दिगम्बर तेरहपंथियों से भगवान् की झड़प के समय निम्न वाक्य भी भगवान् के मुख से कहलाये गये हैं-

''ह्यधुना पंचमे काले नो सन्ति भो बुधोत्तमाः।
तीर्थंकराः सुरैः पूज्याः केवलज्ञानमंडिताः॥८५॥
प्रत्यक्षं केवली नास्ति अतस्तत्स्थापना मता।
स्थापनायां मताः सर्वाः क्रियाः वै स्नपनादिकाः॥१०३॥
कालेऽस्मिंश्चलचित्तकरे मिथ्यात्वपूरिते।
नैव दृश्यन्ते योगीन्द्रा महाव्रतधरा वराः॥११३॥

इनके द्वारा भगवान् महावीर कहते हैं- ''हे उत्तम बुधजनों! इस वक्त (अधुना) पंचमकाल में निश्चय से केवलज्ञान मंडित और देवों से पूज्य तीर्थंकर नहीं हैं। प्रत्यक्ष में कोई केवली नहीं है, इसलिये केवली की स्थापना मानी गई है। और स्थापना में निश्चय से अभिषेकादि सारी क्रियाएं स्वीकार की गई हैं। इस चलचित्तकारी और मिथ्यात्व से पूरित (पंचम) काल में महाव्रतों को धरने वाले श्रेष्ठ योगीन्द्र दिखलाई ही नहीं देते।''

भगवान् महावीर चतुर्थ काल में हुए हैं, वे खुद तीर्थंकर थे, केवली थे और उनके समय में बहुत-से महाव्रतधारी गौतमादि योगीन्द्र मौजूद थे और बाद को पाँचवें काल में भी भद्रबाहु, धरसेन, कुन्दकुन्द, समन्तभद्र और जिनसेनादि कितने ही श्रेष्ठ योगीन्द्र हो चुके हैं जिन्हें इस ग्रन्थ में भी

'इत्याद्या वरयोगीन्द्राः' जैसे शब्दों के द्वारा 'वरयोगीन्द्र' प्रकट किया गया है[४४], तब भगवान् का पंचम काल के साथ 'अधुना' शब्द जोड़कर अपने समय को पंचम काल बतलाना, खुद तीर्थंकर तथा केवली होते हुए भी उस समय तीर्थंकर तथा केवली का अभाव प्रकट करना और अपने सामने गौतमादि गणधरों जैसे महायोगीन्द्रों के मौजूद होते हुए भी ''इस समय कोई महाव्रतधारी योगीन्द्र दिखलाई नहीं देते'' ऐसा कहना कितना हास्यास्पद तथा आश्चर्यजनक है और उसके द्वारा भगवान् का कितना गहलापन तथा उन्मत्तप्रलाप पाया जाता है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। भगवान् के मुँह से इन वाक्यों को कहलाकर ग्रन्थकार ने निःसंदेह भगवान् की बड़ी ही मिट्टी खराब की है और उन्हें कोरा बुद्धू ठहराया है!!

यदि भगवान् कहीं इस समय सजीव देहधारी होते या देहधारण कर यहाँ आते और इस ग्रन्थ को देख पाते तो आश्चर्य नहीं जो वे यों कह उठते–

''जौहर थे खास मुझ में आप्तस्वरूप के।
यों स्वांग बना क्यों मेरी मिट्टी खराब की!!''

सचमुच ही इस सारे ग्रन्थ में भगवान् महावीर का स्वांग बनाकर और उससे अटकलपच्चू यद्वा-तद्वा कहलाकर उनकी खूब अच्छी तरह से मिट्टी खराब की गई है, उनके ज्ञान, श्रद्धान, विवेक, अकषायभाव, समता, उदारता, सत्यवादिता, सभ्यता, शिष्टता, पदस्थ और पोजीशन आदि सब पर पानी फेरा गया है और उन्हें कठपुतली की तरह नचाते हुए विद्वानों की दृष्टि में ही नहीं, किन्तु साधारण जनों की दृष्टि में भी बहुत कुछ नीचे गिराया गया है!! यह सब ग्रन्थकार पंडित नेमिचन्द्र की धूर्तता, मूढ़ता, अविवेक परिणति, कषायवशवर्तिता, साम्प्रदायिक कट्टरता, स्वार्थसाधुता, क्षुद्रता और उस अहंकृति का ही एक परिणाम जान पड़ता है, जिसने उससे यह गर्वोक्ति तक कराई थी कि 'इस ग्रन्थ के श्रवणमात्र से प्रतिपक्षीजन मंत्रकीलित नागों की तरह मूकवत् स्थिर हो जायेंगे, उन्हें इसके विरुद्ध बोल तक नहीं आएगा[४५]!' वह अपनी अज्ञानता, विक्षिप्तचित्तता और अहंकारादि के वश हुआ भगवान् महावीर के पार्ट को इस ग्रन्थ में जरा भी ठीक तौर से अदा नहीं कर सका–खेल नहीं सका!! उसने व्यर्थ ही अपने हृदय, अपने अज्ञान, अपने संस्कारों, अपनी कषायवासनाओं, अपनी बातों और अपने कहने के ढंग को भगवान् महावीर के ऊपर लादा है!!! और इसलिये इस ग्रन्थ को रचकर उसने जो घोर अपराध किया है वह किसी तरह भी क्षमा किये जाने के योग्य नहीं है। ऐसे महाजाली, झूठे, निःसार, अनुदार, प्रपंची और असम्बद्ध प्रलापी एवं विरुद्ध कथनों से परिपूर्ण ग्रन्थ को किसी तरह भी जैन ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। इसे जैन ग्रन्थों का भारी कलंक समझना चाहिए और इसलिये जितना भी शीघ्र हो सके इसका जैन समाज से बहिष्कार किया जाना चाहिए।

---

४४. इसके लिये देखो, पृष्ठ २७ पर उद्धृत श्लोक नं० १५४ से १५६।

४५. इस गर्वोक्ति द्योतक मूल वाक्य पृष्ठ १६ पर उद्धृत किया जा चुका है।

यह तो हुई प्रायःमूल ग्रन्थ की जाँच और परीक्षा अथवा विशेष आलोचना[४६]। अब ग्रन्थ के अनुवाद को भी लीजिये।

अनुवादक की निरंकुशता और अर्थ का अनर्थ!

इस ग्रन्थ के अनुवाद में अनुवादक पं० नन्दलालजी ने, जो अनुवाद के समय 'ब्रह्मचारी ज्ञानचन्द्र जी महाराज' थे और अब 'क्षुल्लक ज्ञानसागर जी महाराज' के रूप में शांतिसागर संघ में विराजमान हैं, जिस स्वच्छंदता एवं निरंकुशता से काम लिया है और उसके द्वारा जो अनर्थ घटित किया है उसका यदि पूरा परिचय कराया जाये और ठीक-ठीक आलोचना की जाये तो एक अच्छा खासा बड़ा ग्रन्थ बन जाये। अब तक के लेख परिमाण से उसका परिमाण बहुत बढ़ जाये। परन्तु मैं अब इस निबन्ध को अधिक बढ़ाना नहीं चाहता हूँ, अनुवादक की इस निरंकुशता आदि का कितना ही परिचय पिछले पृष्ठों में भी प्रसंग पाकर दिया जा चुका है और उसके द्वारा ग्रन्थ तथा ग्रन्थकारादि का जो स्वरूप प्रकट किया गया है उसे देखते हुए बहुत अधिक लिखने की कुछ जरूरत भी मालूम नहीं होती। अतः प्रकृत ग्रन्थ के अनुवाद-सम्बन्ध में संक्षेप रूप से कुछ थोड़ा-सा विशेष परिचय और करा देना चाहता हूँ, जिससे पाठकों को अनुवाद की असलियत, निःसारता और अनुवादक की प्रकृति, प्रवृत्ति एवं चित्तवृत्ति के समझने में विशेष मदद मिले और वे उन सबका यथेष्ट अनुभव कर सकें।

अनुवाद स्थिति का सामान्य परिचय

इस ग्रन्थ के सारे अनुवाद में अनुवादक महाशय को उत्तरदायित्वशून्य प्रवृत्ति (निरंकुशता) के साथ-साथ प्रायः यह मनोवृत्ति काम करती हुई दिखलाई देती है कि अपने मन्तव्यों को पुष्ट करने वाली भट्टारकीय शासन की बातों का प्रचार किया जाये, भट्टारकीय मार्ग की पुनः प्रतिष्ठा की जाये, शास्त्र की ओट में अपने युक्तिशून्य विचारों को चलाया जाये, लोग परीक्षाप्रधानी न रहें, न बनें, किन्तु अन्धश्रद्धालु बनें, भट्टारक मुनियों, नग्न भट्टारकों और उनके गणधरों एवं पृष्ठपोषकों की किसी भी प्रवृत्ति के विरुद्ध कोई अंगुली न उठावे-आलोचना न करे, सब लोग उनकी भरपेट पूजा-उपासना, सेवा-सुश्रुषा किया करे अथवा सब प्रकार की उनकी आवश्यकताओं को पूरा करते हुए उनके पूर्ण भक्त बनें, उनकी आज्ञा में चलें, उनके साहित्य को, ग्रन्थों को, क्रियाकाण्ड को पूरा मान देवें, अपनावें और उनके इशारों पर नाचा करें और इस तरह सर्वत्र उन्हीं की एक सत्ता कायम हो जाये! इसीलिये उन्होंने अपने तथा अपने गुरुओं के मार्गकण्टकों, सुधारकों, तेरहपंथियों एवं परीक्षाप्रधानियों पर जगह-जगह बात-बिनबात व्यर्थ आक्रमण किये हैं, उन्हें बिना ही किसी हेतु के मिथ्यादृष्टि,

---

४६. इसमें ग्रन्थ के भाषा साहित्य की आलोचना को जान बूझकर अनावश्यक समझते हुए शामिल नहीं किया गया, जो कि व्याकरणादि सम्बन्धी बहुत कुछ त्रुटियों तथा दोषों से परिपूर्ण है और जिसके लिये प्रकाशक को ही, उसके कुछ अशुद्ध प्रयोगों को देखकर, यहां तक लिखना पड़ा कि वह ''प्रचलित संस्कृत व्याकरण तथा कोष के अनुसार नहीं है''।

अश्रद्धानी, ढोंगी, आगमादि लोपक एवं अधार्मिक आदि बतलाया है! और मुनि भट्टारकों आदि की आलोचनाओं, उनकी असत्प्रवृत्तियों की निन्दाओं तथा उनके कुत्सित साहित्य की अथवा ग्रन्थमात्र की परीक्षाओं–समीक्षाओं को यों ही बुरा बतला दिया है!! साथ ही विधवा–विवाह की विजातीय–विवाह की, जातिपातिलोप की, भंगी चमारों की, समुद्रयात्रा की और शूद्रों के व्रत न पाल सकने आदि की ऐसी ही कुछ बातें उठाकर अथवा साथ में जोड़कर जिनका मूल–ग्रन्थ में कहीं नामनिशान तक भी नहीं है, जनता के ऊपर अपने विचारों को लादा गया है तथा अपने मार्गकण्टकों एवं सुधारकों आदि के विरुद्ध उसे भड़काकर अपना रास्ता साफ करने, अपने दोषों पर पर्दा डालने और अपना रंग जमाने का दूषित यत्न किया गया है। और इस सबके लिये अथवा यों कहिये कि अपनी तथा ग्रन्थ की बातों को चलाने और अपने दोषों को छिपाते हुए, अपना सिक्का जमाने के लिये, अनुवादक को कितनी ही चालाकी, मायाचारी एवं कपट–कला से काम लेना पड़ा है और प्रायः उस चोर की नीति का भी अनुसरण करना पड़ा है जो भागता हुआ यह कहता जाता है कि 'चोर! चोर!! पकड़ो! पकड़ो!! वह जाता है! इधर को भागा! बड़ा अनर्थ हो गया!! इत्यादि' और इस कहने में उसका एक मात्र आशय अपनी तथा अपने मार्ग की रक्षा और दूसरों को धोखे में डालना ही होता है!! सबसे पहले अनुवादक ने ग्रन्थकार पं० नेमिचन्द्र को आचार्य के आसन पर बिठलाया है, जिससे यह ग्रन्थ आचार्यप्रणीत एवं आर्षवाक्य के रूप में समझ लिया जाये! जैसा कि ग्रन्थ के पृष्ठ १८१ पर दिये हुए ''आचार्य महाराज कहते हैं'' इस निराधार वाक्य से तथा पृष्ठ ४०० पर ''वंद्या नेमीन्दुनाम्ना'' के अर्थ रूप में दिये हुए निम्न वाक्य–खण्ड से प्रकट है–

''नेमिचन्द्र (ग्रन्थकर्त्ता का नाम) आचार्य से वंदनीक''

परन्तु ग्रन्थकार नेमिचन्द्र कोई आचार्य नहीं था, बल्कि एक साधारण तथा धूर्त पंडित था। पं० शिवजीराम नाम के एक गृहस्थ का शिष्य था और उसने ग्रन्थ की प्रशस्ति में खुद अपनी गुरु–परम्परा का उल्लेख किया है, जिसका परिचय शुरू में (पृ० १४ पर) कराया जा चुका है।

इसके बाद अनुवादक को यह चिन्ता पैदा हुई कि ग्रन्थकार को आचार्य तो बना दिया परन्तु ग्रन्थ में दिया हुआ ग्रन्थ का निर्माण समय संवत् १९०९ यदि प्रकट किया गया तो यह सारा खेल बिगड़ जायेगा, ग्रन्थ बहुत ही आधुनिक हो जायेगा और तब ग्रन्थकार के आचार्य पद का कुछ भी महत्त्व अथवा मूल्य नहीं रहेगा, और इसलिये उसने इतनी चालाकी एवं मायाचारी से काम लिया कि पृष्ठ ४११ पर दिये हुए उस समयसूचक श्लोक नं० ३४३ का अर्थ ही नहीं दिया, जिसे अर्थसहित शुरू में पृ० ११ पर प्रकट किया जा चुका है–उस स्थान पर यह जाहिर तक नहीं होने दिया कि हम उसका अर्थ छोड़ रहे हैं!! अथवा उसका अर्थ नहीं हो सका!!!

इसके सिवाय, ग्रन्थ की जो बातें अनुवादक को इष्ट मालूम नहीं दी, उनका या तो उसने अर्थ ही नहीं दिया और या अपने मनोऽनुकूल अन्यथा एवं विपरीत अर्थ कर दिया है! और जो बातें मूलग्रन्थ में नहीं थीं और जिन्हें वह मूल के नाम पर प्रकट करना अथवा चलाना चाहता था, उन्हें उसने

प्रायः चुपके से मूल वाक्यों के अर्थ के साथ में इस तरह से शामिल कर दिया है, जिससे हिन्दी पाठकों द्वारा वे भी मूल ग्रन्थ की ही बातें समझ ली जायें और उन्हें पढ़ते समय यही मालूम होता रहे कि यह सब ग्रन्थकार आचार्य महाराज ही कह रहे हैं!! इस तरह अनुवादक की निरंकुशता और उसकी उक्त मनोवृत्ति के कारण इस ग्रन्थ के अनुवाद में बहुत कुछ अर्थ का अनर्थ हुआ है! और यह अनुवाद उच्छृंखलता, असावधानी एवं बेढंगेपन के साथ-साथ अर्थ की हीनता-न्यूनता, अर्थ की अधिकता-अतिरिक्तता (मूलबाह्यता) और अर्थ के अन्यथापन (वैपरीत्य) की एक बड़ी ही विचित्र मूर्ति बन गया है!! और इसलिये इसे बहुत ही विकृत तथा सदोष अनुवाद कहना चाहिए। अस्तु।

विशेष परिचय अथवा स्पष्टीकरण

अब मैं कुछ नमूनों अथवा उदाहरण के द्वारा अनुवाद की इस स्थिति को स्पष्ट कर देना चाहता हूँ, जिससे पाठकों को इस विषय में कुछ भी संदेह न रहे-

(१) पृष्ठ ९८वें पर एक श्लोक निम्न प्रकार से अर्थसहित दिया है-

केवलाभिधयुक्तानां यतीनां सर्वदेवताः।
पलायिताश्च तस्माद्धि तत्प्रभावाच्च श्वानवत्॥४२८॥

अर्थ-"श्वेताम्बर यतियों के आराधन किये हुए समस्त देवतागण सरस्वती के प्रभाव से पलायमान हो गये जिससे उनका समस्त अभियान मिट्टी में मिल गया॥४२८॥"

इस अनुवाद में 'श्वानवत्' पद का कोई अर्थ नहीं दिया गया, जो कि पलायमान से पहले 'कुत्तों की तरह' ऐसे रूप में दिया जाना चाहिए था। जान पड़ता है अनुवादकजी को देवताओं के लिये ग्रन्थकार की यह कुत्तों की उपमा पसंद नहीं आई और इसलिये उन्होंने इस पद का अर्थ ही छोड़ दिया है! साथ ही, 'जिससे उनका समस्त अभिमान मिट्टी में मिल गया' यह वाक्य अपनी तरफ से जोड़ दिया है, जिसे अनुवादक की चित्तवृत्ति का एक रूप कहना चाहिए! मूल में इस अर्थ का द्योतक कोई भी शब्द नहीं है! इसी तरह का एक मूलबाह्य वाक्य पृष्ठ ९५ पर श्लोक नं० ४१२ के अर्थ में भी जोड़ा गया है, जो इस प्रकार है-

"और श्वेताम्बर यतियों के वस्त्र आकाश में उड़ा देने से (मंत्रद्वारा भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी के उड़ा देने से) उनको बड़ा ही नीचा देखना पड़ा।"

इसके सिवाय, 'केवलाभिधयुक्तानां' पद का जो अर्थ 'श्वेताम्बर' किया गया है वह मूल की ('नाम मात्र के' की) स्पिरिट से बहुत कुछ हीन है-ग्रन्थकार ने जिस विशेषण के साथ उन यतियों का उल्लेख किया है उसका ठीक द्योतन नहीं करता! और इसलिये उक्त अर्थ त्रिदोषयुक्त है।

(२) पृष्ठ २१६ पर के प्रथम सात श्लोकों में से जिस प्रकार अनुवादक महाशय ने 'कर्मदहनव्रतस्य फलं शृणु समाधिना' इत्यादि श्लोक नं० १७८ का अर्थ बिल्कुल ही नहीं दिया है, और जिसका परिचय 'कुछ विलक्षण और विरुद्ध बातें' नाम प्रकरण में नं० १ पर दिया जा चुका है, उसी प्रकार निम्न श्लोक का भी अर्थ नहीं दिया है-

प्राप्स्यति कां गतिं सैव तत्सर्वं कथयाम्यहं।
द्वादशानां गणानां तु दृढश्रद्धाय केवलम्॥१८०॥

यह श्लोक इतना सरल है कि इसका अर्थ देने में कुछ भी दिक्कत नहीं हो सकती थी, परन्तु जान पड़ता है अनुवादक जी के सामने इसके 'द्वादशानां गणानां' इन पदों ने कुछ उलझन पैदा कर दी है, क्योंकि उनके परममान्य पं० चम्पालाल जी ने चर्चासागर की १६वीं चर्चा में 'गण' का अर्थ 'गणधर' सूचित किया है और उनके भाई पं० लालारामजी ने उसकी टिप्पणी में 'गणान्प्रति' का अर्थ 'गणधरों के प्रति' करके उसको पुष्ट किया है, इसलिये यदि यहाँ 'गणानां' का अर्थ वही 'गणधरों का' किया जाता और कहा जाता कि 'वह (कर्मदहन व्रत का अनुष्ठान करने वाला) किस गति को प्राप्त होगा उस सब का मैं बारह गणधरों की केवल दृढ़ श्रद्धा के लिये कथन करता हूँ तो वह जैन शास्त्रों के विरुद्ध पड़ता, क्योंकि जैन शास्त्रों में भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर माने गये हैं, बारह नहीं। और यदि 'समूहों का' अर्थ किया जाता और उसका आशय द्वादश सभा स्थित जीवों का लिया जाता तो वह उनके भाई तथा मान्य पं० चम्पालालजी के ही विरुद्ध नहीं बल्कि खुद उनके भी विरुद्ध पड़ता, क्योंकि उन्होंने भी इस ग्रन्थ में पृष्ठ ३७८ पर 'गणाः' का अर्थ 'गणधर देव' किया है! इसी उलझन के कारण शायद आपने इस श्लोक का अर्थ छोड़ दिया है! यह कितनी निरंकुशता और मायाचारी है!!

(३) पृष्ठ २५१ पर ग्रन्थकार ने सिद्धों का वर्णन करते हुए उनका एक विशेषण 'पंचवर्णविराजिता' दिया है, अनुवादक ने इसका भी कोई अर्थ नहीं दिया! इसी तरह 'निरागमा' आदि और भी कई विशेषणपदों का अर्थ छोड़ दिया है! इस पृष्ठ पर के श्लोक का अर्थ कितना बेढंगा और बेसिलसिले किया गया है वह सब देखने से ही सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार की निरंकुशता न्यूनाधिकरूप में प्रायः सर्वत्र पाई जाती है।

(४) पृष्ठ ३२ पर एक श्लोक निम्न प्रकार से दिया है–

धनान्धास्ते गृहे स्वस्य दासीदासान्कुलोज्झितान्।
रक्षयिष्यक्ति पानार्थं न्यादार्थं च खलाशयाः॥१२३॥

इसका सीधा-सादा अर्थ इतना ही होता है कि "वे धन से अन्धे हुए दुष्टाशय लोग अपने घर पर भोजनपान के लिये अकुलीन दासीदासों को रखेंगे।" परन्तु अनुवादक जी ने जो अर्थ दिया है वह इस प्रकार है–

अर्थ–"हे राजन् पंचमकाल में धनिक लोग अपने धन के मद में अंधे होकर विचाररहित हो जायेंगे, जिससे वे अपने गृह में नीच और अकुलीन नौकर-चाकरों को रखेंगे और उनके हाथ से भोजनपान करेंगे। जिस समय कुसंगति या कुशिक्षा से धनवान् लोगों की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, उस समय उनका विचार भी गंदा हो जाता है। उन्हें हिताहित का विवेक नहीं रहता, जिससे धर्म और सदाचार की पवित्र मर्यादा का विचार न कर अपने घर में नीच मनुष्यों को (दासदासी) रखकर उनके

हाथ का भोजन करने लग जाते हैं। नीच मनुष्यों के हाथ का भोजनपान करना धर्मशास्त्र की पवित्र आज्ञा से विरुद्ध है और सदाचार का लोप करने वाला है। जो लोग नीच मनुष्यों के हाथ का भोजनपान करते हैं, वे जैन नहीं हैं। उनके धर्म की श्रद्धा नहीं है। अतएव वे नाम मात्र के ही जैन हैं॥१२३॥ ''

पाठकजन! देखा, कितना मूलबाह्य यह अर्थ किया गया है! इसमें 'हे राजन् पंचमकाल में' ये शब्द तथा 'जिस समय' से लेकर 'जैन है' तक का सारा कथन अपनी तरफ से बढ़ाया गया है और उसे श्लोक नं० १२३ का अर्थ सूचित किया गया है!! इतने पर से भी अनुवादक की तृप्ति नहीं हुई तब इसी श्लोक में नीचे के अर्थ की और भी वृद्धि की गई है, और इसलिये १२३ नम्बर निम्न अर्थ के बाद दिया जाना चाहिए था, ऊपर गलती से दे दिया गया है।

''जो लोग अपवित्र साधनों के साथ समुद्रयात्रा कर नीच लोगों के हाथ का अपवित्र और अभक्ष्य भोजन कर अपने को सम्यग्दृष्टि बतलाते हैं वे श्री जिनेन्द्र देव के आगम के श्रद्धानी नहीं हैं। तथा जो लोग ऐसे नीच पुरुषों के हाथ का भोजन कर अपने को पंचअणुव्रतधारी बतलाते हैं वे बनावटी जैनी हैं।''

इस अंश की समुद्रयात्रा आदि बातों का मूल में कहीं भी कुछ पता नहीं है। यह अंश बैरिस्टर चम्पतरायजी जैसों को लक्ष्य करके लिखा गया है, जिन्होंने पंचअणुव्रत धारण किये थे और जो समुद्रयात्रा कर विलायत जाते हैं!! मूल के नाम पर कितना बेहूदा और नीच यह आक्रमण है!!!

इसके बाद भोजनपानादि सम्बन्धी कार्यों के लिये शूद्रों को घर पर रखने वाले श्रावकों को श्रावक न बताकर शूद्र समान बताने वाले श्लोक नं० १२४[४७] का अर्थ थोड़ी-सी गड़बड़ को लिए हुए देकर अगले पूरे एक पेज पर उसका 'भावार्थ' दिया है और उसमें बहुत-सी गड़बड़ मचाई गई है-जैन सिद्धान्त के विरुद्ध मुनियों को भोजनपान के समय सातवां गुणस्थान बतलाया है! शूद्रों के हाथ का भोजन करने वालों को 'जैनधर्म से रहित' करार दिया है, जबकि खुद शूद्र लोग व्रतों का पालन और क्षुल्लकादि पद को धारण कर उत्तम धर्मात्मा बनते हैं!! और मुसलमान, भंगी, चमार तथा म्लेच्छादि को जैनी बनाकर उनके साथ भोजन तथा विवाह करने वालों को जैन मत की आज्ञा से पराङ्मुख बतलाया है और इस विधान के द्वारा उन जैन चक्रवर्ती राजाओं को, जिनमें तीर्थंकर भी शामिल हैं, तथा वसुदेव जी और सम्राट् चन्द्रगुप्त जैसो को जैनधर्म से बहिर्भूत ठहराया है, जिन्होंने म्लेच्छ कन्याओं से विवाह किये थे!!!

(५) पृष्ठ ३७ पर दिया हुआ एक श्लोक इस प्रकार है-

शूद्रश्रावकभेदो हि दृश्यते व्रतपालनात्।
शूद्रोऽपि श्रावको ज्ञेयो निर्व्रतः सोऽपि तत्समः॥१३६॥

इसका खुला अर्थ यह है कि ''शूद्र और श्रावक का भेद व्रतपालन से स्पष्ट होता है। व्रतों का

---

४७. यह श्लोक पिछले लेख में 'शूद्र जलादि के त्याग का अजीब विधान' इस उपशीर्षक के नीचे दिया गया है और वहीं पर इसके मूलविषय का विचार किया गया है।

पालन करता हुआ शूद्र भी श्रावक है और व्रतरहित श्रावक को भी शूद्र समान समझना चाहिए।''

इस सीधे-साधे और स्पष्ट अर्थ को भी अपने मायाजाल के भीतर छिपाकर लोगों की आंखों में धूल डालने का अनुवादक महाशय ने कैसा जघन्य प्रयत्न किया है वह उनके निम्न अनुवाद (अर्थ) पर से सहज ही में समझा जा सकता है।

अर्थ—''शूद्र और श्रावक में यदि भेद है तो इतना ही है कि शूद्र के सोलह संस्कार के अभाव से व्रतों का पालन-भोजनपान आदि धार्मिक क्रियाओं का पालन नहीं होता है और श्रावकों में होता है। जो श्रावक अपने भोजनपान आदि धार्मिक व्रत क्रियाओं को भूल जावे- नहीं करे तो वह शूद्र के समान ही है॥१३६॥''

इसमें शूद्र के सोलह संस्कार के अभाव आदि की बात को अनुवादक जी ने बिल्कुल अपनी तरफ से जोड़ा है और 'व्रतपालनात् शूद्रोऽपि श्रावको ज्ञेयो' इन शब्दों के आशय को आप बिल्कुल ही उड़ा गये हैं!! अपने इस अर्थ के द्वारा आप यह प्रतिपादन करना चाहते हैं कि शूद्र व्रती नहीं हो सकता! परन्तु यह जैन शास्त्रों की आज्ञा और शिक्षा के बिल्कुल विरुद्ध है-जैन शास्त्र शूद्रों के श्रावकीय व्रतपालन के उदाहरणों से भरे पड़े हैं और उनमें शूद्रों के लिये क्षुल्लकादि रूप से उत्कृष्ट श्रावक होने का ही विधान नहीं है बल्कि सोमदेवसूरि के निम्न वाक्यानुसार मुनिदीक्षा तक का विधान पाया जाता है-

दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चतुर्थश्च विधोचित:।
मनोवाक्कायधर्माय मता: सर्वेऽपि जन्तव:॥ -यशस्तिलक

इसके सिवाय सागारधर्मामृत में भी 'शूद्रोऽप्युपस्कराचार वपु: शुद्ध्याऽस्तु तादृश:' इत्यादि वाक्य के द्वारा शूद्रों को ब्राह्मणादि की तरह धार्मिक क्रियाओं का पूरा अधिकार दिया गया है और उक्त वाक्य की निम्न प्रस्तावना में उनके आहारादि की शुद्धि का भी स्पष्ट विधान किया गया है-

''**अथ शूद्रस्याप्याहारशुद्धिमतो ब्राह्मणादिवद् धर्मक्रियाकारित्वं यथोचितमनुमन्यमान: प्राह-**''

फिर ब्रह्मचारी जी अथवा क्षुल्लक जी महाराज का यह कहना कैसे ठीक हो सकता है कि ''शूद्र के व्रतों का पालन भोजनपान आदि धार्मिक क्रियाओं का पालन नहीं होता है''? उन्होंने तो स्वयं पृष्ठ ३८० पर लिखा है कि ''नगर के समस्त नर नारी गण ने इस कर्मदहन व्रत को यथोक्त विधि से धारण किया।'' नगर के समस्त नर नारी गण में शूद्र भी आ गये। जब शूद्रों ने यथोक्त विधि से कर्मदहन व्रत का पालन किया तब फिर व्रतों के पालन और भोजनशुद्धि की वह बात ही कौन सी रह जाती है, जिसका अनुष्ठान शूद्र न कर सकता हो! सत् शूद्र तो मुनियों को आहार तक दे सकता है और खुद मुनि भी हो सकता है।[४८]

४८. प्रवचनसार की जयसेनाचार्यकृत टीका में सत्शूद्र के जिनदीक्षा लेने का विधान इस तरह से किया गया है-''एवं गुणविशिष्ट पुरुषो जिनदीक्षाग्रहणे योग्यो भवति। यथायोग्यं सच्छूद्राद्यपि।''

खुद ग्रन्थकार ने तो उक्त श्लोक के अनन्तर ही यहाँ तक लिखा है कि जैनधर्म को पालन करता हुआ श्वपच (चाण्डाल) भी श्रावकोत्तम (क्षुल्लक आदि) माना गया है, कुत्ता भी व्रत के योग से देवता हो जाता है तथा एक कीड़ा भी लेशमात्र व्रत के प्रसाद से उत्तम गति को प्राप्त होता है, और एक दूसरे स्थान पर मातङ्गादिक के कर्मदहन व्रत के अनुष्ठान से सुख पाने का उल्लेख किया है[४९] तब क्या क्षुल्लक जी के न्यायालय में शूद्र की पोजीशन श्वपच, मातङ्ग, कुत्ते और कीड़े से भी गई बीती है जो ये सब तो व्रत का पालन कर सकें, परन्तु शूद्र न कर सकें? शूद्रों के प्रति घृणा और द्वेष की भी हद हो गई!! खेद है कि ग्रन्थकार ने तो शूद्रों के साथ इतना ही अन्याय किया था कि उनके व्रती एवं शुद्धाचरणी होने पर भी उनके हाथ के भोजनपान को निषिद्ध ठहराया था, परन्तु अनुवादक जी ने चार कदम आगे बढ़कर मिथ्या और विपरीत अनुवाद के द्वारा उनके व्रतपालन अथवा धार्मिक क्रियापालन के अधिकार को ही हड़पना चाहा है!! इस मायाचारी और कपटकला का भी कुछ ठिकाना है!! ऐसे ही प्रपञ्चमय अनुवादों के कारण मैंने इस ग्रन्थ को ''एक तो करेला और दूसरे नीम चढ़ा'' की कहावत को चरितार्थ करने वाला बतलाया है।

अनुवादक जी की नसों में जातिभेद और जातिमद का कुछ ऐसा विषम विष समाया है कि एक स्थान पर तो (पृष्ठ ६ के फुटनोट) वे यहाँ तक लिख गये हैं कि ''जाति, कुल अनादिनिधन हैं, और उनका सम्बन्ध नीच ऊँच गोत्र से है। ऐसा नहीं है कि जिसका रोजगार (धन्धा) ऊँचा वह ऊँच और जिसका धन्धा नीचा वह नीच हो।'' और इसके द्वारा वे अनजान में अथवा मूर्छित अवस्था में यह सुझा गये हैं कि एक वैश्यादि ऊँच जाति का जैनी यदि भंगी, चमार, खटीक, चाण्डाल अथवा कसाई का भी धन्धा करने लगे तो भी वह ऊँच ही रहेगा नीच नहीं होने पायेगा। और एक सत्शूद्र जैनी बारह व्रतों का उत्तम रीति से पालन करता हुआ तथा क्षुल्लक के पद पर विराजमान होता हुआ भी 'अपने शरीर की स्थितिपर्यन्त' नीच ही रहेगा ऊँच नहीं हो सकेगा!! धन्य है आपके इस ऊँच नीच के सिद्धान्त को!!! जैनाचार्यों ने तो–

''चातुर्वर्ण्यं तथान्यच्च चाण्डालादिविशेषणं।
सर्वमाचारभेदेन प्रसिद्धं भुवने गतम्''॥

''अनार्यमाचरन् किंचिज्जायते नीचगोचरः''। –पद्मचरिते, रविषेणः।

''आचारमात्रभेदेन जातीनां भेदकल्पनम्।
न जातिर्ब्राह्मणीयास्ति नियता कापि तात्त्विकी''॥

''गुणैः सम्पद्यते जातिर्गुणध्वंसैर्विपद्यते''॥ –धर्मपरीक्षायां, अमितगतिः।

''वृत्तिभेदा हि तद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते''॥ –आदिपुराणे, जिनसेनः।

इत्यादि वाक्यों के द्वारा आचारभेद, गुणभेद अथवा वृत्ति (धंधा) भेद के कारण जाति भेद को

---

४९. इन कथनों के सूचक वाक्य 'कर्मसिद्धान्त की नई ईजाद' नामक उपशीर्षक के नीचे उद्धृत किये जा चुके हैं।

कल्पित माना है और नीच उसे बतलाया है जिसका आचरण अनार्य हो। और स्वामी समन्तभद्र ने तो ''यो लोके त्वा नतः सोऽतिहीनोऽप्यति गुरुर्यतः'' इत्यादि वाक्य के द्वारा यह सूचित और घोषित किया है कि 'नीच से नीच कहा जाने वाला मनुष्य भी जैनधर्म को धारण करके इसी लोक में अति उच्च बन सकता है[५०]। तब अनुवादक जी जाति और कुल की अनादिनिधनता के स्वप्न देख रहे हैं! और शूद्रमात्र का घोर तिरस्कार कर रहे हैं!! इससे पाठक समझ सकते हैं कि जैनाचार्यों के वाक्यों की अवहेलना करते हुए जैनधर्म के दायरे से कितने अधिक बाहर जा रहे हैं!!!

(६) पृष्ठ ३७७ पर एक श्लोक निम्न प्रकार से दिया है, जिसके मूलअर्थ का विचार 'कर्म सिद्धान्त की नई ईजाद' नामक उपशीर्ष नीचे किया जा चुका है–

म्लेच्छोत्पन्ना नरा नार्यः मृत्वा हि मगधेश्वर।
भवन्ति व्रतहीनाश्च इमे वामाश्च मानवाः॥१७५॥

इसमें साफ तौर पर यह कहा गया है कि ''हे मगधेश्वर! म्लेच्छों से उत्पन्न हुए स्त्री पुरुष मरकर निश्चय से व्रतहीन मनुष्य स्त्री पुरुष होते हैं''। इस सीधे सादे स्पष्ट अर्थ के विरुद्ध अनुवादक जी ने जो अद्‌भुत लीला रची है और जो प्रपंचमय अर्थ किया है, अब उसे भी देखिये! वह इस प्रकार है–

''अर्थ–जिनके यहाँ पुनर्विवाहादि मलिन आचरण है, जिनको उत्तम व्रत धारण करने की योग्यता ही नहीं प्राप्त होती है, उनको म्लेच्छ व शूद्र कहते हैं। शूद्रों को शीलव्रत किसी तरह भी पालन नहीं हो सकता है। क्योंकि उनके यहां उनकी जाति में पुनर्विवाह होता है। पुनर्विवाह व्यभिचार है। व्यभिचार करने वालों के शीलव्रत हो ही नहीं सकता है। शीलव्रत के अभाव से अन्य व्रतों का पालन भी परिपूर्ण नहीं होता है। अतएव ऐसे जीव मरकर व्रतविहीन होते हैं।''

पाठकजन! देखा, कितना मूलबाह्य यह सब अर्थ है! और कैसी निरंकुशता से काम लिया गया है!! इस सारे अर्थ में ''मरकर व्रतविहीन होते हैं'' इन अन्तिम शब्दों के सिवाय और कोई भी बात मूल के शब्दों से सम्बन्ध नहीं रखती!!! और इसलिये उसे अनुवादक जी के विचित्र अथवा विकृत मस्तिष्क की ही एक उपज कहना चाहिए! उन्हें इतनी भी समझ नहीं पड़ी कि लोग मेरे इस साक्षात् झूठ पर कितना हंसेंगे और मेरे इस ब्रह्मचारी वेष तथा सत्यव्रत का कितना मखौल उड़ायेंगे! क्या मस्तिष्क-विकार के कारण उन्होंने यह समझ लिया था कि मेरे इस अनुवाद को कोई संस्कृत जानने वाला पढ़ेगा ही नहीं? परन्तु संस्कृत जानने वाले को छोड़िये, साधारण हिन्दी जानने वाला भी यदि मूल के साथ इस अर्थ को पढ़े तो वह इतना तो समझ सकता है कि मूल में पुनर्विवाह, शूद्र, शीलव्रत और व्यभिचार जैसी बातों का कोई उल्लेख नहीं है उसका नाम, निशान और पता तक भी नहीं है। धन्य है आप के इस अद्‌भुत साहस को! 'चे मर्दाना अस्त दुजदे कि बकफ़ चिराग़ दारद[५१]!!'

---

५०. विशेष जानने के लिये देखो, 'अनेकान्त' किरण १ ली, २ री पृष्ठ ११,१२ तथा ११५ आदि

५१. क्या ही मर्दाना चोर है कि हाथ में चिराग लिये हुए है!!

इस अर्थ तथा पिछले नम्बर में दिये हुए अर्थ पर से शूद्रों के प्रति अनुवादक जी की चित्तवृत्ति का अच्छा खासा परिचय मिल जाता है और यह मालूम हो जाता है कि वे किस तरह की खींचातानी करके और कपटजाल रचकर अपने विचारों को जनता के ऊपर लादना चाहते हैं। परन्तु जो लोग जैन शास्त्रों का थोड़ा-सा भी बोध रखते हैं वे म्लेच्छ और शूद्र के भेद को खूब समझते हैं, शूद्र को आर्य जानते हैं -म्लेच्छोत्पन्न नहीं और दोनों को ही श्रावक के बारह व्रतों के पालन का अधिकारी मानते हैं। उनके गले यह बात नहीं उतर सकती कि शूद्र बारह व्रतों का पालन करता हुआ भी शीलव्रत का पालन नहीं कर सकता-वह तो उन्हीं व्रतों में एक व्रत है। और न यही गले उतर सकती है कि व्यभिचार करने वाला कभी शीलव्रती हो ही नहीं सकता। चारुदत्तादि कितने ही महाव्यभिचारियों का तो पीछे से इतना सुधार हुआ है और वे इतने पूरे ब्रह्मचारी एवं धर्मात्मा बने हैं कि बड़े बड़े आचार्यों को भी उनकी प्रशंसा में अपनी लेखनी को मुक्त करना पड़ा है। फिर भी यहाँ अनुवादक जी की आँखें खोलने के लिये दो ऐसे स्पष्ट प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं जिनमें पूजक के दो भेदों में से आद्यभेद नित्यपूजक का स्वरूप बतलाते हुए और उसमें शूद्र का भी समावेश करते हुए शूद्र को भी 'शीलवान्' तथा 'शीलव्रतान्वित' होना लिखा है बाकी दृढ़व्रती, दृढ़ाचारी और शोचसमन्वित होने की बात अलग रही-

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वाऽद्यः सुशीलवान्।
दृढव्रतो दृढाचारः सत्यशौचसमन्वितः॥१७॥
-पूजासार।

ब्राह्मणादिचतुर्वर्ण्य आद्यः शीलव्रतान्वितः।
सत्यशौचदृढाचारो हिंसाद्यव्रतदूरगः॥९-१४३॥
-धर्मसंग्रहश्रावकाचार।

यहाँ पर मुझे अनुवादक जी के प्रतिपाद्य विषय की कोई विशेष आलोचना करना इष्ट नहीं है। उनकी निरंकुशता और उसके द्वारा घटित अनर्थ का ही कुछ दिग्दर्शन कराना है। इसलिये इस विषय में अधिक कुछ लिखना नहीं चाहता। हाँ, इतना जरूर कहना चाहता हूँ कि अनुवादक जी ने यह लिखकर कि जिनकी जाति में पुनर्विवाह होता है, उनके शीलव्रत का किसी तरह भी पालन नहीं हो सकता, एक बड़ा ही अनर्थ घटित किया है, और वह यह कि इससे उन्होंने अपने गुरु आचार्य शांतिसागर जी के ब्रह्मचर्य को भी सशंकित बना दिया है, क्योंकि उनकी जाति में विधवा विवाह होता है। तब शिष्य की दृष्टि में आचार्य महाराज शीलव्रती भी नहीं ठहर सकते!! पूर्णब्रह्मचारी होने को तो बात ही दूर है!!! वाह! शिष्य की यह कैसी विचित्र लीला है जिस पर आचार्य महाराज मुग्ध हैं!!!

(७) तेरहपंथियों से झड़प के समय भगवान् के मुख से एक वाक्य निम्न प्रकार कहलाया गया है, जिसमें लिखा है कि 'हे मगधेश्वर! ग्रन्थों का लोप करने के पाप से वे सब श्रावक निश्चय ही नरक में जायेंगे।

ग्रन्थलोपजपापेन ते च श्राद्धानिकाः खलु।
नरकावनौ च यास्यन्ति सर्वे हि मगधेश्वर॥६८३॥

इस वाक्य के द्वारा शुद्धाम्नाय के संरक्षकों एवं तेरहपन्थ के प्रसिद्ध विद्वान् पं० टोडरमल जी आदि के विरुद्ध (जिन्होंने भट्टारकीय साहित्य के कुछ दूषित ग्रन्थों को अप्रमाण ठहराया था) नरक का फतवा निकालकर अथवा उन ग्रन्थों को न मानने वाले सभी तेरह-पंथियों के नाम नरक का फर्मान जारी करके ग्रन्थकार ने अपने संतप्त हृदय का बुखार निकाला था। अन्यथा, किसी ग्रन्थ को सदोष जानकर उसके मानने से इन्कार करने में नरक का क्या सम्बन्ध? नरकायु के आस्रव का कारण तो बहुआरम्भ और बहुपरिग्रह को बतलाया गया है। परन्तु अनुवादक जी को उन्हें केवल नरक भेजना काफ़ी मालूम नहीं दिया और इसलिये उन्होंने अर्थ देते हुए उसके साथ में उनके निगोद जाने की बात और जोड़ दी है! और फिर इतने पर से भी तृप्त न होकर इस पर जो मग़जी चढ़ाई है-इसके 'ग्रन्थलोपजपापेन' पद पर जो नोट रूप गोट लगाई है, वह इस प्रकार है-

''ग्रन्थों को असत्य ठहराना माने ग्रन्थों का लोप करना है। इसके समान संसार में अन्य पाप नहीं है। आगम की सत्यता व प्रामाणिकता सर्वज्ञ प्रभु की सत्यता पर निर्भर है। सर्वज्ञ प्रभु वीतराग, त्रिकाल में उनकी प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध है। जो मनुष्य सर्वज्ञ के वचनों में अपनी दुष्ट बुद्धि की कल्पना से असत्यता प्रकट कर प्रामाणिकता नष्ट करे तो वह आगम का या ग्रन्थ का लोपी है। उसके न तो आगम की श्रद्धा है और न सर्वज्ञ प्रभु की। ऐसी अवस्था में वह अपनी इंद्रियजनित बुद्धि को ही कुत्सित तर्क और अनुमानजनित विचार से स्थिर रखकर शास्त्रों की मिथ्या आलोचना कर पाप का भागी बनता है। कितने ही ढोंगी-जिनधर्म की श्रद्धा से रहित जैन सुधारक-मिथ्यात्व के उदय से शास्त्र और गुरुओं की मिथ्या समालोचना करते हैं, सत्य शास्त्रों में अवर्णवाद लगाकर सर्वज्ञ प्रभु के आगम को असत्य ठहराना चाहते हैं। उनको संस्कृत प्राकृत का ज्ञान नहीं है, आगम का श्रद्धान नहीं है। अपने आप श्रावक बनकर ब्रह्मदत्त के समान प्रत्यक्ष में पतित होते हैं।''

पाठकजन! देखा, ग्रन्थसामान्य अथवा ग्रन्थमात्र को आगम के साथ और सर्वज्ञ के साथ जोड़कर अनुवादक महाशय ने यह कैसा गोलमाल करना चाहा है, कैसा मायाजाल रचा है और उसमें भोले भाइयों को फंसाकर उन्हें अंधश्रद्धालु बनाने का कैसा जघन्य यत्न किया है! क्या त्रिवर्णाचारों जैसे ग्रन्थ, भद्रबाहुसंहिता जैसे ग्रन्थ, उमास्वामि-श्रावकाचार जैसे ग्रन्थ, चर्चासागर जैसे ग्रन्थ और सूर्यप्रकाश जैसे ग्रन्थ आगम ग्रन्थ हैं? सर्वज्ञ भगवान् के कहे हुए हैं? यदि नहीं, तो फिर ऐसे ग्रन्थों की आलोचना से और उसके अप्रामाणिक ठहराये जाने से विचलित होने की क्या जरूरत है? क्या खास सर्वज्ञ की मुहर लगे हुए कोई ग्रन्थ हैं, जिनकी परीक्षा अथवा आलोचना न होनी चाहिए? यदि नहीं-प्रत्युत इसके ऐसे उल्लेख भी मिलते हैं कि 'भ्रष्टचारित्र पंडितों और वठरसाधुओं ने (धूर्त मुनियों

ने) निर्मल जैन शासन को मलिन कर दिया है[५२] तो फिर जिज्ञासु सत्पुरुषों के लिये परीक्षा के सिवाय और दूसरा चारा (उपाय) ही क्या हो सकता है? अथवा क्या ऐसी नकली मुहर भी सर्वज्ञ की मुहर होती है जैसी कि इस सूर्यप्रकाश पर लगाई गई है? और सर्वज्ञ ने कहा ही कब है कि मेरे वचनों की जांच अथवा परीक्षा न की जाये? सर्वज्ञों का शासन कोई अन्धश्रद्धा का शासन नहीं होता। उसमें तो परीक्षकों के लिये खुला चैलेन्ज रहता है कि वे आएं और परीक्षा करें। इसी में उनका और शासन का महत्त्व है। समन्तभद्र जैसे महान् आचार्यों ने तो खुद सर्वज्ञ की भी परीक्षा की है, फिर उनके नाम की मुहर लगे ग्रन्थों की तो बात ही क्या है ? परीक्षा और समालोचना का मार्ग सनातन से चला आया है। जिस समय दिगम्बर और श्वेताम्बर संघ भेद हुआ था, उस समय दिगम्बर महर्षियों ने श्वेताम्बराचार्यों द्वारा संकलित आगम ग्रन्थों को अप्रामाणिक और अमान्य ठहराया था। इस अप्रामाणिकता और अमान्यता के द्वारा उन्होंने जो आगम ग्रन्थों के लोप का प्रयत्न किया तो क्या इससे वे महर्षिगण नरक निगोद के पात्र हो गये? और उन ग्रन्थों को अमान्य करार देने वाला सारा दिगम्बर समाज भी क्या नरक निगोद में पड़ेगा? इस पर भी अनुवादक जी ने कुछ विचार किया है या यों ही अनाप-सनाप लिख गये? इसके सिवाय, इसी ग्रन्थ में तेरहपन्थियों के ग्रन्थों के विरुद्ध कितना ही जहर उगला गया है-उनमें जो पञ्चामृत अभिषेक आदि का निषेध किया गया है, उसकी असभ्यातापूर्ण कड़ी आलोचना की गई है और इस तरह उन ग्रन्थों के लोप का प्रयत्न किया है, तब क्या अनुवादक जी इस ग्रन्थलोपज पाप के कारण ग्रन्थकार को और खुद अपने को भी नरक निगोद भेजने के लिए तैयार हैं? यदि नहीं, तो फिर इस व्यर्थ के शब्दजाल से क्या नतीजा है?

क्या असत्य ग्रन्थों को असत्य ठहराने में भी कोई पाप है? झूठ, जाली, मिथ्यात्वपूरित एवं धूर्तों के रचे हुए विषमिश्रित भोजन के समान धर्मप्राणों का हरण करने वाले इन त्रिवर्णाचारादि जैसे अहितकारी ग्रन्थों का तो जितना भी शीघ्र लोप हो जाये उतना ही अच्छा है। जैन साहित्य के कलंक रूप ऐसे ग्रन्थों का वास्तविक स्वरूप प्रकट करके उनके लोप में जो कोई भी मदद करता है वह तो जैनशासन की, जैनागम की, जैनाचार्यों की अथवा यों कहिये कि सत्यार्थ आप्त-आगम-गुरुओं की सच्ची सेवा करता है। सत्य के लिए आलोचना और परीक्षा की कोई चिन्ता नहीं होती। जिसके पास शुद्ध और खालिस सुवर्ण है वह इस बात से कभी नहीं घबराता कि उसके सुवर्ण को कोई घिसकर, छेदकर अथवा तपाकर देखता है। प्रत्युत इसके, जिसके पास खोटा माल है अथवा जाली सिक्का है वह सदा उसके विषय में सशंकित रहता है और कभी उसे खुली परीक्षा के लिए देना नहीं चाहता। यही वजह है जो प्राचीन एवं महान् आचार्यों ने कभी परीक्षा का विरोध नहीं किया, वे बराबर डंके की चोट यही कहते रहे कि खूब अच्छी तरह से परीक्षा करके धर्म को ग्रहण करो, अन्धश्रद्धालु मत बनो, क्योंकि उन्हें अपने धर्मसिद्धान्तों की असलियत एवं सत्यता पर पूरा विश्वास था और वे समझते

५२. पंडितैर्भ्रष्टचारित्रैः वठरैश्चतपोधनैः।
शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम्॥

थे कि जो बात परीक्षापूर्वक ग्रहण की जाती है उसमें दृढ़ता एवं स्थिरता आती है और उसके द्वारा विशेषरूप से कल्याण सध सकता है।

परन्तु भ्रष्ट एवं शिथिलाचारी भट्टारकों और उनके पंडे-पोपों अथवा अनुयायियों ने चूँकि अपने लौकिक स्वार्थों की सिद्धि के लिये ग्रन्थों में बहुत कुछ मिलावट की है और अपने जाली सिक्कों को तीर्थंकरों तथा प्राचीन ऋषियों के नाम से चलाना चाहा है, इसलिये ''पापाः सर्वत्र शंकिताः'' की नीति के अनुसार उन्हें बराबर इस बात की चिन्ता और भय रहा है कि कहीं उनका यह कपट प्रबन्ध किसी पर खुल न जाये, और इसी से वे अनेक प्रकार के उपदेशों आदि द्वारा ऐसी रोकथाम करते आये हैं, जिससे लोग तुलनात्मक पद्धति से अध्ययन कर ग्रन्थों की परीक्षा में प्रवृत्त न हों, उन पर कुछ आपत्ति न करें और जो कुछ उनमें लिख दिया गया है उसे बिना 'चूं चरा' किये अथवा कान हिलाए चुपचाप मान लिया करें! और शायद यही वजह थी जो वे आमतौर पर गृहस्थों को ग्रन्थ पढ़ने के लिये प्रायः नहीं देते थे, उन्हें पढ़ने का अधिकारी नहीं बतलाते थे और खुद ही अपनी इच्छानुसार उन्हें ग्रन्थों की कुछ बातें सुनाया करते थे। यह सब तेरहपंथ के उदय का ही माहात्म्य है जो सबके लिये ग्रन्थों का मिलना इतना सुलभ हो गया है। इस ग्रन्थ में भी भट्टारक गुरुओं (जिनात्तपुरुषों) के मुख से ग्रन्थों के सुनने की प्रेरणा की गई है, जिसकी सीमा को बढ़ाते हुए अनुवादक जी ने यहाँ तक लिख दिया है कि ''ग्रन्थों का स्वाध्याय गुरुमुख से ही श्रवण करना चाहिए!!'' और उक्त श्लोक नं० ६८३ से ११ श्लोक आगे ही सम्यग्दर्शन का विचित्र लक्षण वाला वह श्लोक भी दिया है, जिसमें ग्रन्थकारों ने ग्रन्थों में जो कुछ लिख दिया है उसी के मानने को सम्यग्दर्शन बतलाया है! और जिसकी आलोचना 'कुछ विलक्षण और विरुद्ध बातें' नामक प्रकरण में नं० ६ पर की जा चुकी हैं।

खुद अनुवादक जी ने जानबूझ कर इस ग्रन्थ के अनुवाद में बहुत कुछ अर्थ का अनर्थ किया है और कितनी ही झूठी तथा निःसार बातें अपनी तरफ से मिलाई हैं, जैसा कि अब तक की और आगे की भी आलोचनाओं से प्रकट है। फिर वे इस बात को कैसे पसन्द कर सकते हैं कि कोई इस ग्रन्थ की समालोचना करे और उनके दोषों को दिखलाए। इन सब बातों को लेकर ही वे समालोचना के विरोधी बने हुए हैं! अपने उन वर्तमान गुरुओं की मानमर्यादा का भी उन्हें खयाल है, जिन्हें वे अपनी स्वार्थ-सिद्धि का साधन बनाये हुए हैं- उनकी समालोचना को भी वे नहीं चाहते। इसीलिये ग्रन्थों की समालोचना के प्रसंग पर गुरुओं की समालोचना को भी उन्होंने साथ में जोड़ दिया है। चूँकि इन दोनों की समालोचना का भय उन्हें सुधारकों की तरफ से ही है, इसी से वे सुधारकों के विरुद्ध उधार खाये बैठे हैं और उन्होंने सुधारकों को ''ढोंगी, जिनधर्म की श्रद्धा से रहित'' आदि कहकर उनके विरुद्ध कितनी ही बेतुकी बातें लिख डाली हैं! अन्यथा, उनके इस लिखने में कुछ भी सार नहीं है। और उनका यह सारा नोट बिल्कुल नासमझी, अविचार, द्वेषभाव और अनुचित पक्षपात को लिये हुए है।

(८) पृष्ठ १७१ पर एक श्लोक निम्न अर्थ के साथ दिया है-

दिव्यध्वनिमयी वाणी वीतरागमुखोद्भवा।
साप्यस्मिन्नास्ति भो भव्याः सर्वद्वापरखण्डका॥१०९॥

''अर्थ-साक्षात् तीर्थङ्कर केवली का अभाव होने से साक्षात् दिव्यध्वनि का भी अभाव है जिससे सर्व सन्देह दूर होता था। परन्तु पंचमकाल में जिनागम ग्रन्थों में वह दिव्यध्वनि आचार्यों की परम्परा से ग्रथित की है। जिनागम ग्रन्थों में केवली भगवान् को दिव्यध्वनि के सिवाय एक अक्षरमात्र भी स्वकल्पित नहीं है। न राग-द्वेष या प्रतिष्ठा कीर्ति आदि के गौरव से वीतराग योगियों ने उस दिव्यध्वनि में व्यतिक्रम किया है। इसलिए परमागम के शास्त्र सब दिव्यध्वनि रूप ही हैं। जो प्रामाणिकता-सत्यता और निर्दोषता दिव्यध्वनि की है वही प्रामाणिकता-सत्यता-निर्दोषता और अबाधता ग्रन्थों की है।''

इस अर्थ में पहला वाक्य तो मूल के अधिकांश आशय को लिये हुए है, बाकी 'परन्तु' से प्रारम्भ होकर अन्त तक का सारा अर्थ मूल के साथ कोई खास सम्बन्ध नहीं रखता-वह सब अनुवादक जी के द्वारा कल्पित किया और बढ़ाया गया है! इस बढ़े हुए अंश के द्वारा भी अनुवादक जी ने भोले भक्तों को फंसाने के लिये वही मायाजाल रचा है जिसका उल्लेख पिछले नम्बर (७) में किया जा चुका है। आप इसके द्वारा भोले भाइयों को जिनागम परमागम के भुलावे में डालकर और अंत को जैन कहे जाने वाले सब ग्रन्थों को एक आसन पर बिठलाकर उनके हृदयों पर यह सिक्का जमाना चाहते हैं कि भट्टारकीय साहित्य के इन त्रिवर्णाचारों तथा सूर्यप्रकाश जैसे ग्रन्थों में जो कुछ लिखा हुआ है वह सब भगवान् की दिव्यध्वनि में ही प्रकट हुआ है-एक अक्षर भी उससे बाहर का नहीं है, और इसलिए इन ग्रन्थों की सब बातों को मानना चाहिए। पाठकजन! देखा, अनुवादक जी का यह कितना असत्साहस, खोटा अभिप्राय तथा छलपूर्ण व्यवहार है और इसके द्वारा वे कैसी ठगविद्या चलाना चाहते हैं! और इस ग्रन्थ में, जिसे खुद अनुवादक जी ने 'ग्रन्थराज' (पृष्ठ ४०३) तथा 'जिनागम स्वरूप' (४०८) लिखा है और ऐसी जिनवाणी प्रकट किया है जो भगवान् महावीर के समय से अब तक ''वैसी ही अविच्छिन्न धाराप्रवाह-रूप चली आई है'' (४०३), भगवान् महावीर और उनकी वाणी की कैसी मिट्टी खराब की गई है, यह बात अब पाठकों से छिपी नहीं रही और इसलिये वे अनुवादक जी के उक्त शब्दों का मूल्य भले प्रकार समझ सकते हैं और उनकी लीला को अच्छी तरह पहचान सकते हैं। इस विषय के विशेष अनुभव के लिये उन्हें 'ग्रन्थपरीक्षा' के तीनों भाग और 'जैनाचार्यों का शासन-भेद' नाम की पुस्तक को भी देखा जाना चाहिए। फिर उनके सामने अनुवादकजी जैसों का ऐसा मायाकोट क्षणभर भी खड़ा नहीं रह सकेगा।

(९) पृष्ठ १३७, १३८ पर जैनधर्म का महत्त्व गिर जाने और उसकी न्यूनता का कारण बतलाते हुए तीन श्लोक निम्न प्रकार से दिये हैं-

ह्यस्त्यनन्तश्च संसारे पक्षः स्यात् यस्य दृश्यते।
महात्वत्वं च तस्यैव तद्ऋते अमहत्वता॥६३८॥

मित्रकाले च तस्यैव पालका धारका नृपाः।
प्रजाः सर्वा द्विजाः सर्वे अतः सर्वेषु भो बुधाः॥६३९॥
उत्तमता च ह्यस्यैव अन्यस्य न्यूनता खलु।
तद् ऋते ननु विज्ञेयं विपरीतस्य कारणम्॥६४०॥

इनमें सिर्फ इतना ही कहा गया है कि– ''संसार में जिस धर्म का पक्ष अनन्त है–बहुत अधिक जनता जिसके पक्ष में होती है–उसी का महत्त्व दिखलाई पड़ता है। प्रत्युत इसके–अधिक जनता पक्ष में न होने पर–महत्त्व गिर जाता है। चतुर्थकाल में इसी जैनधर्म के पालक धारक राजा थे, सारी प्रजा थी और सारे द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) थे, इसीलिये हे बुधजनों! सब धर्मों में इसी की उत्तमता थी–दूसरों की न्यूनता थी। उन सब राजा, प्रजा और द्विजों का जैन न रहना ही इस धर्म की न्यूनता का कारण है।''

इस सीधे सादे स्पष्ट अर्थ के विरुद्ध अनुवादक जी ने जो अर्थ दिया है, वह इस प्रकार है–

अर्थ–''हे राजन्, कलिकाल में इस संसार में जिसके पक्ष में बहुत–सी संख्या है वह अपना बल प्रकट करेगा, उसका महत्त्व प्रकट होगा। और जिनके पक्ष में संख्या स्वल्प है वे सर्वांग शक्तिशाली होने पर भी अपना महत्त्व प्रकट नहीं कर सकेंगे। अपना जैनधर्म यद्यपि संसार में सर्वोत्कृष्ट है, सर्वोत्तम है, पवित्र है, सदाचार से परिपूर्ण है, परन्तु राजाओं का पक्ष न रहने से कमजोर हो गया है। इसी प्रकार मुनिवर्ग का पक्ष जब से कम होने लगा है, तब से उसका महत्त्व छुपता जाता है। इसलिये जो लोग धर्म का महत्त्व प्रकट करना चाहते हैं उनको धर्मगुरुओं की आज्ञा शिरोधार्य कर धर्म के रहस्य जानने वाले सच्चे विद्वान् त्यागियों के पक्ष में रहकर अपने धर्म की रक्षा और वृद्धि करनी चाहिए। जो सुधारक मुनिगण और विद्वानों की सत्य और आगमोचित पक्ष को छोड़कर धर्म के बहाने अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं और धर्म की पवित्रता, विधवा–विवाह, जाति–पांति–लोप और विजातीय–विवाह आदि धर्म विरुद्ध कारणों से नष्ट करना चाहते हैं उनको विचार करना चाहिए कि इस प्रकार पक्षभेद करने से धर्म का सत्यानाश ही होगा, समुन्नति नहीं॥६३८॥''

–''चतुर्थकाल में इस जैनधर्म के प्रतिपालक राजा और ब्राह्मणादि सभी प्राणी थे। इसलिये इसका डंका सर्वत्र अविच्छिन्न रूप से बजता था॥६३९॥''

–''यह धर्म सर्वोत्कृष्ट है। त्रिलोक–पूजित है। और सर्वमान्य है। और धर्म इस (जैनधर्म) से सब बातों में अधम हैं। परन्तु जैनधर्म का पक्ष मुनियों के सदुपदेश के बिना समस्त जीवों को मिलना कठिन है। इसलिये इस जैनधर्म के पालन करने वालों की संख्या कम हो गई है। इसलिये मुनिधर्म और सच्चे आगम के जानकार विद्वानों की पक्ष को एकदम मजबूत बना देना चाहिए जिससे धर्म की विपरीतता नष्ट हो जाये।''

यह सब अर्थ (अनुवाद) मूल से कितना बाह्य और विपरीत है, उसे बतलाने की जरूरत नहीं! सहृदय पाठक सहज ही में तुलना करके उसे जान सकते हैं। ऐसे अनुवादों को अनुवाद नहीं कहा जा

सकता, ये तो पूर्वोल्लेखित अनुवादों की तरह अनुवादक जी की निरंकुशता के जीते जागते उदाहरण हैं! यहां पर मैं अपने पाठकों को सिर्फ इतना ही बतला देना चाहता हूं कि अनुवादक जी ने जैनियों अथवा पाक्षिक श्रावकों की संख्यावृद्धि की बात को गौण करके तथा राजा, प्रजा और द्विजों को जैनी बनाने की बात को भुलाकर इन श्लोकों के अर्थ के बहाने धर्मगुरुओं (भट्टारक-मुनियों) की आज्ञा को शिरोधार्य करने, उनकी तथा उनके आश्रित अपने जैसे त्यागी विद्वानों की पक्ष में रहने और उस पक्ष को मजबूत बना देने की प्रेरणारूप जो यह अप्रासंगिक तान छेड़ी है और सुधारकों पर बिना बात ही व्यर्थ का आक्रमण किया है वह सब भट्टारकीय मार्ग को निष्कंटक बनाने की उनकी एक मात्र धुन और चिन्ता के सिवाय और कुछ भी नहीं है-वे लुप्तप्राय भट्टारकीय मार्ग को पुनः प्रतिष्ठित कराकर उसे चलाना चाहते हैं! इसी से वे शान्तिसागर जैसे मुनियों के पीछे लगे हैं, उन्हें पक्षापक्षी की दलदल तथा सामाजिक रागद्वेष की कीच में फंसा रहे हैं और उनके सहयोग से इस 'सूर्यप्रकाश' जैसे भट्टारकीय साहित्य के ग्रन्थों का प्रचार कर रहे हैं!! फिर बेप्रसंग-बिना प्रसंग (मौके बेमौके)-ऐसी बेहयाई की बातें न करें तो क्या करें?

खेद है कि अपनी धुन में अनुवादक जी यह तो लिख गये कि ''मुनिधर्म का पक्ष जब से कम होने लगा तब से उसका महत्त्व छुपता जाता है'' परन्तु उन्हें यह समझ नहीं पड़ा कि मुनियों का पक्ष कम क्यों होने लगा! क्या मुनियों का पक्ष कम होने और उनका महत्त्व गिर जाने का उत्तरदायित्व भी गृहस्थों के ऊपर है?-मुनियों के ऊपर नहीं? कदापि नहीं। मुनियों में शिथिलाचार आ जाने और उनका आचरण मुनियों के योग्य न रहने के कारण ही उनका पक्ष एवं महत्त्व गिरा है। ''निजैरेव गुणैर्लोके पुरुषो याति पूज्यताम्'' की नीति के अनुसार हर एक मनुष्य अपने गुणों के कारण ही लोक में पूजा-प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है और जनता को अपने पक्ष में कर लेता है। एक महात्मा गाँधी ने अपने महान् गुणों के कारण ही संसार को हिला दिया और असंख्य जनता को अपने पक्ष में कर लिया। इससे स्पष्ट है कि मुनियों के पक्ष का गिरना और उनके महत्त्व का लुप्त हो जाना खुद उन्हीं की त्रुटियों तथा दोषों पर अवलम्बित है। ऐसी हालत में अनुवादक जी का, मुनियों को अपनी त्रुटियों तथा दोषों को सुधारने का उपदेश न देकर गृहस्थों को ही उनकी आज्ञा को शिरोधारण करने और उनकी पक्ष को मजबूत बनाने का उपदेश देना कहाँ का न्याय है? सिंहवृत्ति के धारक और स्वावलम्बी कहे जाने वाले मुनि तो अकर्मण्य बने रहें और गृहस्थ लोग उनके पक्ष को मजबूत करते फिरें, यह कैसी विडम्बना जान पड़ती है! ऐसी विडम्बना का एक नमूना यह भी देखने में आता है कि मुनि लोग गृहस्थों से 'आचार्यपद' लेने लगे हैं!! जान पड़ता है, अनुवादक जी को मुनियों का सुधार इष्ट नहीं है, क्योंकि वे शिथिलाचार को पुष्ट करने वाली भट्टारकी चलाना चाहते हैं और इसीलिये उन्होंने मुनियों को उनकी त्रुटियों तथा दोषों के सुधार का उपदेश नहीं दिया!! इसी तरह की एक बात उन्होंने पृष्ठ १३५ के फुटनोट में भी जोड़ी है-लिखा है कि ''कालदोष से अपने धर्मभाई ही मुनियों की निन्दा कर मुनिधर्म के उठाने का प्रयत्न करेंगे। मुनियों में मिथ्या अवर्णवाद लगावेंगे।'' मानो मुनिलोग बिल्कुल निर्दोष

होंगे, और यह सब काल का ही दोष होगा जो लोग यों ही उनकी निन्दा करने लगेंगे तथा उनमें दोष लगाने लगेंगे! वाह! कैसी अच्छी वकालत है!! इससे भी अधिक बढ़िया वकालत पृष्ठ ४१ की 'टीप' में की गई है और वह इस प्रकार है–

"वीतराग सर्वथा निरपेक्ष परम पवित्र सर्व प्रकार के दोष से रहित और सब प्रकार की आशा को छोड़कर ज्ञान ध्यान में लीन रहने वाले धर्मगुरु (मुनि-आचार्य-ऐलक-आर्यिका) की ये व्रत और चारित्रविहीन श्रावक निन्दा करेंगे। तथा निर्लज्जता के साथ निन्दा करते हैं। ये लोग स्वयं पापी, सदाचाररहित, कुशिक्षा से विषयों का पोषण करने वाले और क्रियाहीन पापिष्ठ होंगे, सच्चे धर्मात्मा और धर्मगुरु का चारित्र-विचार एवं मन की भावना अत्यन्त पवित्र और उत्तम होगी उसको भी ये लोग सहन नहीं कर सकेंगे।" इत्यादि।

इस प्रकार के अनुचित पक्ष से तो यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि आप मुनियों का सुधार और उनका उत्थान बिल्कुल नहीं चाहते। यही वजह है कि आप क्षुल्लक महाराज जिस शांतिसागर संघ के मुख्य गणधर बनें हुए हैं उसकी दिनों दिन भद्द उड़ रही है, जगह-जगह निन्दा होती है और यह प्रसिद्ध हो चली है कि जहाँ-जहाँ यह संघ जाता है, वहाँ-वहाँ कलह के बीज बोता है और अनेक प्रकार के झगड़े टंटे कराकर लोगों की शांति भंग करता है! (शायद टीप में वर्णित गुणों का ही यह सब प्रताप हो!!) परन्तु इससे आपको क्या? आपका उल्लू तो बराबर सीधा हो रहा है! मुनियों के सुधार पर फिर यह स्वार्थसिद्धि, निरंकुशता और गणधरी भी कैसे बन सकती है, जिसकी आपको विशेष चिन्ता जान पड़ती है?

यहां पर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि अनुवादक जी ने विजातीय विवाह जैसे युक्ति-शास्त्र-सम्मत कार्य को भी 'धर्मविरुद्ध' तथा 'धर्म की पवित्रता को नष्ट करने वाला' बतलाकर अपने उन पूर्वजों तथा पूज्य पुरुषों को भी, जिनमें तीर्थंकर तक शामिल हैं, अधार्मिक और धर्म की पवित्रता को नष्ट करने वाले ठहराया है, जिन्होंने अपने वर्ण अथवा जाति से भिन्न दूसरे वर्ण-जातियों की कन्याओं से विवाह किये थे तथा म्लेच्छ जातियों तक की कन्याएँ विवाही थीं और जिन सबकी कथाओं से जैन ग्रन्थ भरे पड़े हैं! और यह आपकी कितनी बड़ी धृष्टता है!! विजातीय विवाह की चर्चा बहुत अर्से तक समाज के पत्रों में होती रही है और उसे कोई भी विद्वान् अशास्त्रसम्मत सिद्ध नहीं कर सका। अन्त में विरोधियों को चुप ही होना पड़ा और उसके फलस्वरूप अनेक विजातीय विवाह डंके की चोट हो रहे हैं। ऐसी हालत में भी अपने हटाग्रह को न छोड़ना और वही बेसुरा राग अलापते हुए उसके विरोध को चुपके से ग्रन्थों में रखकर और उसे जिनवाणी तथा भगवान् महावीर की आज्ञा कहकर चलाना कितनी भारी नीचता और धृष्टता है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं!!! एक दूसरे स्थान पर तो छठे पृष्ठ के फुटनोट में आपने ऐसे विवाह करने वालों को और इसलिये अपने पूर्वजों तथा पूज्य पुरुषों को भी 'अनार्य' (म्लेच्छ) बतलाया है!! इस धृष्टता का भी कोई ठिकाना है!!!

(१०) पृष्ठ २२३ पर ''वह राजकुमार राजा होकर प्रजा का न्याय मार्ग से पालन करेगा'' यह वाक्य दिया हुआ है। और इसके 'वह' शब्द पर अंक १ डालकर नीचे एक फुटनोट लगाया गया है, जो इस प्रकार है–

''इस प्रकरण में विवाहविधि विदेह क्षेत्र में भी आगम की मर्यादा से बतलाई है। यह नहीं है कि कन्या स्वयं वरण करे या बालक अपने आप ही अपनी इच्छानुसार जिस तिस (जाति-कुजाति, योग्य-अयोग्य, नीच-ऊँच आदि सबको) को स्वीकार कर विवाह कर लेवे। ऐसा करना मर्यादा के बाहर है। विवाह धर्म का अङ्ग है, उसकी पूर्ति गुरुजन ही योग्य रीति से सम्पादन करते हैं। इसमें बालक-बालिकाओं को स्वतन्त्रता नहीं है।''

यह नोट 'वह' शब्द से अथवा उससे प्रारम्भ होने वाले उक्त वाक्य से कोई सम्बन्ध नहीं रखता, यह तो स्पष्ट है। परन्तु इसे छोड़िये और इस नोट के विषय पर विचार कीजिये। इसमें स्वयंवर विवाह का निषेध किया गया है और उसके लिये 'आगम की मर्यादा' तथा इस प्रकरण में वर्णित 'विदेह क्षेत्र की विवाहविधि' की दुहाई दी गई है। परन्तु इस प्रकरण में विदेह क्षेत्र में होने वाले विवाहों की कोई खास विधियाँ निर्दिष्ट नहीं की गई और न यही कहा गया कि वहाँ अमुक एक विधि से ही सारे विवाह होते हैं, बल्कि भविष्य कथन के रूप में कर्म दहन व्रत के फल को प्राप्त एक राजकुमार के विवाह का साधारण तौर पर उल्लेख करते हुए केवल इतना ही कहा गया है कि ''उस राजकुमार का पिता पुत्र को गुणों से उज्ज्वल अथवा अपने ही समान गुणवाला और यौवनसम्पन्न देखकर प्रसन्न होगा। उस पुत्र के विवाहार्थ बड़े कुलों की ऐसी सुशीला राजपुत्रियों की याचना करेगा जो रूप में अप्सराओं को मात करने वाली होंगी। ऐसी सुन्दराकार और मनोहर स्वरवाली कन्याएँ उस नेत्रानन्दकारी और यौवनसम्पन्न पुत्र को, सज्जनों को आनन्द देने वाले दानों तथा सुमङ्गलों को मंगलप्राप्ति के लिये करते हुए, बाजे गाजे के साथ विवाही जायेंगी।'' यथा–

तत्पिता यौवनाढ्यं च दृष्ट्वा सूनु गुणोज्वलं।
गुणेन स्वात्मतुल्यं वा मुदमाप्स्यति भूमिराट्॥२२७॥
तदात्मजविवाहार्थं याचयित्वा नृपांगजाः।
महत्कुलोद्भवाः शुद्धाः रूपात्तर्जित-अप्सराः॥२२८॥
ईदृशाः सुन्दराकाराः सुस्वना शं प्रदायते(?)।
सूनवे यौवनाढ्याय नेत्रानन्दकराय वै॥२२९॥
नेष्यन्ति वाद्यद्योषौघान् दानोत्करसुमंगलान्।

कुर्वन् वै मंगलाप्त्यर्थं सज्जनानन्ददायकान्॥२३०॥ –पृष्ठ २२२

इन श्लोकों में न तो आगम की किसी मर्यादा का उल्लेख है–आगम या शास्त्र का नाम तक भी नहीं– न विवाह की कोई खास विधि ही स्पष्ट है और न यही पाया जाता है कि विदेह में स्वयंवर विधि का अथवा दूसरी किसी विवाह विधि का निषेध है। मालूम नहीं फिर अनुवादक जी ने इन

श्लोकों के आधार पर कैसे उक्त नोट देने का साहस किया है! इनसे भिन्न और कोई भी श्लोक विवाहविधि से सम्बन्ध रखने वाले इस प्रकरण में नहीं हैं। जान पड़ता है इन श्लोकों के अर्थ में जो जालसाजी की गई है उसी की तरफ नोट का इशारा है अथवा उसी को लक्ष्य में रखकर यह नोट लिखा गया है! अनुवादक जी का वह बेहद स्वेच्छाचार को लिये हुए छल परिपूर्ण अर्थ इस प्रकार है–

अर्थ–''उसका पिता बालक को यौवन अवस्था में देखकर अपनी जाति की गुणवाली, अपने समान ऋद्धि के धारक राजाओं की कन्याओं की याचना कर विधिपूर्वक विवाह (वाग्दान) स्वीकार करेगा। पश्चात् कुलाम्नाय और धर्मशास्त्र की विधि से विवाह करेगा। (इसके बाद कुल डेढ़ पंक्ति में पाँच श्लोकों का अर्थ दिया है और उनकी बहुत-सी बातें शायद अप्रयोजनभूत समझकर छोड़ दी गई हैं!)।''

इस अर्थ में ''अपनी जाति की गुणवाली, अपने समान ऋद्धि की धारक'' और ''विधिपूर्वक विवाह (वाग्दान) स्वीकार करेगा। पश्चात् कुलाम्नाय और धर्मशास्त्र की विधि से विवाह करेगा'' ये बातें मूल से बाहर की हैं-मूल के किसी भी शब्द का अर्थ नहीं है-अपनी तरफ से जोड़ी गई हैं। इन्हें निकाल देने पर इस अर्थ में फिर क्या रह जाता है और क्या छूट जाता है, उसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं!! खेद है कि अनुवादक जी इतनी धृष्टता धारण किये हुए हैं कि अपनी बातों को भी ग्रन्थ की बातें बतलाकर लोगों को ठगना और उनकी आँखों में स्पष्ट धूल डालना चाहते हैं!!! इस निर्लज्जता और बेहयाई का भी कुछ ठिकाना है!!! मालूम नहीं भट्टारकीय साहित्य के त्रिवर्णाचारादि आधुनिक भ्रष्ट ग्रन्थों को छोड़कर आप कौन से आगम ग्रन्थ की मर्यादा की दुहाई दे रहे हैं, जिसमें राजाओं (क्षत्रियों) के लिये एक मात्र अपनी ही जाति की कन्या से विवाह करने की व्यवस्था की गई हो और स्वयंवर विधि से विवाह का सर्वथा निषेध किया हो? भगवज्जिनसेनाचार्य ने तो आदिपुराण के १६वें पर्व में 'शूद्रा शूद्रेण वोढव्य' इत्यादि श्लोक के द्वारा अनुलोम क्रम से विवाह की व्यवस्था की है अर्थात् एक वर्ण (जाति) वाला अपने और अपने से नीचे के वर्ण (जाति) की कन्या से विवाह कर सकता है–और इसे युग की आदि में श्री आदिनाथ भगवान् द्वारा प्रतिपादित बतलाया है। और ४४वें पर्व में स्वयंवर-विधि से विवाह को 'सनातनमार्ग' लिखा है तथा सम्पूर्ण विवाहविधानों में सबसे अधिक श्रेष्ठ (वरिष्ठ) विधान प्रकट किया है, जैसा कि उसके निम्न श्लोक से प्रकट है–

सनातनोऽस्ति मार्गोऽयं श्रुतिस्मृतिषु भाषितः।
विवाहविधिभेदेषु वरिष्ठो हि स्वयंवरः॥३२॥

साथ ही, ४५वें पर्व में राजा अकम्पन के स्वयंवर विधान का जो अभिनन्दन भरत चक्रवर्ती ने किया था, उसका भी उल्लेख दिया है। भरत चक्रवर्ती ने भोगभूमि की प्रवृत्ति द्वारा लुप्त हुए ऐसे सनातन मार्गों के पुनरुद्धारकर्ताओं को सत्पुरुषों द्वारा पूज्य भी ठहराया था, जैसा कि निम्न वाक्यों से प्रकट है–

तथा स्वयंवरस्येमे नाभूवन्यद्यकम्पनाः।
कः प्रवर्तयितान्योऽस्य मार्गस्यैष सनातनः॥४५॥
मार्गाश्चिरंतनान्येऽत्र भोगभूमितिरोहितान्।
कुर्वन्ति नूतनान्सन्तः सद्भिः पूज्यास्त एव हि॥५५॥

इसके सिवाय, उक्त आदिपुराण के १६वें पर्व में यह भी बतलाया गया है कि विदेहक्षेत्रों वर्णाश्रमादिक की जैसी कुछ व्यवस्था थी, उसी को युग की आदि में भगवान् आदिनाथ ने इस भरत क्षेत्र में प्रवर्तित करना उचित समझा था और तदनुसार ही वह सब व्यवस्था प्रवर्तित की गई थी।[५३] ऐसी हालत में स्वयंवर विधि जो युग की आदि में यहाँ प्रवर्तित की गई वह विदेह क्षेत्रों की व्यवस्था के अनुसार ही की गई है और इसलिये विदेहों में स्वयंवर विधि से विवाहों का होना स्पष्ट है।

आदि पुराण से पहिले शक संवत् ७०५ में बने हुए श्री जिनसेनाचार्य के हरिवंशपुराण में भी स्वयंवर विवाह का तथा अन्य जातियों की कन्याओं से अनुलोम प्रतिलोम रूप से विवाहों का बहुत कुछ उल्लेख है[५४]। और उसमें रोहिणी के स्वयंवर के प्रसंग पर निम्न वाक्य द्वारा स्वयंवर की नीति का स्पष्ट उल्लेख किया गया है अर्थात् बतलाया है कि 'स्वयंवर को प्राप्त हुई कन्या उस वर को वरण करती–स्वीकार करती–है जो उसे पसन्द होता है, चाहे वह वर कुलीन हो या अकुलीन, क्योंकि स्वयंवर में वर के कुलीन या अकुलीन होने का कोई नियम नहीं होता–

स्वयंवरगता कन्या वृणीते रुचितं वरं।
कुलीनमकुलीनं वा न क्रमोऽस्ति स्वयंवरे॥३१-५३॥

उक्त हरिवंशपुराण से भी कोई एक शताब्दी पहले के बने हुए रविषेणाचार्य के पद्मचरित (पद्मपुराण) में भी सीता के स्वयंवर का वर्णन है। इन सब ग्रन्थों से अधिक प्राचीन और अधिक मान्य ऐसा कोई भी जैन ग्रन्थ नहीं है जिसमें स्वयंवरादि का निषेध किया गया हो।

अतः अनुवादकजी का उक्त नोट बिल्कुल निःसार, छल से परिपूर्ण, दुःसाहस को लिये हुए और उनकी एकमात्र दूषित चित्तवृत्ति का द्योतक है। इसी तरह के अनेक निःसार नोट ग्रन्थ में भिन्न-भिन्न स्थानों पर लगाये गये हैं, जिन सबका परिचय और आलोचन अधिक विस्तार की अपेक्षा रखता है और इसलिये उन्हें छोड़ा गया है।

---

५३. पूर्वापर विदेहेषु या स्थितिः समुपस्थिता। साऽद्य प्रवर्तनीयाऽत्र ततो जीवन्त्यमू प्रजाः॥१४३॥
षट् कर्माणि यथा तत्र यथा वर्णाश्रमस्थितिः। यथा ग्रामगृहादीना सस्त्यांश्च पृथग्विधाः॥१४४॥
तथाऽत्राप्युचिता वृत्तिरूपायैरेभिरंगिनाम्। नोपायान्तरमस्त्येषां प्राणिनां जीविकां प्रति॥१४५॥

५४. इस ग्रन्थ तथा अन्य ग्रन्थों सम्बन्धी विवाहविधियों का विशेष परिचय पाने के लिये लेखक की 'विवाह क्षेत्र प्रकाश' नाम की पुस्तक को देखना चाहिए। यह पुस्तक ला० जौहरीमल जी जैन सर्राफ, दरीबाकलां, देहली के पास से मिलती है।

लेख बहुत बढ़ गया है और इसलिये अब मैं आगे कुछ थोड़ी-सी बातों की प्रायः सूचनाएँ ही और कर देना चाहता हूँ, जिससे पाठकों को इस ग्रन्थ के अनुवाद विषय का और अनुवादक की चित्तवृत्ति एवं योग्यता का यथेष्ट व्यापक ज्ञान हो जाये।

(११) पृष्ठ ३७ पर श्लोक नं० १३५ के 'चूर्णोदकाज्यं' पद के अर्थ में 'आटा, पानी और घी, के बाद 'आदि' शब्द बढ़ाया है और उसके द्वारा मूल की अर्थमर्यादा को बढ़ाते हुए शूद्रों के प्रति होने वाले अन्याय की सीमावृद्धि की है! इसी तरह पृष्ठ २१४ पर श्लोक नं० १६० के 'शूद्रस्पृश्यं जलं चूर्णं घृतं' पदों के अर्थ में 'शूद्र के हाथ का जल, घृत और आटा' के बाद 'आदि' शब्द बढ़ाकर वही अनर्थ घटित किया है[५५]!!

(१२) पृष्ठ ७२ पर श्लोक नं० ३०१ के अर्थ में 'तपः' पद का अर्थ छोड़ दिया है और उसकी जगह "गुरु सेवा करना" तथा "जैनधर्म के अन्तरंग शत्रुओं का नाश करना" ये दो बातें पुण्य कारणों में बढ़ाई गई हैं, जिनमें से पिछली बात का संकेत सुधारकों के नाश की ओर जान पड़ता है और उससे अनुवादक की एक खास मनोवृत्ति का पता चलता है!!

(१३) पृष्ठ ७८ पर श्लोक नं०-३३८ के अर्थ में 'श्रीमज्जिनेन्द्र के बिम्बों की प्रतिष्ठा' से पहले "अपरिमित धनादिक के व्यय के द्वारा" और बाद को "महान् उत्सव कराने लगे" तथा "रथोत्सव आदि विविध प्रकार के उत्सव करने लगे" ये तीन बातें बढ़ाई गई हैं!

(१४) पृष्ठ ८५ पर, कुन्दकुन्द के गिरनार यात्रासंघ की गणना देते हुए, श्लोक नं० ३६१ का अर्थ न देकर उसकी जगह निम्न वाक्य यों ही कल्पित करके दिया गया है- "उन सबके साथ अपने-२ नौकर-चाकर, सिपाही, प्यादे तथा सब प्रकार के साधन गाड़ी घोड़े आदि थे।"

(१५) पृष्ठ ११२, ११३ पर श्लोक नं० ५०१ से ५०६ का अर्थ मूल के अनुकूल न होकर बहुत कुछ स्वेच्छाचार को लिये हुए है। इसमें मूल के नाम पर बहुत-सी बातें अपनी तरफ से बढ़ाई गई हैं, जैसे "पूजन के पाँच अंगों में तीन अंग तो अभिषेक के प्रारम्भ में ही करने पड़ते हैं", "सबसे पीछे कलशाभिषेक करना चाहिए", "गंधलेपन पुष्पवृष्टि आदि", "यदि इस क्रम से पूजा की जाये तो सर्वसम्पत्ति प्राप्त होती है" इत्यादि!

(१६) पृष्ठ १४० पर श्लोक नं० ६४७ के अर्थ में 'अभिषेकादि' से पहले "तीर्थङ्कर द्वारा प्रतिपादित" और बाद को "पवित्र आगमोक्त" ये "क्रिया' के विशेषण बढ़ाये गये हैं!

(१७) पृष्ठ १६८ पर श्लोक नं० ९१ के अर्थ में निम्न दो बातें मूल के नाम पर खास तौर से बढ़ाई गई हैं-

क. "भगवान् की मूर्ति की परोक्ष-पूजा प्रत्यक्ष-पूजा से भिन्न होती है। इसलिये परोक्षपूजा उस मूर्ति की" (आगे पंचामृत के नामादिक देकर उनसे वह की जाती है ऐसा उल्लेख है।)

---

५५. ये दोनों श्लोक पहले 'शूद्रजलादि के त्याग का अजीब विधान' इस उपशीर्षक के नीचे उद्धृत किये जा चुके हैं।

ख. ''यह सनातन विधि श्री जिनेन्द्र देव ने प्रतिपादन की है और इन्द्रादिकदेव इसी विधि से नन्दीश्वरादि द्वीप में अकृत्रिम जिनबिम्बों का अभिषेक करते हैं।''

(१८) पृष्ठ १७२ पर श्लोक नं० ११५ के अर्थ में निम्न बातें अपनी तरफ से मिलाई गई हैं-

''वे मुनीश्वर कुमार्ग पर चलने वालों को सुमार्ग पर लाते थे। जिनराज की आज्ञा भंग करने वालों को सन्मार्ग पर लाते थे। और मनमानी करने वालों को योग्य व्यवस्था कर सन्मार्ग पर लाते थे। संघ में बिना दण्ड के कभी व्यवस्था नहीं होती है। राजदण्ड से जैसे अन्याय रुक जाता है, इसी प्रकार पंचायती दण्ड से धर्म विरुद्ध चलने वालों की अनीति मिट जाती है।''

(१९) पृष्ठ १७५ पर श्लोक नं० १२४ के अर्थ में निम्न वाक्य मूल के शब्दों से कोई सम्बन्ध नहीं रखते, ऊपर से मिलाये गये हैं-

''परन्तु मूर्तिपूजा परमागम में सर्वत्र बतलाई है। बिना मूर्तिपूजा के आत्मस्वरूप की प्राप्ति नहीं होती है। इसलिये केवल आत्मा के श्रद्धान को मानकर देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान नहीं करना सो मिथ्यात्व है।'' (२०) पृष्ठ १७७ पर श्लोक नं० १३० के अर्थ में ''गुरु बिना ज्ञान नहीं होता है'' यह कहावत भी सर्वत्र प्रसिद्ध है। ये शब्द बढ़ाये गये हैं–मूल में ऐसा कोई उल्लेख नहीं।

(२१) पृष्ठ १८४, १८५ पर ''भो ढूँढ्या: नामस्थापनाद्रव्यभावतश्चतुर्धा जिनेन्द्रस्य स्मरणं च पूजनं स्यात्'' इस वाक्य के अर्थ में निम्न बातें बढ़ाई गई हैं–

''प्रत्येक वस्तु में चारों निक्षेप नियम से होते हैं परन्तु आप लोगों ने तीन निक्षेप (नाम द्रव्य भाव) तो स्वीकार किये हैं और बीच में स्थापना निक्षेप को छोड़ दिया, सो क्यों?'' (इत्यादि पूरी छः पंक्तियों की बातें 'अज्ञान है' तक)।

(२२) पृष्ठ २०४ पर श्लोक नं० ९५ के अर्थ में यह बात बढ़ाई गई है–

''अन्यथा एक मुख पर पाटी बांधकर विशेष म्लेच्छाचार क्यों फैलाते हो और जैनधर्म को घृणापूर्ण बनाकर निन्दा के पात्र होते हो।''

(२३) पृष्ठ २११ पर श्लोक नं० १४२ के अर्थ में यह बात अपनी तरफ से मिलाई गई है, मूल में नहीं है–

''अपने घर से उत्तमोत्तम भगवान् के पूजन की सामग्री तथा अभिषेक की सामग्री (इक्षुरस-दूध-दही-घृत-सर्वौषधि-शर्करा-फल-फूल-केशर-कपूर-दीपक आदि) ले जावे।''

(२४) पृष्ठ २६७ पर सम्मेदशिखर के आनन्दकूट से मुक्ति जाने वालों की संख्या और उस कूट की वन्दना का फल बतलाने के अनन्तर जो बात मूल के नाम पर श्लोकों के अर्थ में अपनी तरफ से बढ़ाई गई है वह इस प्रकार है–

''सनत्कुमार चक्रवर्ती ने चतुर्विध संघसहित यात्रा की। यह संघ सबसे भारी निकाला गया था। लाखों की संख्या में यात्री थे। सबकी चर्या संघ में होती थी।''

इसी तरह आगे अविचलकूट आदि के वर्णन में भी चतुर्विधसंघसहित वन्दना करने वाले

राजाओं के नामादिक का उल्लेख मूल वाक्यों के अर्थों में बढ़ाया गया है, संघ में हजारों मुनियों के होने का भी कहीं-कहीं उल्लेख किया गया है और किसी-किसी कूट का माहात्म्य विशेष भी अपनी तरफ से जोड़ा गया है, जैसे प्रभासकूट के वर्णन में (पृष्ठ २६८ पर) लिखा है-''इस कूट की रज लगाने से कुष्ठ रोग दूर होता है। विशेष एक बात यह भी है कि बीस कूटों की यात्रा के समान इसका फल है।'' इस तरह की बहुत-सी बातें इस सम्मेदशिखर प्रकरण में चुपके-से अर्थ में शामिल की गई हैं और इस तरह उन्हें मूल की प्रकट किया गया है।

(२५) पृष्ठ ३१८ पर तीव्र मोही होने के कारणों में हींग, सब्जी, नमक, तेल आदि कई चीजों के खरीदने-बेचने (व्यापार) की बात को छोड़ दिया है। और ''मशीनों के द्वारा महान् हिंसक होने वाले व्यापार'' आदि की बातों को बढ़ाया गया है जो मूल में नहीं है। इसी तरह की इस फलवर्णन के प्रकरण में आगे-पीछे बहुत-सी बातें अर्थ करते समय छोड़ दी गई और बहुत-सी बढ़ाई गई हैं। जैसे विधवा होने के कारणों में ''पुनर्विवाह'' और ''वैधव्यदीक्षानाश'' आदि की बातें बढ़ाई गई हैं और कितना ही वर्णन मूल से बाहर दिया है। (पृष्ठ २७४-२७६)

(२६) पृष्ठ ३८० पर श्लोक नं० १९० के अर्थ में ये बातें बढ़ाई गई हैं-

''वर्तमान में वर्णव्यवस्थालोप, विधवाविवाह, स्पर्शास्पर्शलोप, समानहक्क आदि समस्त धर्मविरुद्ध नीतिविरुद्ध मर्यादाविरुद्ध बातों को धर्मनीति और कर्त्तव्य बतलाया जा रहा है। यह सब राजा और राजा की ऐसी ही कुशिक्षा का फल है। यह बात सच है कि यथा राजा तथा प्रजा।''

(२७) पृष्ठ ३८४ पर श्लोक नं० २११ के अर्थ में यह बात बढ़ाई गई है, जो उक्त श्लोक में नहीं है-

''अगणित दीपकों से दीपावली (दिवाली) को प्रकट किया। उसी दिवस से यह उत्सव दीपावली के नाम से दिवाली आज तक प्रचलित है।''

(२८) पृष्ठ ३८८ पर श्लोक नं० २३३ के अर्थ में राजा श्रेणिक द्वारा पावापुर में स्थापित वीर जिनालय की प्रतिष्ठा के साथ में ''अतिशय धूमधाम से'' ये शब्द जोड़े गये हैं और साथ ही यह बात बिल्कुल अपनी तरफ से कल्पित करके जोड़ी गई है कि राजा श्रेणिक ने- ''उस जिनालय में श्री वीर प्रभु के स्मरणार्थ वीर प्रभु की चरणपादुका स्थापित की।''

(२९) पृष्ठ ८० पर कुन्दकुन्द की ग्रन्थरचना का उल्लेख करते हुए जो श्लोक नं० ३५२ दिया है उसका अनुवादक जी द्वारा निर्मित अर्थ अर्थ की वृद्धि, हानि तथा विपरीतता तीनों को लिये हुए है। उसमें जहां कुछ 'चेलकांत' आदि पदों का अर्थ छोड़ा है वहां ''मुनिधर्म के प्रकाश करने वाले ग्रन्थ भी बनाये'' यह अर्थ अपनी तरफ से जोड़ा है और 'सकलान् ग्रन्थान् करिष्यति' (सम्पूर्ण ग्रन्थों को बनाएगा) का विपरीत अर्थ ''बहुत-से ग्रन्थ बनाये'' दिया है। इसी तरह 'प्रभावार्थं जिनधर्मस्य' इन शब्दों का अर्थ जो ''जिनधर्म की प्रभावना के लिये होता है'' उसकी जगह यह अर्थ दिया है-

''जिससे जिनेन्द्र के धर्म की अपूर्व महिमा प्रकट हुई। जैनधर्म की प्रभावना हुई, तथा विद्वानों

में जैनधर्म का चमत्कार हुआ और जगत् में जैनधर्म की मान्यता बढ़ी।''

(३०) जिस प्रकार उक्त पृष्ठ ८० पर भविष्यकाल की क्रिया 'करिष्यति' का अर्थ भूतकाल में दिया है, उसी प्रकार पृष्ठ २४० पर भी 'भोक्ष्यति' (भोगेगा) क्रियापद का अर्थ ''भोगने लगा'' दे दिया है, जो प्रकरण को देखते हुए बहुत ही बेढंगा जान पड़ता है! साथ में 'समापन्वान्' पद जो यहां 'सः' का विशेषण था उसे क्रियापद समझकर उसका अर्थ 'प्राप्त किया' दे दिया है! और पृष्ठ १४२ पर 'भवन्ति' का अर्थ 'होते हैं' की जगह 'होंगे' दिया गया है! इसी तरह अन्यत्र भी अनेक क्रियापदों के अर्थ विपरीत किये गये हैं!!!

(३१) पृष्ठ १३५ पर एक श्लोक निम्न प्रकार से दिया है–

ह्यतो मुनीपदस्यैव धारकाः पुरुषाः कलौ।
तुच्छा जानीहि त्वं भूप यथा भूपास्तथा प्रजा॥

इसमें बतलाया गया है कि 'पूर्वोल्लेखित कारणों से अर्थात् प्रतिदिन मुनिमार्ग की हानिता, शरीर की हीनता, हीन संहनन और ब्राह्मणों तथा राजाओं का जैनधर्म से पराङ्मुख होना आदि कारणों से कलियुग में मुनिपद के धारक तुच्छ पुरुष ही होंगे, जैसे राजा वैसी प्रजा'। यहां जिन राजाओं के साथ तुलना करते हुए उन्हे तुच्छ कहा है ग्रन्थ के शुरू में (पृष्ठ २६, २७) उन राजाओं को 'नीचा ही राज्यभोक्तारः' 'न्यायहीनाश्च भूमिपाः' जैसे शब्दों के द्वारा नीचादि प्रकट किया है, और साधुओं को भी 'साधुगुणविहीनांगाः' आदि लिखा है, जिसका अर्थ खुद अनुवादक जी ने यह किया है कि ''पंचम काल में ऐसे साधु और भेषधारी ब्रह्मचारी होंगे जिनमें अपने पद के योग्य गुणों का अभाव होगा''। ऐसी हालत में प्रसंगानुसार यहा 'तुच्छ' का अर्थ हीन या निकृष्ट होना चाहिए था, परन्तु उसे न देकर स्वल्पसंख्यक अर्थ किया गया है। लिखा है कि ''मुनिपद के धारक वीर पुरुषों की संख्या स्वल्प होगी''। शायद अनुवादक जी को यह भय हुआ हो कि इस विशेषण पद पर से उनके वर्तमान गुरु कहीं तुच्छ (हीन अथवा निकृष्ट) न समझ लिये जायें, भले ही वे साधु गुणविहीनांग हों!!

(३२) पृष्ठ ११९ पर श्लोक नं० ५३८, ५३९ 'युग्म' रूप से हैं– दोनों को मिलाकर एक पूरा वाक्य बनता है और उनका सार (विशेषणों को छोड़कर) सिर्फ इतना ही है कि ''वह ब्राह्मणी उसी सेठ पुत्री के वचनानुसार सहर्ष एक घड़ा पानी का लेकर (आधाय) और उसे अभिषेक के लिये (अभिषेकाय) जिन मंदिर में धरकर (धृत्वा) अपने घर चली आई (स्वस्थानं चागात्)''। परन्तु अनुवादक जी ने यह सब कुछ न समझकर दोनों का बड़ा ही विलक्षण अर्थ अलग-अलग कर डाला है! एक में यह सूचित किया है कि ''वह ब्राह्मणी पानी का एक घड़ा नदी में से भरकर और जिन मंदिर जाकर उसे श्री वीतराग अरहंत प्रभु पर चढ़ा आई और फिर अपने घर पर गई।'' और दूसरे में यह बतलाया है कि ''उस ब्राह्मणी ने श्री जिन मंदिर में श्री जिनदेव का अभिषेक किया और वह अतिशय हर्ष को प्राप्त हुई।'' यहां 'अभिषेकाय धृत्वा' का अर्थ 'अभिषेक किया' दिया है, जो बड़ा ही विचित्र जान पड़ता है! इसी तरह अन्यत्र भी युग्म श्लोकों को न समझकर उनके अर्थ में गड़बड़

की गई है!!

(३३) पृष्ठ १६२ पर श्लोक नं० ५५ में प्रयुक्त हुए 'भवतां यदि श्रद्धा स्यात् ग्रन्थानां' इन शब्दों का स्पष्ट अर्थ है–'यदि तुम्हारे ग्रन्थों की श्रद्धा हो'। परन्तु अनुवादक जी ने 'जिससे जिनागम में श्रद्धा हो' यह विलक्षण अर्थ किया है। 'यदि' का अर्थ 'जिससे' बतलाना यह अनुवादकीय दिमाग की खास उपज जान पड़ती है!!

(३४) पृष्ठ २६४ पर संख्यावाचक पद 'चन्द्रपक्षप्रमः' का अर्थ '१२' किया गया है, जबकि वह 'अंकानां वामतो गतिः' के नियमानुसार '२१' होना चाहिए था। पृष्ठ २८३ पर 'हिमांशुनेत्र' का अर्थ भी '२१' की जगह '१२' गलत किया गया है, जबकि इसी पृष्ठ पर 'रंध्रवेदभवं' का अर्थ उक्तनियमानुसार ''४९ भव'' दिया है! और इससे अनुवादक का खासा स्वेच्छाचार पाया जाता है! और पृष्ठ २६७ पर 'नेत्राद्रिप्रमलक्षः' पद का अर्थ '६२ लाख' दिया है, जबकि वह '७२ लाख' होना चाहिए था, क्योंकि 'अद्रि' शब्द सात की संख्या का वाचक है! इसी तरह अन्यत्र भी कितने ही संख्यावाचक शब्दों तथा पदों का अर्थ इसमें विपरीत किया गया है!!!

ये सब (प्रायः नं० २९ के लेकर यहाँ तक) अनुवादकजी के उस संस्कृत-ज्ञान के खास नमूने हैं, जिसके आधार पर वे सुधारकों तथा ग्रन्थों की समालोचना करने वाले विद्वानों को यह कहने बैठे हैं कि ''उनको संस्कृत प्राकृत का ज्ञान नहीं है!'' परन्तु एक बढ़िया नमूना तो अभी बाकी ही रह गया है, और वह आगे दिया जाता है।

(३५) श्रेणिक की प्रश्नावली की उत्तर-समाप्ति के बाद ग्रन्थ में पृष्ठ ३७८ पर दो पद्य निम्न प्रकार से दिये हैं–

भूतं भांतमभूतमेव ह्यखिलं संसारतापापहं।
वीरो वीरगुणाकरो मुनिनुतो वृत्तांतमेवांजसा॥
आयुः कायसुसारवैभवयुतान् पुण्योदयात् सत्सुखान्।
मर्त्यानां च पृथक् पृथक् जिनपतिः त्रिषष्ठिकानां शुभम्॥१७६॥
पौराणांश्च तथा हि अन्यमनुजानां च चरित्रं महत्।
तत्त्वातत्त्वविभेदकं च स्मरतो मोक्षस्वरूपं तथा॥
कृत्वेत्थं च जिनेश्वरो ह्यघहरो व्याख्यानकं चोत्तमं।
मोक्षं ह्याप दयार्द्रधीः जितरिपुः सर्वाधिपैर्वंदितः॥१७७॥

ये दोनों पद्य 'युग्म' रूप से हैं– दोनों का मिलकर एक वाक्य बनता है, जिसकी क्रिया 'आप' दूसरे पद्य के अन्तिम चरण में पड़ी हुई है। इनमें बतलाया है कि–

''इस प्रकार वीरगुणों के आकर मुनियों से स्तुत, पाप का नाश करने वाले, दयार्द्रबुद्धि, जितरिपु और सर्व अधिपतियों से वंदित ऐसे जिनपति श्री महावीर जिनेश्वर ने, संसार ताप को दूर करने वाले भूत-भविष्यत-वर्तमान सम्बन्धी सम्पूर्ण शुभ वृत्तांत का, मनुष्यों के आयु काय तथा सार वैभवसहित

पुण्योदय से होने वाले सत्सुखों का, त्रेसठ शलाका पुरुषों के पृथक् पृथक् पौराणों का तथा दूसरे मनुष्यों के महत् चरित्र का, तत्त्वातत्त्व के विभेद का और मोक्ष के स्वरूप का चिन्तन करते हुए (अर्थात् इन सबको लिये हुए) उत्तम उपदेश देकर मोक्ष को प्राप्त किया।'

इस आशय पर से ऐसा मालूम होता है कि ग्रन्थकार ने इन पद्यों को संभवतः त्रिषष्ठि शलाका पुरुषों के चरित्र वाले किसी महापुराण पर से उद्धृत किया है, जहाँ ये उपसंहार वाक्य के रूप में दिये गये होंगे और अपनी मूर्खतावश इन्हें यहाँ रखा है, क्योंकि एक तो इनका विषय प्रकृत ग्रन्थ के साथ में यथेष्ट रूप से संगत नहीं बैठता, दूसरे यहां भगवान् महावीर को मोक्ष में भेजकर कुछ कथन के बाद फिर पृष्ठ ३८२ पर, अथ श्रीमज्जिनाधीशो महावीरः सुरार्चितः। विहारं कृतवान्' इत्यादि वाक्यों के द्वारा उनके विहारादि का जो कथन किया गया है वह नहीं बन सकता। और इसलिये इन वाक्यों का यहां दिया जाना ग्रन्थकार की स्पष्ट मूर्खता का द्योतक है। परन्तु इसे छोड़िये और अनुवादक जी की मूर्खता को लीजिए। उन्होंने इन पद्यों को 'युग्म' रूप ही नहीं समझा, न इनका ठीक आशय ही वे समझ सके हैं और इसलिये इनका जो अलग-अलग विलक्षण अर्थ दिया गया है वह उनकी बड़ी ही स्वेच्छाचारता, निरंकुशता एवं संस्कृतानभिज्ञता को लिये हुए है। और वह क्रमशः इस प्रकार है–

अर्थ–''हे मगधेश्वर! जो कुछ संसार में जितना वृत्तान्त हो गया है, आगे होगा और वर्त्तमान काल में हो रहा है वह सब वीर प्रभु अपने दिव्य ज्ञान से परिपूर्ण यथार्थ रूप से जानते हैं। इसीलिये वीर प्रभु सर्वज्ञ वीतराग और त्रिलोकवंदित है। मुनिगणों से पूज्य हैं। जो मनुष्य वीर प्रभु के वचनों का श्रद्धान कर उनको ही अपना ध्येय समझता है, अपना कर्त्तव्य मानता है, वही आयुः काय भोगसंपदा आदि उत्तमोत्तम सामग्री को प्राप्त कर महान् पुण्य संपादन करता है। वह पुण्य त्रिषष्ठि पुरुषों के चरित्रादि को श्रवण करने से संपादित होता है।''

अर्थ–''श्रीवीरप्रभु ने त्रिषष्ठी शलाका पुरुषों का पुण्योत्पादक जीवनचरित्र, तत्त्वातत्त्व का विवेचन, मोक्ष का स्वरूप आदि समस्त पदार्थों का व्याख्यान समोसरण में दिया। वे दयालु भगवान् सदैव जयवन्त रहो। ''

जिन पाठकों को संस्कृत का कुछ भी बोध है वे मूल के साथ तथा ऊपर दिये हुए उसके आशय के साथ तुलना करके सहज ही में मालूम कर सकते हैं कि यह अनुवाद कितना बे-सिर पैर का, कितना विपरीत और मूल के साथ कितना असम्बद्ध है तथा अनुवादक के कितने असत्य प्रलाप को सूचित करता है। इसमें ''हे मगधेश्वर'' यह संबोधन पद तो मूल से बाह्य होने के अतिरिक्त अनुवादक की महामूर्खता प्रकट करता है, क्योंकि ये दोनों पद्य ग्रन्थकार के उपसंहार वाक्यों के रूप में हैं। महावीर की तरफ से श्रेणिक के प्रति कहे हुए नहीं हैं और ग्रन्थकार के सामने मगधेश्वर (राजा श्रेणिक) उसके संबोधन के लिये नहीं था। मालूम नहीं ''सदैव जयवन्त रहो'' यह आशीर्वाद और ''जो मनुष्य वीर प्रभु के वचनों का श्रद्धान कर'' इत्यादि वाक्य कौन से शब्दों के अर्थ हैं! और 'मोक्षं ह्याप' जैसे पदों के अर्थ को अनुवादकजी बिल्कुल ही क्यों उड़ा गये हैं!! ये शब्द ऐसे नहीं थे जिनका अर्थ उनकी

समझ के बाहर हो- उन्होंने खुद पृष्ठ ३८३ पर 'मोक्षमाप' का अर्थ 'निर्वाण पद को प्राप्त हुए' दिया है। फिर यहाँ वह अर्थ न देना क्या अर्थ रखता है? जान पड़ता हैं ग्रन्थ में आगे भगवान् के विहार आदि का कथन देखकर ही यहाँ उनके निर्वाण का कथन करना उन्हें संगत मालूम नहीं दिया और इसीलिये उन्होंने उक्त पदों का अर्थ छोड़ दिया है! यह उनकी स्पष्ट मायाचारी तथा चालाकी है!! और अनुवादक के कर्त्तव्य से उनका भारी पतन है!!!

उपसंहार

इस प्रकार कुछ नमूनों के साथ यह अनुवाद का संक्षिप्त परिचय है। और इस पर से अनुवाद की असत्यता, निःसारता, अर्थ की अनर्थता और अनुवादक की निरंकुशता, चालाकी, मायाचारी, कपटकला, धृष्टता, धोखादेही और वह दूषित मनोवृत्ति आदि सब कुछ स्पष्ट हैं। वास्तव में यह अनुवाद मूल से भी अधिक दूषित है और एक सत्यव्रतादि के धारी तथा सप्तम प्रतिमा के आचार के साथ बद्धप्रतिज्ञ हुए ब्रह्मचारी के नाम पर भारी कलंक है। इतना अधिक झूठा, बनावटी और स्वेच्छाचारमय अनुवाद मैंने आज तक कोई दूसरा नहीं देखा। शायद ही किसी दूसरे ने इतना झूठा और छल-कपटपूर्ण अनुवाद किया हो। इस अनुवाद पर से अनुवादक की जिस कपट प्रबन्धमय असत् प्रवृत्ति का पता चलता है, उसके आधार पर ऐसा अनुमान होता है कि अनुवादक ब्रह्मचारी ज्ञानचन्द्र उर्फ पं० नन्दनलाल जी ने सत्यव्रतादिक की जो चपरास अपने गले में डाल रखी है उसमें प्रायः कुछ भी तत्त्व नहीं है-वह अधिकांश में दूसरों पर अपना प्रभाव जमाने अथवा अपनी स्वार्थसाधना के लिये नुमाइशी जान पड़ती है। उसे इस अनुवाद की रोशनी में सत्यघोष की उस कैंची से कुछ भी अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता-न उससे अधिक उसका कोई मूल्य आँका जा सकता है-जिसे सत्यघोष ने इस विज्ञापन के साथ अपने गले में लटकाया था कि 'यदि भूलकर भी मेरे मुख से झूठ निकल जायेगा तो मैं इस कैंची से उसी क्षण अपनी जीभ काट डालूँगा' परन्तु बाद को एक घटना पर से जाहिर हुआ कि वह प्रायः झूठ और मायाचार का पुतला था। उसी तरह इस अनुवाद पर से अनुवादक जी भी प्रायः झूठ और मायाचार के अवतार जान पड़ते हैं। मुझे तो उनके इस पतन को देखकर भारी अफसोस होता है!!

अपनी ऐसी जघन्य स्थिति और परिणति के होते हुए भी अनुवादक जी धर्मात्मा और विद्वान् दोनों बनते हैं, विद्वत्ता की डींगे हाँकते हैं और दूसरों को यों ही मूर्ख अधार्मिक आगमविरोधी धर्मकर्मलोपक तथा संस्कृत प्राकृत के ज्ञान से शून्य बतलाते हैं। यह सब उनकी निर्लज्जता और बेहयाई का ही एक मात्र चिह्न है। यदि यह निर्लज्जता का गुण उनमें न होता तो वे कदापि ऐसा झूठा जाली अनुवाद प्रस्तुत करने का साहस न करते, न व्यर्थ की डींगें हाँकते और न मिथ्या प्रलाप करते। उनकी इस प्रवृत्ति और अनुवाद की विडम्बना को देखकर मुझे श्रीसिद्धसेनाचार्य की निम्न उक्ति याद आती है, जो ऐसे ही निर्लज्ज पण्डितों को लक्ष्य करके कही गई है-

दैवखातं च वदनं आत्मायत्तं च वाङ्मयम्।
श्रोतारः सन्ति चोक्तस्य निर्लज्जः को न पंडितः॥

अर्थात्–''मुख तो दैव ने खोद दिया है (बना ही रखा है), वचन अपने अधीन है (इच्छानुसार उसका प्रयोग करना आता है) और जो कुछ कहा जाता है उसको सुनने वाले भी मिल ही जाते हैं, ऐसी स्थिति में कौन निर्लज्ज है जो पण्डित न बन सके?'' भावार्थ–सभी निर्लज्ज, जिन्हें कुछ बोलना अथवा लिखना आता है पण्डित बन सकते हैं, क्योंकि लज्जा ही अयोग्यों के पण्डित बनने में बाधक होती है। प्रत्युत इसके योग्यों के पाण्डित्य में वह सहायक बनती है। उसके कारण उन्हें सदैव यह ख्याल बना रहता है कि कहीं कोई बिना सोचे समझे ऐसी कच्ची बात मुँह से न निकल जाये जिसके कारण विद्वानों के सामने लज्जित होना पड़े। और इसलिये वे अपनी बात को बहुत कुछ जांच तौलकर कहते हैं।

मूल ग्रन्थकार पं० नेमिचन्द्र के ऊपर भी यह उक्ति खूब फबती है। उसकी धूर्त लीलाओं तथा योग्यताओं का पाठक भले प्रकार अनुभव कर चुके हैं और यह जान चुके हैं कि यह ग्रन्थ कितना अधिक जाली, झूठा, निःसार, प्रपंची, असम्बद्धप्रलापी तथा विरुद्ध कथनों से परिपूर्ण है और इसमें भग० महावीर की कैसी मिट्टी खराब की गई है। इतने पर भी स्वयं ग्रन्थकार इसकी बड़ी प्रशंसा करता है–इसे जिनवरमुखजात, सकलमुनिपसेव्य, पापप्रणाशक, धर्मजनक, शिवप्रद, बुधनुत, सद्बुद्धिदाता, प्रवरगुणदाता, पावन, सकलमनप्रिय और सिद्धान्तसमुद्र का सार आदि और न मालूम क्या-क्या बतलाता है, इसी के पढ़ने, स्वाध्याय करने आदि की प्रेरणा करता है और अपने को 'विद्वद्वर' लिखता है!![५७] इससे पाठक समझ सकते हैं कि ग्रन्थकार का यह कितना निर्लज्ज पाण्डित्य अथवा धृष्टतामय प्रलाप है!!!

मैं समझता हूँ मूलग्रन्थ और उसके अनुवाद का जो परिचय ऊपर दिया गया है वह काफी से भी कहीं अधिक हो गया है और इस बात को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि यह ग्रन्थ वास्तव में कोई जैन ग्रन्थ नहीं किन्तु जैन ग्रन्थों का कलंक है, पवित्र जैनधर्म तथा भगवान् महावीर की निर्मल कीर्ति को मलिन करने वाला है, सिर से पैर तक जाली है और विषमिश्रित भोजन के समान त्याज्य है। इसलिये इसके विषय में समाज का जो कर्तव्य है वह स्पष्ट है–उसे अपने पवित्र साहित्य, अपने पूज्य प्राचीन आचार्यों की कीर्ति और अपने समीचीन आचार-विचारों की रक्षा के लिये ऐसे विकृत

---

५७. इस ग्रन्थ-प्रशंसा के कुछ वाक्य नमूने के तौर पर इस प्रकार हैं–

''जिनवरमुखजातं गौतमाद्यैः प्रणीतं' सकलमुनिपसेव्यं हि इदं भो भजध्वम्।''

''कुर्वीध्वं ह्यघहानये अनुदिनं स्वाध्यायमस्यैव वै।''–पृष्ठ ४०३

''बुधाश्चेमे ग्रन्थं प्रवरगुणदं धर्मजनकं। अघा नाशं यान्ति श्रवणपठनादस्य निखिलाः।''

''ग्रन्थेमं बुधसत्तमाः शिवप्रदं विद्वद्वरेणैव वै। प्रोक्तं पापप्रणाशकं बुधनुतं सद्बुद्धिदं पावनम्॥ ''–पृष्ठ ४०८

''सारं सिद्धान्तसिन्धोः सकलमनःप्रियं नेमिचंद्रेण धीराः।''–पृष्ठ ४१०

एवं दूषित ग्रन्थों का शीघ्र से शीघ्र बहिष्कार करना चाहिए। ऐसे ग्रन्थों को जैन शास्त्र अथवा जिनवाणी मानना महामोह का विलास है। यह ग्रन्थ 'चर्चासागर' से भी अधिक भयंकर है, क्योंकि इसकी गोमुखव्याघ्रता बढ़ी हुई है और इसलिये ऐसे ग्रन्थों के सम्बन्ध में और भी ज्यादा सतर्क एवं सावधान होने की जरूरत है।

हाँ, अब प्रश्न यह होता है कि ऐसे उभयभ्रष्ट, अतीव दूषित और महा आपत्ति के योग्य ग्रन्थ को आचार्य कहे जाने वाले शान्ति सागर जी ने कैसे पसंद किया, क्योंकर अपनाया और किस तरह वे उसकी प्रशंसा तथा सिफारिश करने बैठ गये? इसका कारण एक तो यह हो सकता है कि शांतिसागर जी ने इस ग्रन्थ को पढ़ा नहीं, वैसे ही अपने शिष्य एवं मुख्य गणधर पं० नन्दनलाल जी के कथन पर विश्वास करके और उन्हीं से दो चार बातें इधर-उधर की सुनकर वे इसके प्रशंसक बन गये हैं। दूसरा यह हो सकता है कि उन्होंने इस ग्रन्थ को पढ़ा तो जरूर है परन्तु उनमें खुद ग्रन्थ साहित्य को जाँचने, परीक्षा करने और उस पर से यथार्थ वस्तु स्थिति को मालूम करने अथवा सत्यासत्य का निर्णय करने आदि की कोई योग्यता न होने से (योग्यता की यह त्रुटि उनके आचार्य पद के लिये एक प्रकार का दूषण होगा) वे उक्त पंडितजी के प्रभाव में पड़कर यों ही एक साधारण जन की तरह इसे अपनाने लगे हैं। और यदि इन दोनों में से कोई कारण नहीं है तो फिर तीसरा कारण यह कहना होगा कि शान्तिसागर जी भी ग्रन्थकार तथा अनुवादक के रंग में रँगे हुए हैं, उन्हीं के आचार-विचार एवं प्रवृत्ति को पसन्द करते हैं और भट्टारकी चलाना चाहते हैं। अन्यथा, ग्रन्थ को अनुवादसहित पूरा पढ़ने और उसके गुण-दोषों के जाँचने की यथेष्ट योग्यता रखने पर वे कदापि इस ग्रन्थ को न अपनाते और न अपने संघ में इसका प्रचार होने देते। प्रत्युत इसके, इतना झूठा, कपटी, बनावटी तथा स्वेच्छाचारमय अनुवाद प्रस्तुत करने के उपलक्ष में अपने शिष्य पं० नंदनलाल जी को कभी का संघबाह्य किये जाने का दण्ड देते। जहाँ तक मैं समझता हूँ पहले दो कारणों की ही अधिक संभावना है और इसलिये समाज का यह खास कर्तव्य है कि वह आचार्य महाराज जी को इन परीक्षा लेखों का पूरा परिचय कराए, ग्रन्थ की असलियत को समझाए और उनसे अनुरोध करे कि वे इस विषय में अपनी भूल को सुधारें, अपनी पोजीशन को साफ करें और अपने उक्त शिष्य (वर्तमान क्षुल्लक ज्ञानसागरजी) को इस महा अनर्थ के कारण खुला प्रायश्चित्त लेने के लिये बाध्य करें। यदि वे यह सब कुछ करने कराने के लिये तैयार नहीं होते हैं तो समझना होगा कि तीसरा कारण ही उनकी इस सब प्रवृत्ति का मूल है-वे पं० नन्दलाल जी जैसों के हाथ किसी तरह बिके हुए हैं। और तब समाज को उनके प्रति अपना जो कर्तव्य उचित जँचे उसे निश्चत कर लेना होगा। इस विषय मैं इस समय और कुछ भी अधिक कहने की जरूरत नहीं समझता।

अन्त में सत्य के उपासक सभी जैन विद्वानों तथा अन्य सज्जनों से मेरा सादर निवेदन और अनुरोध है कि वे इच्छानुसार लेखक के इन परीक्षा लेखों की यथेष्ट जाँच करते हुए इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में अपनी स्पष्ट तथा खुली सम्मति प्रकट करने की कृपा करें। यदि परीक्षा से जिस पर मुझे विश्वास

है उन्हें भी यह ग्रन्थ ऐसा ही सदोष, निःसार, अनर्थकारी तथा जैनशासन को मलिन करने वाला जँचे तो समाज हित की दृष्टि से उनका यह मुख्य कर्तव्य होना चाहिए कि वे इसके विरुद्ध अपनी जोरदार आवाज उठाएँ और समाज में इसके विरोध को उत्तेजित करें, जिससे धूर्तों की; की हुई जैनशासन की यह मलिनता दूर हो सके। इस समय उनका मौन रहना ठीक नहीं होगा, वह ऐसे अनेक अनर्थकारी ग्रन्थों को जन्म देगा अथवा उन्हें प्रकाशित कराने में सहायक बनेगा और उससे समाज की बहुत-सी शक्ति का दुरुपयोग होगा। यह ग्रन्थ 'चर्चासागर' का बड़ा भाई है और, जैसा कि मैंने ऊपर प्रकट किया है, इसकी गोमुखव्याघ्रता उससे बढ़ी चढ़ी है, जिसके कारण समाज को इससे अधिक हानि पहुँचने की संभावना है, ऐसे ही ग्रन्थों की बदौलत हमारे कितने ही संस्कार एवं आचार-विचार भट्टारकीय हो रहे हैं, जिन्हें बड़े प्रयत्न के साथ सुधारना होगा। अतः इसका विरोध एवं बहिष्कार चर्चासागर से भी अधिक होना चाहिए। जो सज्जन इस सम्बन्ध में अपनी सम्मति मेरे पास भेजने की कृपा करेंगे अथवा इसके विरोधी प्रस्तावों को जैन मित्र, जैन जगत या वीर पत्र में प्रकाशित कराएँगे उन सबका मैं विशेष आभारी होऊँगा। इत्यलम्॥

सरसावा, जिला सहारनपुर **जुगलकिशोर मुख्तार**

ता० ०६-०१-१९३३